णमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स।

जैनागम शास्त्रमाला ७ रत्नम्

# आचाराङ्ग सूत्रम

## द्वितीय श्रुतस्कन्ध

संस्कृतच्छाया, पदार्थान्वय, मूलार्थ, हिन्दी विवेचन सहित

: व्याख्याकार :

जैनधर्म–दिवाकर, जैनागम–रत्नाकर, साहित्य–रत्न

स्व. आचार्य प्रवर

श्री आत्मारामजी महाराज

: सम्पादक :

मुनि समदर्शी प्रभाकर

: प्रकाशक :

गम प्रकाशन समिति

यााना

ग्रन्थ

श्री आचाराङ्ग सूत्र

द्वितीय श्रुतस्कंध

व्याख्याकार

स्व. आचार्य प्रवर

श्री आत्मारामजी म.

सम्पादक

मुनि श्री समदर्शी प्रभाकर

प्रकाशक

आचार्य श्री आत्मारामजी

जैनागम प्रकाशन समिति

जैन स्थानक, लुधियाना

प्रथम प्रवेश

सितम्बर १७, १९६४.

वीर सं. २४९०

मूल्य

पन्द्रह रुपए

प्रति ११००

पूर्णचन्द्र शर्मा प्रभाकर ने गौतम एजेन्सी, मोचपुरा बाजार से कम्पोज करके सरदार सरूपसिंह प्रिंटर श्री गुरुदत्त मेहरा प्रिंटिंग प्रेस लुधियाना के प्रबन्ध में छपवाई।

# श्री आचाराङ्ग सूत्र

## द्वितीय श्रुतस्कन्ध की

## विषय–सूचि

# प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय स्व. आचार्य प्रवर श्री आत्मारामजी म. के व्यक्तित्व से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो श्रद्धेय आचार्य श्री जी की ज्ञान ज्योति से अपरिचित रहा हो। वह ज्ञान दिवाकर जब तक इस भूतल पर उदित रहा, तब तक जन-जन के मन के अज्ञान तम को दूर करके उनके जीवन के कण-कणमे ज्ञान की ज्योति जगाता रहा, भूले-भटके पथिकों को साधना का पथ बताता रहा। आज वह ज्योतिर्धर महापुरुष भौतिक शरीर की अपेक्षा से हमारे मध्य में नहीं रहा, परन्तु उनके आगम की ज्योति हमारे सामने है, जो युग-युग तक मानव मन को ज्योतित करती रहेगी।

स्व. आचार्य प्रवर ने अनेक आगम ग्रन्थों का राष्ट्र भाषा में अनुवाद किया था और उन पर विस्तृत विवेचन भी लिखा था। उनमें से कुछ आगम उनके जीवन काल में ही प्रकाशित हो चुके, परन्तु परिस्थिति वश कुछ आगम प्रकाशित नहीं हो सके, जिन्हें प्रकाशित करने का प्रयत्न चालू है।

प्रस्तुत आगम—आचाराग द्वितीय श्रुतस्कध—उनमें से एक है। यह श्रद्धेय आचार्य श्री जी की सुकृपा का मधुर फल है, जिसे हम पाठकों के कर-कमलों में समर्पित कर रहे है। इसके पूर्व आचाराग का प्रथम श्रुतस्कध प्रकाशित हो चुका है। आचाराग के दोनो श्रुतस्कधों का सम्पादन मुनि श्री समदर्शी जी म. प्रभाकर ने आचार्य श्री जी के सान्निध्य में रहकर किया था और सम्पादन कार्य उनके सामने ही हो गया था। परन्तु प्रेस का कार्य काफी धीमी गति से चलता रहा जिससे हमे दुःख एवं खेद है कि उनकी उपस्थिति मे इसका प्रकाशन नहीं हो सका। परन्तु उनकी सद् कृपा से आज हम प्रस्तुत आगम पाठकों के करकमलों में समर्पित करते हुए हर्ष का अनुभव कर रहे हैं और यह आशा रखते हैं कि पाठक पूर्व आगमों की तरह इससे भी प्रेरणा प्राप्त करके अपनी साधना में तेजस्विता लाने का प्रयत्न करेंगे।

आचाराग सूत्र के सम्पादन में मुनि श्री समदर्शी जी म. ने जिस लग्न एव उत्साह से श्रम किया, उसके लिये हम मुनि श्री का हृदय से आभार मानते हैं। प. मुनि श्री फूलचदजी म. 'श्रमण', पं. श्री हेमचद्र जी म. एव पं. श्री रत्न मुनि जी म. एव महासती श्री कौशल्या जी म. ने प्रूफ सशोधन में जो महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया, के लिए हम उनके आभारी है।

प्रूफ सशोधन का विशेष ध्यान रखने पर भी अनेक स्थलों पर अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिसके लिए हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं।

निवेदक—

मत्री,

आचार्य श्री आत्माराम जी जैनागम

प्रकाशन समिति, लुधियाना।

# —: अमृत कण :—

| | |
|---|---|
| जे एगं जाणइ, | जो एक आत्मा को जानता है, |
| से सव्वं जाणइ। | वह सब कुछ जानता है। |
| पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं, | हे साधक तू स्वय ही अपना मित्र है, |
| किं बहिया मित्तमिच्छसि। | तू दुनिया में बाहरी मित्र क्यों ढूंढता है। |
| जे आया से विन्नाया, | जो आत्मा है वही विज्ञाता है. |
| जे विन्नाया से आया। | जो विज्ञाता है वही आत्मा है, |
| जेण विजाणइ से आया, | क्यों कि ज्ञान के कारण ही आत्मा शब्द का प्रयोग होता है। |
| से सुयं च अज्झत्थं च मे, | मैंने सुना और अनुभव किया है, |
| बन्धं पमोक्खो अज्झत्थे। | बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा पर ही निर्भर है। |
| सव्वओ पमत्तस्स भयं। | जो प्रमादी है, उसे सर्वत्र भय है, |
| सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं। | अप्रमत्त के लिए कहीं भी भय नहीं है। |
| कामेसु गिद्धा निचयं करेंति। | भोगों में आसक्त प्राणी कर्म सचय करता है, |
| सांसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं। | और कर्मों से भारी होकर ससार में परिभ्रमण करता है। |
| सच्चम्मि धिइं कुव्विहा। | सत्य में सदा दढ रहो, |
| एत्थोवरए मेहावी, | सत्य में अनुरक्त मेधावी पुरुष |
| सव्वं पावं झोसइ। | सब पापों का नाश कर देता है। |
| जे अणण्णारामे, | जो मोक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र<br>कहीं भी रुचि नहीं रखता, |
| से अणन्तदंसी। | वह अचल श्रद्धा-निष्ठ माना गया है। |

—आचाराङ्ग सूत्र

# द्वितीय श्रुतस्कंध गणधर कृत है ?

आगम साहित्य में आचाराङ्ग सूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि, आचार जीवन का, साधना का मूलाधार है। इसी के सहारे मानव मुक्ति पथ को तय करता है। यही कारण है कि अतीत में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब ने सर्व प्रथम आचार का उपदेश दिया और अनागत में जितने भी तीर्थंकर होंगे वे सब सर्व प्रथम आचार का उपदेश देंगे तथा वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में जो तीर्थंकर विद्यमान हैं, वे भी अपने शासनकाल में सर्व प्रथम आचार का उपदेश देते हैं। इससे इसकी महत्ता स्वतः सिद्ध होती है और इसकी प्राचीनता भी स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

प्रस्तुत सूत्र साध्वाचार का पथ प्रदर्शक है। वस्तुतः पंचाचार की नींव पर आचाराङ्ग सूत्र का भव्य भवन स्थित है। श्रमण साधना से सम्बद्ध कोई भी बात ऐसी नहीं है, जिसका वर्णन आचाराङ्ग सूत्र में नहीं आया हो। इसी विशेषता के कारण इसे आचाराङ्ग भगवान कहा गया है। यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का विषय गूढ़ एवं गम्भीर है। वर्णन शैली प्राचीन होते हुए भी सुन्दर एवं अनुपम है। भाषा प्राञ्जल एवं प्रवाहमय होते हुए भी विषय के अनुरूप क्लिष्ट भी है। परन्तु, क्लिष्टता के साथ लालित्य भी है और छोटे-छोटे सूत्रों में इतना विशाल अर्थ भर दिया है कि मानों गागर में सागर ठाठें मार रहा हो।

भाषा एवं भावों की दृष्टि से प्रथम श्रुतस्कन्ध जितना गम्भीर एवं कठिन है, द्वितीय श्रुतस्कन्ध उतना ही सुगम, सरल एवं सुबोध है। सीधी-सादी भाषा भावों को स्वतः स्पष्ट करती जाती है। उसे समझने के लिए साधक को अधिक गहराई में नहीं उतरना पड़ता है। थोड़े से प्रयत्न से ही उसे आचार का नवनीत प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः सुगम पथ पर प्रत्येक पथिक सुगमता से चल सकता है। दुर्गम पथ को पार करने वाले विरले ही महापुरुष होते हैं। आचाराङ्ग सूत्र की भी यही स्थिति है। पहला श्रुतस्कन्ध भाव, भाषा एवं विषय की दृष्टि से गहन, गम्भीर एवं कठिन है, तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध सरल एवं सुगम है। जिसे हृदयंगम करने के लिए मस्तिष्क को अधिक श्रम नहीं करना पड़ता है।

समवायाङ्ग सूत्र में बताया है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययन हैं और ये नव अध्ययन ५१ उद्देशकों में विभक्त हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं और

इनके ३४ उद्देशक हैं। पूरे आचाराङ्ग सूत्र के २५ अध्ययन हैं और ये सब ८५ उद्देशकों से संयुक्त है। इसमें अठारह सहस्र पद हैं*।

ऐसा ही पाठ श्री नन्दी सूत्र में भी मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग भगवान का भव्य भवन ८५ स्तम्भों पर खड़ा है। आगम में स्पष्ट शब्दों कहा है— "नव ब्रह्मचर्यों के ५१ उद्देशक हैं†।" प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध अध्ययनों का नाम ब्रह्मचर्य है। आगे कहा गया है कि "आचाराङ्ग भगवान के चूलि के साथ पच्चीस अध्ययन कहे गए हैं, जैसे शस्त्र-परिज्ञा इत्यादि‡।" प्रस्तुत पाठ उपरोक्त बात परिपुष्ट होती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध तरह द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रामाणिक एवं गणधर कृत है। इन पाठों से संपूर्ण आच सूत्र की विशिष्टता, प्रामाणिकता एवं गणधर कृतत्व झलक उठता है।

## आचाराङ्ग सूत्र के कर्ता—

जैन विचारकों की यह मान्यता है कि द्वादशांगी—अंग शास्त्र के प्रणेता तीर्थं होते हैं। तीर्थंकर भगवान अपने शासनकाल में द्वादशांगी का अर्थ रूप से उपदेश देते उस अर्थ रूप वाणी को गणधर सूत्र में ग्रथित करते हैं। अतः अर्थ रूप से द्वादशांगी उपदेष्टा या प्रणेता तीर्थंकर होते हैं और गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। गणध कृत सूत्रों का मूलाधार तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी होने से हम उसे तीर्थंकर या सर्व कृत ही कहते हैं। इस दृष्टि से द्वादशांगी सर्वज्ञ प्रणीत कहलाती है। आचाराङ्ग सू का द्वादशांगी में प्रथम स्थान है, अतः आचाराङ्ग सूत्र सर्वज्ञ प्रणीत माना जाता है।

## द्वितीय श्रुतस्कंध के रचयिता—गणधर हैं या स्थविर ?

इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सम्बन्ध में कुछ विचार भेद है। कई विचारक एवं तत्त्ववेत्ता

---

* से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयखंदा- पणवीसं अज्झयणा, पंचासीइ उद्देसण काला, पच्चासी समुद्देसण काला, अट्ठारस्स पद सहस्साइं पदग्गेण।

आयारस्स भगवतो स चूलिआगस्स अट्ठारस्स पय सहस्साइं पन्नाइं।

—समवायाङ्ग, द्वादशाङ्गी अधिकार।

† नवण्ह बभचेराणं एकावन्नं उद्देसण काला पं०। —समवायाङ्ग सूत्र, ५१।

‡ आयारस्स ण भगवओ सचूलिआयरस्स पणवीस अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा— सत्थपरिणा........। —समवायाङ्ग सूत्र, २५।

नीय श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत नहीं, प्रत्युत स्थविर कृत मानते हैं। चूर्णिकार का मत है कि आचाराङ्ग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविरों द्वारा रचा हुआ है‡। जर्मन न श्री हरमन जेकोबी भी चूर्णिकार के मत से सहमत हैं। कई जैन विचारक एवं न भी इसे स्थविर कृत मानते हैं। उनका कथन है कि विषय की समानता होने कारण इसे स्थविरों ने बाद में चूलिका के रूप में आचाराङ्ग के साथ सम्बद्ध किया परन्तु, मेरी अपनी मान्यता यह है कि प्रस्तुत आगम का द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविर नहीं, गणधर कृत है। आगम में भी इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

हम समवायाङ्ग सूत्र का पाठ देख चुके हैं, उसमें स्पष्टतया बताया गया है कि अंग (आचाराङ्ग) के दो श्रुतस्कन्ध, २५ अध्ययन, ८५ उद्देशक और १८ सहस्र हैं। समवायाङ्ग सूत्र अंग सूत्रों में समाविष्ट है। अतः वह गणधर कृत है। उसमें चाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध से सम्बद्ध करके वर्णन किया है। यदि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत नहीं होता तो गणधर कृत समवायाङ्ग सूत्र इसका उल्लेख नहीं मिलता। प्रस्तुत पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय तस्कन्ध भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह गणधर कृत है।

केवल समवायाङ्ग सूत्र में ही नहीं, अन्य आगम साहित्य में भी इस की प्राचीनता, माणिकता एवं महत्त्वपूर्णता का उल्लेख मिलता है। इसके साथ अन्य आगमों में इसके णधर कृत होने के प्रमाण भी मिलते हैं।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया गया है कि भगवान ऋषभदेव ने श्रमण साधना के लिए पच्चीस भावनाओं के साथ पाच महाव्रतों का उपदेश दिया। इसमें 'भावना-गमेण' शब्द विशेष महत्वपूर्ण है†। आचाराङ्ग सूत्र के २४ वें अध्ययन का नाम 'भावना अध्ययन' है, इसमें ५ महाव्रत की २५ भावनाओं का विस्तृत विवेचन मिलता है। प्रस्तुत पाठ इस ओर संकेत कर रहा है। समवायाङ्ग सूत्र में २५ अध्ययनों का

---

‡थेरेहिं अणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च आयाराओ अत्थो आयाराङ्गेसु पविभत्तो।

"स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दश पूर्वविद्भिर्निर्यूढानीति, किमर्थं? शिष्य हितं भवत्विति कृत्वाऽनुग्रहार्थं तथाऽप्रकटोऽर्थः। प्रकटो यथा स्यादित्येवमर्थंञ्च, कुतो निर्यूढानि आचारात् सकाशात समस्तोऽप्यर्थं आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इतिः।

† तएणं से भगवं समणाण णिग्गंथाणं वा णिग्गथीणं पंच महव्वयाइ सभावणागाइं छज्जीवणिकाए धम्म देसमाणे विहरइ तजहा-पुढवी काइए भावनागमेण पच महव्वयाइ सभावणागाइं भणियव्वाइं। —जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति वक्ष०, ऋषभ अधिकार।

नाम निर्देष किया है†। इससे स्पष्टत. सिद्ध होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध पहले श्रुतस्कन्ध से सम्बद्ध है। अत. वह भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह गणधर कृत है। स्थानाङ्ग सूत्र में भी हमें ऐसा ही पाठ मिलता है, जिसमें भावना अध्ययन का उदाहरण दिया गया है‡ ।। इसके अतिरिक्त प्रश्नव्याकरण सूत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि साधु को कैसा और किस तरह का आहार ग्रहण करना चाहिए? इसके उत्तर में कहा गया है 'पिण्डपात' अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में आहार-पानी ग्रहण करने की जो विधि बताई गई है, उस तरह से ग्रहण करना चाहिए††। पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि 'पिण्डपात' आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन है। अत: प्रस्तुत पाठ भी द्वितीय श्रुतस्कन्ध की महत्ता को प्रकट कर रहा है। ये सब पाठ इस बात को स्पष्टत: सिद्ध कर रहे हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना उसी समय हुई थी, जब प्रथम श्रुतस्कन्ध की हुई है। अत: उभय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है।

### भाषा एवं शैली का अन्तर—

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि कुछ विचारक द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर कृत नहीं मानते हैं। चूर्णिकार भी इसे स्थविर कृत मानते हैं और डा० हर्मन जेकोबी एवं अन्य प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वान भी चूर्णिकार के विचारों से सहमत हैं। उनका कथन है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन ही गणधर कृत हैं। शेष द्वितीय श्रुतस्कंध के १६ अध्ययन पीछे से जोड़े गए हैं। अत: इनका रचयिता गणधर नहीं, कोई स्थविर ही होना चाहिए।

अपने पक्ष के समर्थन में उनका कथन है कि प्रथम एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा, भाव और शैली में एकरूपता नहीं है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के भाव गहन-गंभीर हैं और भावों के अनुरूप उसकी भाषा एवं शैली भी क्लिष्ट एवं गम्भीर है। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावों में वह दार्शिनकता एवं गम्भीरता नहीं है, जो प्रथम

---

† आयारस्स ण भगवओ सचूलिआयरस्स पणवीस अज्झयणा पं० तजहा—सत्थ परिण्णा, लोग विजओ, सीओसणीय, सम्मत्तं आवति, धूय, विमोह, उवहाण, सूय, महपरिण्णा, पिंडेसणा, सिज्जिरिआ, भासज्झयणा, य वत्थ, पाएसा, उग्गह पडिमा, सतिक्कसत्तया, 'भावणा,' विमुत्ति। —समवायाङ्ग सूत्र, २५।

‡ अममे, अंकिचणे, अच्छिन्नगंथे, निरूवलेवे, कसयाईव, मुक्कतोए जहा भावणाए।
—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ६।

†† अह केरिसय पुणाइ कप्पति, ज तं एकारस्स पिंडवाय सुद्धं।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार ५।

श्रुतस्कन्ध के भावों में है। इसी कारण उसकी भाषा एवं शैली में गाम्भीर्य परिलक्षित नहीं होता है। यदि दोनों श्रुतस्कन्ध एक ही व्यक्ति के निर्मित होते तो दोनों के भाव, भाषा एवं शैली में इतना अन्तर नहीं आता। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिका के रूप में पीछे से जोड़ा गया है।

हम विचारकों की इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि दोनों श्रुतस्कन्धों की भाषा एवं शैली में भिन्नता है। परन्तु, इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि दूसरा श्रुतस्कन्ध गणधर कृत नहीं, स्थविर कृत है। क्योंकि, केवल भाषा एव शैली भिन्नता का प्रतीक नहीं मानी जा सकती। हम देखते हैं कि भावों के अनुसार भाषा भी बदलती रहती है। बी० ए० और एम० ए० के स्तर की पुस्तकें एवं पी० एच० डी० के स्तर का महानिबन्ध लिखने वाला प्रोफेसर जब प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए पुस्तकें लिखता है, तो उन दोनों पुस्तकों की भाषा एवं शैली में रात-दिन का अंतर होता है। जो एम० ए० एवं पी० एच० डी० के स्तर के महानिबन्ध के भावों में गंभीरता एवं प्रौढ़ता है, वह प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के स्तर की पुस्तकों में नहीं आ सकती है। अतः भावों के अनुरूप भाषा एवं शैली में वह गम्भीरता नहीं रह सकती। बाल साहित्य लिखते समय प्रोफैसर को बच्चों की भाषा एवं शैली का ख्याल रखना होगा। परन्तु, इस बाल साहित्य की सीधी-सादी शैली एवं हल्की भाषा के कारण हम यह नहीं कह सकते कि महानिबन्ध एवं एम० ए० के साहित्य का लेखक एवं बाल साहित्य का लेखक एक नहीं, दो भिन्न व्यक्ति है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि एक ही व्यक्ति क्लिष्ट एवं सरल भाषा में लिख सकता है। भाषा भावों के अनुरूप बदलती रहती है।

आचाराङ्ग का प्रथम श्रुतस्कन्ध तात्त्विक है। उसमें पांच आचार—१-ज्ञानाचार २-दर्शनाचार, ३-चारित्राचार, ४-तपाचार और ५-वीर्याचार का तात्त्विक विवेचन किया गया है। अतः उस में सूत्र शैली का प्रयोग किया गया है। थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कह दिया गय है। एक प्रकार से गागर में सागर भर दिया है। अतः भावों की गम्भीरता के अनुरूप ही भाषा एवं शैली में क्लिष्टता एवं गाम्भीर्य का आना स्वाभाविक था। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रायः साध्वाचार का ही वर्णन है और वह सर्व साधारण के लिए है। उसके भावों में दार्शनिकता एवं गम्भीरता कम है। उसके भावों को प्रत्येक व्यक्ति सरलता से समझ सकता है। अतः भावों के अनुरूप उसकी भाषा एवं शैली भी सरल एवं सीधी-सादी है। अतः दोनों श्रुतस्कन्धों की भाषा एवं शैली का अन्तर दो विभिन्न कर्त्ताओं के कारण नहीं, अपितु भावों की विभिन्नता के कारण है। अतः उभय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत ही हैं।

उभय श्रुतस्कन्ध एक-दूसरे के पूरक हैं—

आचाराङ्ग सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों श्रुतस्कन्ध एक-दूसरे के परिपूरक हैं। हम यह देख चुके हैं कि प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन ५ आचारों का वर्णन किया है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्राय साध्वाचार का विस्तृत विवेचन मिलता है। यदि पंचाचार साधना की लहलहाती हुई खेती है,तो साध्वाचार उस की बाड़ है, जो उसकी हर तरह से सुरक्षा करती है। साध्वाचार के अभाव में पंचाचार की उत्कृष्ट साधना नहीं हो सकती। अतः उभय श्रुतस्कन्ध अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। इन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। देखिए, आचाराङ्ग सूत्र में द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक को प्रारम्भ करते समय वृत्तिकार लिखते हैं कि " प्रथम श्रुतस्कन्ध पूरा हुआ अब द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रारम्भ करते हैं, उसका परस्पर यह सम्बन्ध है❀।" इससे यह स्पष्ट होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचराङ्ग का उपयोगी अग है और इसे प्रथम श्रुतस्कन्ध से किसी भी तरह अलग नहीं किया जा सकता है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध का कर्ता कौन स्थविर है ?

हम विस्तार से बता चुके हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है। यदि कुछ लोगों के विचारानुसार यह स्थविर कृत है, तो यह प्रश्न उठे विना नहीं रहेगा कि इसका कर्ता कौन स्थिवर है ? अत. इसे स्थिवर कृत मानने वाले वरिष्ठ विद्वानों को यह स्पष्ट करना चाहिए कि उस स्थविर का नाम क्या था ? उसने किस शताब्दी में इसकी रचना की ? विना प्रमाण के कोई भी बात मान्य नहीं की जा सकती। क्योंकि, कई आगमों का संकलन गणधरों से भिन्न स्थविरों ने किया है, वहां उनके नामों का उल्लेख मिलता है।

जैसे दशवैकालिक सूत्र गणधर कृत नहीं है। इसमें भी प्राय· साध्वाचार का वर्णन है। वस्तुतः देखा जाए तो यह आचाराङ्ग का एक छोटा-सा रूप है, संक्षिप्त सस्करण है। इसके संकलन कर्ता श्री सभवाचार्य थे। भगवान महावीर के निर्वाण पधारने के ५८ वर्ष बाद वे आचार्य पद पर आसीन हुए। उन्होंने अपने नवदीक्षित पुत्र को साध्वाचार का ज्ञान कराने के लिए इस आगम का संकलन किया था। यह आगम

---

❀उक्तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचार श्रुतस्कंधः साम्प्रतं समाप्तं द्वितीयोऽग्रश्रुतस्कन्धः समारभ्यते, अस्य चाऽयमभिसम्बन्धः ।

—आचाराङ्ग वृत्ति, द्वितीय श्रुतस्कध।

अलौकिक एवं विलक्षण होते हुए भी भाषा की दृष्टि से सरल एवं सुगम है और हम देखेंगे कि इसका निर्माण करते समय विशेष रूप से आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का ही सहारा लिया है। अतः हम कह सकते हैं कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध ही दशवैकालिक की नींव है

आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम 'पिंडैषणा' अध्ययन है। इस अध्ययन को सम्मुख रखकर ही दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन का निर्माण किया गया है, उसका नाम भी 'पिण्डैषणा' है। दोनों का विषय भी एक है और दोनों के नाम भी एक ही हैं। दशवैकालिक को चौथा 'छज्जीवणीकाय' अध्ययन आचाराङ्ग के 'भावना' अध्ययन के आधार से रचा गया है, जो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का १५वां अध्ययन है। दशवैकालिक के 'सुवक्क सुद्धी, नामक सातवां अध्ययन द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भाषा अध्ययन का पद्य में अनुवाद है। इन प्रमाणों से यह भी स्पष्ट होता है कि दशवैकालिक आचाराङ्ग का सुन्दर पद्यानुवाद है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध संभवाचार्य से पहले विद्यमान था। इससे यह भी ध्वनित होता है कि यह गणधर कृत है। क्योंकि, यदि यह साधारण स्थविर कृत होता है, तो सम्भवाचार्य इसके आधार पर दशवैकालिक सूत्र की रचना नहीं करते और जैसे दशवैलिक सूत्र के साथ सम्भवाचार्य का नाम जुड़ा हुआ है, वैसे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के कर्ता का नाम भी उसके साथ सम्बद्ध होता। परन्तु, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के कर्ता के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है और आज तक न किसी विद्वान ने इसका उल्ल्लेख किया है। अतः इस से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध दशवैकालिक से अधिक प्राचीन एवं गणधर कृत है।

## द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रामाणिकता का एक और प्रमाण

यह हम देख चुके हैं कि दशवैकालिक सूत्र का निर्माण द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य आगमों में अनेक स्थानों पर आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की झलक मिलती है। हम यों भी कह सकते हैं कि आचाराङ्ग सूत्र बत्तीस आगमों में समाहित-सा हो गया है। स्थानाङ्ग सूत्र में यह वर्णन आता है कि 'चार शय्या प्रतिमा, चार वस्त्र प्रतिमा, चार पात्र प्रतिमा और चार स्थान प्रतिमा कही गई हैं।' वस्तुतः ये चारों प्रतिमाएं साध्वाचार की चार कड़िए हैं। आचाराङ्ग सूत्र के

---

† चत्तारि सेज्जा पडिमाओ पं०, चत्तारि वत्थ पडिमाओ पं०,
चत्तारि पाय पडिमाओ पं०, चत्तारि ठाण पडिमाओ पं०।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४. उ ३।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इनसे सम्बद्ध चार अध्ययन हैं। वस्तुतः यह पाठ उन्हीं के आधार पर लिखा गया है। स्थानाङ्ग सूत्र में एक पाठ और आता है, उसमे आहार-पानी आदि की सात एषणाओं का वर्णन किया गया है‡।' यह पाठ भी द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर ही लिखा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध भी गणधर कृत है। यदि वह गणधर कृत नहीं होता तो स्थानाङ्ग जैसे प्राञ्जल एवं गणधर कृत आगम में इतनी स्पष्टता से उसकी महत्ता को कभी भी स्वीकार नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त समवायाङ्ग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रों के पाठ हम पहले ही बता चुके हैं। इससे यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावों का आगमों में जाल-सा बिछा हुआ है। यह एक सोचने-समझने की बात है कि एक साधारण स्थविर कृत आगम को इतना सम्मान कैसे प्राप्त हो सकता है और उसका उल्लेख गणधर कृत आगमों में कैसे आ सकता है? इससे यह सूर्य के उजाले की तरह साफ हो जाता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधर कृत है।

## स्थविर शब्द की व्याख्या—गणधर को भो स्थविर कहते है

स्थविर शब्द केवल अनुभवी एवं वृद्ध के लिए प्रयोग में नही आता है, प्रत्युत उसमें अनेक अर्थ एवं भाव सन्निहित रहते हैं। जैनागमों में स्थविर शब्द प्रमुख नायक के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। स्थानाङ्ग सूत्र में ग्राम स्थविर, नगर स्थविर, राष्ट्र स्थविर, पार्श्वस्थ स्थविर, कुल स्थविर, गण स्थविर, सघ स्थविर, वय स्थविर, श्रुत स्थविर और दीक्षा स्थविर†, इन दस स्थविरों का वर्णन किया गया गया है। प्रस्तुत प्रकरण मे स्थविर प्रमुख नेता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अपने-अपने विभाग का स्थविर—प्रमुख व्यक्ति हर दृष्टि से योग्य एवं अनुभवी होता है और वह स्व विभाग से सम्बद्ध सम्पूर्ण दायित्व अपने सबल कन्धों पर उठा लेता है। इसके अतिरिक्त तीन प्रकार के स्थविर और भी बताए गए हैं— १-वय स्थविर. २-श्रुत स्थविर और ३-दीक्षा स्थविर। ६० वर्ष की आयु में कदम रखते ही साधु को वय स्थविर के पद से विभूषित कर दिया

---

‡सत्त पिण्डेसणाओ पं०, सत्त पाणेसणाओ पं०,
सत्त उग्गहंपडिमाओ पं०, सत सन्निक्कया पं०।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ७।

†दस थेरा पण्णता तंजहा—गाम थेरा, णगर थेरा, रट्ठ थेरा, पसत्थ थेरा, कुल थेरा, गण थेरा, संघ थेरा, जाई थेरा, सूय थेरा, परियाय थेरा। —स्थानाङ्ग—सूत्र, स्थान १०।

श्री

# आचाराङ्ग सूत्र

## द्वितीय श्रुतस्कन्ध

॥ णमोत्थुण समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

# श्री आचाराङ्ग सूत्र

## द्वितीय श्रुतस्कन्ध

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### प्रथम उद्देशक

इस बात को हम आचाराङ्ग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध को प्रारम्भ करते समय बता चुके हैं कि आचाराङ्ग सूत्र में आचार का वर्णन किया गया है। आचार पांच प्रकार का है—१-ज्ञानाचार, २-दर्शनाचार, ३-चारित्राचार, ४-तपाचार और ५-वीर्याचार। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाचों आचारों का सूत्र शैली में वर्णन किया गया है। इसलिए उनके वर्णन में संक्षिप्तता एव गम्भीरता आ गई है। और प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में प्रमुख रूप से चारित्राचार का उपदेश शैली मे वर्णन किया गया है। साधना के लिए चारित्राचार आवश्यक है। अत: प्रथम श्रुतस्कन्ध में किए गए चारित्राचार विषयक संक्षिप्त वर्णन का प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध में विस्तार किया गया है।

चारित्र साधना का प्रधान अंग है। ज्ञान, दर्शन, तप एवं वीर्य को चारित्र से गति मिलती है, ज्ञान आदि साधना में तेजस्विता आती है। वस्तुत देखा जाए तो ज्ञान साधना का मूल्य उसे चारित्र का साकार रूप देने में है। ज्ञान जब तक आचरण में नहीं लाया जाएगा तब तक उसका यथार्थ एवं अभिलषित फल मोक्ष नही मिल सकता जब ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना होगी तभी आत्मा सर्व कर्म बन्धन से मुक्त हो सकेगा। इसलिए चारित्र की सम्यक् साधना आराधना करने के लिए दूसरे श्रुतस्कन्ध का अध्ययन करना जरूरी है।

जीवन की पहली आवश्यकता आहार है-भले ही गृहस्थ हो या साधु, आहार के बिना लौकिक एव लोकोत्तर कोई भी साधना नही हो सकती। अत: प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में यह बताया गया है कि साधु को संयम परिपालन करने

के लिए किस तरह से एवं कैसा आहार करना चाहिए। आगम में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साधु कुछ कारणों से आहार ग्रहण करता है और कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में आहार का त्याग भी कर देता है। आगम में आहार करने के ६ कारण बताए हैं—१-क्षुधा वेदनीय भूख की पीड़ा सहन नहीं हो तो साधु आहार कर सकता है २-वैयावृत्य-सेवा करने के लिए—संयम की, कुल की, गण की, आचार्य, उपाध्याय की, रोगी की, नवदीक्षित आदि की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए शारीरिक शक्ति अपेक्षित है और उसके लिए आहार करना भी आवश्यक है। ३-ईर्या-समिति का परिपालन करने के लिए। ४-सयम का पालन करने के लिए, ५-प्राणों को धारण करने के लिए ६-धर्म-चिन्तन के लिए आहार ग्रहण करे। क्योंकि ये क्रियाएं भी शारीरिक बल के बिना भली भांति नहीं होसकती। इसलिए मुनि इन ६ कारणों से आहार करता है*। इसी तरह आहार का त्याग करने के भी ६ कारण है—१-बीमारी-बुखार आदि के आने पर साधु को आहार का त्याग कर देना चाहिए। ज्वर में आहार करने से वह जल्दी ठीक नहीं होता। इसलिए रोग के समय उपवास बहुत लाभदायक रहता है। आयुर्वेद में भी रोग चिकित्सा में लंघन—उपवास को श्रेष्ठ माना है। महात्मा गांधी ने तो उपवास के द्वारा कई रोगों की चिकित्सा की है। अतः रोग के समय साधु को आहार का त्याग कर देना चाहिए। २-उपसर्ग कष्ट आने पर साधु को तप करना चाहिए। ३ क्षुधा-भूख शात होने पर आहार का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि बिना भूख के खाने से अनेक रोग होने की संभावना है और उससे सयम-साधना में भी दोष लग सकता है। अतः भूख न हो तो नहीं खाना चाहिए। ४-ब्रह्मचर्य का परिपालन करने के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए। यदि मन में विकार जागृत होते हों तो साधु को तपस्या करनी चाहिए। गीता में लिखा है कि निराहार—आहार का त्याग करने वाले व्यक्ति को विषय विकार नहीं सताते†। ५-जीव रक्षा के लिए आहार का त्याग करना चाहिए। जैसे कि वर्षा के पड़ते हुए अप्काय आदि की रक्षा के लिए आहार का त्याग कर देना चाहिए। ६-मृत्यु के निकट आने पर आहार का त्याग करके अनशन संथारा स्वीकार करना चाहिए‡। इस तरह आहार करने की आवश्यकता होने पर

* छहिं ठाणेहिं समणे णिग्गथे आहारमाहारेमाणे णाइक्कमइ तजहा वेयण, वेयावच्चे इरियट्ठाए य सयमट्ठाए तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिंताए। —स्थानाङ्ग सूत्र, ६।

† निराहारस्य देहिन. विषयाविनिवर्तन्ते। —गीता २।

‡ छहिं ठाणेहिं समणे—निग्गथे आहार वोच्छिन्दमाणे णाइक्कमइ तजहा—आतके, उवसग्गे, तितिक्खणे, बभचेरगुत्तीए, पाणिदया, तवहेउ सरीरवुच्छेयणट्ठ ए।

—स्थानाङ्ग सूत्र स्थान ६।

साधु को आहार स्वीकार करना चाहिए।

परन्तु उस समय कैसा आहार स्वीकार करे ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणगेहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्मिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं वा तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइम वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जंति मन्नमाणे लाभेऽवि संते नो पडिग्गाहिज्जा। से य आहच्च पडिग्गहे सिया से तं आयाय एगंतमवक्कमिज्जा एगंतमवक्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पुदए अप्पुत्तिंग पणगदगमट्टियमक्कडासंताणए विगिंचिय २ उम्मीसं विसोहिय २ तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाइज्जा भुत्तए वा पायए वा से तमायाय एगंमतवक्क--मिज्जा, अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरा--सिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय--

पमज्जिय तत्रो संजयामेव परिट्ठविज्जा ॥१॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिंडपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टः सन्, स यत् पुनः जानीयात्, अशनं वा पान वा खादिम वा स्वादिम वा प्राणिभिः पनकैः वा बीजैः वा हरितैः वा ससक्तं वा उन्मिश्र वा शीतोदकेन वा अवसिक्तं रजसा वा परिघर्षितं वा तथाप्रकार अशनं वा पान वा खादिमं वा स्वादिमं वा परहस्ते वा परपात्रे वा अप्रासुकं अनेषणीय इति मन्यमान लाभे सत्यपि नो प्रतिगृह्णीयात, स च आहन्य प्रतिगृह्णीयात् स्यात् स तदादाय एकान्तमपक्रामेत्, एकान्तमपक्रम्य अथारामेवा अथोपाश्रये वा अल्पाडे अल्पप्राणे अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पोत्तिंगपनकदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके विविच्य २ उन्मिश्र विशोध्य २ ततः सयन एव भुजीत वा पिबेद् वा यच्च न शक्नुयात् भोक्तु वा पातु वा स तदादाय एकान्तमपक्रामेत्, अथ दग्धस्थंडिले वा अस्थिराशौ वा किट्टराशौ वा तुषराशौ वा गोमयराशौ वा अन्यतरराशौ वा तथाप्रकारे स्थंडिले प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयत एव परिष्ठापयेत् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू—भिक्षु । वा—अथवा । भिक्खुणी वा—भिक्षुणी आर्या । गाहावइ—गाथापति गृहस्थ के । कुलं—कुल मे अर्थात् घर में । पिंडवायपडियाए—पिंडपात-आहार प्राप्ति की प्रतिज्ञा से गृहस्थ के घर मे । अणुपविट्ठे समाणे—अनुप्रविष्ट हुआ । से—वह । जं—जो । पुण—फिर । जाणेज्जा—यह जाने कि । असण वा—अन्न अथवा । पाण वा—पानी अथवा । खाइम वा—खादिम अथवा । साइम वा—स्वादिम-स्वादिष्ट पदार्थ । पाणेहिं वा—द्वीन्द्रिय प्राणियो से अथवा । हरिएहिं वा—हरित अकुरादि से । ससत्त—संयुक्त । उम्मिस्स—मिश्रित । सीओदएण वा—या शीतोदक से । उसित्त—अवसिक्त गीला है । रयसा वा—अथवा रज से, सचित्त धूलि से । परिघासिय—परिघर्षित है । तहप्पगार—तथा प्रकार के । असण वा—आहार अथवा । पाणं वा—पानी-जल अथवा । खाइम वा—खाद्य पदार्थ अथवा । साइमं वा—स्वादिष्ट पदार्थ । परहत्थंसि वा—गृहस्थ के हाथ में अथवा । पर पायंसि—वा—गृहस्थ के पात्र में है । ति—इस प्रकार के आहार को । अफासुय—अप्रासुक सचित्त । अणेसणिज्ज—सदोष-दोष युक्त । मन्नमाणे—मानता हुआ । लाभेऽवि सते—इस प्रकार का आहार प्राप्त होने पर भी । नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे । य—पुनः । से—वह साधु ।

आहच्च—कदाचित्। पडिग्गहेसिया—उसे ग्रहण करले तो। से—वह साधु। त—उस आहार को। आयाए—लेकर-ग्रहण करके। एगतमवक्कमिज्जा—एकान्त स्थान मे चला जाए। एगतमवक्कमिता—एकान्त मे जाकर। अहे—अथवा। आरामसि वा—उद्यान मे। अहे—अथवा। उवस्सयसि वा—उपाश्रय मे 'अथ' शब्द जहा पर गृहस्थ न आता हो उस अर्थ मे है और 'वा' शब्द विकल्पार्थ मे अथवा शून्य गृहादि के अर्थ मे जानना। अप्पडे—अडादि से रहित स्थान पर❀। अप्पपाणे—द्वीन्द्रियादि जीवो से रहित स्थान। अप्पबीए—बीजो से रहित। अप्पहरिए—हरित से रहित। अप्पोसे—ओस से रहित। अप्पोदए—उदक-जल से रहित। अप्पुत्तिगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए—जहा पर जल, चींटियें, लीलन-फूलन, मिट्टी युक्त जल अथवा उल्ली आदि, मर्कट जीव-जाला आदि जीव विशेष न हो ऐसे स्थानो मे जाकर उस आहार से। विगिंचिय २—उन जीवो को अलग २ कर। उम्मीसं—उसमे मिश्रित हो तो। विसोहिय २—विशोधित कर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—साधु। भुजिज्ज वा—उस आहार को खाए। पीइज्ज वा—अथवा पीए। जं च—यदि वह उस आहार को। भोत्तए वा—खाने। पायए वा—अथवा पीने मे। नो सचाएज्जा—समर्थ न हो तो फिर। से—वह भिक्षु। तं—उस आहार को। आयाय—लेकर। एगंतमवक्कमिज्जा—एकान्त स्थान मे चला जाए, जाकर। अहेझाम थंडिलंसि वा—दग्ध स्थान पर या। अट्ठिरासिसि वा—अस्थियो की राशि-ढेर पर। किट्टरासिसि वा—अथवा लोह के मल के ढेर पर। तुसरासिसि वा—तुष राशि के स्थान। गोमयरासिसि वा—गोबर के ढेर पर अथवा। अण्णयरसि—इसी प्रकार के अन्य प्रासुक पदार्थो के ढेर पर अथवा। तहप्पगारंसि—पूर्व सदृश अन्य प्रासुक स्थान पर। थंडिलंसि—स्थंडिल में। पडिलेहिय २—आँखो से भली-भाति देख कर। पमज्जिय२—रजोहरण से भूमि को प्रमार्जित कर के। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—सम्यक् उपयोग पूर्वक वह साधु। परिट्ठवेज्जा—उस आहार को त्याग दे।

मूलार्थ—आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इन पदार्थो का अवलोकन करके यह जाने कि यह अन्न पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थ, द्वीन्द्रियादि प्राणियो से, शाली चावल आदि के बीजो से और अंकुरादि हरी सब्जो से संयुक्त है या मिश्रित है या सचित्त जल से गीला है तथा सचित्त मिट्टी से अवगुंठित है। यदि इस प्रकार का आहार-पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थ गृहस्थ के घर में या गृहस्थ के पात्र मे हो तो साधु उसे अप्रासुक-सचित्त तथा अनेषणीय-सदोष

❀ यहा अल्प शब्द अभाव अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

मान कर ग्रहण न करे, यदि भूल से उस आहार को ग्रहण कर लिया है तो वह भिक्षु उस आहार को लेकर एकान्त स्थान मे चला जाए और एकान्त स्थान मे या आराम–उद्यान या उपाश्रय मे जहा पर द्वीन्द्रिय आदि जीव नही है, गोधूमादि बीज नही हैं और अंकुरादि हरी नही है,, एवं ओस और जल नही है अर्थात् तृणो के अग्रभाग पर जल नही है ओस बिन्दु नही है, द्वीन्द्रियादि जीव जन्तु एव उनके अण्डे आदि नही है, तथा मकडो के जाले एवं दीमको के घर आदि नही है, ऐसे स्थान पर पहुच कर सदा यत्ना करने वाला साधु उस आहार मे से सचित्त पदार्थो को अलग करके उस आहार एव पानी का उपभोग कर ले। यदि वह उसे खाने या पीने मे असमर्थ है तो साधु उस आहार को लेकर एकांत स्थान पर चला जाए और वहा जाकर दग्धस्थडिल भूमि पर, अस्थियो के ढेर पर, लोह के कूडे पर, तुष के ढेर पर और गोबर के ढेर पर या इसी प्रकार के अन्य प्रासुक एव निर्दोष स्थान पर जाकर उस स्थान को आंखो से अवलोकन करके और रजोहरण से प्रमार्जित करके उस आहार को उस स्थान पर परठ-डाल दे।

हिन्दी विवेचन

साधु हिंसा का सर्वथा त्यागी है और आहार के बनाने मे हिंसा का होना अनिवार्य है। इसलिए साधु के लिए भोजन बनाने का निषेध किया गया है। परन्तु, सयम निर्वाह के लिए उसे आहार करना पड़ता है। अतः उसके लिए बताया गया है कि वह गृहस्थ के घर मे जाकर निर्दोष एवं एषणीय आहार ग्रहण करे। यदि कोई गृहस्थ सचित्त एव आधाकर्मी आदि दोषों से युक्त आहार दे या सचित्त पानी से हाथ धोकर आहार दे या आहार सचित्त रज से युक्त है, तो साधु उसे स्वीकार न करे। वह स्पष्ट शब्दों मे कहे कि ऐसा दोष युक्त आहार मुझे नहीं कल्पता। यदि कभी सचित्त पदार्थों से युक्त आहार आ गया हो—जैसे गुठली सहित खजूर या ऐसे ही बीज युक्त कोई अन्य पदार्थ आ गए है और वह गुठली, बीज या सचित्त पदार्थ उससे अलग किए जा सकते है, तो साधु उन्हे अलग करके उस अचित्त आहार को ग्रहण कर ले। यदि कोई पदार्थ ऐसा है कि उसमे से उन सचित्त पदार्थों को अलग नही किया जा सकता

है, तो मुनि उस आहार को खाए नहीं, परन्तु एकान्त स्थान में बीज-अंकुर एवं जीव-जन्तु से रहित अचित्त भूमि पर यतना-पूर्वक परठ—डाल दे। इसी तरह आधाकर्मी आहार भी भूल से आ गया हो तो उसे भी एकान्त स्थान में परठ दे। इससे स्पष्ट है कि साधु सचित्त एवं आधाकर्म दोष आदि युक्त आहार का सेवन न करे। भगवान महावीर ने सोमिल ब्राह्मण को स्पष्ट शब्दों में बताया कि साधु के लिए सचित्त आहार अभक्ष्य है❀। ये ही शब्द भगवान पार्श्वनाथ एवं थावच्चा पुत्र ने शुकदेव संन्यासी को कहे हैं†। श्रावक के व्रतों का उल्लेख करते समय इस बात को स्पष्ट किया गया है कि श्रावक साधु को प्रासुक एवं निर्दोष आहार देवे‡।

यह उत्सर्ग मार्ग है और साधु को यथाशक्ति इसी मार्ग पर चलना चाहिए। परन्तु, जीवन सदा एक सा नहीं रहता। कभी कभी सामने कठिनाइएं भी आती हैं। उस समय संयम की रक्षा के लिए साधु क्या करे? इसके लिए वृत्तिकार ने बताया है—'उत्सर्ग मार्ग में साधु आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार स्वीकार नहीं करे। परन्तु अपवाद मार्ग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञाता गीतार्थ मुनि दोषों की न्यूनता या अधिकता का विचार करके उसे ग्रहण कर सकता है। द्रव्य का अर्थ है—द्रव्य (पदार्थ) का मिलना दुर्लभ हो। क्षेत्र—ऐसा क्षेत्र जिसमें शुद्ध पदार्थ नहीं मिलते हों या सचित्त रज की बहुलता हो। काल—दुर्भिक्ष आदि काल में और भाव-रोग आदि की अवस्था में। इन कारणों के उपस्थित होने पर साधु आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार भी ले सकता है। यह वृत्तिकार का अभिमत है❀।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र में भी कहा है कि आधाकर्म आहार करने वाला साधु एकान्त रूप से सात या आठ कर्म का बन्ध करता है। ऐसा नहीं कहना चाहिए और ऐसा भी

---

❀ भगवती १८, १०

† पुष्फिया सूत्र, ज्ञाता सूत्र।

‡ औपपातिक सूत्र, रायप्रश्नीय सूत्र, उपासकदशाङ्ग सूत्र।

❀ तथाप्रकारम्—एवं जातीयमशुद्धमशनादिचतुर्विधमप्याहारं 'परहस्ते दातृहस्ते परपात्रे वा स्थितम् 'अप्रासुक'-सचित्तम् 'अनेषणीयम्' आधाकर्मादिदोषदुष्टम् 'इति' एव मन्यमानः 'स' भावभिक्षुः सत्यपि लाभे न प्रतिगृण्हीयादित्युत्सर्गतः, अपवादतस्तु द्रव्यादि ज्ञात्वा प्रतिगृण्हीयादपि, तत्र द्रव्य दुर्लभद्रव्य, क्षेत्र साधारणद्रव्यलाभरहितं सरजस्कादिभावितं वा कालो दुर्भिक्षादिः भावो ग्लानतादि', इत्यादिभि कारणैरुपस्थितैः अल्पबहुत्वं पर्यालोच्य गीतार्थो गृण्हीयादिति।

— आचाराङ्ग २; १; १, १ वृत्ति।

नहीं कहना चाहिए कि वह सात-आठ कर्म का बन्ध नहीं करता है† । भगवती सूत्र में गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए—तथारूप के श्रमण-माहण को अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार देने से दाता को क्या होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर फरमाते है कि उसे अल्प पाप एवं बहुत निर्जरा होती है‡ ।

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वृत्तिकार ने स्वयं आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का प्रबल शब्दों में निषेध किया है*। इससे इतना तो स्पष्ट है कि ध्रुव मार्ग निर्दोष आहार को स्वीकार करने का रहा है। अपवाद मार्ग साधक की स्थिति पर आधारित है। उसकी स्थापना नहीं की जा सकती। कौन साधक किस परिस्थिति में, किस भावना से, कौन-सा कार्य कर रहा है?, यह छद्मस्थ व्यक्तियों के लिए जानना कठिन है। सर्वज्ञ पुरुष ही इसका निर्णय दे सकते हैं। इसलिए साधक को किसी के विषय में पूरा निर्णय किए बिना एकान्त रूप से उसे पाप बन्ध का कारण नहीं कहना चाहिए और संभव है यही कारण वृत्तिकार के सामने रहा हो जिससे उसने अपवाद स्थिति में सदोष आहार को स्वीकार करने योग्य बताया। वृत्तिकार का यह अभिमत विचारणीय है ।

आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार औषध ग्रहण करने के सम्बन्ध में कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइ० जाव-पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्जा कसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छछिन्नाओ अवुच्छिणा**

---

† अहाकम्माणि भुञ्जन्ति, अन्नमन्ने सकम्मुणा।
उवलित्ते त्ति जाणिज्जा अणुवलित्ते त्ति वा पुणो
एएहिं दोहि ठाणेहिं ववहारो न विज्जई।
एएहिं दोहि ठाणेहिं अणायार तु जाणए ।

— सूत्रकृताङ्ग २, ५, ८, ६ ।

‡ समणोवासगस्स ण भंते ! तहारूवं समण वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण पाण जाव पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पाव कम्मे कज्जइ । —भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक ६ ।

* आचाराङ्ग सूत्र- श्रुतस्कन्ध १, अध्य ६ ,उद्देशक ४ की वृत्ति ।

ओ, तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कंतमभज्जियं पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जंति मन्नमाणे लाभेसंते नो पडिगाहिज्जा।

से भिक्खू वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्जा-अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिन्नाओ वुच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिक्कंतं भज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जंति मन्नमाणे लाभेसंते पडिग्गाहिज्जा।२।

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिः यावत् प्रविष्टः सन् स याः पुनः औषधीः जानीयात् कृत्स्नाः स्वाश्रयाः अद्विदलकृताः अतिरश्चीनच्छिन्नाः अव्यवच्छिन्नाः तरुणी वा फलिं(छिवाडिं) अनभिक्रान्ताम्, अभग्नाम् प्रेक्ष्य अप्रासुकामनेषणीयामिति मन्यमानः लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्। स भिक्षुर्वा० यावत् प्रविष्टः सन् स याः पुनः औषधीः जानीयात् अकृत्स्नाः अस्वाश्रयाः द्विदलकृताः, तिरश्चीनच्छिन्नाः व्यवच्छिन्नाः तरुणिकां फलिम्, अक्रान्तां भग्नां प्रेक्ष्य प्रासुकामेषणीयामिति मन्यमानः लाभे सति गृह्णीयात्।

पदार्थ— से— वह। भिक्खू— साधु। वा— अथवा। भिक्खुणी वा—साध्वी। गाहावइ—गृहपति के कुल मे। जाव—यावत्। पविट्ठे समाणे—प्रविष्ट हुआ। से—वह। जाओ—जो। पुण—फिर। ओसहीओ—औषधि को। जाणिज्जा—जाने। कसिणाओ—सचित्त। सासियाओ—अविनष्ट योनि—जिसका मूल नष्ट नही हुआ। अविदलकडाओ—जिसके दो भाग नही हुए हैं। अतिरिच्छच्छिन्नाओ—जिसका तिर्यक्-तिरछा छेदन नही हुआ है। अवुच्छिन्नाओ—जो जीव रहित नही हुई है। वा—अथवा। तरुणियं—तरुण। छिवाडि—अपक्व-फली—जिसकी फलिया पकी हुई नही हैं, ऐसी मुद्गादि की फली। अणभिकंतमभज्जियं—जो सजीव या अभग्न-अमर्दित है। ऐसी औषधि को। पेहाए—देखकर यह। अफासुयं—अप्रासुक-सचित। अणेसणिज्जंति—तथा अनेषणीय-सदोष है इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ साधु। लाभे सन्ते—मिलने पर भी। नो पडिगाहिज्जा—उसे ग्रहण न करे।

से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। जाव—यावत्। पविट्ठे समाणे—गृहस्थ के कुल में जाने पर। से- वह-भिक्षु। जाओ—जो। पुण—फिर। ओसहीओ—औषधी को। जाणिज्जा—जाने कि यह औषधि। अकसिणाओ—अचित्त है। असासियाओ—विनष्ट योनि है। विदलकडाओ— इसके दो दल विभाग किए गए हैं। तिरिच्छच्छिन्नाओ—इसका तिर्यक् छेदन हुआ है अर्थात् सूक्ष्म खण्ड किए गए हैं। वुच्छिन्नाओ—यह अचित जीव से रहित है। तरुणियं छिवाडिं—यह तरुण फली। अभिक्कंत—जीव रहित तथा। भज्जियं—मर्दित एवं अग्नि द्वारा भुनी हुई है ऐसा। पेहाए—देखकर यह। फासुयं—प्रासुक-अचित्त तथा। एसणिज्जंति—एषणीय निर्दोष है इस प्रकार। मन्नमाणे—मानता हुआ साधु। लाभे संते—मिलने पर। पडिग्गाहिज्जा—उसे ग्रहण—स्वीकार कर लेवे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में गया हुआ साधु व साध्वी औषधि के विषय मे यह जाने कि इन औषधियो मे जो सचित्त है, अविनष्ट योनि है, जिनके दो या दो से अधिक भाग नही हुए है, जो जीव रहित नही हुई है ऐसी अपक्व फली आदि को देखकर उसे अप्रासुक एव अनेषणीय मानता हुआ साधु उसके मिलने पर भी उसे ग्रहण न करे।

परन्तु औषधि निमित्त गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी औषधि के सबध मे यह जाने कि यह सर्वथा अचित्त है, विनष्ट योनि वाली है। द्विदल अर्थात् इसके दो भाग हो गये है, इसके सूक्ष्म खड किये गए है, यह जीवजन्तु से रहित है, तथा मर्दित एवं अग्नि द्वारा परिपक्व की गई है, इस प्रकार की प्रासुक-अचित्त एव एषणीय निर्दोष औषध गृहस्थ के घर से प्राप्त होने पर साधु उसे ग्रहण करले।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में औषध के सम्बन्ध में विधि-निषेध का वर्णन किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि विधि एवं निषेध दोनों सापेक्ष हैं। विधि से निषेध एवं निषेध से विधि का परिचय मिलता है। जैसे साधु को सचित्त एवं अनेषणीय पदार्थ नहीं लेना, यह निषेध सूत्र है, परन्तु इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि साधु अचित्त एवं निर्दोष आहार ग्रहण कर सकता है। इस तरह विधि एव निषेध एक दूसरे के परिचायक हैं।

यह हम देख चुके हैं कि साधु पूर्ण अहिंसक है। अत वह ऐसा पदार्थ ग्रहण

नहीं करता जिससे किसी प्राणी की हिंसा होती हो। इसलिए यह बताया गया है कि गृहस्थ के घर में औषधि आदि के लिए प्रविष्ट हुए साधु को यह जान लेना चाहिए कि वह औषध सचित्त-सजीव तो नहीं है? जैसे कोई फल या बहेड़ा आदि है, जब तक उस पर शस्त्र का प्रयोग न हुआ हो तब तक वह सचित्त रहता है। उसके दो टुकड़े होने पर वह सचित्त नहीं रहता। परन्तु कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो दो दल होने के बाद भी सचित रह सकते हैं। कुछ पदार्थ अग्नि पर पकने या उसमें दूसरे पदार्थ का स्पर्श होने पर अचित्त होते हैं। इस तरह साधु साध्वी को सब से पहले सचित्त एवं अचित्त पदार्थों का परिज्ञान होना चाहिए। और यदि उन्हें दी जाने वाली औषध सचित्त प्रतीत होती हो तो वे उसे ग्रहण न करे और वह सजीव न हो तथा पूर्णतया निर्दोष हो तो साधु साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में 'कृत्स्न' आदि जो पांच पद दिये गये हैं, इनसे वनस्पति की सजीवता सिद्ध की है। उन (योनियों) मे भी जीव रहते हैं एवं उनके प्रदेशों में भी जीव रहते हैं। जैसे चना आदि जो अन्न है उनके जब तक बराबर दो विभाग न हों तब तक उसमें जीवों के प्रदेश रहने की संभावना है। प्रश्न हो सकता है कि जब प्रथम सूत्र में सचित्त पदार्थ ग्रहण करने का निषेध कर दिया तो फिर प्रस्तुत सूत्र में सचित्त औषध एवं फलों के निषेध का क्यों वर्णन किया? इसका कारण यह कि जैनेतर साधु वनस्पति मे जीव नही मानते और वे सचित्त औषध एवं फलों का प्रयोग करते रहे हैं और आज भी करते हैं। इसलिये पूर्ण अहिंसक साधु के लिये यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वह सचित्त औषध एवं फलों को ग्रहण नही करे।

अब सूत्रकार आहार की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता का उल्लेख करते हुए कहते हैं —

**मूलम्—से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा पिहुयं वा बहुरयं वा भुंजियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं संभज्जियं अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। से भिक्खू वा जावसमाणे से जं पुण जाणिज्जा-पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥३॥**

छाया—स भिक्षुर्वा० यावत् सन् स यत् पुनः जानीयात् पृथुकं वा बहुरजः वा भर्जितं वा मन्थु वा चाउला वा तन्दुलां चाउलप्रलम्बं सकृत् सभर्जितं अप्रासुकं यावद् न गृण्हीयात् ।

स भिक्षुर्वा° यावत् प्रविष्टः सन् स यत् पुनः जानीयात् पृथुकं यावत् चाउल-प्रलम्बं वा असकृत् भर्जितं द्विकृत्वः वा त्रिकृत्वः वा भर्जितं प्रासुकं एषणीयं यावत् प्रतिगृण्हीयात् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू—साधु । वा—अथवा साध्वी । जाव समाणे—यावत् गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट हुआ । से—वह-भिक्षु । ज—जो । पुण—फिर । जाणिज्जा—जाने—आहार विषयक ज्ञान प्राप्त करे यथा— । पिहुय वा—शाली यव गोधूमादि अथवा । बहुरय वा—जिसमें सचित रज बहुत है । भुजिय वा—अग्नि द्वारा अर्द्ध पक्व अथवा । मथुं वा—गोधूमादि का चूर्ण । चाउलं वा—अथवा चावल । चाउलपलंब वा—अथवा धान्यादि का चूर्ण । सइ—एक बार । संभज्जिय—संभर्जित अग्नि से भूना हुआ । अफासुय—अप्रासुक—सचित्त । जाव—यावत् । नो पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे । से भिक्खू वा—गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट, वह साधु अथवा साध्वी । जावसमाणे—यावत् भिक्षार्थ जाने पर । से—वह भिक्षु । ज—जो । पुण—फिर । जाणिज्जा—जाने । पिहुय वा—शाली यव गोधूमादि अथवा । जाव—यावत् । चाउलपलंब वा-धान्यादि का चूर्ण । असइ—अनेकबार । भज्जिय—भूना हुआ । दुक्खुत्तो वा—दो बार अथवा । तिक्खुत्तो वा—तीन बार । भज्जियं—भुना हुआ है । फासुयं—प्रासुक । एसणिज्ज—एषणीय-निर्दोष । जाव—यावत् । पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण करे ।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी भिक्षार्थ गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर शाली आदि धान्यो, तुषबहुल धान्यो और अग्नि द्वारा अर्धपक्व धान्यो, तथा मथु चूर्ण एव कण सहित एकबार भुने हुए अप्रासुक यावत् अनेषणीय पदार्थो को ग्रहण न करे। तथा वह साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ उपस्थित होने पर शाली आदि धान्य या उसका चूर्ण, जो कि दो तीन बार या अनेक बार अग्नि से पका लिया गया है। ऐसा और एषणीय निर्दोष पदार्थ उपलब्ध होने पर साधु उसे स्वीकार कर ले।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भी यह बताया गया है कि साधु-साध्वी चावल (शाली-धान)

आदि अनाज एवं उनका चूर्ण जो अपक्व या अर्धपक्व हो, नहीं लेना चाहिए। क्योंकि शाली-धान (चावल), गेहूं, बाजरा आदि सजीव होते हैं, अतः इन्हें अपक्व एवं अर्धपक्व अवस्था में साधु को नहीं लेना चाहिए। जैसे— लोग मकई के भुट्टे एवं चने के होले आग में भूनकर खाते हैं, उनमें कुछ भाग पक जाता है और कुछ भाग नहीं पकता। इस तरह जो दाने अच्छी तरह से पके हुए नहीं हैं वे पूर्णतया अचित्त नहीं हो पाते। उनमें सचित्तता की संभावना रहती है। इसलिए साधु को ऐसी अपक्व एवं अर्धपक्व वस्तुएं नहीं लेनी चाहिएं। तात्पर्य यह है कि साधु को सचित्त एवं अनेषणीय पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। और जो पदार्थ अच्छी तरह पक गए हैं, अचित्त हो गए हैं, उन्हें साधु ग्रहण कर सकता है। शाली—चावल की तरह अन्य सभी तरह के अन्न एवं अन्य फलों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए कि साधु उन सब वस्तुओं को ग्रहण कर सकता है जो सचित्त एवं अनेषणीय हैं और अचित एवं एषणीय पदार्थ को यथावश्यक ग्रहण कर सकता है।

यह तो स्पष्ट है कि साधु को आहार आदि ग्रहण करने के लिए गृहस्थ के घर में जाना पड़ता है। क्योंकि जिस स्थान पर साधु ठहरा हुआ है, उस स्थान पर यदि कोई व्यक्ति आहार आदि लाकर दे तो साधु उसे ग्रहण नहीं करता। क्योंकि वहां पर वह पदार्थ की निर्दोषता की जांच नहीं कर सकता। इस लिए स्वयं गृहस्थ के घर जाकर एषणीय एवं प्रासुक आहार आदि पदार्थ ग्रहण करता है।

अत. यह प्रश्न होना ज़रूरी है कि साधु को गृहस्थ के घर में किस तरह प्रवेश करना चाहिए। इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइ कुलं जाव पविसिउ कामे नो अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अप्परिहारिएणं सद्धिं गाहावइ कुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा। से भिक्खू वा० वहिया वियार-भूमिं वा विहार भूमिं वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा नो अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धिं वहिया वियार भूमिं वा विहार भूमिं वा निक्खमिज्ज वा**

पविसिज्ज वा। से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो अन्न-उत्थिएण वा जाव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥४॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपति-कुलं यावत् प्रवेष्टु कामः न अन्ययूथिकेन वा गृहस्थेन वा परिहारिको वा अपरिहारिकेण वा सार्द्धं गृहपति-कुलं पिंडपातप्रतिज्ञया प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा। स भिक्षुर्वा० बहिः विचार-भूमिं वा विहार-भूमिं वा निष्क्रममाणो वा प्रविशमाणो वा न अन्य-यूथिकेन वा गृहस्थेन वा परिहारिको वा अपरिहारिकेण सार्द्धं बहिः विचार-भूमिं वा विहार भूमिं वा निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् न अन्ययूथिकेन वा यावद् ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। गाहावइ-कुलं—गृहपति के कुल मे। जाव—यावत्। पविसिउकामे—प्रवेश करने की इच्छा रखता हुआ। परिहारिओ वा—दोष दूर करने वाला उत्तम साधु। अन्नउत्थिएण वा—अन्यतीर्थी और। गारत्थिएण वा—गृहस्थी के तथा। अप्परिहारिएणं—पार्श्वस्थादि साधु के। सद्धिं—साथ। पिंडवायपडियाए—आहार लाभ की आशा से। गाहावइ-कुलं—गृहस्थी के घर मे। नो—नही। पविसिज्ज—प्रवेश करे या। निक्खमिज्ज वा—पहले प्रविष्ट हुओ के साथ निकले भी नही। से भिक्खू वा—वह साधु साध्वी। बहिया—बाहर। वियारभूमिं वा—स्थंडिल भूमि में अथवा। विहारभूमिं वा—स्वाध्याय भूमि मे। निक्खममाणे वा—जाता हुआ। पविसमाणे वा—या प्रवेश करता हुआ। अन्नउत्थिएण वा—अन्यतीर्थी-अन्य मतावलम्वी और। गारत्थिएण वा—गृहस्थी के साथ, अथवा। परि-हारिओ वा—दोष दूर करने वाला उत्तम साधु। अप्परिहारिएण वा—पार्श्वस्थादि साधु के। सद्धिं—साथ। बहिया—बाहर। वियार-भूमिं वा—स्थंडिल भूमि में अथवा। विहार-भूमिं वा—स्वाध्याय भूमि मे। निक्खमिज्ज—जावे अथवा। नो पविसिज्ज वा—प्रवेश न करे। से भिक्खू-वा—वह भिक्षु वा भिक्षुकी। गामानुगामं—ग्रामानुग्राम मे। दूइज्जमाणे—जाते हुए। अन्नउत्थिएण वा—अन्यतीर्थी के साथ। जाव—यावत्। गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम में। नो दूइज्जिज्जा—न जाए।

मूलार्थ—गृहस्थी के घर मे भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने की इच्छा रखने वाला साधु या साध्वी अन्यतीर्थी या गृहस्थ के साथ भिक्षा के लिये प्रवेश न करे, तथा दोष को दूर करने वाला उत्तम साधु पार्श्वस्थादि साधु

के साथ भी प्रवेश न करे, और यदि कोई पहले प्रवेश किया हुआ हो तो उसके साथ न निकले।

वह साधु या साध्वी बाहर स्थंडिल भूमि (मलोत्सर्ग का स्थान) मे या स्वाध्याय भूमि मे जाता हुआ या प्रवेश करता हुआ किसी अन्यतार्थी या गृहस्थो अथवा पार्श्वस्थादि साधु के साथ न जावे, न प्रवेश करे।

वह साधु वा साध्वी एक ग्राम मे दूसरे ग्राम मे जाते हुए अन्यतीर्थी यावत् गृहस्थ और पार्श्वस्थादि के साथ न जावे, गमन न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए बताया गया है कि वह गृहस्थ, अन्य मत के साधु संन्यासियो एवं पार्श्वस्थ साधुओं के साथ गृहस्थ के घर मे, स्वाध्याय भूमि मे प्रवेश न करे और इनके साथ शौच के लिए भी न जाए और न इनके साथ विहार करे। क्योंकि ऐसा करने से साधु के संयम मे अनेक दोष लग सकते हैं।

साधु के लिए धनवान एवं सामान्य स्थिति के सभी घर बराबर हैं। वह बिना किसी भेद के अमीर गरीब सबके घरो मे भिक्षा के लिए जाता है और एषणीय एवं शुद्ध आहार ग्रहण करता है। वह किसी भी गृहस्थ को आहार देने के लिए विवश नहीं करता और न जबरदस्ती से आहार ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति मे कभी वह सामान्य घर में गृहस्थ के साथ प्रवेश करे और उस गृहपति की साधु को आहार देने की स्थिति न हो या इच्छा न हो, परन्तु उस साथ के गृहस्थ की लज्जा या दबाव के कारण वह साधु को आहार देवे तो इससे साधु के संयम मे दोष लगता है अतः साधु को गृहस्थ के साथ किसी के घर मे प्रवेश नहीं करना चाहिए।

अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं करता है तो उक्त स्थिति पैदा हो सकती है और उसे ग्रहण करता है तो उसके संयम में दोष लगता है। इसके अतिरिक्त सबको एक साथ भिक्षा के लिए आया हुआ मान कर गृहस्थ पर भी बोझ पड़ सकता है और कभी किसी को न देने की इच्छा रखते हुए भी लज्जावश उसे देना पड़ता है, परन्तु अन्दर में बोझ सा अनुभव कर सकता है। इन सब दोषों से बचने के लिए मुनि को गृहस्थ, पार्श्वस्थ साधु एवं अन्य मत के सन्यासियों के साथ किसी भी गृहस्थ के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

शौच के लिए जाते समय उपरोक्त व्यक्तियों का साथ करने में भी संयम में अनेक दोष लगते हैं। प्रथम तो उनके पास अप्रासुक (सचित्त) पानी होगा। अतः उनसे बात-चीत करने मे उन पानी के जीवो की विराधना होगी। दूसरे साधु को रास्ते चलते हुए बोलना नहीं चाहिए। यदि वह बाते करता चलता है तो वह मार्ग को भली भांति नहीं देख सकता। और यदि उन से बातें नहीं करता है तो वे नाराज भी हो सकते हैं और अन्ट-सन्ट शब्द भी बोल सकते हैं। तीसरे यदि उनके आगे-आगे चले तो उन्हें अपना अपमान महसूस हो सकता है और उनके पीछे चलने से जैन धर्म की लघुता होती है और बराबर चलने पर सचित्त पानी का स्पर्श होने की संभावना है। चौथे में वह शौच के लिए निर्दोष भूमि नहीं देख सकता। उनके सामने भी नहीं बैठ सकता। इसलिए कभी उसे बहुत दूर जाने पर भी योग्य स्थान न मिलने पर जैसे-तैसे स्थान पर शौच बैठना पड़ता है। अतः गृहस्थ आदि के साथ शौच जाने से अनेक दोष लगते हैं। इस कारण साधु को उनके साथ शौच को नहीं जाना चाहिए।

स्वाध्याय भूमि में भी उनके साथ प्रवेश करने में सचित्त जल के अतिरिक्त अन्य सभी दोष लगते हैं। इसके अतिरिक्त उनसे बातें करते रहने के कारण स्वाध्याय मे विघ्न पड़ता है। इसलिए साधु को स्वाध्याय के लिए भी गृहस्थ आदि के साथ नहीं जाना चाहिए।

विहार के समय उनके साथ जाने से वह बातों मे उलझा रहने के कारण अच्छी तरह से मार्ग नहीं देख सकेगा। तथा बातों में समय बहुत लग जाने के कारण समय पर पहुंच नहीं सकेगा। तथा यथासमय आवश्यक क्रियाएं भी नहीं कर सकेगा। कभी पेशाब आदि की बाधा होने पर वह संकोच वश कर नहीं सकेगा और उसे रोकने से अनेक बीमारियों का शिकार हो जाएगा। और पेशाब करना चाहे तो उनके सामने तो कर नहीं सकता, इसलिए उसे एकान्त एवं निर्दोष स्थान ढूंढने के लिए बहुत दूर जाना पड़ेगा या फिर सदोष स्थान में ही मल त्याग करना होगा।

इस तरह आहार, शौच, स्वाध्याय एवं विहार मे गृहस्थ आदि के साथ जाने से

सयम में अनेक दोष लगते हैं और अन्य मत के भिक्षुओं के अधिक परिचय से साधु की श्रद्धा एवं संयम में शिथिलता एवं विपरीतता भी आ सकती है तथा उनके घनिष्ठ परिचय के कारण श्रावकों के मन में संन्देह भी पैदा हो सकता है। इन्हीं सब कारणों से साधु को उनके साथ घनिष्ट परिचय करने एवं भिक्षा आदि के लिए उनके साथ जाने का निषेध किया गया है, न कि किसी द्वेष भाव से। अतः साधु को अपने संयम का निर्दोष पालन करने के लिए स्वतन्त्र रूप से गृहस्थ आदि के घर में प्रवेश करना चाहिए ।

इनके साथ आहार आदि का लेन-देन करने से भी संयम में अनेक दोष लग सकते हैं, अतः उनके साथ आहार-पानी के लेन-देन का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे नो अन्नउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहारियस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दिज्जा वा अणुपइज्जा वा ॥५॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा० यावत् प्रविष्टः सन् न अन्यतीर्थिकाय वा गृहस्थाय वा पारिहारिको वा अपरिहारिकाय अशन वा पान वा खादिमं वा स्वादिमं वा दद्याद् वा अनुप्रदापयेद् वा ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु या । भिक्खुणी वा—साध्वी । जाव—यावत् । गृहस्थ के घर मे । पविट्ठे समाणे—प्रवेश करते हुए । अन्नउत्थियस्सवा—अन्यतीर्थी के लिए अथवा । गारत्थियस्स—गृहस्थी के लिए । परिहारिओ—दोष दूर करने वाला उत्तम साधु । अपरिहारियस्स—पार्श्वस्थादि साधु के लिए । असणं वा—अन्न अथवा । पाणं वा—पानी । खाइमं वा—या खादिम पदार्थ अथवा । साइमं वा—स्वादिम वस्तु । नो दिज्जावा—न देवे या । अणुपइज्जावा—न दिलावे ।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी, अन्यतीर्थी पर-पिंडोपजीवी गृहस्थ-याचक और पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी साधु को, निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने वाला श्रेष्ठ साधु अन्न, जल, खादिम और स्वादिम

रूप पदार्थों को न तो स्वय देवे और न किसी से दिलावे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी एवं अन्य मत के साधुओं को आहार-पानी नही देना चाहिए। इससे संयम मे अनेक दोष लगने की संभावना है। उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण श्रद्धा मे शिथिलता एवं विपरीतता आ सकती है। लोगों के मन में यह भी बात घर कर सकती है कि ये अन्य मत के साधु अधिक प्रतिष्ठित एवं श्रेष्ठ हैं, तभी तो ये मुनि भी इनका आहार पानी से सम्मान करते हैं। इससे वे श्रावक (गृहस्थ) उनका सम्मान करने लगेंगे और फलस्वरूप मिथ्यात्व की अभिवृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त अन्य मत के साधुओं को आहार देने से सबसे बड़ा दोष गृहस्थ की चोरी का लगेगा। क्योंकि गृहस्थ के घर से वह साधु अपने एवं अपने साथियों (सहधर्मी एवं संभोगी मुनियों) के लिए आहार लाया है। ऐसी स्थिति में वह अन्य मत के भिक्षुओं को आहार देता है, तो उसे गृहस्थ की चोरी लगती है। गृहस्थ को मालूम होने पर साधु पर अविश्वास भी हो सकता है कि यह तो हमारे यहां से भिक्षा लेजाकर बांटता फिरता है। इस तरह के और भी अनेक दोष लगने की संभावना है। इस लिए मुनि को अपने सभोगी साधु के अतिरिक्त अन्यमत के साधुओं को आहार आदि नही देना चाहिए। यह प्रतिबन्ध संयम सुरक्षा की दृष्टि से है, न कि दया एवं स्नेहभाव को रोकने के लिए।

साधु को सदा एषणीय आहार ग्रहण करना चाहिए। अनेषणीय आहार की अग्राह्यता के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा जाव समाणे असणं वा ४ अस्सं-पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, तं तहप्पगारं असणं वा ४ पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया नीहडं वा अनीहडं वा अत्तट्ठियं अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तंवा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं जाव नो पडिग्गा-**

हिज्जा.एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणी-
ओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ॥६॥

छाया—स भिक्षुर्वा० यावत् सन् अशनं वा ४ अस्य प्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणिनः भूतानि, जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीत [पामिच्चं] प्रामित्य आच्छेद्यं अनिसृष्ट अभ्याहृतं आहृत्य ददाति, तत् तथा प्रकार अशनं वा ४ पुरुषान्तरकृतं वा अपुरुषान्तरकृत वा बहिर्निर्गतं वा अनिर्गतं वा आत्मार्थिकं वा अनात्मार्थिकं वा परिभुक्त वा अपरिभुक्त वा आसेवित वा अनासेवितं वा अप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृह्णीयात् एव बहून् साधर्मिकान् एकां साधर्मिकीं बह्वीः साधर्मिकीः समुद्दिश्य चत्वारः आलापकाः भणितव्याः ।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। जाव—यावत्। समाणे—घर में प्रवेश करता हुआ। असणं वा ४—अशनादि। अस्सिंपडियाए—साधु की प्रतिज्ञा से। एगं—एक। साहम्मियं—साधर्मिक को। समुद्दिस्स—उद्देश करके। पाणाइं—प्राणि। भूयाइं—भूत। जीवाइं—जीव और। सत्ताइं—सत्त्वों का। समारब्भ—समारम्भ करके। समुद्दिस्स—उद्देश्य करके—(इस सूत्र से सर्व अविशुद्ध कोटि ग्रहण की गई है) तथा। कीय—साधु के निमित्त मोल लेकर। पामिच्च—साधु के निमित्त उधार लेकर। अच्छिज्ज—साधु के निमित्त दूसरे से छीनकर। अणिसट्ठ—साझे की वस्तु को दूसरे साथी की बिना आज्ञा लेकर या। अभिहडं—गृहस्थ के लाकर। आहट्टु—कोई चीज देता है। त—वह। तहप्पगारं—तथा प्रकार—इस प्रकार का। असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। पुरिसंतर कडं वा—पुरुषान्तर कृत—दाता से भिन्न पुरुष का किया हुआ। अपुरिसंतर कडं वा—अथवा दाता का किया हुआ। बहिया—घर से बाहर। नीहडं वा—निकाला हुआ अथवा। अनीहडं वा—न निकाला हुआ। अत्तट्ठियं वा—दाता ने स्वीकार किया हुआ। अणत्तट्ठियं वा—दाता ने अपना स्वीकार न किया हुआ। परिभुत्तं वा—दाता ने उस आहार में से कुछ भोग लिया। अपरिभुत्तं वा—अथवा नहीं भोगा। आसेवियं वा—उस आहार में से कुछ आस्वादन किया। अणासेवियं वा—अथवा आस्वादन नहीं किया है, ऐसा। अफासुयं वा—अप्रासुक। जाव—यावत् अनेषणीय आहार मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे। एवं—इसी प्रकार। बहवे—बहुत से। साहम्मिया—सधर्मियों को उद्देश्य करके तैयार

किया हुआ आहार। एगं साहम्मिणिं—एक साध्वी को। बहवे—बहुत सी। साहम्मिणिओ—साध्वियो को। समुद्दिस्स—उद्देश्य रख कर आहार बनाया गया हो तो वह भी स्वीकार करना नही कल्पता। चत्तारि—चार। आलावगा—आलापक सूत्र। भाणियव्वा—कहने चाहियें।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट साधु-साध्वी इस बात की गवेषणा करे कि किसी भद्र गृहस्थ ने एक साधु का उद्देश्य रखकर प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो का आरम्भ करके आहार बनाया हो, तथा साधु के निमित्त मोल लिया हो, उधार लिया हो, किसी निर्बल से छीनकर लिया हो, एव साधारण वस्तु दूसरे की आज्ञा के बिना दे रहा हो, और साधु के स्थान पर घर से लाकर दे रहा हो, इस प्रकार का आहार लाकर देता हो तो इस प्रकार का अन्न जल, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ, पुरुषान्तर-दाता से भिन्न पुरुपकृत, अथवा दाता कृत हो, घर से बाहर निकाला गया हो या न निकाला गया हो, दूसरे ने स्वीकार किया हो अथवा न किया हो, आत्मार्थ किया गया हो, या दूसरे के निमित्त किया गया हो, उसमे से खाया गया हो अथवा न खाया गया हो, थोडा सा आस्वादन किया हो या न किया हो, इस प्रकार का अप्रासुक अनेपणीय आहार मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। इसी प्रकार बहुत से साधुओ के लिए बनाया गया हो, एक साध्वी के निमित्त बनाया गया हो अथवा बहुत सी साध्वियो के निमित्त बनाया गया हो वह भी ग्राह्य अर्थात् स्वीकार करने योग्य नही है। इसी भांति चारो आलापक जानने चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सदोष आहार के भी दो विभाग किए गए हैं— विशुद्ध कोटि और अविशुद्ध कोटि। साधु के निमित्त जीवों की हिंसा करके बनाया गया आहार आदि अविशुद्ध कोटि कहलाता है और प्रत्यक्ष मे किसी जीव की हिंसा न करके साधु के लिए खरीद कर लाया हुआ आहार आदि विशुद्ध कोटि कहलाता है। किसी व्यक्ति से उधार लेकर, छीनकर या जिस व्यक्ति की वस्तु है उसकी विना आज्ञा से या किसी के घर से लाकर दिया गया हो वह भी विशुद्ध कोटि कहलाता है। इसे विशुद्ध कहने का

तात्पर्य यह है कि इस आहार आदि को तैयार करने में साधु के निमित्त हिंसा नहीं करनी पड़ी। क्योंकि वह वेचने एवं अपने खाने के लिए ही वनाया गया था। फिर भी दोनों तरह का आहार साधु के लिए अग्राह्य है।

पहले प्रकार के आहार की अग्राह्यता स्पष्ट है कि उसमें साधु को उद्देश्य करके हिंसा की जाती है। दूसरे प्रकार के आहार में प्रत्यक्ष हिंसा तो नहीं होती है, परन्तु साधु के लिए पैसे का खर्च होता है और पैसा आरम्भ से पैदा होता है। और जो पदार्थ उधार लिए जाते हैं उन्हें वापिस लौटाना होता है और वापिस लौटाने के लिये आरम्भ करके ही उन्हें वनाया जाता है। किसी कमजोर व्यक्ति से छीनकर देने से उस व्यक्ति पर साधु के लिये वल प्रयोग किया जाता है और इससे उसका मन अवश्य ही दुःखित होता है और किसी व्यक्ति को कष्ट देना भी हिंसा का ही एक रूप है। किसी व्यक्ति के अधिकार की वस्तु को उसे विना पूछे देने से उसे मालूम पड़ने पर दोनों मे संघर्ष हो सकता है। इन सब दृष्टियों से इस तरह दिए जाने वाले पदार्थों मे प्रत्यक्ष हिंसा परिलक्षित नहीं होने पर भी वे हिंसा के कारण वन सकते हैं, इसलिए साधु को दोनों तरह का आहार सदोष समझकर त्याग देना चाहिए।

विशुद्ध एवं अविशुद्ध कोटि में इतना अन्तर अवश्य है कि विशुद्ध कोटि पदार्थ पुरुषान्तर कृत होने पर साधु के लिए ग्राह्य माने गए हैं। जैसे साधु के उद्देश्य से खरीद कर लाया गया वस्त्र किसी व्यक्ति ने अपने उपयोग में ले लिया है और इसी प्रकार साधु के निमित्त खरीदा गया मकान गृहस्थों के अपने काम मे आ गया है तो फिर वह साधु के लिए अग्राह्य नहीं रहता। परन्तु, अविशुद्ध कोटि—आधाकर्मी, औद्देशिक आदि दोष युक्त पदार्थ पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत हो किसी भी तरह से साधु के लिए ग्राह्य नहीं है। एक या बहुत से साधु-साध्वियों के लिए वनाया गया आहार आदि एक या वहुत से धुसा-साध्वियों के लिए ग्राह्य नही है*।

प्रस्तुत सूत्र मे 'पुरिसंतरकड वा अपुरिसंतरकड' पाठ आया है। इसका तात्पर्य यह है—दाता के अतिरिक्त व्यक्ति द्वारा उपभोग किया हुआ पदार्थ पुरुषान्तरकृत कहलाता है और दाता द्वारा उपभोग में लिया गया पदार्थ अपुरुषान्तरकृत कहा जाता है।

---

* यह नियम पहले और अन्तिम तीर्थंकर भगवान के शासन मे होने वाले साधु-साध्वियो के लिए है। अवशेष २२ तीर्थंकरो के साधु-साध्वियो के लिए यह प्रतिवन्ध नही है। उनके लिए इतना ही विधान है कि जिस साधु-साध्वी के निमित्त आहार आदि तैयार किया गया हो वह साधु—साध्वी उसे ग्रहण न करे। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है।

सदोष आहार के निषेध का वर्णन पहले अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया है। और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि शुद्ध आहार जीवन को शुद्ध, सात्विक एवं उज्ज्वल बनाता है। इसके पहले के सूत्रों में हम देख चुके हैं कि साधक की साधना चिन्तन-मनन के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण करके उसे निष्कर्म बनाने के लिए है। इसके लिए स्वाध्याय एवं ध्यान आवश्यक है और इनकी साधना के लिये मन का एकाग्र होना जरूरी है और वह शुद्ध आहार के द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि मन पर आहार का असर होता है। यह लोक कहावत भी प्रसिद्ध है कि 'जैसा खावे अन्न वैसो रहे मन।' इससे स्पष्ट होता है कि आहार का मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हुआ है। अशुद्ध, तामसिक एवं सदोष आहार मन को विकृत बनाए बिना नहीं रहता। इसलिए आगमों में साधु के लिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वह सदोष एवं अनेषणीय आहार को ग्रहण न करे। उपनिषद् में भी बताया गया है कि आहार की शुद्धि से सत्त्व शुद्ध रहता है और उसकी शुद्धि से स्मृति स्थिर रहती है अर्थात् मन एकाग्र बना रहता है*।

अशुद्ध आहार स्वीकार न करने के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

**मूलम्—से भिक्खू वा जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ बहवे समणा माहणा अतिहि किवणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स पाणाइं वा ४ समारब्भ जाव नो पडिग्गाहिज्जा ॥७॥**

छाया—स भिक्षुर्वा यावत् सन् यत् पुनः जानीयात् अशनं वा ४ बहून् श्रमणान् ब्राह्मणान् अतिथीन् कृपण वनीपकान् प्रगणय्य २ समुद्दिश्य प्राणादीन् वा ४ समारभ्य यावद् न प्रतिगृह्णीयात्।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। जाव—यावत्। समाणे—घर में प्रवेश किए हुए। से—वह। ज—जो। पुण—फिर। असण वा—अशनादिक को। जाणिज्जा—जाने यथा। बहवे—बहुत से। समणा—शाक्यादि भिक्षु। माहणा—ब्राह्मण।

---

* आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

— छान्दोग्योपनिषद्।

अतिहि—अतिथि। किवण—कृपण-दरिद्र। वणीमए—भिखारी इन सब को। पगणिय २—गिन २ कर। समुद्दिस्स—इनको उद्देश्य कर। पाणाइं वा—प्राणि आदि का। समारब्भ—आरम्भ कर जो आहार तैयार किया गया हो वह। जाव—यावत् मिलने पर। नोपडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इस बात का अन्वेषण करे कि जो आहारादि बहुत से शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, भिखारी आदि को गिन-गिन कर या उनके उद्देश्य से जीवों का आरम्भ-समारम्भ करके बनाया हो, उसे साधु ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि किसी गृहस्थ ने शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, भिखारी आदि की गणना करके उनकेलिए आहार तैयार किया है। जबकि यह आहार साधु के उद्देश्य से नहीं बनाया गया फिर भी साधु के लिए अग्राह्य है। क्योंकि बौद्ध भिक्षु एवं जैन साधु दोनों के लिए 'श्रमण' शब्द का प्रयोग होता है, अतः संभव है कि गृहस्थ ने उस आहार के बनाने में उन्हें भी साथ गिन लिया हो। इसके अतिरिक्त ऐसा आहार ग्रहण करने से लोगों के मन में यह शका भी उत्पन्न हो सकती है कि अन्य भिक्षुओं की तरह जैन साधु भी अपने लिए बनाए गए आहार को लेते ह। और उक्त आहार मे से ग्रहण करने से— जिन व्यक्तियों के लिए वह आहार बनाया गया है, उनका अन्तराय भी लगती है तथा उनके लिए बनाए गए आहार को लेने के लिए जैन साधु को जाते हुए देखकर उनके मन में द्वेष भी जाग सकता है। इसलिए जैन साधु को ऐसा आहार भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

अब विशुद्ध कोटि के अनेषणीय आहार के विषय में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा-असणं वा ४ बहवे समणा माहणा अतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स जाव चेएइ तं तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं वा अबहिया नीहडं अणत्तट्ठियं

अपरिभुत्तं अणासेवियं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडं बहिया नीहडं अत्तट्ठियं परिभुत्तं आसेवियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥८॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा० यावत् प्रविष्टः सन् स यत् पुनः जानीयात्-अशनं वा ४ बहून् श्रमणान् ब्राह्मणान् अतिथीन् कृपणवणीमकान् समुद्दिश्य यावद् ददाति तं तथाप्रकार अशनं वा ४ अपुरुषान्तर कृतं वा अबहिर्निर्गतं अनात्मीकृत अपरिभुक्तं अनासेवितं, अप्रासुक अनेषणीयं न प्रतिगृण्हीयात्। अथ पुनः एवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं बहिर्निर्गतं, आत्मीकृतं परिभुक्तं आसेवितं प्रासुक एषणीयं यावत् प्रतिगृण्हीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या। भिक्खुणी वा—साध्वी। जाव—यावत्। पविट्ठे समाणे—घर में प्रवेश करने पर। से—वह साधु या साध्वी। जं—जो। पुण—पुनः जाणिज्जा—जाने। असण वा ४—अशनादिक आहार। बहुवे—बहुत। समणा—शाक्यादि भिक्षु। माहणा—ब्राह्मण। अतिहि—अतिथि। किवण—कृपण-दरिद्री। वणीमए—भिखारी। समुद्दिस्स—इनको उद्देश्य कर। जाव—यावत्। चेएइ—देता है। तं—उस। तहप्पगार—तथा प्रकार के। असण वा ४—अशनादि-अन्नादि चतुर्विध आहार जो कि। अपुरिसंतर कडं वा—पुरुषान्तर कृत नही है अथवा। अबहिया नीहडं—जो घर से बाहर नहीं निकाला गया है। अणत्तट्ठिय—दाता ने अपना नही बनाया है। अपरिभुत्त—और न उसमे से किसी ने खाया है एव। अणासेवियं—किसी ने आसेवन भी नहीं किया है, ऐसे। अफासुय—अप्रासुक-सचित्त। अणेसणिज्जं—अनेषणीय-सदोष आहार को। जाव—यावत् मिलने पर जैन भिक्षु। नो पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे।

अह—अथ। पुण—पुन—फिर यदि। एव जाणिज्जा—इस प्रकार जाने कि यह अशनादिक चतुर्विध आहारादि पदार्थ। पुरिसंतर कडं—पुरुषान्तरकृत है। बहियानीहडं—बाहर निकाला गया है। अत्तट्ठिय—अपना किया हुआ है। परिभुत्त—खाया हुआ है। आसेवियं—सेवन किया हुआ है। फासुयं—प्रासुक-अचित्त है और। एसणिज्जं—एषणीय निर्दोष है। जाव—यावत्—ऐसा आहार मिलने पर साधु। पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण करे।

मूलार्थ—गृहस्थ कुल में प्रवेश करने पर साधु-साध्वी इस प्रकार जाने कि अशनादिक चतुर्विध आहार जो कि शाक्यादिभिक्षु, ब्राह्मण अतिथि दीन और भिखारियों के निमित्त तैयार किया गया हो और दाता उसे देवे तो इसप्रकार के अशनादि आहार को जो कि अन्य पुरुष कृत न हो, घर से बाहर न निकाला गया हो, अपना अधिकृत न हो, उस में से खाया या आसेवन न किया गया हो तथा अप्रासुक और अनेषणीय हो, तो साधु ऐसा आहार भी ग्रहण न करे।

और यदि साधु इस प्रकार जाने कि यह आहार आदि पदार्थ अन्य कृत है, घर से बाहर ले जाया गया है, अपना अधिकृत है तथा खाया और भोगा हुआ है एवं प्रासुक और एषणीय है तो ऐसे आहार को साधु ग्रहण करले।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि किसी गृहस्थ ने शाक्यादि भिक्षुओं के लिए आहार बनाया है और वह आहार अन्यपुरुषकृत नहीं हुआ है, बाहिर नहीं ले जाया गया है, किसी व्यक्ति ने उसे खाया नहीं है और वह अप्रासुक एवं अनेषणीय है, तो साधु के लिए अग्राह्य है। यदि वह आहार पुरुषान्तर हो गया है, लोग घर से बाहर ले जा चुके हैं दूसरे व्यक्तियों द्वारा खा लिया गया है और वह प्रासुक एवं एषणीय है, तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का पूर्व सूत्र की अपेक्षा एवं 'पुन' शब्द का विशेषणार्थ में प्रयोग किया गया है।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंड-वायपडियाए पविसिउकामे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा-इमेसु खलु कुलेसु निइए पिंडे दिज्जइ अग्गपिंडे दिज्जइ नियए

भाए दिज्जइ अवड्ढभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं निइयाइं निइउमाणाइं नो भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा। एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सहिए सया जए ॥६॥ त्तिबेमि

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपति कुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुकामः तत् यानि पुन. कुलानि जानीयात्—इमेषु खलु कुलेषु नित्य पिण्डः दीयते, अग्रपिण्डः दीयते, नित्यं भागः दीयते नित्यमु अपार्द्ध भागः दीयते, तथा प्रकाराणि कुलानि नित्यानि नित्य मुमाणंति (प्रवेशः) नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेद् निष्क्रमेद् वा एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्य यत् सर्वार्थैः समित· सहितः सदा यतेत। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। भिक्खु वा—भिक्षु—साधु वा। भिक्खुणी वा—साध्वी। गाहावइ कुलं—गृहपति के कुल मे। पिंडवाय पडियाए—आहार लाभ की प्रतिज्ञा से। पविसिउकामे—प्रवेश करने की इच्छा रखता हुआ। से—वह—साधु। जाइ—जो। पुण—फिर। कुलाइ—कुलो को। जाणिज्जा—जाने। खलु—वाक्यालकार अर्थ में है। इमेसु—कुलेसु—इन कुलो मे। निइए—नित्य। पिंडे दिज्जइ—आहार दिया जाता है। अग्गपिंडे दिज्जइ—अग्रपिंड—प्रथम आहार दिया जाता है। नियए भाए दिज्जइ—नित्य भाग दिया जाता है। नियए अवड्ढभाए दिज्जइ—नित्य चतुर्थ भाग दिया जाता है। तहप्पगाराइं कुलाइं—इस प्रकार के कुलो में। निइउमाणाइं—नित्य ही स्वपक्ष और पर पक्ष के साधु दान के लिए प्रवेश करते हैं। नो भत्ताए वा पाणाए वा—इस प्रकार के कुलो मे भक्तपान—अन्न और जल आदि के लिए न तो। पविसिज्ज वा—प्रवेश करे और। निक्खमिज्ज वा—निकले। खलु—वाक्यालंकार मे है। एयं—यह। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु और। भिक्खुणीए वा—साध्वी की। सामग्गिय—समग्रता समाचारी है। ज—जो कि। सव्वट्ठेहिं—सर्व अर्थो अर्थात् शब्दादि अर्थों में। समिए—सयत है। सहिए—हित युक्त है—अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र से युक्त है। सए—सदा। जए—प्रयत्न करे सयम युक्त होवे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—गृहस्थ के कुल मे आहार प्राप्ति के निमित्त प्रवेश करने

की इच्छा रखने वाले साधु या साध्वी इन वक्ष्यमाण कुलो को जाने, जिन कुलो मे नित्य आहार दिया जाता है, अग्रपिंड आहार मे से निकाला हुआ पिंड दिया जाता है, नित्य अर्द्ध भाग आहार दिया जाता है, नित्य चतुर्थ भाग आहार दिया जाता है, इस प्रकार के कुलो मे जो कि नित्यदान देने वाले है तथा जिन कुलो मे भिक्षुओ का भिक्षार्थ निरन्तर प्रवेश हो रहा है ऐसे कुलो मे अन्न पानादि के निमित्त साधु न जावे। यह साधु और साध्वी की समग्रता अर्थात् निर्दोष वृत्ति है वह सर्व शब्दादि अर्थो मे यत्नवाला, संयत अथवा ज्ञान दर्शन और चारित्र से युक्त है। अतः वह इस वृत्ति का परिपालन करने मे सदा यत्नशील हो। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे इस बात का आदेश दिया गया है कि साधु को निम्न कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। जिन कुलों मे नित्य-प्रति दान दिया जाता है, जिन कुलों में अग्रपिंड— जो आहार पक रहा हो उसमें से कुछ भाग पहले निकाल कर रखा हुआ आहार—दिया जाता है, जिन कुलों मे आहार का आधा या चतुर्थ हिस्सा दान मे दिया जाता है और जिन कुलों मे शाक्यादि भिक्षु निरन्तर आहार के लिए जाते हों, ऐसे कुलों मे जैन साधु-साध्वी को प्रवेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे घरों में भिक्षा को जाने से या तो उन भिक्षुओं को—जो वहां से सदा-सर्वदा भिक्षा पाते हैं, अंतराय लगेगी या उन भिक्षुओं के लिए फिर से आरम्भ करके आहार बनाना पड़ेगा। इसलिए साधु को ऐसे घरों से आहार नहीं लेना चाहिए।

जैन साधु सर्वथा निर्दोष आहार ही ग्रहण करता है। इस बात को सूत्रकार ने 'सव्वट्ठेहिं समिए ....' इत्यादि पदों से अभिव्यक्त किया है। इनका स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है— मुनि सरस एवं नीरस जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध होता है, उसे समभाव से ग्रहण करता है। वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों से अनासक्त रहता है। वह पांच समिति से युक्त है, राग-द्वेष से दूर रहने का प्रयत्न करता है वह रत्न-त्रय— ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त होने से संयत है। और वह

भाए दिज्जइ अवड्ढभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं निइयाइं निइउमाणाइं नो भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा। एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सहिए सया जए ॥६॥ त्तिबेमि

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपति कुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुकामः तत् यानि पुन. कुलानि जानीयात्—इमेषु खलु कुलेषु नित्य पिण्डः दीयते, अग्रपिण्डः दीयते, नित्यं भागः दीयते नित्यमु अपार्द्ध भागः दीयते, तथा प्रकाराणि कुलानि नित्यानि नित्य मुमाणंति (प्रवेशः) नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेद् निष्क्रमेद् वा एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्य यत् सर्वार्थैः समित· सहितः सदा यतेत। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। भिक्खु वा—भिक्षु-साधु वा। भिक्खुणी वा—साध्वी। गाहावइ कुलं—गृहपति के कुल मे। पिंडवाय पडियाए—आहार लाभ की प्रतिज्ञा से। पविसिउकामे—प्रवेश करने की इच्छा रखता हुआ। से—वह-साधु। जाइ—जो। पुण—फिर। कुलाइ—कुलो को। जाणिज्जा—जाने। खलु—वाक्यालकार अर्थ में है। इमेसु—कुलेसु—इन कुलो मे। निइए—नित्य। पिंडे दिज्जइ—आहार दिया जाता है। अग्गपिंडे दिज्जइ—अग्रपिंड-प्रथम आहार दिया जाता है। नियए भाए दिज्जइ—नित्य भाग दिया जाता है। नियए अवड्ढभाए दिज्जइ—नित्य चतुर्थ भाग दिया जाता है। तहप्पगाराइं कुलाइं—इस प्रकार के कुलो में। निइउमाणाइ—नित्य ही स्वपक्ष और पर पक्ष के साधु दान के लिए प्रवेश करते हैं। नो भत्ताए वा पाणाए वा—इस प्रकार के कुलो मे भक्तपान—अन्न और जल आदि के लिए न तो। पविसिज्ज वा—प्रवेश करे और। निक्खमिज्ज वा—निकले। खलु—वाक्यालंकार मे है। एयं—यह। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु और। भिक्खुणीए वा—साध्वी की। सामग्गियं—समग्रता समाचारी है। जं—जो कि। सव्वट्ठेहिं—सर्व पर्थो अर्थात् शब्दादि अर्थों में। समिए—सयत है। सहिए—हित युक्त है—अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र से युक्त है। सए—सदा। जए—प्रयत्न करे सयम युक्त होवे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—गृहस्थ के कुल मे आहार प्राप्ति के निमित्त प्रवेश करने

निर्दोष मुनिवृत्ति का परिपालन करता है, यही उसकी समग्रता है*।

'त्तिबेमि' पद से सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये विचार मेरी कल्पना-मात्र नहीं हैं। आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे जम्बू! मैंने जैसा भगवान महावीर के मुख से सुना है वैसा ही तुम्हें बता रहा हूँ।

प्रथम उद्देशक समाप्त

प्रथम उद्देशक समाप्त

*सर्वार्थ—सरसविरसादिभिराहारगतैः यदि वा रूपरसगन्धस्पर्शगतैः सम्यगितः समितः संयत इत्यर्थं। पञ्चभिर्वासमितिभिः समितः शुभेतरेषु रागद्वेपविरहित इति यावत् एवंभूतश्च सहहितेन वर्तते इति सहितः, सहितो वा ज्ञान दर्शन चारित्रैः।

—आचारांग वृत्ति २,१,१,९।

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## द्वितीय उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन आहार से संबद्ध है अतः पहले उद्देशक में वर्णित आहार ग्रहण करने की विधि का प्रस्तुत उद्देशक में विशेष रूप से वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा-असणं वा ४ अट्ठमिपोसहिएसु वा अद्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उऊसंधीसु वा उऊपरियट्टेसु वा बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए चउहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए। कुंभीमुहाओ वा कलोवाइओ वा संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवियं अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडं जाव आसेवियं फासुयं पडिग्गाहिज्जा ॥१०॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपति कुल पिंडपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्ट सन् तद् यत् पुनः जानीयाद् अशन वा ४ अष्टमीपौषधिकेषु वा अर्द्धमासिकेषु वा मासिकेषु वा द्विमासिकेषु वा त्रिमासिकेषु वा चतुर्मासिकेषु वा पंचमासिकेषु वा षण्मासिकेषु वा ऋतुषु वा ऋतु सन्धिषु वा ऋतु परिवर्तनेषु आ बहून्श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीमगानेकस्मात् पिठरकाद् परिवेष्टमाणः प्रेक्ष्य द्वाभ्यामुक्खाभ्या (पिठरकाभ्या) प्ररिवेष्यमाणः प्रेक्ष्य त्रिभिः उक्खाभिः परिवेष्यमाणः प्रेक्ष्य चतुर्भिः उक्खाभिः परिवेष्यमाण प्रेक्ष्य कुम्भीमुखाद् वा [पिच्छी पिटक वा] संनिधिसंनिचयाद् वा परिवेष्यमाण. प्रेक्ष्य तथा प्रकारं अशनं वा ४ अपुरुषान्तरं कृत यावद् अनासेवितमप्रासुक यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् । अथ पुनरेव जानीयात् पुरुषान्तर कृतं यावद् आसेवित प्रासुक प्रतिगृण्हीयात् ।

पदार्थ—से — वह । भिक्खूवा—भिक्षु-साधु । भिक्खुणी वा— अथवा साध्वी । गाहावइ कुल—गृहपति के कुल मे । पिंडवाय पडियाए—भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा से । अणुपविट्ठेसमाणे—प्रवेश करता हुआ । से—वह-भिक्षु । ज—जो । पुण—फिर । जाणिज्जा—जाने-ज्ञान प्राप्त करे । असण वा—अन्नादि चतुर्विध आहार । अट्ठमिपोसहिएसु वा—अष्टमी पौषध—व्रत विशेष के महोत्सव मे अथवा । अद्धमासिएसुवा—अर्द्धमासिक व्रत विशेष के महोत्सव में । मासिएसु वा—मासिक व्रत विशेष के महोत्सव में । दोमासिएसु वा—द्विमासिक व्रत विशेष के महोत्सव मे । तेमासिएसुवा—त्रैमासिक व्रत विशेष के महोत्सव में । चउमासिएसु—चातुर्मासिक व्रत विशेष के महोत्सव मे । पंचमासिएसु वा—पाच मासिक व्रत विशेष के महोत्सव मे । छम्मासिएसु वा—षाण्मासिक व्रत विशेष के महोत्सव में । उऊसु वा—ऋतु के मोसम मे । उऊसधीसु वा—ऋतुओ की सन्धि में । उऊपरियट्टेसुवा—ऋतु परिवर्तन में । बहवे—बहुत से । समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे—श्रमण ब्राह्मण अतिथि, कृपण और भिखारी इन सबको । एगाओ उक्खाओ—एक बर्तन से । परिएसिज्जमाणे—परोसता हुआ । पेहाए—देख कर । दोहि उक्खाहिं—दो वर्तनो से । परिएसिज्जमाणे—परोसता हुआ । पेहाए—देखकर । तिहिं—तीन । उक्खाहि—बर्तनो से । परिएसिज्जमाणे—परोसता हुआ । चउहि—चार । उक्खाहिं—वर्तनो से । परिएसिज्जमाणे—परोसता हुआ । पेहाए—देखकर । कुम्भीमुहाओ—छोटे मुह वाले वर्तन से । वा—अथवा । कलोवाइओ वा—वास की टोकरी से । सनिहि संनिचयाओ वा—संचय किए हुए स्निग्ध घृतादि में से ।

परिएसिज्जमाणे—परोसता हुआ। पेहाए—देखकर। तहप्पगार—इस प्रकार का। असणं या ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। अपुरिसंतर कडं वा—अपुरुषान्तरकृत अर्थात् जो पुरुषान्तर—अन्यपुरुष कृत नहीं है। जाव—यावत्। अणासेवियं—अनासेवित। अफासुय—अप्रासुक। जाव—यावत् मिलने पर। नो पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे। अह—अथ। पुण—पुन। एवं—इस प्रकार। जाणिज्जा जाने। पुरिसंतरकडं—पुरुषान्तर कृत। आसेवियं—आसेवित। फासुयं—प्रासुक आहार। जाव—यावत् मिलने पर। पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण करले।

मूलार्थ—वह साधु व साध्वी गृहस्थो के घर में आहार प्राप्ति के निमित्त प्रविष्ट होने पर अशनादि चतुर्विध आहार आदि के विषय में इस प्रकार जाने-यह अशनादि आहार अष्टमी पौषध-व्रत विशेष के महोत्सव में एवं अर्द्धमासिक, मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चतमासिक, पंचमासिक और षाण्मासिक महोत्मव में, तथा ऋतु, ऋतुसन्धि और ऋतु परिवर्तन महोत्सव मे बहुत से श्रमण शाक्यादिभिक्षु, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियों को एक बर्तन से, दो बर्तनों से एवं तीन और चार बर्तनों से परोसते हुए देखकर तथा छोटे मुखकी कुम्भी और बांस की टोकरो से परोसते हुए देखकर एवं संचित किये हुए घी आदि पदार्थों को परोसते हुए देखकर इस प्रकार के अशनादि चतुर्विध आहार जो पुरुषान्तर कृत नहीं है यावत् अनासेवितअप्रासुक है ऐसे आहार को मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। और यदि इस प्रकार जाने कि यह आहार पुरुषान्तर कृत यावत् आसेवित प्रासुक और एषणीय है तो मिलने पर ग्रहण करले।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को उस समय गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए या प्रविष्ट हो गया है तो उसे आहार नहीं ग्रहण करना चाहिए— जिसके यहां अष्टमी के पौषधोपवास का महोत्सव हो* या इसी तरह

*तद्यथा—अष्टम्या पौषध—उपवासादिकोऽष्टमीपौषधः स विद्यते येषां तेऽष्टमी पौषधिका—उत्सवाः तथाऽर्द्धमासिकादयश्च ऋतुसन्धि—ऋतोःपर्यवसानम् ऋतुपरिवर्त्तः—ऋत्वन्तरम् आचारांग वृत्ति।

अर्द्ध मास, एक मास, दो, तीन, चार, पांच या छः मास की पौपधोपवास (तपश्चर्या) का उत्सव हो या ऋतु, ऋतु सन्धि (दो ऋतुओं का सन्धि काल) और ऋतु परिवर्तन (ऋतु का परिवर्तन—एक ऋतु के अनन्तर दूसरी ऋतु का आरम्भ होना) का महोत्सव हो और उसमें शाक्यादि भिक्षु, श्रमण—ब्राह्मण, अतिथि, रांक—भिखारी आदि को भोजन कराया जा रहा हो। जबकि यह भोजन आधाकर्मदोष से युक्त नहीं है, फिर भी सूत्रकार ने इसके लिए जो 'अफासुयं' शब्द का प्रयोग किया है, इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा आहार तब तक साधु के लिए अकल्पनीय है जब तक वह पुरुषान्तर कृत नहीं हो जाता है। यदि यह आहार एकान्त रूप से शाक्यादि भिक्षुओं को देने के लिए ही बनाया गया है और उसमें से परिवार के सदस्य एव परिजन आदि अपने उपभोग मे नहीं लेते हैं, तब तो साधु को वह आहार नहीं लेना चाहिए। क्योंकि इससे उन भिक्षुओं को अन्तराय लगेगी। यदि परिवार के सदस्य एवं स्नेही—सम्बन्धी उसका उपभोग करते हैं, तो उनके उपभोग करने के बाद (पुरुषान्तर होने पर) साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी उत्सव के प्रसंग पर अन्य मत के भिक्षु भोजन कर रहे हों तो उस समय वहां साधु का जाना उचित नहीं है। उस समय वहां नहीं जाने से मुनि की संतोष एवं त्याग वृत्ति प्रकट होती है, उन भिक्षुओं के मन मे किसी तरह की विपरीत भावना जागृत नहीं होती। अतः साधु को ऐसे समय विवेक-पूर्वक कार्य करना चाहिए।

साधु को किस कुल में आहार के लिए जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, तंजहा-उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइन्न कुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणिवा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टाग कुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा बुक्कासकुलाणि वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु अगरहिएसु असणं

वा ४ फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥११॥

छाया—स भिक्षुर्वा० यावत् सन् तद् यानि पुनः कुलानि जानीयात्, तद्यथा—उग्रकुलानि वा भोगकुलानि वा राजन्यकुलानि वा क्षत्रियकुलानि वा इक्ष्वाकुकुलानि वा हरिवंशकुलानि वा एसिय-एष्यकुलानि वा वैश्य-कुलानि वा गण्डककुलानि वा कुट्टाककुलानि वा ग्रामरक्षककुलानि वा वुक्कास तन्तुवाय कुलानि वा अन्यतरेषु वा तथा प्रकारेषु वा कुलेषु अजुगुप्सितेषु अगर्हेषु अशन वा ४ प्रासुकं यावद् गृण्हीयात्।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—भिक्षु साधु अथवा साध्वी । जाव—यावत् । समाणे—घर मे प्रवेश कर हुए । से—वह । पुण—फिर । जाइं—इन । कुलाइ—कुलो को । जाणिज्जा—जाने । तजहा—जैसे कि— । उग्गकुलाणि वा—उग्र कुल । भोग कुलाणि वा—भोग कुल । राइन्न कुलाणि वा—राजन्य कुल । खत्तिय कुलाणि वा—क्षत्रिय कुल । इक्खाग कुलाणि वा—इक्ष्वाकु कुल । हरिवंस कुलाणि वा—हरिवंश कुल । एसिय कुलाणि वा—गोपाल आदि कुल । वेसिय कुलाणि वा—वैश्य कुल । गंडाग कुलाणि वा—गण्डक—नापित कुल । कोट्टाग कुलाणि वा—वर्द्धकी—वढ़ई कुल । गामरक्ख कुलाणि वा—ग्राम रक्षक कुल । वुक्कास कुलाणि वा—तन्तुवाय कुल । अन्नयरे सु—और भी । तहप्पगारेसु—इसी प्रकार के । कुलेसु—कुलो मे । अदुगुञ्छिएसु—अनिन्दित । अगरहिएसु—अगर्हित कुलो मे । असणं वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार । फासुयं—प्रासुक । जाव—यावत् मिलने पर । पडिग्गाहिज्जा—साधु ग्रहण करे ।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए इन कुलों को जाने, यथा उग्रकुल, भोगकुल, राजन्य कुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंश कुल, गोपालादिकुल, वैश्यकुल, नापित कुल, वर्द्धकी (वढ़ई) कुल, ग्रामरक्षक कुल, और तन्तुवाय कुल तथा इसी प्रकार के और भी अनिन्दित, अगर्हित कुलो में से प्रासुक अन्नादि चतुर्विध आहार यदि प्राप्त हो तो साधु उसे स्वीकार करले ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को भिक्षा के लिए किन कुलों में जाना

चाहिए। वर्तमान काल चक्र में भगवान ऋषभदेव के पहले भरत क्षेत्र में भोगभूमि थी। वर्तमान काल चक्र के तीसरे आरे के तृतीय भाग में भगवान ऋषभ देव का जन्म हुआ था और उसके बाद भोग भूमि का स्थान कर्म भूमि ने ले लिया। भगवान ऋषभ देव ही प्रथम राजा, प्रथम मुनि एवं प्रथम तीर्थंकर थे, इनके युग से राज्य व्यवस्था, समाज व्यवस्था एवं धर्म व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। उनके युग से वर्ण व्यवस्था एवं कुल आदि परम्परा का प्रचलन हुआ। उसी के आधार पर बने हुए कुलों का सूत्रकार ने उल्लेख किया है। जैसे— १-उग्र कुल—रक्षक कुल, जो जनता की रक्षा के लिए सदा सन्नद्ध—तैयार रहता है, २-भोग कुल—राजाओं के लिए सम्मान्य है❀। ३-राजन्य कुल—मित्र के समान व्यवहार करने वाला कुल, ४-क्षत्रिय कुल—जो प्रजा की रक्षा के लिए शस्त्रों को धारण करता था। ५-इक्ष्वाकु कुल—भगवान ऋषभ देव का कुल, ६-हरिवंश कुल—भगवान अरिष्ट नेमिनाथ का कुल, ७-एष्य कुल—गोपाल आदि का कुल, ८-ग्राम रक्षक-कुल—कोतवाल आदि का कुल, ९-गण्डक कुल—नाई आदि का कुल, १०-कुट्टाक ११-वर्द्धकी और १२-बुक्कस—तन्तुवाय आदि के कुल एवं इसी तरह के अन्य कुलों से भी साधु आहार ग्रहण कर सकता है, जो निन्दित एवं घृणित कर्म करने वाले न हों।

प्रस्तुत प्रकरण में क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन तीनों कुलों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, परन्तु ब्राह्मण कुल का कहीं नाम नहीं आया। इसके दो कारण हो सकते हैं— १-ब्राह्मण वर्ण की स्थापना भगवान ऋषभ देव ने नहीं की थी, बल्कि उनके दीक्षित होने के बाद भरत ने की थी। उनका वर्ण पीछे से आरम्भ हुआ इस कारण उसका उल्लेख नहीं किया हो। २-प्रस्तुत सूत्र में भोग कुल का उल्लेख किया गया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ राजाओं का पूजनीय कुल किया है। ब्राह्मण प्रायः पठन-पाठन के कार्य मे ही सलग्न रहते थे एवं निस्पृह भी होते थे। इस कारण राजा लोग उनका सम्मान करते थे। अत हो सकता है कि भोग कुल से ब्राह्मण कुल का उल्लेख किया गया हो।

एष्य कुल से गौ रक्षा एवं पशु पालनकरने वाले कुलों तथा वैश्य कुल से कृषि कर्म के द्वारा अल्पारम्भी जीवन बिताने वाले कुलों का निर्देश किया गया है। ३-गण्डाक-नाई आदि के कुल से केशालंकार एवं गांव में किसी तरह की उद्घोषणा आदि कराने की प्रवृत्ति का तथा कुट्टाक, वर्द्धकी आदि कुलों से भवन निर्माण एवं काष्ठ कला की और तन्तुवाय कुल से वस्त्र कला की परम्परा का संकेत मिलता है। इस तरह उक्त कुलों के निर्देश से उस युग की राष्ट्रीय एवं सामाजिक व्यवस्था का पूरा परिचय मिलता है।

---

❀भोगाः—राज्ञ. पूजनीयाः। —आचारांगवृत्ति।

अन्य अनिन्दनीय कुलों से शिल्प एवं विज्ञान आदि के कुशल कलाकारों का निर्देश किया गया है। अत: प्रस्तुत सूत्र ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्च स्कालरों के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ समवाएसु वा पिंडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा एवं रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूयमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइय महेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगड़महेसु वा तलाग महेसु वा दहमहेसु वा नइमहेसु वा सरमहेसु सागरमहेसु वा आगर महेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समणमाहण अतिहि किवण वणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं जाव संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतर कड़ं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। अह पुण एवं जाणिज्जा-दिन्नं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणे पेहाए गाहावइ भारियं वा गाहावइभगिणिं वा गाहावइपुत्तं वा धूयं वा सुण्हं वा धाइं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्ज आउसि त्ति! वा भगिणि त्ति! वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४

आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा ४ सयं वा पुण जाइज्जा परो वा से दिज्जा फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥१२॥

छाया—स भिक्षुर्वा० यावत् सन् तत् यत् पुनः जानीयात् अशनं वा४ समवायेषु वा पिंडनिकरेषु वा इन्द्र महेषु वा स्कन्द महेषु वा एवं रुद्र महेषु वा मुकुन्द महेषु वा भूत महेषु वा यक्ष महेषु वा नाग महेषु वा स्तूप महेषु वा चैत्य महेषु वा वृक्ष महेषु वा गिरि महेषु वा दरी महेषु वा अवट महेषु वा तडाग महेषु वा ह्रद महेषु वा नदी महेषु वा सरं महेषु वा सागर महेषु वा आकर महेषु वा अन्यतरेषु वा तथा प्रकारेषु विरूपरूपेषु महामहेषु वर्तमानेषु बहून् श्रमण ब्राह्मणातिथि कृपण वणीमकान् एकस्याः उखायाः परिवेष्यमाणः प्रेक्ष्य द्वाभ्यां यावत् सनिधि सन्निचयाद्वा परिवेष्यमाणः प्रेक्ष्य तथा प्रकारं अशनं वा ४ अपुरुषान्तर कृत यावत् न प्रतिगृण्हीयात्। अथ पुन: एवं जानीयात् दत्त यत्तेभ्यो दातव्यमथ तत्र भुंजानान् प्रेक्ष्य गृहपतिभार्यां वा गृहपतिभगिनी वा गृहपतिपुत्रं वा सुतां वा स्नुषां वा धात्री वा दासं वा दासी वा कर्मकरं वा कर्मकरी वा पूर्वमेव आलोकयेत्, आयुष्मति ! इति वा भगिनि ! इति वा दास्यसि मह्य इतः अन्यतरं भोजन जात, स एवं वदतः परः अशनं वा ४ आहृत्य दद्यात् तथा प्रकारं अशनं वा ४ स्वयं वा पुनः याचेत् परो वा तद् दद्यात् प्रासुक यावत् प्रतिगृण्हीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—भिक्षु-साधु अथवा साध्वी। जाव समाणे—यावत् घर में गया हुआ। से—वह। जं—जो। पुण—फिर। जाणिज्जा—जाने। असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार। समवायेसु वा—जन समुदाय मे। पिण्डनियरेसु वा—मृतक भक्त अर्थात् श्राद्ध में तथा। इंदमहेस वा—इन्द्र महोत्सव मे खंदमहेसु वा—स्कन्द महोत्सव मे। एवं—इसी प्रकार। रुद्दमहेसे वा—रुद्र महोत्सव में। मुगुंदमहेसुवा—मुकुन्द महोत्सव मे भूयमहेसु वा—भूत महोत्सव में तथा। जक्ख महेसु वा—यक्ष महोत्सव मे। नाग महेसु वा—नाग महोत्सव मे। थूम महेसु वा—स्तूप महोत्सव में एव। चेइय महेसु वा—चैत्य महोत्सव मे। रुक्ख महेसु वा—वृक्ष महोत्सव में। गिरिमहेसु वा—गिरि महोत्सव मे। दरिमहेसु वा—गुफा महोत्सव मे। अगड महेसु वा—कूप महोत्सव मे। तलाग महेसु वा—तड़ाग-तालाब महोत्सव

मे। दहमहेसु वा—ह्रद महोत्सव मे। नइमहेसुवा—नदी महोत्सव मे। सरमहेसु वा—सर महोत्सव मैं तथा। सागर महेसु वा—सागर महोत्सव में। आगर महेसु वा—आकर महोत्सव मे। अन्नयरेसु वा—अन्यान्य। तहप्पगारेसु—इस प्रकार के। विरूव रूवेसु—नाना विध। महामहेसु—महान् उत्सवो के। वट्टमाणेसु—प्रवर्त्तमान होने मैं। बहवे—बहुत से। समण माहण अतिहि किवण वणीमग—शाक्यादि भिक्षु तथा, ब्राह्मण, अतिथि कृपण और भिखारी लोगों को। एगाओ उक्खाओ—एक बर्तन से। परिएसिज्जमाणे—परोसते हुए को। पेहाए—देखकर तथा। दोहि—दो बर्तनो से। जाव—यावत्। सनिहिसंनिचयाओ—संचय किए हुए घृतादि स्निग्ध पदार्थों मे से। परिएसिज्जमाणे—परोसते हुए को। पेहाए—देखकर। तहप्पगारं—तथा प्रकार के। असण वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार जो कि। अपुरिसंतर-कडं—पुरुषान्तर कृत न हो। जाव—यावत् मिलने पर। नो पडिग्गाहिज्जा—भी ग्रहण न करे। अह—अथ। पुण—पुनः। एवं—इस प्रकार। जाणिज्जा—जान। तेसिं—उनको। जं—जो। दिन्न—दिया गया हो वह। दायव्व—देने योग्य है। अह—अथ। तत्थ—वहा पर। भुंजमाणे—खाते हुओ को। पेहाए—देखकर। गाहावइ भारियं वा—गृहपति की भार्या को या। गाहावइ भगिणीं वा—गृहपति की भगिनी-वहिन को। गाहावइ पुत्तं वा—गृहपति के पुत्र को। धुयं वा—पुत्री को। सुण्हवा—स्नुषा-पुत्रवधु को। धाइ वा—धात्री—धाय माता को। दासं वा—दास को। दासिं वा—अथवा दासी को तथा। कम्मकरं वा—नौकर को वा। कम्मकरिं वा—नौकरानी को। से—वह। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—अवलोकन करके कहे कि। आउसित्ति वा—हे आयुष्मति! भगिणित्ति वा—हे भगिनि! मे—मुझे। इत्तो अन्नयर—इस विविध प्रकार के। भोयणजायं—भोजन जात—भोजन समुदाय मे से। दाहिसि?—देगी? से—वह। सेवं—इस प्रकार से। वयन्तस्स—बोलते हुए साधु को। परो—दूसरे। असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार में से। आहट्टु—लाकर। दलइज्जा—देवे। तहप्पगारं—इस प्रकार के। असणं वा ४—अन्नादि चतुर्विध आहार को। सय वा—स्वयं। पुण—पुनः। जाइज्जा—मागे। से—वह। परोवा—दूसरा। दिज्जा—देवे तो। फासुयं—प्रासुक आहार। जाव—यावत् मिलने पर। पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण करे—स्वीकार करले।

मूलार्थ—साधु व साध्वी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर यदि यहजाने कि यहां पर महोत्सव के लिए जन एकत्रित हो रहे है, तथा पितृपिण्ड या मृतक के निमित्त भोजन हो रहा है या इन्द्रमहोत्सव, स्कन्दमहोत्सव, रुद्रमहोत्सव, मुकुन्दबलदेव महोत्सव, भूत महोत्सव, यक्ष महोत्सव, इसी प्रकार नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, गुफा, कूप, तालाब,

ह्रद (झील) उदधि, सरोवर' सागर और आकर सम्बन्धि महोत्सव हो रहा हो तथा इसी प्रकार के अन्य महोत्सवो पर बहुत से श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लोगो को एक बर्तन से पुरोसता हुआ देख कर दो थालियो से यावत् सचित किये हुए घृतादि स्निग्ध पदार्थों को पुरोसते को देखकर तथाविध आहार-पानी जब तक अपुरुषान्तरकृत है यावत् मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे । और यदि इस प्रकार जाने कि जिन को देना था दिया जा चुका है तथा वहा पर यदि वह गृहस्थों को भोजन करते हुए देखे तो उस गृहपनि की भार्या से, गृहपति की भगिनी से; गृहपति के पुत्र से, गृहपति की पुत्री से, पुत्रवधू से, धाय माता से, दास-दासी नौकर-नौकरानी से पूछे कि हे आयुष्मति ! भगिनि ! मुझे इन खाद्य पदार्थों मे से अन्यतर भोजन दोगी ? इस प्रकार बोलते हुए साधु के प्रति यदि गृहस्थ चार प्रकार का आहार लाकर दे अथवा अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयमेव याचना करे या गृहस्थ स्वय दे और वह आहार पानी प्रासुक और एषणीय हो तो साधु उसे ग्रहण कर ले ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि गृह प्रवेश, नामकरण आदि त्सव तथा मृतक कर्म या इन्द्र, स्कन्द एवं रुद्र आदि से सम्बन्धित उत्सवों के अवसर पर शाक्यादि भिक्षु, श्रमण-ब्राह्मण, गरीब—भिखारी आदि गृहस्थ के घर पर भोजन कर रहे हों और वह भोजन पुरुषान्तर कृत नहीं हुआ हो तो साधु उसे अनेषणीय समझ कर ग्रहण न करे। यदि अन्य भिक्षु आदि भोजन करके चले गए हैं, अब केवल उसके परिवार के सदस्य, परिजन एवं दास-दासी ही भोजन कर रहे हों, तो उस समय साधु प्रासुक एवं एषणीय आहार की याचना कर सकता है या उस घर का कोई सदस्य साधु को आहार की प्रार्थना करे तो वह उसे ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'पिण्ड नियरेसु' का अर्थ है—मृतक के निमित्त तैयार किया गया भोजन। प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस समय इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, वलदेव, भूत, यक्ष, नाग आदि के उत्सव मनाए जाते थे। और इन अवसरों पर गृहस्थ लोग प्रीति भोज करते थे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'स्तूप एव चैत्य' शब्द एकार्थक नही, किन्तु, भिन्नार्थक हैं। मृतक की चिता पर उसकी स्मृति मे बनाया गाया स्मारक 'स्तूप' कहलाता है और यक्ष आदि का आयतन 'चैत्य' कहलाता है। यहाँ प्रयुक्त महोत्सव भौतिक कामनाओ के लिए किए जाते रहे हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चैत्य शब्द का प्रयोग जिन भगवान् की प्रतिमा या मन्दिर के लिए प्रयुक्त नही हुआ है*। उक्त शब्द यक्षायतन या व्यन्तरायतन का परिबोधक है।

अब सूत्रकार ग्रामान्तरीय आचार का वर्णन करते हुए कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा २ परं अद्धजोयणमेराए संखडिं नच्चा संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। से भिक्खू वा २ पाईणं संखडिं नच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे, पडीणं संखडिं नच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे, दाहिणं संखडिं नच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे, उईणं संखडिं नच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे, जत्थेव सा संखडी सिया, तंजहा—गामंसि वा, नगरंसि वा, खेडंसि वा, कव्वडंसि वा, मडंबंसि वा, पट्टणंसि वा, आगरंसि वा, दोणमुहंसि वा, नेगमंसि वा, आसमंसि वा, संणिवेसंसि वा, जाव रायहाणिंसि वा संखडिं संखडिपडियाए नो**

---

* थूभ पु० (स्तूप) प्रेक्षा घर के सामने वाली मणिपीठिका के ऊपर का सोलह योजन लम्बा चौडा सोलह योजन ऊचा सफेद रग वाला चैत्यस्तूप,—स्मारक स्तम्भ, स्तूप, मृतक घर (अर्द्ध-मागधीकोष भा० ३ पृ० १०१)

चेइय-न० (चैत्य) यक्ष वगैरह व्यन्तर देवता के आयतन स्थान, चिता के ऊपर मदिर या अन्य रूप मे बनाया हुआ स्मारक चिन्ह, ससारी लोग इसकी इस लोक के सुखो की इच्छा से उपासना करते है। (अर्द्धमा० कोष भा० २ पृ०, ७३७)

**अभिसंधारिज्जा गमणाए, केवली बूया—आयाणमेयं, संखडिं संखडिपडियाए अभिधारेमाणे आहाकम्मियं वा, उद्देसियं वा, मीसजायं वा, कीयगडं वा, पामिच्चं वा, अच्छिज्जं वा, अणिसिट्ठं वा, अभिहडं वा आहट्टु दिज्जमाणं भुञ्जिज्जा ॥१२॥**

छाया—स भिक्षुर्वा २ परं अर्द्धयोजनमर्यादया संखडि ज्ञात्वा संखडि-प्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेत् गमनाय। स भिक्षुर्वा २ प्राचीनां संखडिं ज्ञात्वा प्रतीचीनं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, प्रतीचीनं संखडिं ज्ञात्वा प्राचीनं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, दक्षिणं संखडिं ज्ञात्वा उदीचीनं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, उदीचीनं संखडिं ज्ञात्वा दक्षिणं गच्छेत् अनाद्रियमाणः, यत्रैव असौ संखडि-स्यात्—तद्यथा—ग्रामे वा नगरे वा खेटे वा कर्बटे वा मडंबे वा पत्तने वा आकरे वा द्रोणमुखे वा नैगमे वा आश्रमे वा सन्निवेशे वा यावत् राजधान्यां वा संखडिं संखडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय, केवली ब्रूयात्—आदानमेतत्, संखडिं संखडिप्रतिज्ञया अभिसंधारयतः आधाकर्म वा, औद्देशिकं वा, मिश्रजातं वा, क्रीतकृतं वा, प्रामित्यं वा, आच्छेद्यं वा, अनिसृष्टं वा, अभ्याहृतं वा आहृत्य दीयमान भूञ्जीत।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु साध्वी। पर—प्रकर्ष से उत्कृष्ट अद्धजोयणमेराए—अर्द्धयोजन परिमाण क्षेत्र मे। संखडिं—जीमणवार प्रीतिभोजन को। नच्चा—जानकर। संखडिपडियाए—सुस्वादु अहार लाभ की प्रतिज्ञा मे। गमणाए—जाने के लिए। नो अभिसधा-रिज्जा—मन मे सकल्प न करे। से—वह। भिक्खू वा २—साधु या साध्वी। पाईण—पूर्व दिशा मे। संखडिं—सखडी को। नच्चा—जानकर। पडीणं—पश्चिम दिशा मे। अणाढायमाणे—उनका अनादर करता हुआ। गच्छे—जाए। पडीणं—पश्चिम दिशा मे। संखडिं—सखडी को। नच्चा—जानकर उसका। अणाढायमाणे—अनादर करता हुआ। पाईणं—पूर्व दिशा को। गच्छे—जाए। दाहिण—दक्षिण दिशा मे। संखडिं—सखडी को। नच्चा—जानकर उसका। अणाढायमाणे—अनादर करता हुआ। उईण—उत्तर दिशा मे। गच्छे—जाए तथा। उईण—उत्तर दिशा मे। संखडिं—सखडी को। नच्चा—जानकर उसका। अणाढायमाणे—अनादर

करता हुआ। दाहिण—दक्षिण दिशा को। गच्छे—जाए। जत्थेव—जहां पर भी। सा—वह। संखडी—स्वादिष्ट आहार सम्बन्धी भोजन समारोह। सिया होवे। तंजहा—जैसे कि। गामंसि वा—ग्राम में। नगरंसि वा—नगर मे। खेडंसि वा—खेटक मे। कव्वडंसि वा—कर्वट-कुनगर मे। मडंबंसि वा—मडंब मे। पट्टणंसि वा—पत्तन मे, तथा। आगरंसि वा—आकार मे—खदान मे दोणमुहंसि वा—द्रोण मुख मे। नेगमंसि वा—नैगम-व्यापार के स्थान मे। आसमंसि वा—आश्रम में। सन्निवेसंसि वा—सन्निवेश मे। जाव—यावत्। रायहाणिंसि वा—राजधानी मे। संखडि—संखडी को। संखडीपडियाए—संखडी की प्रतिज्ञा मे। संगमणाए—जाने के लिए। नो अभिसंधारिज्जा—मन में इच्छा उत्पन्न न करे, कारण कि। केवली—केवली भगवान ने, बूया—कहा है। आयाणमेयं—यह कर्म बन्धन का कारण है। संखडिं संखडी को। संखडीपडियाए—संखडी की प्रतिज्ञा मे। अभिधारेमाणे धारण करता हुआ साधु। अहाकम्मियं वा—अधाकर्मिक अथवा। उद्देसियं—औद्देशिक अथवा। मीसजायं—मिश्रित। कीयगडं—क्रीत-खरीदा हुआ। पामिच्चं वा—उधार माग कर लाया हुआ। अच्छिज्जं वा—छीना हुआ। अणिसिट्ठं वा—साझे की वस्तु-जोकि दूसरे की आज्ञा के बिना लाई गयी हो। अभिहडं वा—अभ्याहृत सामने लाया हुआ। आहट्टु—बुलाकर। दिज्जमाणं—दिये गये आहार को। भुञ्जिज्जा—खावे। तात्पर्य कि इस प्रकार का आहार साधु के लिये वर्जित है।

**मूलार्थ**—साधु व साध्वी अर्द्ध योजन प्रमाण संखडि-जीमनवार को जानकर आहार लाभ के निमित्त जाने का संकल्प न करे। यदि पूर्व दिशा में प्रीतिभोज हो रहा है तो साधु उसका अनादर करता हुआ पश्चिम दिशा को और पश्चिम दिशा मे हो रहा है तो उसका अनादर करता हुआ पूर्व दिशा को जाए। इसी प्रकार दक्षिण दिशा में हो रहा है तो उसका निरादर करता हुआ उत्तर दिशा को, और उत्तर दिशा मे हो रहा है तो उसका आदर न करता हुआ दक्षिण दिशा को जाए। तथा जहा पर संखडी हो, जैसे कि—ग्राम मे, नगर में, खेट मे, कर्वट में एव मडब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, नैगम, आश्रम और सन्निवेश, यावत् राजधानी मे होने वाली संखडी मे स्वादिष्ट भोजन लाने की प्रतिज्ञा मे जाने के लिये मन मे इच्छा न करे। केवली भगवान कहते है—कि यह कर्म बन्ध का मार्ग है। संखडी मे संखडी की प्रतिज्ञा से जाता हुआ साधु यदि वहां

लाकर दिए हुए को खाता है तो वह आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, क्रीतकृत, उधार लिया हुआ, छीना हुआ, दूसरे की बिना आज्ञा लिया हुआ और सन्मुख लाया हुआ खाता है। तात्पर्य यह है यदि साधु वहाँ जाएगा तो संभव है कि उसे सदोष आहार खाना पड़े।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि साधु को सरस एव स्वादिष्ट पदार्थ प्राप्त करने की अभिलाषा से सखडी—बडे जीमनवार या प्रीतिभोज मे भिक्षा को नही जाना चाहिए। उस स्थान मे ही नही अपितु जहाँ पर प्रीतिभोज आदि हो रहा हो उस दिशा मे भी आहार को नही जाना चाहिए। इससे साधु की आहार वृत्ति की कठोरता एव स्वाद पर विजय की बात सहज ही समझ मे आ जाती है। ऐसे आहार को भगवान ने आधाकर्म आदि दोपो से युक्त बताया है। इससे स्पष्ट है कि साधु यदि ऐसे प्रसग पर वहाँ आहार के लिए जाए तो अप्रासुक एव अनेषणीय आहार लेना होगा। क्योकि अत्यधिक आरम्भ-समारम्भ होने से वह सचित्त आदि पदार्थो के स्पर्श का ध्यान नही रख सकता, देने मे भी अविधि हो सकती है और साधु को उस दिशा मे आता हुआ देखकर कुछ विशिष्ट पदार्थ भी तैयार किए जा सकते हैं या उन्हे साधु के लिए इधर-उधर रखा जा सकता है। अत साधु को ऐसे प्रसग पर आहार को नही जाना चाहिए।

'सखडि' शब्द का अर्थ होता है—'सखण्डयन्ते-विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा सखडि' अर्थात् जहा पर अनेक जीवो के प्राणो का नाश करके भोजन तैयार किया जाता है, उसे 'सखडि' कहते हैं। वर्तमान मे इसे भोजनशाला कहते हैं। इसका गूढ अर्थ महोत्सव एव विवाह आदि के समय किया जाने वाला सामूहिक जिमनवार से लिया जाता है। ऐसे स्थानो पर शुद्ध, निर्दोश, एषणीय एव सात्विक अहार उपलब्ध होना कठिन है, इसलिए साधु के लिए वहा आहार को जाने का दिषेध किया गया है।

उस समय गाँव एव नगरो मे तो सखडी होती ही थी। इसके अतिरिक्त खेट—धूल के कोट वाले स्थान, कुत्सित नगर, मडब—जिस गाँव के बाद ५ मील पर गाँव बसे हुए हो, पत्तन—जहाँ पर सब दिशाओ से आकर माल विकता हो (व्यापारिक मण्डी) आकर—जहाँ ताम्बे, लोहे आदि की खान हो, द्रोणमुख—जहाँ जल और

स्थल प्रदेश का मेल होता हो, नैगम—व्यापारिक बस्ती, आश्रम, सन्निवेश—सराय (धर्मशाला) छावनी आदि। ये स्थान ऐतिहासिक गवेषण की दृष्टि से बड़ा महत्त्व रखते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'आयाणमेय' का अर्थ है—कर्म बन्ध का हेतु। कुछ प्रतियो मे 'आयाणमेय' के स्थान पर 'आययणमेयं' ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ हैं-यह कार्य दोषो का स्थान है, यहा इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह वर्णन उत्कृष्ट पक्ष को लेकर किया गया है, जघन्य-सामान्य पक्ष को लेकर नही।

सखडी मे जाने से कौन से दोप लग सकते हैं, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं--

**मूलम्—असंजए भिक्खुपडियाए खुड्डियदुवारियाओ महल्लियदुवारियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुड्डियदुवारियाओ कुज्जा, समाओ सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा, पवायाओ सिज्जाओ निवायाओ कुज्जा, निवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा वहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय छिंदिय दालिय दालिय संथारगं संथारिज्जा, एस विलुङ्गयामो सिज्जाए, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडि-पडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स जाव सया जए, त्तिवेमि ॥१३॥**

छाया--असंयत भिक्षुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वाराः महाद्वाराः कुर्यात् महाद्वाराः क्षुद्रद्वाराः कुर्यात्, समाः शय्या विपमाः कुर्यात्, विपमाः शय्याः समा कुर्यात्, प्रवाताः शय्याः निवाताः कुर्यात्, निवाताः शय्याः प्रवाताः कुर्यात्, अन्तो-

वा बहिर्वा उपाश्रयस्य हरितानि छित्त्वा २ विदार्य २ संस्तारकं संस्तारयेत्, एष निर्ग्रन्थः (अकिंचनः) शय्यायाः, तस्मात् सः संयतः निर्ग्रन्थः तथाप्रकारां पुरःसंखडिं वा पश्चात्संखडिं वा संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेत् गमनाय, एवं खलु तस्य भिक्षोः यावत् (सामग्र्यं) सदा यतेत। इतिब्रवीमि।

**पदार्थ**—असजए-असयति-गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-साधु के लिए। खुड्डियदुवारियाओ-छोटे द्वारा को। महल्लियदुवारियाओ—वडा द्वार। कुज्जा—करता है या। महल्लिय-दुवारियाओ—वडे द्वार को। खुड्डियदुवारियाओ—छोटा द्वार। कुज्जा-करता है। समाओ सिज्जाओ-सम शय्या को। सिज्जाओ—विपम शय्या। कुज्जा—करता है। विसमाओ सिज्जाओ—विपम शय्या को। समाओ—सम। कुज्जा—करता है। पवायाओ सिज्जाओ—वायु वाली शय्या को। निवायाओ—निर्वात-वायु रहित। कुज्जा-करता है और। निवायाओ सिज्जाओ—निर्वात शय्या को। पवायाओ—वायु युक्त। कुज्जा—करता है। उवस्सयस्स—उपाश्रय के। अतो वा—अन्दर से। बहिं वा—बाहर से। हरियाणि—हरियाली का। छिदिय २—छेदन करता है। दालिय २—विदारण करता है। संथारग—सस्तारक को। संथारिज्जा—बिछाता है। एस-यह साधु। विलुङ्गयामो—अकिंचन है अत। सिज्जाए—यह शय्या उसके लिये सस्कार की गई है। तम्हा-अत। से सजए—वह सयत। नियठे—निर्ग्रन्थ। तहप्पगार—इस प्रकार की शय्या को एव। पुरेसखडिं वा—विवाहादिक के समय की पहली जीमनवार। पच्छासंखडिं वा—मृतक के निमित्त पीछे की जाने वाली जीमनवार। सखडि—सखडी को। सखडिपडियाए-सखडी की प्रतिज्ञा से। गमणाए—गमन करने के लिए। नो अभिसंधारिज्जा—मन मे विचार न करे। एय-यह। खलु—निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु की। जाव—यावत् सामग्रता है—सम्पूर्णता है। सया-सदा। जए—यत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

**मूलार्थ**—कोई श्रद्धालु गृहस्थ साधु के (संखडि मे आने की सम्भावना से) छोटे द्वार को वडा करेगा और बडे को छोटा, तथा सम शय्या को विपम और विषम को सम करेगा, तथा वायु युक्त शय्या को निर्वात (वायु रहित) और निर्वात को सवात (वायुयुक्त) करेगा। इसी भाँति उपाश्रय के अन्दर और बाहर हरियाली का छेदन करेगा तथा उसे जड से उखाड कर आसन को व्यवस्थित बनाएगा। क्योकि वह शय्या अकिंचन भिक्षु

के लिए है। अत वह यत्नशील निर्ग्रन्थ उक्त प्रकार की पूर्व संखडी तथा पश्चात् संखडी को सखडी की प्रतिज्ञा से जाने के लिए मन मे सकल्प न करे। यह निश्चय ही साधु वा साध्वी की सामग्रता अर्थात् भिक्षु भाव की सम्पूर्णता है, ऐसा मै कहता हूँ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र के पूर्व भाग मे हम देख चुके हैं कि सखडी मे आहार को जानने से निर्दोप आहार मिलना कठिन है। और इस सूत्र के उत्तर भाग मे यह बताय गया है कि सखडी मे जाने से और भी अधिक दोप लग सकते हैं। यदि किसी श्रद्धानिष्ट व्यक्ति को यह पता लग जाए कि साधु इस ओर आहार के लिए आ रहा है, तो वह उसके लिए शय्या आदि को ठीक करने का प्रयत्न करेगा, स्थान को ठहरने के योग्य बनाने के लिए इधर-उधर पडे हुए घास-फूस को काटेगा, पानी आदि से धोएगा और दरवाजे को छोटा-वडा वनाएगा। इस दृष्टि से भी संखडी के स्थान मे साधु को आहार के लिए जाने का निपेध किया गया है।

'सखडी' भी पूर्व और पश्चात् के भेद से दो प्रकार की होती है। विवाह आदि के मागलिक कार्यो के समय विवाह सम्पन्न होने से पूर्व की जाने वाली सखडी को पूर्व सखडी कहते हैं। और मरे हुए व्यक्ति के पीछे मृत भोज को पश्चात् सखडी कहते हैं। क्योकि मृतभोज व्यक्ति के मरने के बाद ही किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'असजए' पद का अर्थ वृत्तिकार ने श्रावक या अन्य भद्र-पुरुप किया है। इसका अशय यह है कि उपाश्रय के साथ श्रावक का सम्बन्ध होने के कारण श्रावक अर्थ सगत वैठता है। परन्तु विवेकवान एव तत्त्वज्ञ श्रावक साधु के लिए घास-फूस काटकर आरम्भ नही करता। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि साधु-चर्या मे अनभिज्ञ श्रावक या श्रद्धानिष्ठ भक्त हो सकता है।

'त्तिवेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

## तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे सखडि आदि से सम्बन्धित दोषो का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अन्य दोषो का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से एगइओ अन्नयरं संखडिं आसित्ता पिबित्ता-छड्डिज्जा वा, वमिज्जा वा, भुत्ते वा से नो सम्मं परिणमिज्जा, अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जिज्जा, केवली बूया—आयाणमेयं ॥१४॥

इह खलु भिक्खू गाहावईहिं वा गाहावइणीहिं वा परिवायएहिं वा परिवाइयाहिं वा एगज्जं सद्धिं सुण्डं पाउं भो वइमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहेमाणो नो लभिज्जा तमेव उवस्सयं संम्मिस्सीभावमावज्जिज्जा, अन्नमणे वा से मत्ते विप्परियासीयभूए इत्थिविग्गहे वा किलीबे वा तं भिक्खुं उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा ! अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा राओ वा वियाले वा, गामधम्मनियंतियं कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टामो, तं चेवेगइओ सातिज्जिज्जा, अकरणिज्जं चेयं संखाए एए आयाणा (आयतणाणि) संति

सुडपाउ—सीधु—मदिरा के पीने पर । भो हे शिष्य ! वईमिस्सं—उसे व्यतिमिश्र हो जायगा । वा—अथवा । हुरत्था वा—वहा से वाहर निकल कर । उवस्सयं—उपाश्रय की । पडिलेहेमाणे—याचना करता हुआ । नोलभिज्जा—जब अच्छा उपाश्रय न मिलेगा तो । तमेव उवस्सय—उसी उपाश्रय मे । समिस्सीभावमावज्जिज्जा—गृहस्थी वा परिव्राजको के साथ मिलकर रहना होगा । वा—और वहा । से—वह गृहस्थादि । अन्नमणे—परस्पर । मत्ते—मदोन्मत्त होकर । विप्परियासियभूए—विपरीतभाव को प्राप्त होंगे और उनके सम्पर्क से भिक्षु भी अपनी आत्मा को विस्मृत कर देगा । वा—अथवा । इत्थी विग्गहे—स्त्री के शरीर मे, तथा । किलीवे—नपुसक में-विपरीत भाव को प्राप्त हो जाता है । वा—वह स्त्री या नपुसक । त—उस । भिक्खू—भिक्षु के । उवसंकमित्त—पास मे आकर । बूया—इस प्रकार कहे कि । आउसंतो समणा—हे आयुष्मन् श्रमण ! अहे आरामसि वा—उद्यान में अथवा । अहे उवस्सयंसि वा । उपाश्रय मे अथवा । राओ वा—रात्री मे । वियाले वा—विकाल मे-अकाल मे । गामधम्म नियंतिय कट्टु—ग्राम्य धर्म मैथन धर्मादि की नियत्रणा से नियन्त्रित करके । रहस्सिय एकान्त स्थान मे । मेहुणधम्मपरियारणाए—मैथुन धर्म के । आसेवनार्थ हम ! आउट्टामो प्रवृत्त हो प्रवृत्ति करें, इस प्रकार कहे जाने पर । त—उस प्रार्थना को । चेवेगइओ कोई अनभिज्ञ भिक्षु । सातिज्जिज्जा—स्वीकार करे । च—पुन । एयं—यह । अकरणिज्जं—अकरणीय कार्य । सखाए—जानकर सखडि मे गमन न करे । एए—ये पूर्वोक्त । आयाणा—कर्म आने के माग अथवा । आयतणाणि—दोषो के स्थान । सति—हैं । सचिज्जमाणा—क्षण-क्षण में कर्म सचय करता हुआ । पच्चवाया—इसी प्रकार के अन्य भी कर्म आने के मार्ग । भवति—होते है । तम्हा—अत । से—वह । सजए—सयत—सयमशील । नियंट्ठे—निर्ग्रन्थ । तहप्पगार—उक्त प्रकार की । पुरेसखडि—पूर्व सखडि मे अथवा । पच्छासंखडि वा—पश्चात् सखडि में । सखडि—संखडि को जानकर । सखडि पडियाए संखडि की प्रतिज्ञा से । गमणाए—उस ओर जाने का । नो अभिसंधारिज्जा—मन मे सकल्प भी न करे ।

मूलार्थ—सखडि मे गए हुए साधु को वहा अधिक सरस आहार करने एव अधिक दूधादि पीने के कारण उसे वमन हो सकता है या उस आहार का सम्यक्तया पाचन नही होने से विसूचिका, ज्वर या शूलादि रोग उत्पन्न हो सकते है । इसलिए भगवान ने सखडी में जाने के कार्य को कर्म आने का कारण कहा है ।

इसके अतिरिक्त सखडि मे गया हुआ साधु गृहपति एव उस

की पत्नी, परिव्राजक-परिव्राजिकाओं के सहवास से मदिरा पान करके निश्चय ही अपनी आत्मा का भान भूल जाएगा । और उस स्थान से बाहर आकर उपाश्रय की याचना करेगा, परन्तु अनुकूल स्थान नही मिलने पर वह गृहस्थ या परिव्राजकों के साथ ही ठहर जाएगा । और मदिरा के प्रभाव से वह अपने स्वरूप को भूल कर अपने आप को गृहस्थ समझने लगेगा । उस समय स्त्री या नपुंसक पर आसक्त होने लगेगा उसे मदोन्मत्त देखकर रात्री मे या विकाल मे स्त्री या नपुंसक उसके पास आकर कहेंगे कि हे आयुष्मान् श्रमण ! बगीचे या उपाश्रय के एकान्त स्थान मे चलकर ग्रामधर्म-मैथुन का आसेवन करें । इस प्रार्थना को सुनकर कोई अनभिज्ञ साधु उसे स्वीकार भी कर सकता है । अतः इस तरह आत्म पतन होने की सम्भावना होने के कारण भगवान ने सखडि मे जाने का निषेध किया है और इसे कर्मबन्ध का स्थान कहा है । इसमे प्रति क्षण कर्म आते रहते है । इसलिए साधु को पूर्व सखड़ि या पश्चात् संखडी मे जाने का मन मे भी सकल्प नही करना चाहिए ।

हिन्दी विवेचन

यह हम देख चुके है कि साधु को संखडि में आहार के लिए जाने का निषेध किया गया है । पूर्व उद्देशक में बताया गया है कि वहा जाने से साधु को अनेक दोष लगने की सम्भावना है । प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि सखडि मे आहार को जाने से साधु को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक हानि भी होती है । क्योंकि साधु का आहार सात्त्विक एवं नीरस होता है और प्रायः ऐसा करने से उसकी आते भी उस आहार को पचाने की अभ्यस्त हो जाती है । और सखडि में सरस एव प्रकाम भोजन बनता है और दूध आदि पेय पदार्थ भी होते हैं और सरस एवं स्वादिष्ट पदार्थों के कारण वे अधिक खाए जा सकते है । इससे साधु को वमन हो सकती है, या पाचन क्रिया ठीक न होने से विशूचिका, शूल आदि भयकर रोग हो सकते है और उसके कारण उसकी तुरन्त मृत्यु भी हो सकती है । इस तरह आर्त एवं रौद्र ध्यान मे प्राण त्याग करके वह दुर्गति में जा सकता है । इसलिए साधु को ऐसे स्थानों मे आहार आदि को नही जाना चाहिए ।

दूसरा दोष यह है कि संखडि मे जाने पर वहां आए हुए अन्य मत के भिक्षुओं से उसका घनिष्ट परिचय होगा और उससे उसकी श्रद्धा में विपरीतता आ सकती है। और उनके संसर्ग से वह मद्य आदि पदार्थों का सेवन कर सकता है और उनके कारण पने आत्म भान को भूलकर संयम के विपरीत आचरण का सेवन भी कर सकता है। शराब के नशे में उन्मत्त होकर वह नृत्य भी कर सकता है और किसी उन्मत्त स्त्री के द्वारा भोग का निमन्त्रण पाकर उस पथ पर भी फिसल सकता है। इस तरह संखडि मे जाकर वह अपने संयम का सर्वथा नाश करके जन्म-मरण के अनन्त प्रवाह में प्रवहमान हो सकता है।

इस तरह संखडि शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चिन्तन एवं आध्यात्मिक साधना आदि सबका नाश करने वाली है। इस लिए साधु को संखडि के स्थान की ओर भी नहीं जाना चाहिए। इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ अन्नयरिं संखड़िं सुच्चा निसम्म संपहावइ उस्सुयभूएण अप्पाणेणं, धुवा संखडि, नो संचाएइ तत्थ इयरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहित्ता आहारं आहारित्तए, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। से तत्थ कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारिज्जा ॥१६॥

छाया— स भिक्षुर्वा २ अन्यतरां संखडिं श्रुत्वा निशम्य सम्प्रधावति उत्सुकभूतेनात्मना, ध्रुवा संखडि न शक्नोति तत्र, इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं (भैक्षम्) एषणीयं वैषिकं पिण्डपातं परिगृह्य आहारमाहर्तुं मातृस्थान संस्पृशेत् न एवं कुर्यात्। स तत्र कालेनानुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं (भैक्षम्) एषणीयं वैषिकं पिण्डपातं प्रतिगृह्याहारमाहारयेत्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा २—साधु अथवा साध्वी। अन्नयरिं—अन्यतर—किसी एक स्थान पर। संखडि—संखडि को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—विचार कर। उस्सुयभूएण—उत्सुकतायुक्त। अप्पाणेण—आत्मा से। संपहावइ—जाता है। धुवा—निश्चित। संखडी—है।

वहा सखडि वाले ग्राम मे। इयरेयरेहिं – इतर-इतर—सखडि रहित। कुलेहिं – कुलो से। सामुदाणिय – सामुदानिक बहुत से घरो का। एसिय – एषणीय–आधाकर्मादि दोषो से रहित। वेसिय – साधु के वेष द्वारा प्राप्त किया गया। पिंडवायं – पिण्डपात–आहार को। पडिग्गाहित्ता—लेकर। आहारं आहारित्तए – आहार करने-भक्षण करने के लिए। नोसचाएत्ति—शक्ति सम्पन्न नही होगा अत. । माइट्ठाणं—मातृस्थान का। संफासे – स्पर्श होता है। नो एवं करिज्जा—अत: वह ऐसा न करे किन्तु। से वह भिक्षु। तत्थ – उस सखडि वाले ग्राम मे। कालेण – भिक्षा के समय। अणुपविसित्ता – प्रवेश कर के। तत्थियरेयरेहिं—संखडिवाले घर से इतर। कुलेहिं – कुलो-घरों से। सामुदाणिय – सामुदानिक। एसिय – निर्दोष। वेसियं – केवल साधु वेष से प्राप्त हुआ। पिंडवायं – पिण्डपात आहार को। पडिग्गाहित्ता—ग्रहण करके। आहारं—उस आहार को आहारिज्जा—भक्षण करे खावे, परन्तु सखडि मे जाने का उद्योग न करे।

मूलार्थ—जो साधु वा साध्वी किसी अन्य स्थान पर सखडि को सुन कर तथा मन मे निश्चय कर उत्सुक आत्मा से वहा जाता है, सखडी का निश्चय कर सखडि वाले ग्राम मे या सखडि से भिन्न, जिन घरों में सखडि नही है आधाकर्मादि दोषो से रहित भिक्षा प्राप्त होती है। उनमें इस भावना से आहार को जाता है कि मुझे वहा भिक्षा करते देख कर सखडि वाला व्यक्ति मुझे आहार की विनती करेगा ऐसा करने से मातृस्थान-कपट का स्पर्श होता है। अत: साधु इस प्रकार का कार्य न करे। वह भिक्षु संखडियुक्त ग्राम मे प्रवेश कर के भी संखडी वाले घर मे आहार को न जाए, परन्तु अन्य घरों में सामुदानिक भिक्षा जो कि आधाकर्मादि दोषों से रहित, ग्रहण करके अपने संयम का परिपालन करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को संखडि में जाने के लिए छल-कपट का सहारा भी नहीं लेना चाहिए। जैसे—किसी मुनि को यह मालूम हुआ कि अमुक स्थान पर संखडि है, उस समय वह भिक्षु सखडि में जाने की अभिलाषा से उस ओर आहार को जाता है। वह अपने मन में सोचता है कि जब मैं उस ओर के घरों मे गोचरी करूंगा तो सखडि वाले मुझे देखकर आहार की विनती करेंगे और इस तरह मुझे सरस आहार प्राप्त होगा। इस भावना से भी साधु को सखडि में नहीं जाना चाहिए। इस तरह छल-कपट करने से उसका दूसरा एवं तीसरा महाव्रत भंग हो जाता है और मन में

सरस आहार की अभिलाषा बनी रहने के कारण वह अन्य घरों से निर्दोष एवं एषणीय आहार भी ग्रहण नहीं कर सकेगा। अतः भिक्षु को आहार के बहाने संखडि की ओर नहीं जाना चाहिए। परन्तु, संखडि को छोडकर अन्य घरों से निर्दोष एवं एषणीय आहार ग्रहण करते हुए सयम साधना में सलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'सामुदाणिय, एसिय, वेसिय' इन तीन पदो का प्रयोग किया है। सामुदानिक गोचरी का अर्थ है— छोटे-बड़े या गरीब-अमीर के भेद को छोडकर अनिन्दनीय कुलों से निर्दोष आहार को ग्रहण करना। एषणीय का अर्थ है— आधाकर्म आदि १६ दोषों से रहित आहार ग्रहण करना और वैषिक का अर्थ—धात्री आदि १६ दोषों से रहित आहार स्वीकार करे। वैषिक शब्द 'वेसिय', व्येषित और वेष' का भी बोधक है❀।

संखडि के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव रायहाणि-सिवा संखडी सिया तंपि य गामं वा जाव रायहाणिंवा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। केवली बूया आयाणमेयं, आइन्नाऽवमा णं संखडिं अणुपविस्समाणस्स पाएण वा पाए अक्कंतपुव्वे भवइ, हत्थेण वा हत्थे संचालिय पुव्वे भवइ, पाएण वा पाए आवडिय पुव्वे भवइ, सीसेण वा सीसे, संघट्टियपुव्वे भवइ, काएण वा काए संखोभिय पुव्वे भवइ दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवा-लेण वा अभिहयपुव्वे वा भवइ, सीओदएण वा उस्सित्तपुव्वे भवइ, रयसा वा परिघासिय पुव्वे भवइ, अणेसणिज्जे वा

❀"वेसिय' त्रि० (वैषिक) वेष—बाह्य लिंग मात्र थी प्राप्त थयेलु। 'वेसिय' त्रि (व्येषित) विशेष एषणा थी शुद्ध करी लीधेल।

परिभुत्त पुव्वे भवइ, अन्नेसिं वा दिज्जमाणे पडिग्गाहिय पुव्वे भवइ, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं आइन्नावमाणं संखडिं संखडि पडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥१७॥

छाया—स भिक्षुर्वा तद् यत् पुनः जानीयात् ग्रामे वा यावत् राजधान्यामस्मिन् खलु ग्राम वा यावद् राजाधान्या वा संखडिः स्यात् तमपि च ग्रामे वा यावद् राजधान्या वा संखडिं संखडि प्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्। आकीर्णावमां वा संखडिमनुप्रविशतः पादेन वा पादः आक्रान्त पूर्वो भवेत्, हस्तेन वा हस्तः सचालितः-पूर्वो भवति, पात्रेण वा पात्रं आपतित पूर्वं भवति, शिरसा वा शिरः संघटित पूर्वं भवति, कायेन वा कायः संक्षोभित पूर्वो भवति, दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लोष्ठेन वा कपालेन वा अभिहत पूर्वो वा भवति, शीतोदकेन वा उत्सिक्त पूर्वो भवति, रजसा वा परिघर्षित पूर्वो भवति अनेषणीयेन वा परिभुक्त पूर्वो भवति, अन्यस्मै वा दीयमान प्रतिग्राहित पूर्वो भवति, तस्मात् स संयतः निर्ग्रन्थः तथा प्रकारमाकीर्णामवमा संखडिं संखडि प्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—भिक्षु-साधु अथवा साध्वी। से जं पुण—जो फिर जाणिज्जा—जाने। गामं वा—ग्राम मे। जाव—यावत्। रायहाणिं वा—राजधानी मे। खलु—निश्चय ही। इमंसि—इस। गामंसि—ग्राम मे। जाव—यावत्। रायहाणिंसिवा—राजधानी मे। संखडि सिया—संखडि है। तंपि य—उस। गाम वा—ग्राम मे। जाव—यावत्। रायहाणि वा—राजधानी मे। संखडिं—संखडि को। संखडि पडियाए—संखडि की प्रतिज्ञा से। गमणाए—उस ओर जाने का। नो अभिसंधारिज्जा—संकल्प न करे। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं कि। आयाणमेयं—यह संखडिगमन कर्म के आने का मार्ग है। आइन्ना—परिव्राजकादि से आकीर्ण। अवमा—और जिसमे थोड़े व्यक्तियो के लिये भोजन बनाया गया हो तथा भिखारी अधिक हो ऐसी हीन। संखडि—संखडि में। अणुपविस्समाणस्स—प्रवेश करते समय। पाएण वा पाए—परस्पर पैर से पैर। अक्कतपुव्वे—प्रथम आक्रान्त। भवइ—होता है। हत्थेण वा हत्थे—हाथ से हाथ का। संचालिय पुव्वे भवइ—संचालन होता है। पाएण वा पाए—पात्र से पात्र का। आवडिय पुव्वे भवइ—संघर्षण होता है। सीसेण वा—सीसे—शिर से शिर का। संघट्टिय पुव्वे भवइ—संघट्टन होता है। काएण वा काए—शरीर से

शरीर का। संखोभिय पुव्वे भवइ—संक्षोभ होता है फिर शरीर के पारस्परिक संघटन से कलह उत्पन्न होने की सम्भावना है जिस से वे चरकादि भिक्षुगण आपस में। दंडेण वा—दण्डे से। अट्ठीण वा-अस्थि से। मुट्ठीण वा—मुष्टी से। लेलुण वा—पत्थर से। कवालेण वा—मिट्टी के ढेलों से लड़ेंगे। अभिहय पुव्वे भवइ—इससे एक दूसरा अभिहत होगा—एक दूसरे को अभिघात पहुंचेगा अथवा। सीओदएण वा—शीतोदक से—शीतल जल से। उसित्त पुव्वे भवइ—एक दूसरे को सींचेगा, तथा। रयसा वा—रज से- मिट्टी से। परिघासियपुव्वे भवइ—परिघर्षित करेगा ये सब दोष उस संखडि में जाने से उत्पन्न हो सकते हैं जिस में स्थान कम हो और जन सख्या अधिक हो। अब आगे हीन संखडि मे जाने से उत्पन्न होने वाले दोषों का उल्लेख करते हैं।

अणेसणिज्जे वा—अनेषणीय आहार। परिभुत्त पुव्वे भवइ—भोगने वाला होगा। अन्नेसिं वा दिज्जमाणे—अन्य के लिए देने को उत्सुकदातासे। पडि...हियपुव्वे भवइ—मध्य में ही कोई ग्रहण कर लेगा। तम्हा—इस लिए। से—वह। संजए—सयत। नियंठे—निर्ग्रन्थ। तहप्पगारं—उक्त प्रकार की। आइन्नावमा णं—आकीर्ण और अवम हीन। संखडि—सखडि में। सखडि पडियाए—सखडि की प्रतिज्ञा से। गमणाए—जाने के लिए। नो अभिसंधारिज्जा—विचार न करे।

मूलार्थ—साधु व साध्वी यह जान ले कि ग्राम में या राजधानी मे तथा, निश्चय रूप से जान ले कि इस ग्राम या इस राजधानी में सखडि है, तो वह उस ग्राम या राजधानो में होने वाली सखडि मे सखडि की प्रतिज्ञा से जाने का विचार न करे। क्योंकि भगवान कहते है कि यह अशुभ कर्म के आने का मार्ग है, ऐसी हीन सखडि मे जाने के निम्न लिखित दोषों के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। यथा—जहा थोड़े लोगो के लिए भोजन बनाया हो और परिव्राजक तथा चरकादि भिखारी गण अधिक आगए हो तो उस मे प्रवेश करते हुए, पैर से पैर पर आक्रमण होगा, हाथ से हाथ का संचालन होगा, पात्र से पात्र का सघर्षण होगा, एव सिर से सिर और शरीर से शरीर का संघटन होगा, ऐसा होने पर दण्डे से या मुट्ठी से या पत्थर आदि से एक दूसरे पर प्रहार का होना भी सम्भव है इसके अतिरिक्त, वे एक दूसरे पर सचित्त जल या सचित्त मिट्टी आदि फैंक सकते है। और वहां याचको की अधिकता

के कारण साधु को अनैषणीय आहार का भी उपयोग करना होगा तथा अन्य को दिये जाने वाले आहार को मध्य में ही ग्रहण करना होगा। इस तरह उस में जाने से अनेक दोष उत्पन्न होते है। इसलिए संयमशील निर्ग्रन्थ उक्त प्रकार की अर्थात् परिव्राजकादि से आकीर्ण तथा हीन संखडि में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का विचार न करे।

हिन्दी विवेचन

संखडि के प्रकरण को समाप्त करते हुए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि संखडि में जाने से पारस्परिक संघर्ष भी हो सकता है। क्योंकि संखडि में विभिन्न मत एवं पन्थों के भिक्षु एकत्रित होते हैं। अतः अधिक भीड़ में जाने से परस्पर एक-दूसरे के पैर से पैर कुचला जाएगा इसी तरह परस्पर हाथों, शरीर एवं मस्तक का स्पर्श भी होगा और एक- दूसरे से पहले भिक्षा प्राप्त करने के लिए धक्का-मुक्की भी हो सकती है। और भिक्षु या मांगने वाले अधिक हो जाए और आहार कम हो जाए तो उसे पाने के लिए परस्पर वाक् युद्ध एव मुष्टि तथा दण्ड आदि का प्रहार भी हो सकता है। इस तरह संखडि संयम की घातक है। क्योंकि वहां आहार शुद्ध नहीं मिलता, श्रद्धा में विपरीतता आने की संभावना है, सरस आहार अधिक खाने से संक्रामक रोग भी हो सकता है और संघर्ष एवं कलह उत्पन्न होने की संभावना है। इसलिए साधु को यह ज्ञात हो जाए कि अमुक गांव या नगर आदि में संखडि है तो उसे उस ओर आहार आदि को नहीं जाना चाहिए।

संखडि दो तरह की होती है— १-आकीर्ण और २-अवम। परिव्राजक, चरक आदि भिक्षुओं से व्याप्त संखडि को आकीर्ण और जिसमें भोजन थोड़ा बना हो और भिक्षु अधिक आ गए हों तो अवम संखडि कहलाती है❀।

**मूलम्—से भिक्खू वा जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ एसणिज्जे सिया अणेसणिज्जे सिया वितिगिंछसमावन्नेण अप्पाणेण असमाहडाए लेसाए तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिग्गाहिज्जा ॥१८॥**

❀ आचाराग सूत्र, २, १, ३, १७ वृत्ति।

छाया—स भिक्षुर्वा यावत् (गृहपति कुल प्रविष्टः) सन् पुनर्जानीयात्—अशनं वा ४ एषणीयं स्यात् अनेषणीय स्यात्, विचिकित्सा समापन्नेनात्मना असमाहृतया—अशुद्ध्या लेश्यया तथाप्रकारमशन वा ४ लाभे सति न प्रतिगृण्हीयात् ।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु वा साध्वी । जाव समाणे—यावत् गृह मे प्रवेश करता हुआ। से जं पुण—फिर यह । जाणिज्जा—जाने । असणं वा—अशनादि चतुर्विध आहार। एसणिज्जे सिया—क्या एषणीय है अथवा । अणेसणिज्जे सिया—अनेषणीय है। वितिगिंच्छसमावन्नेण—इस प्रकार की विचिकित्सा—आशका युक्त । अप्पाणेण—आत्मा से । असमाहडाए लेसाए—यह आहार अशुद्ध है इस प्रकार की लेश्या से। तहप्पगारं—उक्त प्रकार का। असण वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। लाभे संते—मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में गया हुआ साधु वा साध्वो अशनादि चतुर्विध आहार को जाने कि यह आहार एषणीय है या अनेषणोय ? यदि इस प्रकार की विचिकित्सा-आशका या लेश्या उत्पन्न होने पर कि यह आहार अशुद्ध है वह उस आहार को मिलने पर भी ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि साधु गृहस्थ के घर में आहार आदि के लिए प्रवेश करते ही यह देखे कि मुझे दिया जाने वाला आहार एषणीय है या नहीं ? यदि उसे उस आहार की निर्दोषता मे सन्देह हो तो उसे वह आहार नहीं लेना चाहिए। क्योंकि उस आहार के प्रति मन में सदोषता का संशय उत्पन्न होने पर उस संशय के दूर हुए बिना वह उस आहार को ग्रहण कर लेता है तो वह संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। और उसके उस मानसिक चिन्तन का प्रभाव साधना पर पड़ता है। इस तरह उसकी आध्यात्मिक साधना का प्रवाह कुछ देर के लिए रुक जाता है या दूषित सा हो जाता है। अतः साधु को आहार के सदोष होने की शंका हो जाने पर उसे उस आहार को ग्रहण ही नहीं करना चाहिए।

अब गच्छ से बाहर रहे हुए जिनकल्पी आदि मुनियों को आहार आदि के लिए कैसे जाना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू० गाहावइ कुलं पविसिउकामे सव्वं भण्डगमायाए गाहावइ कुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा

निक्खमिज्ज वा ।

से भिक्खू वा २ बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा।

से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥१६॥

छाया—स भिक्षुः गृहपति कुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं भण्डकमादाय गृहपति-कुल पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा स भिक्षुर्वा० २ बहि-विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्क्रमन् वा प्रविशन् वा सर्वं भंडकमादाय बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमि वा निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा । स भक्षुर्वा २ ग्रामानुग्रामं गच्छन् सर्वभण्डकमादाय ग्रामानुग्राम गच्छेद् ।

पदार्थ—से भिक्खू—वह साधु अथवा साध्वी । गाहावइकुलं—गृहपति के कुल मे । पविसिउ कामे—प्रवेश करने की इच्छा करता हुआ । सव्व भंडगमायाए—अपने सर्व धर्मोप-करणो को लेकर । गाहावइ कुलं—गृहपति के कुल में । पिंडवायपडियाए—पिंडपात की प्रतिज्ञा से । पविसिज्ज वा—प्रवेश करे अथवा । निक्खमिज्ज वा—निकले ।

से भिक्खू वा २—वह साधु वा साध्वी । बहिया—बाहर । विहार भूमि वा—मलोत्सर्ग भूमि मे । वियार भूमि वा—स्वाध्याय भूमि मे । निक्खममाणे वा—निकलता हुआ अथवा । पविसमाणे वा—प्रवेश करता हुआ । सव्वं—सब । भंडगमायाए—धर्मोपकरण को साथ लेकर । बहिया—बाहिर । विहार भूमिं वा—विहार-मलोत्सर्ग करने की भूमि मे । वियार भूमि वा—स्वाध्याय भूमि में । निक्खमिज्ज वा—निकले अथवा । पविसिज्ज वा प्रवेश करे ।

से भिक्खू वा—वह साधु वा साध्वी । गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे । दूइज्जमाणे—जाता हुआ । सव्व—सब । भण्डगमायाए—धर्मोपकरणो को साथ लेकर । गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम-एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे । दूइज्जिज्जा—गमन करें—जावे ।

मूलार्थ—जो साधु वा साध्वी गृहपति कुल मे प्रवेश करने की इच्छा

रखते है वे सब भंडोपकरण को साथ लेकर पिंडपात प्रतिज्ञा से गृहपति कुल मे प्रवेश करे या निकले ।

जो साधु वा साध्वी बाहर मलोत्सर्ग भूमि में, या स्वाध्याय भूमि में जाना चाहते है वे भी अपने सब धर्मोपकरण को साथ लेकर बाहर विहार भूमि में स्वाध्याय भूमि में प्रवेश करे।

ग्रामानुग्राम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में, विचरते समय साधु वा साध्वी अपने सब धर्मोपकरणो को साथ लेकर एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिनकल्पी या प्रतिमाधारी साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय आदि के लिए अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर जाते समय अपने सभी उपकरण साथ ले जाने चाहिएं। जब कि सूत्र में जिनकल्पी या स्थविरकल्पी का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु, उपकरण ले जाने के कारणों से यह ज्ञात होता है कि यह प्रसंग जिनकल्पी आदि के लिए ही हो सकता है। जिनकल्पी एवं विशिष्ट प्रतिमाधारी मुनि गच्छ से अलग अकेला रहता है। अतः उसके बाहर जाने के बाद यदि वर्षा हो जाए तो उसके उपकरण भीग सकते हैं या कभी कोई व्यक्ति उन्हें उठाकर ले जा सकता है । स्थविरकल्पी साधु कम से कम दो साधु रहते हैं, अत. एक-दूसरे को सावधान करके अपने स्थान से बाहर जा सकता है, अतः उसके लिए ऐसा प्रसंग आ नहीं सकता।

दूसरे मे जिनकल्पी मुनि के पास अधिक उपकरण नहीं होते। सामान्य रूप से रजोहरण और मुखवस्त्रिका ही होती है और यदि वह लज्जा पर विजय पाने मे समर्थ नहीं है तो एक छोटा-सा चोलपट्टक (धोती के स्थान में लपेटने का वस्त्र) रख सकता है, जिसका उपयोग गांव या शहर में आहार आदि को जाते समय करता है और ये उपकरण तो सदा साथ रहते ही हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त कुछ जिनकल्पी मुनि शीत सहन करने में असमर्थ हों तो वे एक ऊन का और अधिक आवश्यकता पड़ने पर एक सूत का वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह ५ उपकरण हो गए और यदि किसी जिनकल्पी मुनि के हाथों की अंजली (जिन कल्पी मुनि हाथ की अंजली बनाकर उसी मे आहार करते हैं) मे छिद्र पड़ते हों तो उससे सब्जी, दूध, पानी आदि के टपक

यह प्रश्न हो सकता है कि जिनकल्पी मुनि होते हैं, पर उन में साध्वी नहीं होती और प्रस्तुत सूत्र मे साधु-साध्वी दोनों शब्दों का उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि यह उल्लेख समुच्चय रूप से हुआ है। पिछले सूत्रों मे साधु-साध्वी का उल्लेख होने के कारण इस सूत्र में भी उसे दोहरा दिया गया है। परन्तु, यहां प्रसंगानुसार साधु का ही ग्रहण करना चाहिए। वृत्तिकार ने भी इस पाठ को जिनकल्पी मुनि से संबन्धित बताया है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में जिनकल्पी साधु का प्रसंग ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कुछ कारणों से साधु को अपने भंडोपकरण लेकर आहार आदि को नहीं जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू० अह पुण एवं जाणिज्जा--तिव्वदेसियं वासं वासेमाणं पेहाए तिव्वदेसियं महियं संनिचयमाणं पेहाए महवाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए तिरिच्छसंपाइमा वा तसा पाणा संथडा संनिचयमाणा पेहाए से एवं नच्चा नो सव्वं भंडग-मायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्ख-मिज्ज वा बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥२०॥

रखते है वे सब भंडोपकरण को साथ लेकर पिंडपात प्रतिज्ञा से गृहपति कुल मे प्रवेश करे या निकले ।

जो साधु वा साध्वी बाहर मलोत्सर्ग भूमि मे, या स्वाध्याय भूमि में जाना चाहते है वे भी अपने सब धर्मोपकरण को साथ लेकर बाहर विहार भूमि में स्वाध्याय भूमि में प्रवेश करे ।

ग्रामानुग्राम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरते समय साधु वा साध्वी अपने सब धर्मोपकरणो को साथ लेकर एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिनकल्पी या प्रतिमाधारी साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय आदि के लिए अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर जाते समय अपने सभी उपकरण साथ ले जाने चाहिएं। जब कि सूत्र में जिनकल्पी या स्थविरकल्पी का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु, उपकरण ले जाने के कारणों से यह ज्ञात होता है कि यह प्रसंग जिनकल्पी आदि के लिए ही हो सकता है। जिनकल्पी एवं विशिष्ट प्रतिमाधारी मुनि गच्छ से अलग अकेला रहता है। अतः उसके बाहर जाने के बाद यदि वर्षा हो जाए तो उसके उपकरण भीग सकते हैं या कभी कोई व्यक्ति उन्हें उठाकर ले जा सकता है। स्थविरकल्पी साधु कम से कम दो साधु रहते हैं, अत. एक-दूसरे को सावधान करके अपने स्थान से बाहर जा सकता है, अतः उसके लिए ऐसा प्रसंग आ नहीं सकता।

दूसरे मे जिनकल्पी मुनि के पास अधिक उपकरण नहीं होते। सामान्य रूप से रजोहरण और मुखवस्त्रिका ही होती है और यदि वह लज्जा पर विजय पाने में समर्थ नहीं है तो एक छोटा-सा चोलपट्टक (धोती के स्थान में लपेटने का वस्त्र) रख सकता है, जिसका उपयोग गांव या शहर में आहार आदि को जाते समय करता है और ये उपकरण तो सदा साथ रहते ही हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त कुछ जिनकल्पी मुनि शीत सहन करने मे असमर्थ हों तो वे एक ऊन का और अधिक आवश्यकता पड़ने पर एक सूत का वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह ५ उपकरण हो गए और यदि किसी जिनकल्पी मुनि के हाथों की अंजली (जिन कल्पी मुनि हाथ की अजली बनाकर उसी में आहार करते हैं) में छिद्र पड़ते हों तो उससे सब्जी, दूध, पानी आदि के टपक

रखते है वे सब भंडोपकरण को साथ लेकर पिंडपात प्रतिज्ञा से गृहपति कुल मे प्रवेश करे या निकले ।

जो साधु वा साध्वी बाहर मलोत्सर्ग भूमि मे, या स्वाध्याय भूमि में जाना चाहते है वे भी अपने सब धर्मोपकरण को साथ लेकर बाहर विहार भूमि में स्वाध्याय भूमि में प्रवेश करे।

ग्रामानुग्राम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरते समय साधु वा साध्वी अपने सब धर्मोपकरणो को साथ लेकर एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिनकल्पी या प्रतिमाधारी साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय आदि के लिए अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर जाते समय अपने सभी उपकरण साथ ले जाने चाहिएं। जब कि सूत्र में जिनकल्पी या स्थविरकल्पी का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु, उपकरण ले जाने के कारणों से यह ज्ञात होता है कि यह प्रसंग जिनकल्पी आदि के लिए ही हो सकता है। जिनकल्पी एवं विशिष्ट प्रतिमाधारी मुनि गच्छ से अलग अकेला रहता है। अत: उसके बाहर जाने के बाद यदि वर्षा हो जाए तो उसके उपकरण भीग सकते हैं या कभी कोई व्यक्ति उन्हें उठाकर ले जा सकता है । स्थविरकल्पी साधु कम से कम दो साधु रहते हैं, अत. एक-दूसरे को सावधान करके अपने स्थान से बाहर जा सकता है, अत: उसके लिए ऐसा प्रसंग आ नहीं सकता।

दूसरे में जिनकल्पी मुनि के पास अधिक उपकरण नहीं होते। सामान्य रूप से रजोहरण और मुखवस्त्रिका ही होती है और यदि वह लज्जा पर विजय पाने मे समर्थ नहीं है तो एक छोटा-सा चोलपट्टक (धोती के स्थान में लपेटने का वस्त्र) रख सकता है, जिसका उपयोग गांव या शहर में आहार आदि को जाते समय करता है और ये उपकरण तो सदा साथ रहते ही हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त कुछ जिनकल्पी मुनि शीत सहन करने मे असमर्थ हों तो वे एक ऊन का और अधिक आवश्यकता पड़ने पर एक सूत का वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह ५ उपकरण हो गए और यदि किसी जिनकल्पी मुनि के हाथों की अंजली (जिन कल्पी मुनि हाथ की अंजली बनाकर उसी मे आहार करते हैं) में छिद्र पड़ते हों तो उससे सब्जी, दूध, पानी आदि के टपक

रखते है वे सब भंडोपकरण को साथ लेकर पिडपात प्रतिज्ञा से गृहपति कुल मे प्रवेश करे या निकले ।

जो साधु वा साध्वी बाहर मलोत्सर्ग भूमि मे, या स्वाध्याय भूमि में जाना चाहते है वे भी अपने सब धर्मोपकरण को साथ लेकर बाहर विहार भूमि में स्वाध्याय भूमि में प्रवेश करे ।

ग्रामानुग्राम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विचरते समय साधु वा साध्वी अपने सब धर्मोपकरणों को साथ लेकर एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिनकल्पी या प्रतिमाधारी साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय आदि के लिए अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर जाते समय अपने सभी उपकरण साथ ले जाने चाहिएं। जब कि सूत्र में जिनकल्पी या स्थविरकल्पी का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु, उपकरण ले जाने के कारणों से यह ज्ञात होता है कि यह प्रसंग जिनकल्पी आदि के लिए ही हो सकता है। जिनकल्पी एवं विशिष्ट प्रतिमाधारी मुनि गच्छ से अलग अकेला रहता है। अतः उसके बाहर जाने के बाद यदि वर्षा हो जाए तो उसके उपकरण भीग सकते हैं या कभी कोई व्यक्ति उन्हें उठाकर ले जा सकता है । स्थविरकल्पी साधु कम से कम दो साधु रहते हैं, अत. एक-दूसरे को सावधान करके अपने स्थान से बाहर जा सकता है, अतः उसके लिए ऐसा प्रसंग आ नहीं सकता।

दूसरे में जिनकल्पी मुनि के पास अधिक उपकरण नहीं होते। सामान्य रूप से रजोहरण और मुखवस्त्रिका ही होती है और यदि वह लज्जा पर विजय पाने में समर्थ नहीं है तो एक छोटा-सा चोलपट्टक (धोती के स्थान में लपेटने का वस्त्र) रख सकता है, जिसका उपयोग गांव या शहर में आहार आदि को जाते समय करता है और ये उपकरण तो सदा साथ रहते ही हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त कुछ जिनकल्पी मुनि शीत सहन करने में असमर्थ हों तो वे एक ऊन का और अधिक आवश्यकता पड़ने पर एक सूत का वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह ५ उपकरण हो गए और यदि किसी जिनकल्पी मुनि के हाथों की अंजली (जिन कल्पी मुनि हाथ की अंजली बनाकर उसी में आहार करते हैं) में छिद्र पड़ते हों तो उससे सब्जी, दूध, पानी आदि के टपक

यह प्रश्न हो सकता है कि जिनकल्पी मुनि होते हैं, पर उन मे साध्वी नहीं होती और प्रस्तुत सूत्र में साधु-साध्वी दोनों शब्दों का उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि यह उल्लेख समुच्चय रूप से हुआ है। पिछले सूत्रों में साधु-साध्वी का उल्लेख होने के कारण इस सूत्र में भी उसे दोहरा दिया गया है। परन्तु, यहां प्रसंगानुसार साधु का ही ग्रहण करना चाहिए। वृत्तिकार ने भी इस पाठ को जिनकल्पी मुनि से संबन्धित बताया है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में जिनकल्पी साधुका प्रसग ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कुछ कारणों से साधु को अपने भंडोपकरण लेकर आहार आदि को नहीं जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू० अह पुण एवं जाणिज्जा--तिव्वदेसियं वासं वासेमाणं पेहाए तिव्वदेसियं महियं संनिचयमाणं पेहाए महवाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए तिरिच्छसंपाइमा वा तसा पाणा संथडा संनिचयमाणा पेहाए से एवं नच्चा नो सव्वं भंडगमायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा गामाणुगाम दूइज्जिज्जा ॥२०॥**

छाया—स भिक्षुरथ पुनरेवं जानीयात्, तीव्रदेशिका वर्षां वर्षन्तीं प्रेक्ष्य, तीव्रदेशिकां महिकां सनिपतन्ती प्रेक्ष्य, महावातेन वा रजः समुद्धृतं प्रेक्ष्य, तिरश्चीनं सनिपतितो वा त्रस प्राणिनः सम्स्तृताः [ सम्भृतान् ] संनिपतन्तः प्रेक्ष्य, स एवं ज्ञात्वा न सर्वं भंडकमादाय गृहपतिकुलं पिंडपात प्रतिज्ञया प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पड़ने से अयतना न हो इसलिए वे एक पात्र रखते हैं और पात्र के साथ उन्हें सात उपकरण रखने होते हैं। इस तरह जिनकल्पी मुनि के जघन्य २ और उत्कृष्ट १२ उपकरण कहे गए हैं*। परन्तु स्थविरकल्पी मुनि के पास इससे अधिक उपकरण होते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में १४ उपकरण गिनाए गए हैं† । निशीथ सूत्र में दण्ड, लाठी, अवलेहनी, बांस का खपाट‡ और सूत की रस्सी एवं चिलिमिलिका (मच्छरदानी) रखने का उल्लेख है*। व्यवहार सूत्र में पात्र रखने का उल्लेख है और स्थविरकल्पी के छत्र आदि उपकरणों का उल्लेख भी किया गया है†। बृहत्कल्प सूत्र में साध्वी को मूत्र त्याग के लिए एक पात्र रखने की विशेष आज्ञा दी गई है‡। आचाराङ्ग सूत्र मे आर्या (साध्वी) के लिए ४ चादर रखने का विधान है*। बृहत्कल्प सूत्र में साध्वी को साड़ी के भीतर चोलपट्टक (जांघिया) रखने की आज्ञा भी दी गई है† । इस तरह स्थविरकल्पी के पास १४ से भी अधिक उपकरण होते है, अत. उन्हें बाहिर आहार आदि को जाते समय सदा साथ ले जाना कठिन है । परन्तु, जिनकल्पी के पास थोड़े उपकरण होने के कारण वह उन्हें अपने साथ ले जा सकता है। इस अपेक्षा से यहां जिन कल्पी का प्रसंग ही उचित प्रतीत होता है ।

---

* पात्र पात्रबन्ध: पात्रस्थापनं च पात्रकेसरिका ।

पटलानि रजस्त्राण च गोच्छक: पात्रनिर्योग: । आचाराग वृत्ति ।

† जंपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पगारंमि समुप्पन्ने, वायाहिन पित्तसिंभअइरित्तकुविय; तह सण्णिवाय जातेव उदय पत्ते उज्जल वल बिउल कक्खड पगाढ दुक्खे, असुभकडुय फरुस चंड फल विवागो महब्भय जीवियतकरणे, सव्वसरीरपरितावणकरणे न कप्पइ—तारिसेवि तह अप्पणो परस्स व ओसह भेसज्ज, भत्तपाण च तपि सण्णिहिं कय ।६। जंपिय—समणस्स सुविहियस्स तओ पडिग्गहधारिस्सभवइ, भायणभण्डोवहि उवगरण पडिग्गहो, पायवधण पायकेसरिया, पायट्ठवणं च पडलाई, तिण्णि व रयत्ताण च, गोच्छओ तिण्णिव पच्छाका रयहरणं चोलपट्टगमुहणंतगमादिय । —प्रश्न व्याकरण सूत्र ५ वा सवरद्वार ।

‡निशीथ सूत्र १, ४१ ।

*निशीथ सूत्र, १, १५ ।

† व्यवहार सूत्र, उद्देशक २ ।

‡कप्पइ निग्गथीण अंतीलित्तय घडिमत्तयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ।

—बृहत्कल्प सूत्र, १, १, ६ ।

* आचाराग सूत्र, २, ४, २, स्थानाग सूत्र- स्थान ४ ।

† कप्पइ निगाथीण ओग्गहणंतगं वा ओग्गहणपट्टग वा धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ।

—बृहत्कल्प सूत्र ३; १२ ।

वृत्तिकार ने लिखा है कि गच्छ के अन्दर एवं गच्छ बाहर रहा हुआ साधु अपने स्थान से बाहर जाते समय देखे कि वर्षा आ तो नहीं रही है। यदि वर्षा आ रही हो तो जिनकल्पी मुनि को किसी भी हालत में बाहर नहीं जाना चाहिए। क्योंकि वह ६ महीने तक पुरीष (टट्टी- पेशाब) को रोकने में समर्थ है। परन्तु, स्थविरकल्पी मुनि मल-मूत्र की बाधा होने पर उसका त्याग करने के लिए जा सकता है। परन्तु ऐसे समय में वह सभी उपकरण साथ लेकर न जाए ❋।

परन्तु, वृत्तिकार का यह कथन विचारणीय है क्योंकि आगम में लिखा है कि प्रतिमाधारी मुनि को मल-मूत्र की बाधा हो तो उसे रोकना नहीं चाहिए। परन्तु, पहले प्रतिलेखन की हुई ( देखी हुई ) भूमि पर उसका त्याग करके यथाविधि अपने स्थान पर आकर स्थित हो जाना चाहिए†। इसी तरह मोक प्रतिमाधारी मुनि के लिए भी बताया गया है कि यदि उसे रात्रि को मूत्र की बाधा हो जाए तो वह उसे रोक कर न रखे‡। ज्ञाता सूत्र में भी उल्लेख मिलता है कि जिस समय मेघ मुनि ने श्रमण भगवान महावीर से आज्ञा प्राप्त करके पादपोपगमन संथरा किया था, उस समय उन्हों ने सब से पहले मल-मूत्र के त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन किया था❋। साधु समाचारी में भी यह बताया गया है कि मुनि दिन के चतुर्थ भाग में मल-मूत्र त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन करे†। यदि कोई मुनि उस का प्रतिलेखन नहीं करता है, तो उसके लिए प्रायश्चित (दण्ड) का विधान है ‡।

इन आगम प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि किसी भी समय में मल-मूत्र के त्याग करने का निषेध नहीं है। क्योंकि इसके रोकने से अनेक बीमारियां हो सकती है और उनके कारण होने वाली अयतना एवं सकल्प-विकल्प उस समय रात के ओस एवं वर्षा आदि की अयतना से भी अधिक अहितकर हो सकते हैं। अत वर्षा आदि के प्रसंग पर भी मुनि विवेक एवं यतना पूर्वक मल-मूत्र का त्याग करने जा सकता है।

---

❋ आचारांग सूत्र वृत्ति।

† उच्चार-पासवणेणं उप्पाहिज्जा नो से कप्पति उगिण्हित्तए वा, कप्पति से पुव्व-पडिलेहिए थंडिले उच्चार पासवणं परिठवित्तए, तम्मेव उवस्सय आगम्म अहाविहि ठाणं ठवित्तए।

—दशाश्रुतस्कंध, दशा ७।

‡ व्यवहार सूत्र, उदेशक ६।

❋ ज्ञाता धर्मकथाङ्ग, अध्याय १।

† उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २६।

‡ निशीथ सूत्र; उ० ४।

इस प्रकार से। जाणिज्जा—जाने। तिव्वदेसियं—वृहद् द्वारोपेत बहुत विस्तृत क्षेत्र। वास—वर्षा। वासेमाणे—बरसती हुई। पेहाए—देखकर। तिव्वदेसियं—बडे देश मे अन्धकार रूप। महिकां—धुन्ध। सनिचयमाण—पडती हुई। पेहाए—देखकर। वा—अथवा। महावायेण—महा वायु से। रयं—रज-धूली। समुद्धयं—उडती हुई। पेहाए—देखकर। वा—अथवा। तिरिच्छ संपाइमा—तिर्यग्। तसापाणा—त्रसप्राणियो के। सथडा—समुदाय को। संनिचयमाणा—उडते एवं गिरते हुए। पेहाए—देखकर। से—वह भिक्षु। एव—इस प्रकार। नच्चा—जानकर। सव्व—सब। भंडगमायाए—धर्मोपकरण को ले कर। गाहावइ कुलं—गृहपतिकुल में। पिंडवायपडियाए—पिण्डपात प्रतिज्ञा से—आहार लेने की प्रतिज्ञा से। नो पविसिज्ज वा—प्रवेश न करे। निक्खमिज्ज वा—और न वहा से निकले। बहिया—बाहर। विहार भूमिं वा—विहार भूमि में अथवा। वियार भूमिं वा—विचार भूमि मे। निक्खमिज्ज वा—न निकले। या। पविसिज्ज वा—न प्रवेश करे अर्थात् वह भडोपकरण लेकर न जाए और न आवे तथा। गामाणुगामं—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को। दूइज्जिज्जा—नही जाए।

मूलार्थ—वृहद् देश मे वर्षा बरसती हुई देखकर, तथा वृहद् देश में अन्धकार रूप धुंध पडती हुइ देखकर, अथवा महावायु से रज उड़ती हुई देख कर या बहुत से त्रस प्राणियो को उड़ते व गिरते हुए देखकर तथा इस प्रकार जानकर साधु वा साध्वी सब धर्मोपकरण को साथ ले कर आहार की प्रतिज्ञा से गृहपति के कुल मे न तो प्रवेश करे और न वहा से निकले इसी प्रकार बाहर विहार भूमि या विचार भूमि मे भी प्रवेश या निष्क्रमण न करे तथा एक गाव से दूसरे गाव को विहार भी न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि देश व्यापी वर्षा बरस रही हो, धुंध पड़ रही हो, आंधी के कारण धूल पड़ रही हो, पतंगे आदि त्रस जीव पर्याप्त संख्या में उड़ एवं गिर रहे हों, ऐसी अवस्था मे सभी भण्डोपकरण लेकर साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय के लिए अपने स्थान से बाहर नहीं जाना चाहिए। और ऐसे प्रसंग पर एक गाव से दूसरे गाव को विहार भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे प्रसंग पर यदि साधु गमनागमन करेगा तो अप्कायिक जीवों की एवं अन्य प्राणियों की हिंसा होगी। अतः उनकी रक्षा के लिए साधु को वर्षा आदि के समय पर अपने स्थान पर ही स्थित रहना चाहिए

यह प्रश्न हो सकता है कि यदि सूत्रकार को मल-मूत्र के त्याग का निषेध करना इष्ट नहीं था, तो उसने आहार एवं स्वाध्याय भूमि के साथ उसे क्यों जोड़ा? इसका समाधान यह है कि यह संलग्न सूत्र है, जैसा विधि रूप में इसका उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार सामान्य रूप से निषेध के समय भी उल्लेख कर दिया गया है। ऐसा और भी कई स्थलों पर होता है। भगवती सूत्र में एक जगह जीव को गुरु-लघु कहा है* और दूसरी जगह अगुरुलघु कहा है†। फिर भी दोनों पाठों में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि औदारिक आदि शरीर की अपेक्षा से जीव को गुरु-लघु कहा है, क्योंकि जीव उन औदारिक आदि शारीरिक पर्यायों के साथ सलग्न है और अगुरुलघु आत्म स्वरूप की अपेक्षा से कहा गया है। अतः यहां पर भी मल-मूत्र का पाठ आहार एवं स्वाध्याय भूमि के साथ संलग्न होने के कारण उसके साथ उसका भी उल्लेख किया गया है। परन्तु इससे जिनकल्पी मुनि के लिए वर्षा आदि के समय मल-मूत्र त्याग का निषेध नहीं किया गया है।

कुछ ऐसे कुल भी है, जिनमें साधु को भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। उन कुलों का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा २ से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, तंजहा खत्तियाण वा राईण वा कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसट्ठियाण वा अन्तो वा बाहिं वा गच्छताण वा संनिविट्ठाण वा निमंतेमाणाण वा अनिमंतेमाणाण वा असणं वा ४ लाभे संते नो पडिग्गाहिज्जा त्तिबेमि ॥२१॥**

छाया—स भिक्षुर्वा २ अथ यानि पुनः कुलानि जानीयात् तद्यथा—क्षत्रियाणां वा राज्ञां वा कुराज्ञां वा राजप्रेष्याणां वा राजवंशस्थितानां वा अन्तर्बहिर्वा गच्छतां वा संनिविष्टानां वा निमन्त्रयतां अनिमन्त्रयतां वा अशनं वा ४ लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

---

* भगवती सूत्र, श० २३, उ १।

† भगवती सूत्र, श० १, उ० ६।

पदार्थ—से - वह। भिक्खू वा २—साधु वा साध्वी। पुण - फिर। से—वह। जाइ - इन। कुलाइ - कुलो को। जाणिज्जा - जाने। तंजहा - जैसे कि-। खत्तियाण वा—क्षत्रियो के कुल। राईण वा—राजाओ के कुल। कुराईण वा—कुराजाओ के कुल। राय-पेसियाण वा- राज प्रेष्यो के कुल। राय वंसट्ठियाण वा—राजवश मे स्थित कुलो के। अन्तो वा बाहिं वा—अन्दर या बाहर अर्थात् घर के अन्दर अथवा बाहर स्थित। गच्छताण वा—जाते हुए अथवा। सनिविट्ठाणं वा—बैठे हुए। निमतेमाणाण वा— निमन्त्रण करते हुए। अनिमन्तेमणाण वा—न निमन्त्रण करते हुए। असणं वा ४ - अशनादिक चतुर्विध आहार। लाभे सते—प्राप्त होने पर। नो पडिग्गाहिज्जा - ग्रहण न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—साधु व साध्वी इन कुलों को जाने, यथा चक्रवर्ती आदि क्षत्रियो के कुल, उन से भिन्न अन्य राजाओ के कुल, एक देशवासी राजाओ के कुल, दण्डपाशिक प्रभृति के कुल, राजा के सम्बन्धियों के कुल और इन कुलो से घरके बाहर या भीतर जाते हुए, खडे या बैठे हुए, निमत्रण किये जाने अथवा न किये जाने पर वहा से प्राप्त होने वाले चतुर्विध आहार को साधु ग्रहण न करे। ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मुनि को चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि क्षत्रिय कुलों का तथा उनसे भिन्न राजाओं के कुल का, एक देश के राजाओं के कुल का, राजप्रेष्य-दण्ड-पाशिक आदि के कुल का और राजवंशस्थ कुलों का आहार नहीं लेना चाहिए। उक्त कुलों का आहार उनके द्वारा निमन्त्रण करने पर या बिना निमन्त्रण किए तथा उनके घर से बाहर या घर मे किसी भी तरह एवं कहीं भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इस निषेध का कारण यह है कि राजभवन एवं राजमहल आदि में लोगों का आवागमन अधिक होने से साधु भली-भांति ईर्यासमिति का पालन नहीं कर सकता। इस कारण संयम की विराधना होती है। इसलिए साधु को उक्त कुलों में आहार आदि के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए। यह कथन भी सापेक्ष ही समझना चाहिए। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में जिन १२ कुलों का निर्देश किया है उनमें उग्र कुल, भोग कुल, राजन्य कुल, इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि कुलों से आहार लेने का स्पष्ट वर्णन है। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम अतिमुक्त कुमार के अंगुली पकड़ने पर

उसके साथ उनके घर पर भिक्षार्थ गए थे। इससे स्पष्ट होता है कि यदि इन कुलों में जाने पर संयम में किसी तरह का दोष न लगता हो तो इन घरों से निर्दोष आहार लेने में कोई दोष नहीं है। यहां पर निषेध केवल इसलिए किया गया है कि यदि राजघरों में अधिक चहल-पहल आदि हो तो उस समय ईर्यासमिति का भली-भांति पालन नहीं किया जा सकेगा, इस संबन्ध में वृत्तिकार का भी यही अभिमत है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में संखडि एवं कुलों का निर्देश किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में संखडि के विषय मे जो कुछ बातें शेष रह गई हैं, उनके सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अन्तरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिं-गपणगदगमट्टीमक्कडासंताणया बहवे तत्थ समणमाहणअति-हिकिवणवणीमगा उवागया उवागमिस्संति (उवागच्छंति) तत्था-इन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए नो पन्नस्स वायण-पुच्छणपरियट्टणाऽणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, से एवं नच्चा तहप्प-गारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। से भिक्खू० वा से जं पुण जाणिज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा, जाव हीरमाणं वा पेहाए अन्तरा से मग्गा अप्पा पाणा जाव संताणगा नो जत्थ बहवे समण० जाव उवागमिस्संति अप्पाइन्ना वित्ती पन्नस्स निक्खमण-पवेसाए पन्नस्सवायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए,

सेवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा० अभिसंधारिज्ज गमणाए ॥२२॥

छाया—स भिक्षुर्वा यावत्- (गृहपतिकुलंप्रविष्टः) सन् तद् यत् पुनः जानीयात् मांसादिकं वा मत्स्यादिकं वा मत्स्यखलं वा मांसखलं वा आहेणं वा प्रेक्षं वा हिंगोलं वा संमेलं वा ह्रियमाणं वा प्रेक्ष्य अन्तरा तस्य मार्गाः बहवः प्राणाः बहुबीजाः बहुहरिता बहुवश्यायाः बहूदका बहूत्तिंगपनकोदक-मृत्तिकामर्कटसन्तानकाः, बहवस्तत्र श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमका उपागता उपागमिष्यन्ति तत्राकीर्णा वृत्तिः न प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय न प्राज्ञस्य वाचनाप्रच्छनापरिवर्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मानुयोगचिन्तायै स एवं ज्ञात्वा तथा प्रकारां पुरः संखडिं वा पश्चात् संखडिं वा संखडिं संखडिप्रतिज्ञया नाभिसन्धा-रयेद् गमनाय स । भिक्षुर्वा तत् यद् पुनः जानीयात् मांसादिकं वा मत्स्यादिकं वा यावत् ह्रियमाणं वा प्रेक्ष्य अन्तराः तस्य मार्गाःअल्पप्राणाःयावत् सन्तानकाः न यत्र बहवः श्रमण यावत् उपागमिष्यन्ति अल्पाकीर्णा वृत्ति प्राज्ञस्य निष्क्रमण प्रवेशाय प्राज्ञस्य वाचनाप्रच्छनापरिवर्तनाऽनुप्रेक्षा धर्मानुयोगचिन्तायै, स एवं ज्ञात्वा तथा प्रकारां पुरः संखडिं वा० अभिसन्धारयेद् गमनाय ।

वहुत बीज। बहु हरिया—वहुत हरी। वहु ओसा—वहुत ओस। बहु उदया—वहुत पानी। वहुउत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कड़ासंताणया — वहुत सूक्ष्म जीव निगोद वा पाच वर्ण फूल, जल से आर्द्र मृत्तिका और मकडी का जाला आदि की विराधना की संभावना है और। तत्थ— उस भोजन के स्थान पर। बहवे- वहुत से। समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा— श्रमण-शाक्यादि भिक्षुगण ब्राह्मण, अतिथि; कृपण और याचक। उवागया—आये हुए हैं अथवा। उवागच्छंति—आ रहे हैं अथवा-। उवागमिस्संति—आएगे। तत्थाइन्ना—वहा पर आकीर्ण। वित्ती—वृत्ति है अर्थात् वहा पर संकीर्ण वृत्ति हो रही है अतः। पन्नस्स—प्रज्ञावान-बुद्धिमान साधु को। नो निक्खमण पवेसाए—वहा पर निष्क्रमण और प्रवेश नही करना चाहिए, तथा। पन्नस्स—बुद्धिमान साधु को वहा उस संखडि में। नो वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोगचिन्ता नही हो सकती, कारण कि वहा गायन, वादन आदि की अधिकता रहती है। अत:। से—वह। एव—इस प्रकार। नच्चा—जानकर। तहप्पगार—उक्त प्रकार की। पुरेसखडि वा—पूर्व सखडि में या। पच्छा संखडि वा—पश्चात् संखडि मे। संखडि—सखडि को। संखडिपडियाए—सखडि की प्रतिज्ञा से। गमणाए—गमन करने के लिए। नो अभिसंधारिज्जा—मन में संकल्प न करे। अब इस सूत्र के आपवादिक विषय में कहते हैं यथा—। से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी। से ज पुण जाणिज्जा—यदि फिर ऐसे जाने कि। मंसाइयं वा—जिस भोजन में मास प्रधान है तथा। मच्छाइयं वा—मत्स्य प्रधान है। जाव—यावत्। हीरमाणं वा—ले जाते हुए को। पेहाए—देखकर। से—उस भिक्षु को। अंतरामग्गा—मार्ग के मध्य मे। अप्पपाणा—प्राणी नही हैं। जाव—यावत्। ससताणगा—मकडी का जाला भी नही है। जत्थ—जहा पर। वहवे—वहुत से। समणा० —श्रमण-शाक्यादि भिक्षु गण। जाव—यावत्। नो उवागमिस्संति—नही आयेंगे और। अप्पाइन्ना—अल्पाकीर्ण। वित्ती—वृत्ति है अत:। पन्नस्स—प्रज्ञावान बुद्धिमान् साधु को। निक्खमण पवेसाए—निष्क्रमण और प्रवेश की सुगमता है तथा। पन्नस्स—वुद्धिमान साधु को वहां। वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोगचिन्ता मे कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता है। सेवं—वह इस प्रकार। नच्चा—जानकर। तहप्पगारं—उक्त प्रकार की। पुरे संखडिं वा—पूर्व सखडि में या पश्चात् सखडि में। गमणाए—गमन करने के लिए। अभि सधारिज्जा—सकल्प धारण करे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मे भिक्षा के लिए प्रवेश करते हुए साधु व साध्वी आहार को इस प्रकार जाने कि जो आहार मांस प्रधान, मत्स्य प्रधान है अथवा शुष्क मास, शुष्क मत्स्य सम्बन्धि, तथा नूतनवध के

कि सामिप एवं निरामिष दोनों तरह की संखडि होती थी, कोई व्यक्ति मांस प्रधान या मत्स्य प्रधान संखडि बनाता था, उसे मास और मत्स्य सखडि कहते थे। कोई पुत्र वधु के घर आने पर संखडि बनाता था, कोई पुत्री के विवाह पर संखडि बनाता था और कोई किसी की मृत्यु के पश्चात् सखडि बनाता था। इस तरह उस युग में होने वाली विभिन्न संखडियों का प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन किया है और बताया गया है कि उक्त संखडियों के विषय में ज्ञात होने पर मुनि को उसमे भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए।

इसका कारण पूर्व सूत्रों मे स्पष्ट कर दिया गया है प्रथम तो आहार में दोष लगने की सम्भावना है, दूसरे में अन्य भिक्षुओं का अधिक आवागमन होने से उनके मन में द्वेष भाव उत्पन्न होने की तथा अन्य जीवों की विराधना होने की सम्भावना है और तीसरे मे वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के पांचों अङ्गों में अन्तराय पड़ने की सम्भावना है। क्योंकि वहां गीत आदि होने से स्वाध्याय नहीं हो सकेगा। इस तरह संखडि में जाने के कारण अनेक दोषों का सेवन होता है, ऐसा जानकर उसका निषेध किया गया है।

इसके अतिरिक्त आगम में संखडि में जाने का निषेध किया है*, प्रस्तुत अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में भी संखडि में जाने का निषेध किया है। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र में निषेध के साथ अपवाद मार्ग मे विधान भी किया गया है। यदि संखडि मे जाने का मार्ग जीव-जन्तुओं एवं हरितकाय या बीजों से आवृत्त नहीं है, अन्य मत के भिक्षु भी वहां नहीं है और आहार भी निर्दोष एव एषणीय है तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु, वृत्तिकार का कथन है कि प्रस्तुत सूत्र अवस्था विशेष के लिए है। उसमें बताया गया है कि यदि साधु थका हुआ है अर्थात् लम्बा विहार करके आया है, बीमारी से तुरन्त ही उठा है या तपश्चर्या से जिसका शरीर कृश हो गया है, वह भिक्षु इस बात को जान ले कि संखडि में जाने से किसी दोष के लगने की सम्भावना नहीं है, तो वह वहां से भिक्षा ले सकता है *।

इससे स्पष्ट होता है कि उत्सर्ग मार्ग में सामिष एवं निरामिष किसी भी तरह की सखडि में जाने का विधान नहीं है। अपवाद मार्ग में भी उस संखडि मे जाने एव आहार ग्रहण करने का आदेश दिया गया है, जिसमे जाने का मार्ग निर्दोष हो और निर्दोष एवं एषणीय निरामिष आहार मिल सकता हो, अन्य संखडि मे जहा का मार्ग जीव-

* उत्तराध्ययन, १, ३२, वृहत्कल्प सूत्र उ० १ निशीथ सूत्र, उ० ३।

* साम्प्रतमपवादमाह—स भिक्षुरध्वानक्षीणो ग्लानोत्थितस्तपश्चरणकर्षितोवाऽमवौदर्यंवा प्रेक्ष्य दुर्लभद्रव्यार्थी वा स यदि पुनरेव जानीयात्। —आचाराग वृत्ति।

जन्तु आदि से युक्त हो, जहां सामिष भोजन बना हो तथा निरामिष भोजन भी सदोष हो या अन्यमत के भिक्षु भिक्षार्थ आए हों तो वहां अपवाद मार्ग में भी जाने का आदेश नहीं है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब साधु अपवाद मार्ग में संखडि में जा सकता है; तो सामिष संखडि में बना हुआ मांस क्यों नहीं ग्रहण कर सकता ?

इसका समाधान यह है कि यहां अपवाद कारण विशेष से है अथवा साधु की शारीरिक स्थिति के कारण है, परन्तु वहां बने हुए सभी तरह के आहार को लेने के लिए नहीं है। यदि संखडि में जाने का मार्ग ठीक नहीं है और आहार भी सामिष है या निरामिष आहार भी सदोष है तो शारीरिक दुर्बलता के समय भी साधु को वहां जाने का आदेश नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी बताया है कि संखडि में जाने से स्वाध्याय के पांचों अङ्गों में व्यवधान पड़ता है। स्वाध्याय चलते हुए करने का निषेध है, वह तो एक स्थान पर बैठकर ही किया जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि संखडि में जाने पर कुछ देर के लिए वहां बैठना भी पड़ता था। अतः अपवाद मार्ग मे जाने वाला साधु वहां कुछ काल के लिए ठहर भी सकता है और बीमार एवं तपस्वी आदि के लिए समय पर गृहस्थ के घर में बैठने का विधान भी है। अस्तु, संखडि में जाने का यह अपवाद विशेष कारण होने पर ही रखा गया है।

साधु को घरों में किस तरह के आहार की गवेषणा करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा २ जाव पविसिउकामे से जं पुण जाणिज्जा खीरिणियाओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा ४· उवसंखडिज्जमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं नच्चा नो गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा। से तमादाय एगंतमवक्कमिज्जा अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा—खीरिणियाओ गावीओ खीरिया-

ओ पेहाए असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाए पुराए जूहिए सेवं नच्चा तओ संजयामेव गाहा० निक्खमिज्ज वा ॥२३॥

छाया—स भिक्षुर्वा यावत् प्रवेष्टुकामः तद् यत् पुनः जानीयात् क्षीरिण्यो गावः दुह्यमानाः दुग्धाः प्रेक्ष्य अशनं वा ४ उपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य पुरा-पूर्व सिद्धेऽप्योदनादिके स एवं ज्ञात्वा न गृहपति कुल पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा। स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अनापाते असंलोके तिष्ठेत्। अथ पुनरेवं जानीयात् क्षीरिण्यो गावो दुह्यमानाः प्रेक्ष्य अशन वा ४ उपसस्कृतं प्रेक्ष्य पूर्वे सिद्धे स एव ज्ञात्वा ततः सयत एव गृहपतिकुलंनिष्क्रामेद् वा।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा २—साधु या साध्वी। जाव—यावत् गृहपति के घर में। पविसिउ कामे—प्रवेश करने की इच्छा रखता हुआ। से ज पुण जाणिज्जा—फिर यदि इस प्रकार जाने कि। खीरिणियाओ गावीओ—दूध देने वाली गाएं। खीरिज्जमाणीओ—जो कि दोही जा रही हैं उनको। पेहाए—देखकर तथा। असण वा ४—अशनादक चतुर्विध आहार जो कि वहा पर। उवसंखडिज्जमाणं बनाया जा रहा है, उसको। पेहाए—देखकर। पुरा अप्पजूहिए—जिस मे से अभी तक और किसी को दिया नही गया। से—वह साधु। एव—इस प्रकार। नच्चा—जानकर। गाहावइ कुल—गृहपति-गृहस्थ के घर मे। पिण्डवायपडियाए—आहार लेने की प्रतिज्ञा से। नो निक्खमिज्ज वा—न तो उपाश्रय से निकले और न। पविसिज्ज वा—किसी के घर में प्रवेश करे, किन्तु क्या करे अब उसके विषय में कहते हैं। से—वह भिक्षु। त—उस दुग्धादि पदार्थको। आवाय—जानकर। एगतमवक्कमिज्जा—एकान्त स्थान मे चला जाए, एकान्त मे जाकर। अणावायमसंलोए—जहा पर कोई गृहस्थादि न आता जाता हो और न देखता हो ऐसे स्थान पर। चिट्ठिज्जा—खडा हो जाए। अह पुण एवं जाणिज्जा—और वहा पर ठहरा हुआ यदि ऐसा जाने कि—। खीरिणियाओ—दूध देने वाली गावीए—गौएं। खीरियाओ—दोही जा चुकी हैं ऐसा। पेहाए—देखकर। असणं वा—अशनादिक—। उवक्खडियं—तैयार हो चुका है ऐसे। पेहाए—देखकर-जानकर। पुराए जूहिए—तथा उन दुग्धादि मे से दूसरो को दिया जा चुका है। स—वह साधु। एव—इस प्रकार। नच्चा—जानकर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—साधु। गाहा०—गृहस्थ के घर में भिक्षा के निमित्त। निक्खमिज्ज वा—स्वस्थान से निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।

मूलार्थ— साधु व साध्वी गृहपति के घर में प्रवेश करने की इच्छा रखते हुए यदि इस प्रकार जान ले कि गृहस्थ दूध देने वाली गायों का अभी दोहन कर रहे है तथा अशनादिक आहार पकाया जा रहा है-पक रहा है, अभी तक उसमें से किसी दूसरे को नही दिया गया, ऐसा जानकर संयमशील भिक्षु आहार ग्रहण करने के लिए उस घर में जाने के लिए न तो उपाश्रय से निकले और न उस घर में प्रवेश करे। किन्तु वह भिक्षु इस बात को जानकर जहां पर न कोई आता जाता हो, और न देखता हो, ऐसे एकान्त स्थान मे जाकर ठहर जाए। और जब वह इस प्रकार जान ले कि गायों का दोहन हो गया है और अन्नादि चतुर्विध आहार बन गया है तथा उसमे से दूसरों को दे दिया गया है, तब वह साधु उस घर में आहार के लिए प्रवेश करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर पर गायों का दूध निकाला जा रहा है और अशन आदि चारों प्रकार का आहार पक रहा है और उस आहार में से अभी तक किसी को दिया नहीं है, तो साधु को उस घर में आहार के लिए नहीं जाना चाहिए। यदि गायों का दूध निकाल लिया गया है, आहार पक चुका है और उसमें से किसी को दिया जा चुका है, तो साधु उस घर में आहार के लिए प्रवेश कर सकता है।

इसका कारण यह है कि गायें साधु के वेश को देखकर डर जाएं और साधु को मारने दौड़ें तो उससे साधु के या दोहने के लिए बैठे हुए व्यक्ति के चोट लग सकती है। और दूध निकालते समय साधु को आया हुआ देखकर गृहस्थ यह सोचे कि साधु को भी दूध लेना होगा, अतः वह गाय के बछड़े के लिए छोड़े जाने वाले दूध को गाय के स्तनों में न छोड़कर निकाल लेगा। इससे मुनि के निमित्त बछड़े को अन्तराय लगेगी।

आहार पक रहा हो और उस समय साधु पहुंच जाए तो गृहस्थ उसे जल्दी पकाने का यत्न करेगा उससे अग्नि के जीवों की विराधना (हिंसा) होगी। इस तरह कई दोष लगने की सम्भावना होने के कारण साधु को ऐसे समय में गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए।

आगम में लिखा है कि आहार आग पर पक रहा हो और गृहस्थ उसे आग

पर से उतार कर दे तो साधु को स्पष्ट कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे लिए कल्पनीय नहीं है॥। इससे स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत सूत्र में किया गया निषेध घर में प्रवेश करने की दृष्टि से नहीं, किन्तु आग पर स्थित आहार को लेने के लिए है। गाय के दोहन का प्रथम विकल्प घर में प्रवेश करने सम्बन्धी निषेध को लेकर है और दूसरा विकल्प उस आहार को लेने के निषेध से सम्बन्धित है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि गृहस्थ के घर में स्थित पशु भयभीत नहीं होते हों और आहार आदि भी पक चुका हो तो साधु उस घर में प्रवेश करके आहार ले सकता है। साधु को यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि उसके निमित्त किसी तरह की हिंसा एवं अयतना न हो।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु—समाणा वा भावसणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे खुड्डाए खलु अयं गामे संनिरुद्धाए नो महालए से हंता भयंतारो बाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह, संति तत्थेगइयस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा—गाहावई वा गाहावइणीओ वा गाहावइपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुराहाओ वा धाईओ वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा, तहप्पगाराइं कुलाइं पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसिस्सामि। अविय इत्थ लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दहिं वा नवणीयं वा घयं वा गुल्लं वा तिल्लं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा सक्कुलिं वा फाणियं वा पूयं

॥ दशवैकालिक सूत्र ५, १, ६१—६३।

वा, सिहिरिणिं वा, तं पुव्वामेव भुच्चा पिच्चा पडिग्गहं च संलिहिय संमज्जिय तओ पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहा० पविसिस्सामि वा निक्खमिस्सामि वा माइट्ठाणं संफासे, तं नो एवं करिज्जा । से तत्थ भिक्खूहिंसद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियंवेसियं पिंडवायं पडिग्गाहित्ता आहारं आहारिज्जा एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं० ॥२४॥

छाया—भिक्षुका नामैके एवमुक्तवन्तः समानाः वा वसमाना वा ग्रामानुग्रामं दूयमानान् (व्रजतः) क्षुल्लकः खलु अयं ग्रामः संनिरुद्धः न महान् अनो हन्त ! भवन्तः वहिर्ग्रामेषु भिक्षाचर्यार्थं व्रजत ! सन्ति तत्रैकस्य भिक्षोः पुरा संस्तुताः पश्चात् संस्तुता वा परिवसन्ति तद्यथा—गृहपतिः वा गृहपत्नी वा गृहपतिपुत्र वा, गृहपतिपुत्री वा, गृहपतिस्नुषा वा धात्री वा दासो वा दासी वा, कर्मकरो वा कर्मकरी वा तथाप्रकाराणि कुलानि, पुरा संस्तुतानि वा पश्चात् संस्तुतानि वा पूर्वमेव भिक्षाचर्यार्थं, अनुप्रवेक्ष्यामि, अपिचैतेषु लप्स्यामि पिंड वा लोय वा क्षीरं वा दधि वा नवनीतं वा घृतं वा गुडं वा तिल वा मधु वा मद्यं वा मांस वा शष्कुलिं वा फाणितं वा अपूप वा सिखरिणिं वा त पूर्वमेव भुक्त्वा पीत्वा पतद्ग्रहं [पात्र] संलिह्य संप्रमृज्य ततः पश्चात् भिक्षुभिःसह गृहपति० प्रवेक्ष्यामि वा निष्क्रमिष्यामि वा मातृस्थान संस्पृशेत् तद् न एव कुर्यात् । स तत्र भिक्षुभिः सार्द्धं कालेन अनुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं एषणीयं वैषिकं पिंडपात प्रतिगृह्य आहार आहारयेत् । एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्यम् ।

एवमाहंसु—इस प्रकार से कह गए हैं। समाणा वा—जंघा आदि का बल क्षीण होने से एक ही क्षेत्र मे स्थिरवास करते हुए रहते हैं अथवा। वसमाणा वा—मास कल्पादि विहार करते हुए। गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणा—विचरते हुए जब उस क्षेत्र मे आये तो उनके प्रति स्थिर वास रहने वाले साधु कहते हैं कि हे भिक्षुओ! खलु—निश्चय ही! अयंगामे—यह ग्राम खुड्डाए छोटा है और। संनिरुद्धाए—कितने एक घर सनिरुद्ध हैं अर्थात् भिक्षार्थ जाने के योग्य नही हैं। नो महालए—यह ग्राम वडा नही है। से—वह साधु कहने लगा। हंता—सामान्य खेद सूचन के अर्थ मे है। भयंतारो— पूज्य मुनिवरो! हे आप। बाहिरगाणि—बाहर के। गामाणि—ग्रामो मे। भिक्खायरियाए—भिक्षा के निमित्त। वयह—जावो। तत्थेगइयस्स—उस ग्राम मे रहने वाले कई एक। भिक्खुस्स भिक्षु के। संति—हैं। पुरे संथुया—भाई-भतीजे आदि सगे सम्बन्धी अथवा। पच्छासथुया वा—श्वसुर कुल के सम्बन्धि लोग। परिवसंति—बसते है। तंजहा—जैसे कि। गाहावई वा—गृहपति अथवा। गाहावईणीओवा—गृहपत्नी अथवा। गाहावईपुत्ता वा—गृहपति के पुत्र अथवा। गाहावई धूयाओ व—गृहपति की स्त्रियें अथवा। गाहावई सुण्हाओ वा—गृहपति की स्नुषा-पुत्र वधुयें अथवा। धाइयो वा—धाय माताये अर्थात् दूध पिलाने वाली मातायें अथवा। दासा वा—दास अथवा। दासीओ वा—दासियें अथवा। कम्मकरा वा—काम करने वाले अथवा। कम्मकरीओ वा—काम करने वाली तहप्पगाराइं—तथा प्रकार के। कुलाइं—कुल जो कि। पुरेसथुयाणि वा—पूर्व परिचय वाले। अथवा। पच्छासंथुयाणि वा—पश्चात् परिचय वाले। संति—है। पुव्वामेव—उन कुलो में पहले ही। भिक्खायरियाए—भिक्षा के लिए। अणुपविसिस्सामि—मैं प्रवेश करूंगा। अविय—अथवा। इत्थ—इन कुलो मे। लभिस्सामि—इच्छानुकूल प्राप्त करूंगा। पिंडं वा—शाल्यादि पिण्ड। लोयं वा—अथवा लवण रस युक्त आहार। खीरं वा—अथवा दूध। दहिं वा—अथवा दधि—दहि नवणीय वा—नवनीत मक्खन अथवा। घयं वा—घृत। गुल्ल वा—अथवा गुड। तिल्लं वा—तैल। महु वा—मधु। मज्जं वा—अथवा मद्य। मंसं वा—मास। सक्कुलि वा—अथवा जलेबी जैसी मिटाई अथवा। फाणियं वा—जल से मिश्रित गुड अथवा। पूयं वा—अपूप-पूडा आदि। सिहिरिणीं वा—शिखरणी इस नाम से प्रसिद्ध मिठाई। त पुव्वामेव—उस आहार को प्रथम ही लाकर। भुच्चा—खाकर। पिच्चा—पीकर। च-और। पडिग्गहं—पात्र को। संलिहिय—निर्लेप कर तथा। सतमज्जिय—समार्जित कर। तओ—तदनन्तर। पच्छा—पश्चात्। भिक्खूहि—भिक्षुओ के। सद्धिं—साथ। गाहा०—गृहपतियो के कुलो में भिक्षा के लिए। पविसिस्सामि वा—प्रवेश करूंगा अथवा। विक्खमिस्सामि वा—निकलूंगा। माइट्ठाण संफासे—यदि उक्त प्रकार से करे तो उसे मातृस्थान छल-कपट का स्पर्श होगा। त-अतः साधु। एव—इस प्रकार। नो-न। करिज्जा—करे। से—वह-भिक्षु। तत्थ—उस। ग्रामादिक में। भिक्खूहिं—भिक्षुओ के। सद्धिं—साथ अर्थात् अतिथि आदि के साथ। कालेणं—भिक्षा के समय मे। अणुपविसित्ता—गृहपति कुलो में प्रवेश करके। तत्थियरेयरेहिं—वहा

उच्चावच। कुलेहिं—कुलो से। सामुदाणियं—भिक्षा पिंड। एसियं—उद्गमादि दोष रहित। वेसिय—साधु के वेष से प्राप्त। पिंडवायं—पिंडपात-आहारादि को। पडिग्गाहित्ता—अतिथि साधुओ के साथ ग्रहण करके। आहार आहारिज्जा—आहार को भक्षण करे। एयं—यह। खलु—निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स वा—भिक्षु—साधु अथवा। भिक्खुणीए वा—साध्वी का। सामग्गियं—सामग्र्य-भिक्षु भाव है अर्थात् यह उसका सपूर्ण आचर है।

मूलार्थ—कई एक भिक्षु जंघादि के बल रहित होने से अर्थात् विहार में असमर्थ होने से एक क्षेत्र मे स्थिरवास रहते है। जब कभी उनके पास ग्रामानुग्राम विचरते हुए अतिथि रूप से अन्य साधु आ जाते हैं तब स्थिर-वास रहने वाले भिक्षु उन्हें कहते है—पूज्य मुनिवरो! यह ग्राम बहुत छोटा है, उसमे भी कुछ घर सन्निरुद्ध—बन्द पड़े हुए है। अतः आप भिक्षा के निमित्त किसी दूसरे ग्राम में पधारें? यदि इस ग्राम में स्थिर वास रहने वाले किसी एक मुनि के माता पिता आदि कुटुम्बी जन या श्वसुर कुल के लोग रहते हैं या-गृहपति, गृहपत्नियें, गृहपति के पुत्र, गृह-पति की पुत्रियें, गृहपति की पुत्र-वधुयें, धायमातायं दास और दासी तथा कर्मकार और कर्मकारियें, तथा अन्य कई प्रकार के कुलो में जो कि पूर्व परिचय वाले, या पश्चात् परिचय वाले है, उन कुलों मे इन आगन्तुक-अतिथि साधुओं से पहले ही मै भिक्षा के लिए प्रवेश करूगा और इन कुलों से मैं इष्ट वस्तु प्राप्त करूंगा यथा शाल्यादि पिंड, लवण रस युक्त आहार, दूध, दही, नवनीत, घृत, गुड, तेल, मधु, मद्य, मास शष्कुली (जलेबी आदि) जलमिश्रितगुड, अपूप—पूडे और शिखरणा (मिठाई विशेष) आदि आहार को लाऊंगा और उसे खा पीकर, पात्रों को साफ और समार्जित कर लूगा। उसके पश्चात् आगन्तुक भिक्षुओ के साथ गृहपति आदि कुलों मे प्रवेश करूंगा और निकलूगा, इस प्रकार का व्यवहार करने से मातृस्थान-छल-कपट का सेवन होता है। अत. साधु को इस प्रकार नही करना चाहिए। उस भिक्षु को भिक्षा के समय उन भिक्षुओ के साथ ही उच्च नीच और मध्यम कुलो से साधु मर्यादा से प्राप्त होने वाले निर्दोष आहार पिंड

को लेकर उन अतिथि मुनियों के साथ ही उसे निर्दोष आहार करना चाहिए यही संयम शील साधु साध्वी का निर्दोष आचार है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में स्थिरवास रहने वाले मुनियों के पास आए हुए अतिथि मुनियों के साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका निर्देश किया गया है। कोई साधु हृदय की संकीर्णता के कारण आए हुए अतिथि मुनियों को देखकर सोचे कि यदि यह भी इसी गांव में से भिक्षा लाएंगे तो मेरे को प्राप्त होने वाले सरस आहार में कमी पड़ जाएगी। अतः इस भावना से वह आगन्तुक मुनियों से यह कहे कि इस गांव में थोड़े से घर हैं, उसमे भी कई घर बन्द पड़े हैं, इसलिए इतने साधुओं का आहार इस गांव में मिलना कठिन है। अत आप दूसरे गांव से आहार ले आएं। या वह उन्हें दूसरे गांव जाने को तो नहीं कहे, परन्तु उनके गोचरी (आहार लाने) को जाने से पूर्व ही अपने माता-पिता या श्वसुर आदि कुलों से या परिचित कुलों से सरस-स्वादिष्ट एवं इच्छानुकूल पदार्थ लाकर खा लेना और उसके बाद उनके साथ अन्य साधारण घरों से भिक्षा लाकर खाना, माया एवं छल-कपट का सेवन करना है। अतः साधु को आगन्तुक मुनियों के साथ ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा व्यवहार साधुता के अनुकूल तो क्या, इन्सानियत के अनुकूल भी नहीं है, इसलिए सूत्रकार ने इस तरह का व्यवहार करने का निषेध किया है। साधु का कर्त्तव्य है कि वह नवागन्तुक मुनियों के साथ अभेद वृत्ति रखे, उनके साथ आहार को जाए और जैसा आहार उपलब्ध हो उसे प्रेम एवं स्नेह से उनके साथ बैठकर करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समाणा-वसमाणा' का अर्थ है—जो साधु चलने-फिरने में या विहार करने में असमर्थ होने के कारण किसी एक क्षेत्र में स्थिरवास रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त खाद्य पदार्थों के नाम उस समय में घरों में खाए जाने वाले पदार्थों को सूचित करते हैं। इससे उस समय की खाद्य व्यवस्था का पता लगता है। प्रस्तुत सूत्र मे उल्लिखित खाद्य पदार्थों में मद्य एवं मांस का भी उल्लेख किया गया है, तो क्या मुनि इन पदार्थों को ग्रहण कर सकता है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

इसका समाधान यह है कि ये दोनों पदार्थ अभक्ष्य होने के कारण सर्वथा अग्राह्य हैं। आगम में इसका स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है॥। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों पदार्थ साधु के लिए सर्वथा अभक्ष्य है। और सभव है कि प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त

॥ प्रश्न व्याकरण सूत्र, प्रथम सवर द्वार, सूत्र कृताङ्ग सूत्र, श्रु.त० २,अ० २।

उभय शब्द अन्य अर्थ के संसूचक हों॥ ।

उपाध्याय पार्श्व चन्द्र जी की मान्यता है कि साधु को मद्य, मांस, मक्खन और मधु लेना नहीं कल्पता । इन शब्दों का प्रयोग केवल सूत्र छेद के आशय से हुआ है। इससे गद्य छन्द की प्रामाणिकता सिद्ध होती है† ।

वृत्तिकार का अभिमत है कि मद्य-मांस की व्याख्या छेद सूत्र के अनुसार समझनी चाहिए। कोई अत्यधिक प्रमादी साधु अतिगृद्धि एवं स्वाद [illegible] कारण इनका सेवन न करे इसके लिए इसका उल्लेख किया गया है। परन्तु विवेकनिष्ठ साधु के लिए मद्य-मास सर्वथा अग्राह्य है‡ ।

प्रस्तुत सूत्र पर व्याख्या करते हुए उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने मद्य, मांस, मक्खन एवं मधु चारों को तथा वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने मक्खन को छोड़कर शेष तीनों को अभक्ष्य बताया है । और आगम में मद्य-मांस को अभक्ष्य कहा है॥ । परन्तु मक्खन एव मधु को सर्वथा अभक्ष्य नहीं कहा है। आगम में लिखा है कि प्रथम पहर में लाए हुए नवनीत (मक्खन) का किसी रोग के कारण चतुर्थ पहर में भी अंगोपांगों पर विलेपन करना कल्पता है। इससे मक्खन की ग्राह्यता शास्त्र सम्मत सिद्ध होती है। इसी तरह मधु के विषय में भी आगम में बताया है कि एक बार भगवान महावीर ने मधु (शहद) मिश्रित खीर (दूध) से पारणा किया था ।

इससे स्पष्ट होता है कि मद्य एवं मांस साधु के लिए सर्वथा अभक्ष्य । मक्खन एवं शहद के लिए ऐसी बात नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि साधु को प्रति[illegible] रूप से आए हुए साधु के साथ छल-कपट एवं भेद-भाव का वर्ताव नहीं रखना चाहिए। निष्कपट भाव से उसका आदर-सत्कार करना चाहिए ।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें ।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

॥ इस विषय पर १०वें उद्देशक में विस्तार से विचार करेंगे ।

† [illegible] श्री सूत्र माहि माखन, मधु, मद्य, मांस शब्द बताव्या ते स्या भणी साधु तईए [illegible] छे । [illegible] सूत्र [illegible] भणी [illegible], पर साधु ने ए वस्तु न ल्यइ [illegible] जाणिया छे । —उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ।

‡ मद्य मांस [illegible] प्रायेण [illegible] अथवा कश्चित् [illegible] प्रमादावष्टब्धोऽत्यन्त-[illegible] मद्य मांसा[illegible]तदुपादानम् । आचाराङ्ग सूत्र वृत्ति ।

॥ प्रश्न व्याकरण सूत्र, सूत्रकृताङ्ग सूत्र ।

[illegible] निग्गंथीणं वा परियासिएणं तेल्लेण वा, घएण वा, [illegible] वा, [illegible] वा, [illegible] पढमपोरिसीए वा मक्खेत्तए वा नन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ।
—बृहत्कल्प सूत्र, उद्देशक ५ ।

[illegible] भगवती सूत्र, शतक १५ ।

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## पञ्चम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में भी इसी का और विस्तृत विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण-जाणिज्जा--अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं निक्खि-प्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं हीरमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभा-इज्जमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभुंजमाणं पेहाए अग्गपिंड परि-ठविज्जमाणं पेहाए पुरा असिणाइ वा अवहाराइ वा पुरा जत्थऽण्णे समण० वणीमगा खद्धं २ उवसंकमंति से हंता अहमवि खद्धं २ उवसंकमामि, माइट्ठाणं संफासे नो एवं करेज्जा ॥२५॥

छाया—स भिक्षुर्वा२यावत् प्रविष्टः सन् तद् यत् पुनरेव जानीयात्—अग्र-पिंडं उत्क्षिप्यमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिंड निक्षिप्यमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिंड ह्रियमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्डं परिभज्यमानं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्ड परिभुज्यमानं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्ड परित्यज्यमानं प्रेक्ष्य, पुरा अशितवन्तो वा अपहृतवन्तो वा पुरा यत्रान्य श्रमण वणीमका. त्वरित २ उपसंक्रामन्ति स हत ! अहमपि त्वरित २ उप-संक्रमामि, मातृस्थान संस्पृशेन्न एवं कुर्यात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु और साध्वी। जाव—यावत्। पविट्ठेसमाणे—

गृहपति कुल में प्रवेश करते हुए। से – वह। जं – जो पुण – फिर। जाणिज्जा—आहारादि को जाने। अग्गपिंडं – अग्रपिंड को। उक्खिप्पमाणं – थोड़ा-थोड़ा निकालते हुए को। पेहाए—देखकर। अग्गपिंड – अग्रपिंड को। निक्खिप्पमाणं—अन्य स्थान में रखते हुए को। पेहाए—देखकर। अग्गपिंड – अग्रपिंड को। हीरमाणं – किसी स्थान पर लेजाते, हुए को। पेहाए—देखकर। अग्गपिंडं – अग्रपिंड को। परिभाइज्जमाणं – बांटते हुए को। पेहाए – देखकर तथा। अग्गपिंड – अग्रपिंड को। परिभुंजमाणं – खाते हुए को। पेहाए–देखकर। अग्गपिंड – अग्रपिंड को। परिट्ठविज्जमाण – परिष्टापन करते फैंकते हुए को। पेहाए – देखकर। पुरा असिणाइ वा – पहले श्रमणादि खाकर चले गये अथवा। अवहाराइ वा – पहले श्रमणादि, अग्रपिंड को लेकर चले गए। जत्थऽण्णे – जहा पर अन्य। समण – श्रमण आदि। वणीमगा – और भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करने वाले याचक लोग। खद्धं २ – शीघ्र २। उवसकमति – अग्रपिंड लेने को जाते है। हंता – यह अव्यय वाक्य उपन्यास के लिए है। से – वह भिक्षु विचार करता है। अहमवि – मैं भी। खद्धं २ – शीघ्र – जल्दी २। उवसकमामि – जाता हू। माइट्ठाणं संफासे—यदि इस प्रकार विचार करे तो वह मातृस्थान का स्पर्श करता है अर्थात् माया–कपट को आश्रित करता है अतः उसको। एवं – इस प्रकार। नो करेज्जा – नही करना चाहिए।

**मूलार्थ**—वह साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करते हुए आहार आदि के विषय में इस प्रकार जाने कि अग्रपिंड को निकालते हुए को देखकर, अग्रपिड को किसी अन्य स्थान पर रखते हुए को देखकर, अग्रपिंड को कहीं ले जाते हुए को देखकर, अग्रपिड को बांटते हुए को देखकर, अग्रपिंड को खाते हुए को देखकर, अग्रपिड को इधर-उधर फैंकते हुए को देखकर तथा पहले श्रमणादि खा गए है, और अग्रपिंड को लेकर चले गए है या याचक लोग अग्रपिंड को प्राप्त करने के लिए शीघ्र २ पग उठा रहे है। उन्हे देखकर यदि साधु भी उसे प्राप्त करने के लिए शीघ्र २ कदम उठाने का विचार करता है तो वह मातृ-स्थान का सेवन करता है। अतः साधु को ऐसा विचार भी नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ अग्रपिण्ड* को देव स्थान

*भोजन तैयार होने के बाद उनमें से कुछ हिस्सा पहले देवता आदि के लिए निकाला जाता है, उसे अग्रपिंड कहते हैं।

अथवा शुक्र-वीर्य से। सोणिएण वा—अथवा शोणित—रुधिर से। उवलित्तेसिया—उपलिप्त हो जावे। तहप्पगारं काय—तथा प्रकार से उपलिप्त हुए शरीर को। नो—नहीं। अणंतरहियाए—अन्तर रहित। पुढवीए—पृथिवी से अर्थात् सचित्त पृथिवी से। नो—नहीं। ससिणिद्धाए-पुढवीए—स्निग्ध-आर्द्र पृथिवी से। नो—नहीं। ससरक्खाए पुढवीए—सरजस्क पृथिवी से। नो चित्तमत्ताए सिलाए—नहीं सचित्त-चेतनायुक्त शिला से। नो चित्तमंताए लेलूए वा—नहीं सचित्त चेतनायुक्त शिलाखंड से अथवा। कोलावासंसि—घुण से युक्त। दारुए—काष्ठ से। जीवपइट्ठिए—अथवा जीवप्रतिष्ठित जिसमें बाहर से जीव आये हो—काष्ठ से। सअंडे—अण्डो से युक्त काष्ठ अथवा। सपाणे—प्राणी युक्त काष्ठ आदि से। जाव—यावत्। ससंताणाए-जाला आदि युक्त काष्ठ आदि से। नो आमज्जिज्ज वा—एक बार भी मसले नहीं अथवा। पमज्जिज्ज वा—पुन, पुनः मसले नहीं। संलिहिज्ज वा-अथवा घर्षित न करे। निलिहिज्ज वा—अथवा पूछे नहीं। उव्वलेज्ज वा—अथवा उद्वर्तन अर्थात विशेष रूप से पूछे नहीं। उव्वट्टिज्ज वा—अथवा उद्वर्तन न करे। आयाविज्ज वा—अथवा एक बार भी धूप में सुखाए नहीं। पयाविज्ज वा—अथवा पुन:-पुनः धूप में सुखाए नहीं। से—वह भिक्षु। पुव्वामेव—पहले ही। अप्पससरक्खं—रज रहित। तणं वा—तृण अथवा। पत्त वा—पत्र। कट्ठं वा—अथवा काष्ठ। सक्करं वा—एव कंकड की। जाइज्जा—याचना करे। जाइत्ता—याचना करके। से—वह भिक्षु। तमायाय—उसको लेकर। एगंतमवक्कमिज्जा—एकान्त स्थान पर चला जाए, एकान्त स्थान पर जाकर देखे कि। अहेझामथंडिलंसि वा—जो भूमि अग्नि के सयोग से अचित्त होकर स्थंडिल रूप मे अवस्थित है-ऐसे स्थंडिल की। जाव—यावत्। अन्नयरंसि वा—अन्य किसी निर्दोष भूमि की अथवा। तहप्पगारंसि—तथा प्रकार की भूमि की पडिलेहिय २—प्रतिलेखना कर के भली-भाँति अवलोकन करके। पमज्जिय पमज्जिय—अच्छी तरह से प्रमार्जित करे। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—सयत-साधु यत्न पूर्वक उक्त-कथित तृण आदि से शरीर को। आमज्जिज्ज वा—एकवार मसले अथवा। जाव—यावत्। पयाविज्ज-वा—बार बार धूप में सुखाये।

मूलार्थ—साधु या साध्वी को गृहपति आदि के कुल में जाते समय मार्ग के मध्य मे खेत को क्यारिए, खाई, कोट, तोरण, अर्गला और अर्गलपाशक पडता हो तो अन्य मार्ग के होने पर वह उस मार्ग से न जाए भले ही वह मार्ग सीधा क्यो न हो। क्योकि केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्मबन्ध का मार्ग है। क्योकि वह भिक्षु उस मार्ग से जाते हुए काप जाएगा या उसका पाव फिसल जाएगा या वह गिर जाएगा, तब

पर फिसल जाए और वह गिर पड़े तो उसे अपने अशुचि से लिपटे हुए अंगोपाङ्गों को सचित्त मिट्टी आदि से साफ न करके, तुरन्त अचित्त काष्ठ-कंकर की याचना करके एकान्त स्थान में चले जाना चाहिए और वहां अचित्त भूमि को देखकर वहां जीव-जन्तु से रहित अचित्त काष्ठ आदि के टुकड़े एवं अचित्त मिट्टी आदि से अशुचि को साफ करके, फिर अपने शरीर को धूप मे सुखाकर शुद्ध करना चाहिए।

उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने अपनी 'बालावबोध' में लिखा है कि भगवान ने अशुचि से लिप्त स्थान को पानी से साफ करने की आज्ञा नहीं दी*।

परन्तु आगम में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अशुचि को दूर करने के लिए साधु अचित्त पानी का उपयोग कर सकता है†। आगम में यह भी बताया गया है कि गुरु एवं शिष्य शौच के लिए एक ही पात्र में पानी ले गए हों तो शिष्य को गुरु से पहले शुद्धि नही करनी चाहिए‡ और प्रतिमाधारी मुनि के लिए सब तरह से जल स्पर्श का निषेध होने पर भी शौच के लिए जल का उपयोग करने का आदेश दिया गया है‡। आगम में पांच प्रकार की शुद्धि का वर्णन आता है, वहा जल से शुद्धि करने का भी उल्लेख है†। और अशुचि की अस्वाध्याय भी मानी है‡। इससे स्पष्ट होता है कि जल से अशुचि दूर करने का निषेध नही किया गया है। साधक को यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि पहले अचित्त एवं जन्तु रहित काष्ठ आदि उसे साफ करके फिर अचित्त पानी से साफ करे।

प्रस्तुत सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग मे गांवों के रास्ते सम एवं बहुत साफ-सुथरे नहीं होते थे। लोग रास्ते मे ही पेशाब, खखार आदि फैंक देते थे। जहां-तहां गड्ढे भी हो जाते थे, जिनसे वर्षा के दिनों मे पानी भी सड़ता रहता था। इस तरह उस युग मे गावों में सफाई की ओर कम ध्यान दिया जाता था।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

---

*पर श्री वीतारागिइ इम न कह्यौ पाणी सु धोवे, एहवी जयणा श्री वीतरागे पदे मि जाणवी पालवी इत्यर्थः। —उपाध्याय पार्श्वचन्द्र।

† निशीथ सूत्र, उद्देशक ४।

‡ समवायांग सूत्र, ३३, दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ३,

‡ दशाश्रुतस्कंध दशा ७।

† पचविहे सोए पण्णते तजहा—पुढविसोए, आउसोए, तेउसोए, मंतसोए बंभसोए। स्थानाग सूत्र, स्था० ५ उ० ३

‡ स्थानाग सूत्र, स्थान १०।

मूलम्—से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा गोणं वियालं पडिपहे पेहाए महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थिं सीहं वग्घं विगं दीवियं अच्छं तरच्छं परिसरं सियालं बिरालं सुणायं कोलसुणायं कोकंतियं चित्ताचिल्लडयं वियालं पडिपहे पेहाए सइ परकम्मे संजयामेव परक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छिज्जा ।

से भिक्खू वा० समाणे अंतरा से उवाओ वा खाणुए वा कटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जिज्जा, सइ परक्कमे संजयामेव, नो उज्जुयं गच्छिज्जा ।२७।

छाया—स भिक्षुर्वा० तद् यत् पुनः जानीयात् गां व्यालम् प्रतिपथ प्रत्युपेक्ष्य महिषिं व्याल प्रतिपथे प्रेक्ष्य एवं मनुष्यं अश्व हस्तिनं सिंहं व्याघ्र वृक द्वीपिन ऋक्ष तरक्ष सरभं शृगाल बिडालं शुनकं महाशूकरं कोकतिकं चित्ताचिल्लडयं व्याल प्रतिपथे प्रत्युपेक्ष्य सति पराक्रमे संयतमेव पराक्रमेत्, न ऋजुकं गच्छेत् ।

स भिक्षुर्वा० (प्रविष्टः) सन् अन्तराले अवपातः स्थाणुर्वा कण्टको वा घसी वा भिलुगा वा विषमं वा विज्जल (कर्दमः) वा परितापयेत् सतिपराक्रमे सयतमेव न ऋजुकं गच्छेत् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु या साध्वी गृहपति कुल मे प्रवेश करने पर । से जं पुण जाणिज्जा—यदि मार्ग में वह जाने यथा । गोण—वृषभ-बैल । व्यालं—मदोन्मत्त अथवा सर्प-साप । पडिपहे मार्ग को रोके हुए स्थित है । पेहाए—उसे देखकर तथा । महिसं व्याल—मदोन्मत्त भैंसे को । पेहाए—देखकर । एवं—इसी प्रकार । मणुस्सं—मनुष्य को । आसं—अश्व-घोड़े को । हत्थि—हाथी को । सीहं—सिंह को । वग्घं—व्याघ्र को । विग—

भेडिये को। दीविय—द्वीपी, चित्रक—चीते को। अच्छ—भालू को। तरच्छ—हिंसक जीव विशेष को जोकि व्याघ्र जाति का जीव होता है। परिसरं—अष्टापद जीव को। सियालं—शृगाल-गीदड को। विरालं—बिल्ले को। सुणय—कुत्ते को। कोलसुणय—महाशूकर को। कोकंतियं—शृगाल की आकृतिका लोमटक नाम का जीव विशेष जो रात्रि मे को को शब्द करता है, उसको। चित्ताचिल्लडयं—अरण्य वासी जीव विशेष को। व्याल—सर्प को। पडिपहे—मार्ग में। पेहाए—देखकर। सइपरक्कमे—अ य मार्ग के होने पर। सजयामेव—साधु यत्नापूर्वक। परक्कमेज्जा—जाए। उज्जुय—सीधा अर्थात् उन जीवो के सामने से। नो गच्छिज्जा—गमन न करे अर्थात् आत्मा और सयम की विराधना के भय से उन जीवो के सामने न जाए।

से—वह। भिक्खू वा- भिक्षु साधु या साध्वी। समाणे—यावत् भिक्षा के लिये मार्ग मे जाते हुए। अंतरा से—वह मार्ग के मध्य मैं उपयोग पूर्वक इन बातो को देखे जैसे कि-मार्ग मे। उवाओ वा—गर्त अर्थात् गढा। खाणुए वा—अथवा स्थाणु अर्थात् खूटा। कटए वा-अथवा काटे। घसी वा—अथवा घसी अर्थात् पर्वत की उतराई। वा—अथवा। भिलुगा—फटी हुई पृथ्वी। वा—अथवा। विसम—विषम अर्थात् ऊची नीची भूमि। वा—अथवा। विज्जले—कीचड है तो वह। परियावज्जिज्जा—उस मार्ग को छोड दे, तथा। सइपरक्कमे—अन्य मार्ग के होने पर। सजयामेव—साधु यत्न पूर्वक अन्य मार्ग से जाए किन्तु मार्ग मे उक्त पदार्थो को देख कर। उज्जुयं—सीधा। नोगच्छिज्जा—न जाए।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हो यदि उस मार्ग मे मदोन्मत्त वृषभ और मदोन्मत्त भैंसा एव मनुष्य, घोडा हस्ती, सिंघ, व्याघ्र, भेडिया, चीता, रीछ, व्याघ्रविशेष, अष्टापद, गीदड, बिल्ला, कुत्ता, सुअर कोकंतिक ( स्याल जैसा अरण्य जीव ) और सांप आदि मार्ग में खडे या बैठे है तो अन्यमार्ग के होने पर साधु उस मार्ग से जाए किन्तु जिस मार्ग मे उक्त जीव खड़े या बैठ हो उस से न जावे।

साधु या साध्वी भिक्षार्थ गमन करने पर यह देखे कि मार्ग मे यदि गढ़ा, स्थाणु-खूटा, कण्टक, उतराई की भूमि, फटी हुई भूमि, विषम-ऊची नीची भूमि, और कीचड़ वाला मार्ग है तो वह अन्यमार्ग के होने पर उसी मार्ग से यत्न पूर्वक गमन करे किन्तु उक्त सीधे मार्ग से न जावे।

क्योंकि उक्त सीधे मार्ग से गमन करने पर आत्मा और संयम की विराधना होने की संभावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि भिक्षा के लिए जाते समय साधु को विवेक से चलना चाहिए। यदि रास्ते मे मदोन्मत्त बैल या हाथी खड़ा हो या सिंह, व्याघ्र, भेड़िया आदि जङ्गली जानवर खड़ा हो तो अन्य मार्ग के होते हुए साधु को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए और इसी तरह जिस मार्ग मे गड्ढे आदि है उस पथ से भी नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उन्मत्त बैल आदि एवं हिंस्र जन्तुओं से आत्म-विराधना हो सकती है और गड्ढे आदि से युक्त पथ से जाने पर संयम की विराधना हो सकती है। अत मुनि को उस पथ से न जाकर अन्य पथ से जाना चाहिए, यदि अन्य मार्ग कुछ लम्बा भी पड़ता हो तो भी उसे संयम रक्षा के लिए लम्बे रास्ते से जाना चाहिए।

उस युग में कई बार मुनि को भिक्षा के लिए एक गाव से दूसरे गाव भी जाना पड़ता था और कहीं-कहीं दोनों गावों के बीच मे पड़ने वाले जगल में सिंह, व्याघ्र आदि जङ्गली जानवर भी रास्ते मे मिल जाते थे। इसी अपेक्षा से इनका उल्लेख किया गया है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि कुत्तों की तरह शेर भी गांवों की गलियों मे घूमते रहते थे। अत· आहार के लिए जाने वाले मुनि को ग्रामान्तर मे जाते हुए शेर आदि का मिल जाना भी संभव है, इस दृष्टि से सूत्रकार ने मुनि को यत्ना एवं विवेक पूर्वक चलने का आदेश दिया है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से भिक्खू वा० गाहावइकुलस्स दुवारबाहं कंटग-बुंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय नो अवंगुणिज्जवा, पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव अवंगुणिज्ज वा पविसेज्ज वा निक्खमेज्ज वा ॥२८॥

सकता है और उसके घर में जा-आ सकता है।

गृहस्थ के बन्द द्वार को उसकी आज्ञा के बिना खोलकर जाने से कई दोष लगने की सम्भावना है— १—यदि कोई बहिन स्नान कर रही हो तो वह साधु को देखकर उस पर क्रुद्ध हो सकती है, २—घर का मालिक आवेश वश साधु को अपशब्द भी कह सकता है, ३—यदि उसके घर से कोई वस्तु चली जाए तो साधु पर उसका दोषारोपण भी कर सकता है और ४—द्वार खुलने से पशु अन्दर जाकर कुछ पदार्थ खा जाएं गा बिगाड़ दे या तोड़-फोड़ कर दे तो उसका आरोप भी वह साधु पर लगा सकता है। इस तरह बिना आज्ञा दरवाजा खोलकर जाने से कई दोष लगने की सम्भावना है, अतः साधु को घर के व्यक्ति को आज्ञा लिए बिना उसके घर के दरवाजे को खोलकर अन्दर नहीं जाना चाहिए।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने के बाद साधु को किस विधि से आहार लेना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा, 'से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा२ अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, से से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा, से य एवं वइज्जा-आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए निसट्ठे तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं, तं चेगइओ पडिग्गाहित्ता तुसिणीओ उवेहिज्जा. अवियाइं एयं ममामेव सिया. माइट्ठाणं संफासे, नो एव करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए निसिट्ठे तं भुंजह वा णं

जाव परिभाएह वा णं, सेणमेवं वयंतं परोवइज्जा—आउसंतो समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं २ डायं २ उसढं २ रसियं २ मणुन्नं २ निद्धं २ लुक्खं २, से तत्थ अमुच्छिय अगिद्धे अग (ना) ढिए अणज्झो-ववन्ने बहुसममेव परिभाइज्जा, से परं तत्थ परिभाएमाणं परो-वइज्जा—आउसंतो समणा ! माणं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगइआ ठिया उ भुक्खामो वा पाहामो वा. से तत्थ भुंजमाणे नो अप्पणा खद्धं खद्धं जाव लुक्खं २, से तत्थ अमच्छिए ४ बहुसममेव भुंजिज्जा वा पाइज्जा ॥२६॥

छाया—स भिक्षुर्वा० तद् यत्पुनः जानीयात् श्रमणं वा ब्राह्मणं वा ग्रामपिंडालकं वा अतिथिं वा पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य न तेषां संलोके स प्रतिद्वारे तिष्ठेत् स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् २ अनापाते असंलोके तिष्ठेत् स परः तस्य अनापाते असंलोके तिष्ठत. अशनं वा ४ आहृत्य दद्यात्, स च एवं ब्रूयात्-आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अयं युष्मभ्यं अशनं वा ४ सर्वजनाय निसृष्टंतद् भुङ्क्ष्वं वा परिभाजयत् वा त चैकतो गृहीत्वा तूष्णीक उपेक्षेत्, अथ नमैव स्यात् मातृस्थानं संस्पृशेत, नैवं कुर्यात्, स तमादाय तत्र गच्छेत् २ स पूर्वमेव आलोकयेत्, आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अय युष्मभ्य अशनं वा ४ सर्वजनाय निसृष्टं ·त भुङ्क्ष्व वा यावत् परिभाजयत् वा, एनमेवं ब्रुवाण परः वदेत् — आयुष्मन्तः श्रमणाः ! त्वं चैव णं परिभाजय ? स तत्र परिभाजयन् आत्मनः प्रचुरं २ शाकं २ उच्छ्रितं २ रासक २ मनोज्ञं २ स्निग्धं २ रूक्ष २ स तत्र अमूर्छितोऽगृद्धः अनादृतः अनध्युपपन्नः बहुसमं एव

परिभाजयेत् त च परिभाजयन्त परो ब्रूयात्—आयुष्मन् श्रमण ! मा त्व परिभाजय ! सर्वे चैकत्र स्थिताः भोच्यामहे वा पास्यामो वा, स तत्र भुञ्जमानः नात्मना प्रचुर २ यावद् रूक्षम्, स तत्र अमूर्छितः ४ बहु सम एव भुञ्जीत वा पिबेद् वा ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु या साध्वी । से ज पुण जाणिज्जा—गृहपति कुल मे भिक्षा के लिए प्रवेश करने पर यदि ऐसे जाने यथा । समणं वा—श्रमण शाक्यादि भिक्षु । माहणं वा—अथवा ब्राह्मण । गामपिंडोलग वा—ग्राम के याचक । अतिहि वा—अथवा अतिथि जोकि । पुव्व पविट्ठ—पहले प्रवेश किए हुए है, को । पेहाए—देखकर—तेसिं—उनके । सलोए—सामने । सपडिदुवारे—जिस द्वार से वे निकलते हो— । नो चिट्ठेज्जा—खडा न हो किन्तु । तमायाय—भिक्षा के लिए आये हुए उन श्रमणादि को जानकर । एगंतमवक्कमिज्जा—एकान्त स्थान मे जाकर । अणावायमसलोए—जहा कोई न आता हो और न देखता हो ऐसे स्थान पर । चिट्ठिज्जा—ठहर जाए । से—वह गृहस्थ । से—उस भिक्षु को जो कि । अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स—निर्जन स्थान मे स्थित है । असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार । आहट्टु—लाकर । दलइज्जा—दे । य—फिर । से—वह गृहस्थ । एव—इस प्रकार । वइज्जा—बोले । आउसतो समणा—हे आयुष्मन्त श्रमणो ! इमे—यह । असणे वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार । भे—आप । सव्वजणाए—सबके लिए अर्थात् सब भिक्षुओ के लिए । निसट्ठे—दिया है । तं—उस आहार को । भुजह—सब इकट्ठे बैठकर खालें । वा—अथवा । णं—वाक्यालकार मे है । परिभाएह वा ण—आपस में बाट ले । चेगइओ—परन्तु एकान्त में खडे साधुओ को जानकर । तं—उस आहार को । पडिग्गाहित्ता—लेकर । तुसिणीओ—मौन रहकर । उवेहिज्जा—उत्प्रेक्षा करे यथा— । अवियाइ—अपि सम्भावनार्थक है । एव—यह आहार । ममसेव सिया—मुझे दिया है अत. मेरे ही लिए है । यदि ऐसा विचार करे तो । माइट्ठाण संफासे—मातृ स्थान माया-कपट स्थान का स्पर्श होता है—उक्त दोष लगता है अतः । एव—इस प्रकार । नो करिज्जा—न करे किन्तु । से—वह भिक्षु । तमायाए—उस आहार को लेकर । तत्थ—जहा पर वे श्रमणादि खडे हैं वहा पर । गच्छिज्जा—जाए और वहा जाकर । से—वह भिक्षु । पुव्वामेव—पहले ही उन्हे । आलोइज्जा—उस आहार को दिखाए और कहे । आउसतो समणा—आयुष्मन्त श्रमणो ! इमे—यह । असणे वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार । भे सव्वजणाए—हम सब के लिए । निसिट्ठे—दिया है । त—इस आहार को । भुजह वा ण—सब इकट्ठे मिल कर खालें अथवा । जाव—यावत् । परिभाएह वा णं—विभाग कर लें; बाट ल, । सेणमेव वयंतं—तब इस प्रकार बोलते हुए उस साधु को यदि । परोवइज्जा—कोई साधु इस प्रकार कहे । आउसतो समणा—आयुष्म·

श्रमण ! तुमचेव – तुम ही । णं – पूर्ववत् । परिभाएहि—विभाग कर दो– अर्थात् इस आहार को तुम ही बांट दो ? तब । से—वह भिक्षु । तत्थ – वहा पर । परिभाएमाणे—विभाग करता हुआ । अप्पणो – अपने लिए । खद्धं २ – प्रचुर अत्यधिक । डाय २ – सुन्दर शाक । उसढ २– वर्णादि गुणो से युक्त । रसिय – रस युक्त । मणुन्न २ – मनोज्ञ । निद्धं २ – स्निग्ध और । लुक्खं २—रूक्ष आहार को । नो—न रखे किन्तु । से—वह-भिक्षु । तत्थ—उस आहार के विपय में । अमुच्छिए – अमूर्छित - मूर्छा रहित । अगिद्धे – अभिकाक्षा रहित । अगढिए – विशिष्ट गृद्धि रहित । अणज्झोववन्ने—और आसक्ति रहित होकर । बहुसममेव – सबको समान रूप से अर्थात् जो सब के लिए समान हो । परिभाइज्जा—विभाग करदे तथा । से णं परिभाए माणं – समान रूप मे विभाग कर बाटते हुए उस साधु को यदि । परो वइज्जा—कोई कहे कि । आउसंतो समणा ! – आयुष्मन् श्रमण ! । माण तुमं परिभाएहि—तुम मत विभाग करो । सव्वेगइआ ठियाउ – हम सब इकट्ठे बैठकर । भुक्खामो – खाएंगे और । पाहामो वा– पियेंगे । से – वह भिक्षु । तत्थ – वहा पर । भुज्जमाणे – उस आहार को खाता हुआ । अप्पणो – अपने लिए । खद्धं २ – प्रचुर । जाव - यावत् । लुक्खं – रूक्ष आहार को । नो – ग्रहण न करे । किन्तु । से – वह भिक्षु । तत्थ – उस आहार विपयक । अमुच्छिए – अमूर्छित-मूर्छा रहित होकर । बहुसममेव – सबके समान ही । भुजिज्जा वा – खाए अथवा । पाइज्जा वा – पीए ।

मूलार्थ—साधु या साध्वी भिक्षा के निमित्त गृहपति के कुल मे प्रवेश करते हुए यदि यह जाने कि उसके जाने से पहले ही गृहपति कुल मे शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण ग्रामयाचक और अतिथि आदि प्रवेश किए हुए है तो उनके सामने अथवा जिस द्वार से वे निकलते है उसके सन्मुख खड़ा नही हो । किन्तु एकान्त स्थान मे-जहां न कोई आना जाता हो और न कोई देखता हो जाकर खड़ा हो जाए। वहां खडे हुए उस साधु को देख कर वह गृहस्थ यदि अशनादिक चतुर्विध आहार लाकर दे और देता हुआ कहे कि आयुष्मन् श्रमणो ! यह अशनादिक चतुर्विध आहार मैने आप सब के लिए दिया है- आप लोग यथारुचि इस आहार को एकत्र मिलकर खाले या परस्पर विभाग करलो बाट लो, तब उस आहार को लेकर वह साधु यदि मौन वृत्ति से उत्प्रेक्षा करे -विचार करे कि यह मुझे दिया है अतः मेरे लिए ही है, तो उसे मातृस्थान-मायास्थान का स्पर्श होता है । अतः उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, अपितु उस आहार को लेकर जहा पर

अन्य श्रमणादि खडे हो वहां जाकर प्रथम उन्हें उस आहार को दिखाए और दिखाकर कहे कि आयुष्मन् श्रमणो ! यह अशनादि चतुर्विध आहार गृहस्थ ने हम सबके लिये दिया है इस आहार को एकत्रित मिल कर खाले परस्पर मे विभाग कर लें बाट लें। ऐसा कहते हुए उस साधु को यदि कोई भिक्षु कहता है कि आयुष्मन् श्रमण! तुम ही इस आहार का विभाग कर दो, सब को बाट दो ? तब वहा पर विभाग करता हुआ वह साधु अपने लिये प्रचुर शाक, भाजी या रसयुक्त मनोज्ञ स्निग्ध और रूक्ष आहार को न रक्खे, किन्तु वहा आहार विषयक मूर्छा, गृद्धि, और आसक्ति आदि से रहित होकर सबके लिये समान विभाग करे, यदि सम विभाग करते हुए उस साधु को कोई भिक्षु यह कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम विभाग मत करो हम सब वहा ठहरे हुए है, एकत्र बैठकर इस आहार को खालेंगे और जल पीलेगें। तब वह भिक्षु वहा पर भोजन करता हुआ आहार विषयक मूर्छा, गृद्धि और आसक्ति आदि को त्यागकर अपने लिए प्रचुर यावत् स्निग्ध और रूक्षादि का विचार न करता हुआ समान रूप से उस आहार का भक्षण करे तथा जलादि का पान करे अर्थात् इस प्रकार से खाए जिससे समविभाग में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता न हो।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भिक्षा के लिए गया हुआ साधु यह देखे कि गृहस्थ के द्वार पर शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं की भीड़ खड़ी है, तो वह गृहस्थ के घर मे प्रवेश न करके एकान्त स्थान में खड़ा हो जाए। यदि गृहस्थ उसे वह खड़ा हुआ देख ले और उसे अशन आदि चारों प्रकार का आहार लाकर दे और साथ में यह भी कहे कि मैं गृह कार्य मे व्यस्त रहने के कारण सब साधुओं को अलग-अलग भिक्षा नहीं दे सकता। अतः आप यह आहार ले जाएं और आप सबकी इच्छा हो तो साथ बैठकर खा लें या आपस में बांट लें। इस प्रकार के आहार को ग्रहण करके वह भिक्षु (मुनि) अपने मन में यह नहीं सोचे कि यह आहार मुझे दिया गया है, अतः यह मेरे लिए है और वस्तुतः मेरा ही होना चाहिए, यदि वह ऐसा सोचता है तो उसे दोष लगता है। अतः वह मुनि उस आहार को लेकर वहां जाए

जहां अन्य भिक्षु खड़े हैं और उन्हें वह आहार दिखाकर उनसे यह कहे कि गृहस्थ ने यह आहार हम सब के लिए दिया है। यदि आपकी इच्छा हो तो सम्मिलित खा लें और आपकी इच्छा हो तो सब परस्पर बांट लें। यदि वे कहें कि मुनि तुम ही सब को विभाग कर दो, तो मुनि सरस आहार की लोलुपता में फंसकर अच्छा-अच्छा आहार अपनी ओर न रखे, समभाव पूर्वक वह सबका समान हिस्सा कर दे। यदि वे कहें कि विभाग करने की क्या आवश्यकता है। सब साथ बैठकर ही खा ले, तो वह मुनि उनके साथ बैठकर अनासक्त भाव से आहार करे।

प्रस्तुत पाठ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जैन मुनि शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं के साथ बैठकर आहार कर सकता है? अपने द्वारा ग्रहण किया गया आहार उन्हें दे सकता है?

इस पर वृत्तिकार का यह अभिमत है कि उत्सर्ग मार्ग में तो साधु ऐसे आहार को स्वीकार ही नहीं करता। दुर्भिक्ष आदि के प्रसंग पर अपवाद में वह इस तरह का आहार ग्रहण कर सकता है। परन्तु, इतना होने पर भी उसे अन्य मत के भिक्षुओं के साथ बैठकर नहीं खाना चाहिए। किन्तु जो पार्श्वस्थ जैन मुनि या सांभोगिक है, उन्हें ओघ आलोचना देकर उनके साथ खा सकता है ❀।

परन्तु, प्रस्तुत पाठ में न तो दुर्भिक्ष आदि के प्रसंग का उल्लेख है और न पार्श्वस्थ आदि साधुओं का ही उल्लेख है। और यदि आगम के अनुसार सोचा जाए तो साधु ग्रामपिंडोलक (भिखारियों) अन्य मत के भिक्षुओं एवं पार्श्वस्थ साधुओं के साथ बैठकर खा भी नहीं सकता और न उनके आहार का लेन-देन ही कर सकता है। आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में अन्य मत के साधुओं के साथ आहार पानी के लेन-देन करने का स्पष्ट निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति में वृत्तिकार का अभिमत अवश्य ही विचारणीय है।

आगम में एक स्थान पर गौतम स्वामी मुनि उदक पेढ़ाल पुत्र को कहते हैं कि हे श्रमण! मुनि किसी गृहस्थ या अन्यतीर्थि (मत के) साधु के साथ आहार नहीं कर सकता। यदि वह गृहस्थ या अन्य मत का साधु दीक्षा ग्रहण कर ले तो फिर उसके साथ आहार कर सकता है। परन्तु, यदि वह किसी कारणवश दीक्षा का त्याग करके पुनः अपने पूर्व रूप में परिवर्तित हो जाए तो फिर उसके साथ साधु आहार नहीं

---

❀ तत्र परतीर्थिकैः सार्द्धं न भोक्तव्यं स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह, सम्भोगिकैः महौघालोचना दत्वा भुञ्जानानामय विधिः।

— श्री आचाराङ्ग सूत्र, २, १, ५, २९ वृत्ति।

कर सकता ❀। इससे स्पष्ट होता है कि मुनि का आहार-पानी का सम्बन्ध अपने समान आचार-विचारशील साधु के साथ ही है, अन्य के साथ नहीं।

टब्बाकार वृत्तिकार के कथन के विरोध में है। टब्बाकार का कहना है कि वृत्तिकार ने जिस अपवाद का उल्लेख किया है, वह अपवाद मूल आगम में उल्लिखित नहीं है और दूसरे में अन्य मत के साधुओं से जाकर यह कहना कि गृहस्थ ने यह आहार हम सबके लिए दिया है, अत. साथ बैठकर खा लें या परस्पर बांट लें, प्रत्यक्षत· सावद्य है। अत· जैन मुनि ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकता। अत. इसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ ने जो आहार दिया वह अन्य मत के साधुओं को सम्बोधित करके नहीं, प्रत्युत उक्त साधु के साथ के अन्य साम्भोगिक साधुओं को सम्बोधित करके दिया है। अत. वह अपने साथ के अन्य मुनियों के पास जाकर उन्हें वह आहार दिखाए और उनके साथ या उन सबका समविभाग करके उस आहार को खाए। इस तरह यह सारा प्रसंग अपने समान आचार वाले मुनियों के लिए ही घटित होता है। यह टब्बाकार का अभिमत है †।

वृत्तिकार एवं टब्बाकार दोनों के अभिमतों में टब्बाकार का अभिमत आगम सम्मत प्रतीत होता है। 'गच्छेज्जा' और 'आउसतो समणा' शब्द टब्बाकार के अभिमत को ही पुष्ट करते हैं। यदि अन्यमत के साधुओं के साथ ही आहार करना होता तो वे

❀ सूत्रकृतांग सूत्र, २, ७

† एणे आलवे टीका मे कह्यो गृहस्थ साधु ने अणे भिख्यार्‌यो ने अशन आदि भेलो ते उत्सर्ग थकी तो न लई अणे दुर्भिक्षादिक कारणे लीइं ते सूत्र विरुद्ध, पाठमे कारण को नाम चाल्यो न थी, अणे वृत्तिकार अण मिलतो अपवाद बखाणो वली एह नू कह्यु अशन आदिक साधु वहरी ते श्रमणादिक समीपे आवी इम कहे तुम्ह सर्व भणी गृहस्थ ए अशनादिक दीधो ते तुम्हे भोगवो वैहचो एहवु करके ते अन्य तीर्थिक नें साधु इम किम कहे जे ए अशनादिक तुम्हे भोगवो वैहचो, एहतो प्रत्यक्ष सावद्य वचन छे, ते माटे एहवु जणाय छे—जे श्रमण ब्राह्मणादिक परतीर्थिक गृहस्थ रे घरे देखी साधु एकान्त जई उभो रहे तिण स्थान के अशन आदिक छे ते गृहस्थ आपे कहे सर्व णे में दीधो ते सर्व घणा सम्भोगिक साधु सम्भवे, पिन पेली मेला अन्य तीर्थिक न सम्भवइ, ते अशनादिक कोई एक साधु वहरी और घणा सभोगिक साधु अलग उभाछे—ते परते साधु आवी कहे एह आहार सर्व भणी गृहस्थे दीधो, तुमे भोगवो अणे वैहचो—ते सम्भोगी साधु ने इज कहवो कल्पे, ते भणी एह सभोगी साधु नें इज्ज लीधो सम्भवे पिन परतीर्थिक ने न सम्भवे, वली एह अलावा नो पाठनो अर्थ कोई अनरे पुकारे होई तें पिन केवली कहे ते सत छे, मम दोषो न दीयते इति।

भव वहीं गृहस्थ के द्वार पर ही उपस्थित थे, अत कहीं अन्यत्र जाकर उन्हें दिखाने का कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होता और साधु की मर्यादा है कि वह गृहस्थ के घर से ग्रहण किया गया आहार अपने सांभोगिक बड़े साधुओं को दिखाकर सबको आहार करने की प्रार्थना करके फिर आहार ग्रहण करे और यह बात गच्छेज्जा' शब्द से स्पष्ट होती है और 'आयुष्मन् श्रमणो' को शब्द भी सांभोगिक साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा इस पाठ से स्पष्ट परिलक्षित होता है।

कुछ हस्त लिखित प्रतियां तथा रवजी भाई देवराज द्वारा प्रकाशित भाषान्तर सहित आचाराङ्ग में निम्न पाठ विशेष रूप से मिलता है—

"केवली बूया ............ आयाणमेयं" ॥५७३॥

"पुरा पेहाए तस्सट्ठाए परो असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा अहमिक्खू णं पुव्वोवादिट्ठा एस पतिन्ना, एस हेउ, एस रवएसो जं णो तेसिं संलोए सपड़िदुवारे चिट्ठेज्जा से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा।" ॥५७४॥

इसका तात्पर्य यह है कि केवली भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। (अन्य मत के भिक्षुओं और भिखारियों को लांघकर गृहस्थ के घर में जाने तथा उनके सामने खड़े रहने को)। क्योंकि यदि उनके सामने खड़े हुए मुनि को गृहस्थ देखेगा तो वह उसे वहां आहार आदि पदार्थ लाकर देगा। अतः उनके सामने खड़ा न होने में यह कारण रहा हुआ है तथा यह पूर्वोपदिष्ट है कि साधु उनके सामने खड़ा न रहे। इससे अनेक दोष लगने की संभावना है। आगमोदय समिति से प्रकाशित आचाराङ्ग में उक्त पाठ नहीं है।

अब गृहस्थ के घर में प्रवेश के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा से जं पुण जाणिज्जा-समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्व पविट्ठं पेहाए नो ते उवाइक्कम्म पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा ते तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, अह पुणेवं जाणिज्जा-पडिसेहिए वा दिन्ने वा तओ तंमि नियत्तिए संजयामेव पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा एयं० सामग्गियं०**

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## षष्ठ उद्देशक

पञ्चम उद्देशक में अन्य मत के भिक्षुओं को लांघ कर जाने का निषेध किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में अन्य प्राणियों की वृत्ति में अन्तराय डालने का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा—रसेसिणो-बहवे पाणा घासेसणाए संथड़े संनिवइए पेहाए, तंजहा—कुक्कुडजाइयं वा सूयरजाइयं वा अग्गपिंडंसि वा वायसा संथड़ा संनिवइया पेहाए सइ परक्कमे संजया नो उज्जुयं गच्छिज्जा।२१।**

छाया—स भिक्षुर्वा तद् यत् पुनः जानीयात्-रसैषिणः बहवः प्राणाः-प्राणिनः ग्रासार्थं संस्कृतान् (संस्तृतान्) संनिपतितान् प्रेक्ष्य- तद्यथा-कुक्कुट-जातिकं वा शूकरजातिकं वा अग्रपिंडे वा वायसान् सस्कृतान् (संस्तृतान्) संनिपतितान् प्रेक्ष्य सति पराक्रमे संयतः न ऋजुकं गच्छेत्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा ४—साधु अथवा साध्वी। से जं पुण जाणिज्जा—जो फिर मार्ग आदि को जाने कि मार्ग मे। बहवे—बहुत से। पांणा—प्राणी-जीव जन्तु। रसेसिणो—रस की गवेषणा करने वाले। घासेसणाए—आहार के लिए। संथड़े—एकत्रित हो रहे हैं। संनिवइए—मार्ग मे वैठे हुए हैं। उनको। पेहाए—देख कर। तजहा—जैसे कि। कुक्कुडजाइयं वा—कुक्कुड की जाति के जीव अथवा। सूयर जाइयं वा—सूअर की जाति के। वा—अथवा। अग्गपिंडंसि—अग्रपिंड आहार को खाने के लिए। वायसा—कौवे। संथड़ा—एकत्रित हो रहे हैं या। संनिवइया—मार्ग मे वैठे हुए है, तो इन सबको। पेहाए—देखकर। सइ परक्कमे—मार्गान्तर-अन्य मार्ग के होने पर। संजयामेव—सयत-साधु। उज्जुय—सरल मार्ग से अर्थात् उन जीवो के सन्मुख होकर। नो गच्छिज्जा—न जाए।

मूलार्थ—साधु या साध्वी मार्ग में जाते हुए यदि यह जान ले कि

स्म का गवेषणा करने वाले बहुत से प्राणी एकत्रित होकर मार्ग में खड़े हुए है– जैसे कि कुक्कुट जाति के जीव, शूकर-सूअर जाति के तथा अग्रपिंड के भोजनार्थ मार्ग मे एकत्र होकर बैठे हुए कौवे आदि जीव रास्ते में बैठे है, तो इनको देखकर साधु या साध्वी अन्य मार्ग के होते हुए उस मार्ग से न जाए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि जिस रास्ते में भोजन की कामना से कुक्कुट आदि पक्षी या सूअर आदि पशु बैठे हों या अग्रपिंड के भक्षणार्थ कौवे आदि एकत्रित होकर बैठे हों तो अन्य रास्ते के होते हुए मुनि को उन्हें उल्लंघकर उस रास्ते से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि मुनि को देखकर वे पशु-पक्षी भय के कारण इधर-उधर भाग जाएंगे या उड़ जाएंगे। इससे उन्हे प्राप्त होने वाले भोजन में अंतराय पड़ेगी और साधु के कारण उनके उड़ने या भागने से वायुकायिक जीवों एवं अन्य प्राणियों की अयत्ना (हिंसा) होगी। और कभी वे पशु जंगल में भाग गए और हिंस्र जन्तु की लपेट में आ गए तो उनका भी वध हो जाएगा। अत साधु को जहां तक अन्य पथ हो तो ऐसे रास्ते से आहार आदि के लिए नही जाना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु का जीवन दया एवं रक्षा की भावना से कितना ओत-प्रोत होता है। यही साधुता का आदर्श है कि उसका जीवन प्रत्येक प्राणी के हित की भावना से भरा होता है। वह स्वयं कष्ट सह लेता है, परन्तु अन्य प्राणी को कष्ट नहीं देता।

गृहस्थ के घर में प्रवेश करने के बाद साधु को वहां किस वृत्ति से खड़े होना चाहिए, इस सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ जावपविट्ठेसमाणे नो गाहावइकुलस्स वा दुवारसाहं अवलंबिय २ चिट्ठिज्जा, नो गा० दगच्छड्डणमत्तए चिट्ठिज्जा, नो गा० चदणिउयए चिट्ठिज्जा, नो गा० सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा, नो आलोयं वा, थिग्गलं वा, संधिं वा, दगभवणं वा, बाहाओ पगिज्झिय २

अंगुलियाए वा उद्दिसिय २ उरणमिय २ अवनमिय २ निज्झाइज्जा, नो गाहावइं अंगुलियाए उद्दिसिय २ जाइज्जा, नो गा० अंगुलियाए चालिय २ जाइज्जा, नो गा० अं० तज्जिय २ जाइज्जा, नो० गा० अं० उक्खुलंपिय (उक्खलुंदिय) २ जाइज्जा, नो गाहावइं वंदिय २ जाइज्जा, न वयणं फरुसं वइज्जा ।३२।

छाया— स भिक्षुर्वा यावत् न गृहपति कुलस्य वा द्वारशाखाम् अवलम्ब्य तिष्ठेत् न गृहपति० उदक प्रतिष्ठापन मात्रके तिष्ठेत् न गृ० आचमनोदके तिष्ठेत् न गृ० स्नानस्य वा वर्च्चस्य वा संलोके तत् प्रतिद्वारे तिष्ठेत् न० आलोकस्थानं वा थिग्गल वा सन्धिं वा उदकभवनं वा बाहून् प्रगृह्य २ अगुल्योद्दिश्य वा उन्नम्य २ अवनम्य २ निध्यापयेत् न गृहपतिं अंगुल्योद्दिश्य २ याचेत् नो गृहपतिं अगुल्या चालयित्वा याचेत् नो गृहपतिं अगुल्या तर्जयित्वा याचेत् नो गृहपतिं अंगुल्या कडूयित्वा याचेत् न गृहपतिं टदित्वा याचेत्, न वचनं परुष वदेत् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा २—साधु या साध्वी । जाव—यावत् भिक्षा के लिए प्रवेश करने पर । गाहावइकुलस्स—गृहस्थ के घर की । दुवार साहं—द्वार शाखा को । अवलंबिय २—अवलम्बन करके -बार-बार पकड कर । नो चिट्ठिज्जा—खडा न हो । गा०—गृहपति के घर । दगच्छड्डणमत्तए—जहा पर उपकरणो-बर्तनो के धोवन का पानी गिराया जाता हो वहा पर । नो चिट्ठिज्जा—खड़ा न हो तथा । गा०—गृहपति के घर में । चदणिच्चयए—जिस स्थान पर आचमन-पीने का पानी वहाया जाता हो या वहता हो वहा पर । नो चिट्ठिज्जा—खडा न हो । गा०—गृहपति के घर मे । सिणाणस्स वा—जहा स्नान किया जाता हो वहा पर अथवा । वच्चस्स—जहा मलोत्सर्ग किया जाता हो या । संलोए—दृष्टि पडती हो तात्पर्य यह कि जहा स्नान करते या मलोत्सर्ग करते हुए गृहस्थ पर दृष्टि पडती हो ऐसे स्थान पर तथा । सपडिदुवारे—दरवाजे के सामने । नो चिटिठज्जा—खडा न हो तथा । गा०—गृहपति कुल के । आलोयं वा—गवाक्ष आदि को । थिग्गलं वा—किसी गिरे हुए भित्ति प्रदेश को फिर से सस्कारित किया हो उसको तथा । संघि वा—चोर आदि के द्वारा तोडी हुई

कि मुनि को गृहस्थ के द्वार की शाखा को पकड़ कर खड़ा नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि वह जीर्ण है तो गिर जाएगी, इससे मुनि को भी चोट लगेगी, उसके संयम की विराधना होगी और अन्य प्राणियों की भी हिंसा होगी। वह जीर्ण तो नहीं है, परन्तु कमजोर है तो आगे-पीछे हो जाएगी, इस तरह उसको पकड़कर खड़े होने से अनेक तरह के दोष लगने की सम्भावना है। इसी तरह मुनि को उस स्थान पर भी खड़े नहीं रहना चाहिए जहां बर्तनों को मांज-धो कर पानी गिराया जाता है, स्नानघर, शौचालय या पेशाबघर है। क्योंकि ऐसे स्थानों पर खड़े रहने से प्रवचन की जुगुप्सा-घृणा होने की सम्भावना है। और स्नानघर आदि के सामने खड़े होने से गृहस्थों के मन में अनेक तरह की शंकाएं पैदा हो सकती हैं। इसी प्रकार झरोखों, नव निर्मित दीवारों या दीवारों की सन्धि की ओर देखने से साधु के सभ्य व्यवहार में कुछ दोष आता है।

भिक्षा ग्रहण करते समय अंगुली आदि से संकेत करके पदार्थ लेने से साधु की रस लोलुपता प्रकट होती है और तर्जना एवं प्रशंसा द्वारा भिक्षा लेने से साधु के अभिमान एवं दीन भाव का प्रदर्शन होता है। अतः साधु को भिक्षा ग्रहण करते समय किसी भी तरह की शारीरिक चेष्टाएं एवं संकेत नहीं करने चाहिएं। इसके अतिरिक्त यदि कोई गृहस्थ साधु को भिक्षा देने से इन्कार करदे तो साधु को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए और न उन्हें कटु एवं कठोर वचन ही कहना चाहिए। साधु का यह कर्तव्य है कि वह बिना कुछ कहे एवं मन में भी किसी तरह की दुर्भावना लाए बिना तथा संक्लेश का संवेदन किए बिना शान्त भाव से गृहस्थ के घर से बाहर आजाए।

इस सूत्र से साधु जीवन की धीरता, गम्भीरता, निरभिमानता अनासक्ति एवं सहिष्णुता का स्पष्ट परिचय मिलता है और इन्हीं गुणों के विकास में साधुता स्थित रहती है। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए गाहावइं वा० जाव कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं! से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पहोइज्ज वा, से

पुव्वामेव आलोइज्जा आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! मा एयं तुमं हत्थं वा ४ सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेहि वा २ अभिकंखसि मे दाउं एवमेव दलयाहि. से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा ४ सीओ० उसि० उच्छोलित्ता पहोइत्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारेणं पुरेकम्मएणं हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा । अह पुणेवं जाणिज्जा नो पुरेकम्मएणं उदउल्लेणं तहप्पगारेणं वा उदउल्लेण (ससिणिद्धेण) वा हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा। अह पुणेवं जाणिज्जा—नो उदउल्लेण ससिणिद्धेण सेसं तं चेव, एवं ससरक्खे उदउल्ले ससिणिद्धे मट्टियाउसे । हरियाले हिंगुलुए मणोसिला अंजणे लोणे ॥१॥

गेरुय वन्निय सेढिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस उक्कुट्ठ संसट्ठेण । अह पुणेवं जाणिज्जा नो असंसट्ठे संसट्ठे, तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥२३॥

छाया—अथ तत्र कञ्चन भुंजानं प्रेच्य गृहपतिं वा यावत् कर्मकरी वा स पूर्वमेव आलोचयेत, आयुष्मन ! इति वा भगिनि ! इति वा दास्यसि मे इतः अन्यतरं भोजन जातम् ? स तस्यैव वदतः परः हस्तं वा मात्रं वा दर्वीं वा भाजन वा शीतोदक विकटेन वा उष्णोदक विकटेन वा उत्क्षालयेत्-प्रक्षालयेद्

कि मुनि को गृहस्थ के द्वार की शाखा को पकड़ कर खड़ा नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि वह जीर्ण है तो गिर जाएगी, इससे मुनि को भी चोट लगेगी, उसके संयम की विराधना होगी और अन्य प्राणियों की भी हिंसा होगी। वह जीर्ण तो नहीं है, परन्तु कमजोर है तो आगे-पीछे हो जाएगी, इस तरह उसको पकड़कर खड़े होने से अनेक तरह के दोष लगने की सम्भावना है। इसी तरह मुनि को उस स्थान पर भी खड़े नहीं रहना चाहिए जहां बर्तनों को मांज-धो कर पानी गिराया जाता है, स्नानघर, शौचालय या पेशाबघर है। क्योंकि ऐसे स्थानों पर खड़े रहने से प्रवचन की जुगुप्सा-घृणा होने की सम्भावना है। और स्नानघर आदि के सामने खड़े होने से गृहस्थों के मन में अनेक तरह की शंकाएं पैदा हो सकती हैं। इसी प्रकार झरोखा, नव निर्मित दीवारों या दीवारों की सन्धि की ओर देखने से साधु के सभ्य व्यवहार में कुछ दोष आता है।

भिक्षा ग्रहण करते समय अंगुली आदि से संकेत करके पदार्थ लेने से साधु की रस लोलुपता प्रकट होती है और तर्जना एवं प्रशंसा द्वारा भिक्षा लेने से साधु के अभिमान एवं दीन भाव का प्रदर्शन होता है। अतः साधु को भिक्षा ग्रहण करते समय किसी भी तरह की शारीरिक चेष्टाएं एवं संकेत नहीं करने चाहिएं। इसके अतिरिक्त यदि कोई गृहस्थ साधु को भिक्षा देने से इन्कार करदे तो साधु को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए और न उन्हें कटु एवं कठोर वचन ही कहना चाहिए। साधु का यह कर्तव्य है कि वह बिना कुछ कहे एवं मन में भी किसी तरह की दुर्भावना लाए बिना तथा संक्लेश का संवेदन किए बिना शान्त भाव से गृहस्थ के घर से बाहर आजाए।

इस सूत्र से साधु जीवन की धीरता, गम्भीरता, निरभिमानता अनासक्ति एवं सहिष्णुता का स्पष्ट परिचय मिलता है और इन्हीं गुणों के विकास में साधुता स्थित रहती है। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए गाहावइं वा० जाव कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं! से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पहोइज्ज वा, से**

पुव्वामेव आलोइज्जा आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! मा एयं तुमं हत्थं वा ४ सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेहि वा २ अभिकंखसि मे दाउं एवमेव दलयाहि. से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा ४ सीओ० उसि० उच्छोलित्ता पहोइत्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारेणं पुरेकम्मएणं हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। अह पुणेवं जाणिज्जा नो पुरेकम्मएणं उदउल्लेणं तहप्पगारेणं वा उदउल्लेण (ससिणिद्धेण) वा हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा। अह पुणेवं जाणिज्जा—नो उदउल्लेण ससिणिद्धेण सेसं तं चेव, एवं ससरक्खे उदउल्ले ससिणिद्धे मट्टियाउसे। हरियाले हिंगुलुए मणोसिला अंजणे लोणे ॥१॥

गेरुय वन्निय सेढिय. सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस उक्कुट्ठ संसट्ठेण । अह पुणेवं जाणिज्जा नो असंसट्ठे संसट्ठे, तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥३३॥

छाया—अथ तत्र कञ्चन भुंजानं प्रेक्ष्य गृहपतिं वा यावत् कर्मकरीं वा स पूर्वमेव आलोचयेत, आयुष्मन् ! इति वा भगिनि ! इति वा दास्यसि मे इतः अन्यतरं भोजन जातम् ? स तस्यैव वदतः परः हस्तं वा मात्रं वा दर्वीं वा भाजनं वा शीतोदक विकटेन वा उष्णोदक विकटेन वा उत्क्षालयेत्- प्रक्षालयेद

वा प्रधावयेद् वा, स पूर्वमेव आलोचयेत्-आयुष्मन ! इति वा भगिनि ! इति वा मा एव त्वं हस्तं वा ४ शीतोदक विकटेन वा २ उत्क्षाल्य वा २ अभिकांक्षसि मे दातु एवमेव ददस्व ? स तस्यैव वदतः परः हस्त वा ४ शीतोदक० उष्णोदक० उत्क्षाल्य प्रधाव्य आहृत्य दद्यात, तथाप्रकारेण पूर्वकर्मणा हस्तेन वा ४ अशनं वा ४ अप्रासुकं ४ यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् । अथ पुनरेव जानीयात्—नो पुरः कर्मणा उदकार्द्रेण तथा प्रकारेण वा उदकार्द्रेणासस्निग्धेन वा हस्तेन वा ४ अशनं वा ४ अप्रासुक यावत् न प्रतिगृण्हीयात् । अथ पुनरेवं जानीयात् न उदकार्द्रेण मस्निग्धेन शेषं तच्चैव एवं—सरजस्केन उदकार्द्रेण सस्निग्धेन सस्निग्धा मृत्तिका उषः (क्षारमृत्तिका) हरिताल, हिंगुलक मनःशिला अञ्जनं लवणम् । गैरिक वर्णिक सेटिक सौराष्ट्रिक पिष्ट कुक्कुस उत्कृष्ट संस्पृष्टेन । अथ पुनरेव जानीयात्-न असंसृष्टः संसृष्टः तथाप्रकारेण ससृष्टेन हस्तेन वा ४ अशनं वा ४ प्रासुकं यावत् प्रतिगृण्हीयात् ।

पदार्थ—मह—अथ भिक्षु । तत्थ—गृहपति कुल मे प्रवेश करने पर वहा । कंचि—किसी गृहस्थ को । भुंजमाणं—खाते हुए को । पेहाए—देखकर जैसे कि । गाहावइ वा—गृहपति उसकी पत्नी । जाव—यावत । कम्मकरिं—कर्मकरी । से—वह भिक्षु । पुव्वामेव—पहले ही । आलोएज्जा—विचार करे और कहे । आउसोत्ति वा—हे आयुष्मन् गृहपते ! अथवा । भइणित्ति वा—हे भगिनि ! हे बहिन ! मे—मुझे । इत्तो—इस आहार में से । अन्नयरं—अन्यतर । भोयणजायं—भोजन । दाहिसि—देगी ? से—यह अथ के अर्थ में है । से एवं—उसके इस प्रकार । वयंतस्स—कहने पर । परो—गृहपति आदि यदि । हत्थं वा—हाथ को । मत्तं वा—पात्र को । दव्विं वा—दर्वी-कड़छी को । भायणं वा—अथवा अन्य भाजनादि को । सीओदग-वियडेण वा—निर्मल शीतल जल से । उसिणोदग वियडेण वा—थोड़े उष्ण जल से अर्थात् मिश्रित पानी से । उच्छोलिज्ज वा—एक बार धोवे- । पहोइज्ज वा—अथवा बार-बार धोवे तब । से—वह-भिक्षु । पुव्वामेव—पहले ही । आलोइज्जा—धोने के लिए तत्पर हुए को देखकर विचार करे और इस प्रकार कहे । आउसोत्ति वा—हे आयुष्मन् ! गृहपते ! भयणित्ति वा—हे भगिनि !—हे बहिन ! एयं तुमं—तुम इस प्रकार । हत्थ वा ४—हाथ पात्र और अन्य भाजन आदि को । सीओदगवियडेण वा—शीतल जल से अथवा उष्ण-थोड़े गर्म जल से या मिश्रित जल से । मा उच्छोलेहि वा २—एक बार अथवा बार-बार प्रक्षालन न करो ? मे-दाउं अभिकंखसि—यदि तुम मुझे आहार देना चाहती हो तो । एवमेव—इसी प्रकार अर्थात् बिना

कर कहे कि हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा हे बहिन ! तुम इस भोजन मे से कुछ भोजन मुझे दोगे ? उस भिक्षु के इस प्रकार बोलने पर यदि वह गृहस्थ अपने हाथ को, पात्र को अथवा कड़छी या अन्य किसी बर्तन विशेष को निर्मल शीतल जल से या थोटे उष्णजल से (मिश्र जल) से एक बार या एक से अधिक बार धोने लगे तो वह भिक्षु पहले हा उसे देखकर और विचार कर कहे कि आयुष्मन् गृहपते या भगिनि बहिन ! तू इस प्रकार शीतल अथवा अल्प उष्ण जल से अपने हाथ एवं बर्तनादि का प्रक्षालन मत कर ? यदि तू मुझे भोजन देना चाहती है तो ऐसे ही दे दे। उस भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ आदि शीतल या थोड़ उष्ण जल से हस्तादि का एक अथवा अनेक बार प्रक्षालन करे और तदनन्तर अशनादि चतुर्विध आहार लाकर दे तो इस प्रकार के गीले हाथ आदि से लाए गए आहार को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हुआ साधु यदि यह जाने कि गृहस्थ ने साधु को भिक्षा देने के लिए हस्तादि का प्रक्षालन नही किया है किन्तु किसी दूसरे ही अनुष्ठान से - काम से हस्त आदि जल से आर्द्र हो रहे है, ऐसे हाथो से या पात्र से( जो जल से आर्द्र अथवा स्निग्ध हों ) लाकर दिया गया भोजन भी अप्रासुक होने से साधु ग्रहण न करे।

यदि गृहस्थ के हाथ या पात्र आदि जल से आर्द्र नही है। उनसे जल बिन्दु भी नही टपकते है किन्तु जल से स्निग्ध है-कुछ गीले से हैं। तो भी उन हाथों से दिया गया अशनादिक चतुर्विध आहार अप्रासुक जान कर साधु को ग्रहण नही करना चाहिए।

इसी प्रकार सचित्त रज से, सचित्त जल से स्निग्ध हस्तादि, सचित्त मिट्टी, खारी मिट्टी हरिताल, हिंगुल, सिगरफ मनसिल, अंजन, लवण, गेरु, पोली मिट्टी, खड़िया मिट्टी, तुवरिका, पिष्ट-बिना छाना

कर कहे कि हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा हे बहिन ! तुम इस भोजन मे से कुछ भोजन मुझे दोगे ? उस भिक्षु के इस प्रकार बोलने पर यदि वह गृहस्थ अपने हाथ को, पात्र को अथवा कडछी या अन्य किसी बर्तन विशेष को निर्मल शीतल जल से या थोडे उष्णजल से (मिश्र जल) से एक बार या एक से अधिक बार धोने लगे तो वह भिक्षु पहले ही उसे देखकर और विचार कर कहे कि आयुष्मन् गृहपते या भगिनि बहिन ! तू इस प्रकार शीतल अथवा अल्प उष्ण जल से अपने हाथ एवं बर्तनादि का प्रक्षालन मत कर ? यदि तू मुझे भोजन देना चाहती है तो ऐसे ही दे दे। उस भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ आदि शीतल या थोड़े उष्णजल से हस्तादि का एक अथवा अनेक बार प्रक्षालन करे और तदनन्तर अशनादि चतुर्विध आहार लाकर दे तो इस प्रकार के गीले हाथ आदि से लाए गए आहार को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हुआ साधु यदि यह जाने कि गृहस्थ ने साधु को भिक्षा देने के लिए हस्तादि का प्रक्षालन नही किया है किन्तु किसी दूसरे ही अनुष्ठान से - काम से हस्त आदि जल से आर्द्र हो रहे है, ऐसे हाथो से या पात्र से ( जो जल से आर्द्र अथवा स्निग्ध हो ) लाकर दिया गया भोजन भी अप्रासुक होने से साधु ग्रहण न करे।

यदि गृहस्थ के हाथ या पात्र आदि जल से आर्द्र नही है। उनसे जल बिन्दु भी नही टपकते है किन्तु जल से स्निग्ध है-कुछ गीले से है। तो भी उन हाथों से दिया गया अशनादिक चतुर्विध आहार अप्रासुक जान कर साधु को ग्रहण नही करना चाहिए।

इसी प्रकार सचित्त रज से, सचित्त जल से स्निग्ध हस्तादि, सचित्त मिट्टी, खारी मिट्टी हरिताल, हिंगुल, सिंगरफ मनसिल, अंजन, लवण, गेरु, पोली मिट्टी, खडिया मिट्टी, तुवरिका, पिष्ट-बिना छाना

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्रासुक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है — निर्जीव।* अत अप्रासुक का अर्थ हुआ सजीव पदार्थ। अत सचित्त जल से हाथ या पात्र धोने मात्र से पदार्थ अप्रासुक कैसे हो जाते हैं?

इसका समाधान यह है कि प्रस्तुत प्रकरण मे इस शब्द का प्रयोग अकल्पनीय अर्थ में हुआ है और उसके समान होने के कारण इसे भी अप्रासुक कहा गया है और मध्यम पद लोपी समास के सदृश होने से यहा इसे ग्रहण किया गया है। जैसे राजप्रश्नीयसूत्र में वैक्रिय स उत्पन्न किए गए अचित्त पुष्पों के लिए जलज एवं स्थलज शब्दों का प्रयोग किया गया है। जब कि वे जलज एव स्थलज नहीं हैं। परन्तु, उनके समान दिखाई देने के कारण उन्हें जलज एवं स्थलज कहा गया है। इसी तरह अप्रासुक शब्द अकल्पनीय शब्द के समान होने के कारण यहां उसे ग्रहण किया गया है।

अब आहार की गवेषणा के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा पिहुयं वा बहुरयं वा जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव मसंताणाए कुट्टिंसु वा कुट्टन्ति वा कुट्टिस्संति वा उप्फणिंसु वा ३ तहप्पगारं पिहुयं वा० अफासुयं नो पडिगाहिज्जा ॥३४॥**

**छाया—स भिक्षुर्वा २ अथ पुनरेव जानीयात्-पृथुकं वा बहुरजसं वा यावत् तन्दुलप्रलम्ब वा असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया चित्तमत्यां शिलायां यावत् संतानोपेतायां अकुट्टिषुः, कुट्टन्ति वा कुट्टिष्यन्ति वा अदुः ३ वा तथाप्रकारं २ पृथुकं वा अप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयात्।**

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। से—अथ। ज—जिस आहार आदि को। पुण—फिर। एवं—इस प्रकार से। जाणिज्जा—जाने। पिहुय वा—शाल्यादि के कण अथवा। बहुरय वा—बहुत रज वाले शाल्यादि के कण। जाव—यावत्। चाउलपलबं वा—अर्द्धपक्व शाल्यादि कण। असजए—गृहस्थ ने। भिक्खुपडियाए—भिक्षु को देने के लिए। चित्तमंताए सिलाए—सचित्त शिला पर। जाव—यावत्। ससताणाए—मकडी जाला आदि

* प्रगताः प्राणा यस्मात् स प्रासुकः।

मूलम्—से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं० बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अस्संजए जाव संताणाए भिंदिसु ३ रुचिंसु वा ३ बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं० नो पडिग्गाहिज्जा ॥३५॥

छाया—स भिक्षुर्वा० यावत् लन् अथ यत्० बिलं वा लवणं उद्-भिदितं वा लवणं असंयतः यावत् सन्तानोपेतायां अभैत्सुः भिन्दन्ति भेत्स्यन्ति वा, अपिषन् (पिष्टवन्तः) पिषन्ति पेक्ष्यन्ति बिलं वा लवणं उद्भिदित वा लवण अप्रासुकं न प्रतिगृण्हीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। जाव—यावत्। समाणे—भिक्षा के लिए गृहपति कुल मे प्रविष्ट होने पर। से ज०—यह जान ले कि। बिल वा लोण—खदान से उत्पन्न हुए लवण। उब्भिय वा लोण—अथवा समुद्र के क्षार जल से उत्पन्न हुए लवण को। असजए—गृहस्थ ने। जाव—यावत्। ससाणाए—सचित्त अथवा जाले आदि से युक्त शिला पर। भिंदिसु ३—भेदन किया है या वह भेदन कर रहा है या भेदन करेगा, अथवा। रुचिसु वा ३—शिला आदि पर पीसा, पीसता है या पीसेगा ऐसे। बिलं वा लोण—खान के लवण को। उब्भियं वा लोणं—समुद्र से उत्पन्न होने वाले लवण को। अफासुय—अप्रासुक जानकर साधु। नो पडिग्गाहिज्जा—ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मे भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु को यदि यह ज्ञात हो जाए कि खदान एवं लवण समुद्रादि के जल से उत्पन्न लवण को किसी गृहस्थ ने सचित्त एवं जालो से युक्त शिला पर भेदन करके या पीस कर रखा है, या भेदन करके या पीस कर रख रहा है या भेदन करके पीस कर रखेगा तो साधु को ऐसे अप्रासुक नमक को ग्रहण नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि खान से एवं समुद्र से उत्पन्न लवण (नमक) को साधु ग्रहण न करे। इसके साथ सैन्धव, सौवर्चल आदि सभी प्रकार का सचित्त

नमक साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ सचित्त नमक को सचित्त शिला पर उसके टुकड़े-टुकड़े करके दे या उसका बारीक चूर्ण बनाकर दे तो उसे अप्रासुक समझकर ग्रहण न करे।

'खिल' शब्द खान एवं 'उब्भिय शब्द समुद्र का बोधक है। और भिंदिसु' एवं 'रुचिसु' इन उभय क्रियाओं से क्रमश खड-खंड करने एवं बारीक पीसने का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त लवण शब्द से यहा उपलक्षण से समस्त सचित्त पृथ्वीकाय का ग्रहण किया गया है। अतः संयमशील साधु को पृथ्वीकायिक जीवों की यत्ना करनी चाहिए, उसे किसी भी तरह से उक्त जीवों को विराधना नहीं करनी चाहिए।

'अप्रासुक' शब्द से यह भी सूचित किया गया है कि यदि सचित्त नमक अन्य पदार्थ या शस्त्र के संयोग से अचित्त हो गया है, तो फिर वह साधु के लिए अप्रासुक एवं अग्राह्य नहीं रह जाता है।

अब अग्निकाय के आरम्भ का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० असणं वा ४ अगणि-निक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं नो०, केवली बूया आयाणमेयं, अस्संजए भिक्खुपडियाए उस्सिचमाणे वा निस्सिचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा ओयारेमाणे वा उव्वत्तमाणे वा अगणिजीवे हिंसिज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा एस पइन्ना एस हेऊ एस कारणे एसुवएसे जं तहप्पगारं असणं वा ४ अगणिनिक्खित्तं अफासुयं नो० पडि० एयं० सामग्गियं ॥३६॥**

छाया—स भिक्षुर्वा अथ यत् अशनं वा ४ अग्निनिक्षिप्तं तथाप्रकारं अशनं वा ४ अप्रासुकं न प्रतिगृण्हीयात्। केवली ब्रूयात् आदानमेतत्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उत्सिचन् वा निसिंचन् वा आमर्जयन् वा प्रमर्जयन् वा अवतारयन् वा अपवर्तयन् वा अग्निजीवान् हिंस्यात्। अथ भिक्षूणां

पूर्वोपदृष्टा एषा प्रतिज्ञा एष हेतुः एतत् कारण, अयमुपदेशः यत् तथा प्रकारं अशनं वा ४ अग्निनिक्षिप्त अप्रासुकं न प्रतिगृण्हीयात् एतत् सामग्र्यम् ।

**पदार्थ**—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। से जं०—यदि फिर ऐसा जाने कि। असण वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार जो कि। अगणिनिक्खित्तं—अग्नि पर रखा हुआ है। तहप्पगारं—इस प्रकार के। असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार को। अफासुयं—अप्रासुक जानकर। नो०—ग्रहण न करे। केवली बूया—केवलि भगवान कहते हैं। आयाणमेयं—यह कर्म आने का मार्ग है अर्थात् इससे कर्म का वन्ध होता है, यथा। अस्संजए—गृहस्थ। भिक्खुपडियाए—भिक्षु की प्रतिज्ञा से अर्थात् भिक्षु के लिए। उस्सिंचमाणे वा—अग्नि पर रखे हुए पात्र मे से निकालता हुआ। निस्सिंचमाणे वा—अग्नि पर रखे हुए भाजन से निकलते हुए दुग्धादि को उपशान्त करता हुआ। आमज्जमाणे वा—अथवा उसे हस्तादि से हिलाता हुआ। पमज्जमाणे वा—या बार-बार हिलाता हुआ। ओयारेमाणे वा—अग्नि पर से उतारता हुआ। उव्वत्तमाणे वा—अथवा भाजन को तिरछा-टेढा करता हुआ। अगणि जीवे—अग्नि काय—अग्नि के जीवों की। हिंसिज्जा—हिंसा करता है अर्थात् उसकी इस क्रिया से अग्निकाय की हिंसा होती है। अह—अथ। भिक्खूण—भिक्षुओं को। पुव्वोवइट्ठा—पूर्वोपदिष्ट—जो पूर्व कह चुके है वह तीर्थंकर भाषित है। एस पइन्ना—यह प्रतिज्ञा। एस हेऊ—यह हेतु। एस कारणे—यह कारण। एसुवएसे—और यह तीर्थंकरादि का उपदेश है कि। जं—जो। तहप्पगारं—इस प्रकार का। असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार है जो कि। अगणिनिक्खित्त—अग्नि पर रखा हुआ है उसे। अफासुय—अप्रासुक जानकर। नो०—साधु ग्रहण न करे। एयं—यह। सामग्गियं—साधु वा साध्वी का सामग्र्य-सम्पूर्ण आचार है अर्थात् इसी पर उस का साधुत्व निर्भर है।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी भिक्षादि के निमित्त गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर यदि यह देखे कि अशनादिक चतुर्विध आहार अग्नि पर रखा हुआ है, तो उसे अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। क्योकि केवली भगवान कहते है कि यह कर्म आने का मार्ग है। क्योकि गृहस्थ साधु के लिए यदि अग्नि पर रखे हुए भाजन मे से वस्तु को निकालता है, उबलते हुए दुग्धादि को जल आदि के छींटे देकर शान्त करता है, या अग्नि पर रखे हुए भाजन आदि को नीचे उतारता है अथवा टेढा करता है, तो

वह अग्निकाय—अग्नि के जीवो की हिंसा करता है। अतः भिक्षुओ के लिए तीर्थंकर भगवान ने पहले ही कह दिया है कि इसमे यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह कारण है और यह उपदेश है कि जो आहार अग्नि पर रखा हुआ है, उस आहार को अप्रासुक जानकर साधु-साध्वी ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर आहार आदि पदार्थ आग पर रखे हुए हैं और उस समय साधु को अपने घर में आया हुआ देखकर कोई गृहस्थ उस अग्नि पर स्थित आहार में से निकाल कर दे, या वह आग पर उबलते हुए दूध को पानी के छींटों से शान्त करके या आग पर से कोई वस्तु उतार कर साधु को दे तो साधु उस आहार को अप्रासुक समझ कर ग्रहण न करे। क्योंकि इन क्रियाओं से अग्निकायिक जीवों की हिंसा होती है। इसलिए साधु को इस तरह की सावद्य क्रिया करते हुए कोई व्यक्ति आहार दे तो साधु उसे ग्रहण न करे।

कुछ प्रतियों में 'अफासुयं' के साथ 'अणेसणिज्जं लाभे संते' यह पाठ भी मिलता है। आगमोदय समिति से प्रकाशित प्रति मे 'त्तिबेमि' शुद्ध नहीं दिया गया है। परन्तु उद्देशक की समाप्ति होने के कारण यहां 'त्तिबेमि' शब्द ग्रहण किया गया है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## सप्तम उद्देशक

छठे उद्देशक में संयम विराधना का उल्लेख किया गया था। अब प्रस्तुत उद्देशक में सयम की, आत्मा की एवं दाता की विराधना एवं उक्त विराधना से होने वाली प्रवचन की अवहेलना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ खंधंसि वा, थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि उवनिक्खित्ते सिया तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ अफासुयं नो० केवली-बूया आयाणमेयं, अस्संजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूहलं वा आहट्टु उस्सविय दुरूहिज्जा, से तत्थ दुरूहमाणे पयलिज्ज वा पवडिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा २ हत्थं वा पायं वा बाहुं वा उरुं वा उदरं वा सीसं वा अन्नयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ अभिहणिज्ज वा वित्तासिज्ज वा लेसिज्ज वा संघसिज्ज वा संघट्टिज्ज वा परियाविज्ज वा किलामिज्ज वा ठाणाओ ठाणं संकामिज्ज वा, तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ लाभे संते

नो पडिगाहिज्जा, से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं असणं वा ४ कुट्ठियाओ वा कोलेज्जाओ वा अस्संजए भिक्खुपडियाए उक्कुज्जिय अवउज्जिय ओहरिय आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥३७॥

छाया—स भिक्षुर्वा २ तद् यत्० अशन वा ४ स्कन्धे वा स्तम्भे वा मंचके वा माले वा प्रासादे वा हर्म्यतले वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते उपनिक्षिप्तः स्यात् तथाप्रकारं मालाहृतं अशन वा ४ अप्रासुक न० केवली ब्रूयात् आदानमेतत् असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया पीठं वा फलक वा निश्रेणि वा उदूखल वा आहृत्य उत्सृज्यऊर्ध्व संस्थाप्यआरोहेत् स तत्र आरोहन् प्रचलेद् वा प्रपतेद् वा, स तत्र प्रचलन्, प्रपतन् वा हस्तं वा पाद वा बाहु वा उरुं वा उदरं वा शीर्ष वा अन्यतरत् कायें इन्द्रिय जाल लूषयेत्-विराधयेद् वा प्राणिनो वा (भूतानि, जीवान्, सत्वान वा) अभिहन्याद् वा वित्रासयेद् वा लेषयेद् वा संघर्षयेद् वा संघट्टयेद् वा, परितापयेद् वा, क्लामयेद् वा स्थानात् स्थान संक्रामयेद् वा, तत् तथाप्रकार मालाहृत, अशन वा ४ लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्। स भिक्षुः वा २ यावत् (प्रविष्टः) सन् अथ यत् जानीयात्-अशनं वा ४ कोष्टिकातः अधोवृत्त खाताकारात् वा असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उत्कुब्ज्य अवकुब्ज्य अवहृत्य, आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं अशन वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। से जं—आहार के निमित्त गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर यदि यह जाने कि। असणं वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार जो कि। खंधंसि वा—भीत--दीवार पर रखा हुआ। थंभंसि वा—स्तम्भ पर रखा हुआ। मंचंसि वा—अथवा मञ्चक पर। मालंसि वा—माल—मकान की मंजिल पर। पासायंसि वा—प्रासाद-महल पर। हम्मियतलंसि वा—प्रासाद की भूमि पर। अन्नयरंसि वा—अथवा अन्य कोई। तहप्पगारंसि—इसी प्रकार के। अंतलिक्खजायंसि—अन्तरिक्ष जात में (जहां पर

सीढी लगाकर पदार्थ उतारा जाता है उसको अन्तरिक्ष जात कहते हैं) **उवनिक्खित्तेसिया**—रखा हुआ हो। **तहप्पगार**—इस प्रकार। **मालोहड**—ऊपर रखे गए पदार्थों को ऊपर से उतार कर दे रहा है, तो। **असण वा ४**—ऐसा अशनादि चतुर्विध आहार है उसे। **अफासुयं**—अप्रासुक जानकर। **नो०**—साधु ग्रहण न करे। **केवली बूया**—केवली भगवान कहते है कि। **आयाणमेय**—यह कर्म आने का मार्ग है जो कि। **असजए**—असयत गृहस्थ। **भिक्खुपडियाए**—अर्थात् साधु को आहार देने के लिए। **पीढ वा**—पीठ चौकी आदि को। **फलग**—पट्टे को। **निस्सेणि वा**—अथवा सीढी को। **उदूहल वा**—या ऊखल को। **आहट्टु**—लाकर। **उस्सविय**—ऊंचा करके। **दुरूहिज्जा**—चढे और। **से**—उस गृहस्थ का। **तत्थ**—उस स्थान पर। **दुरूहमाणे**—चढते हुए। **पयलिज्ज वा**—पांव फिसल जाए। **पवडिज्ज**—अथवा वह गिर पडे। **से**—वह गृहस्थ। **तत्थ**—उस स्थान पर। **पयलमाणे वा**—फिसलता हुआ अथवा गिरता हुआ अर्थात् उसके फिसलने या गिरने से उसका। **हत्थं वा**—हाथ। **पाय वा**—पैर। **बाहु वा**—भुजा। **उरु वा**—उरु-सत्थल। **उदर वा**—पेट। **सीसं वा**—शीर्ष-सिर मे अथवा। **अन्नयरसि वा कायसि**—शरीर के किसी अन्य। **इंदिय जालं**—अवयव विशेष को। **लूसिज्जा वा**—दोषप्राप्त हो अर्थात् टूट जाए और उसके गिरने से। **पाणाणि वा ४**—प्राणि, भूत, जीव और सत्वो का। **अभिहणिज्ज वा**—अवहनन होता है। **वित्तासिज्ज वा**—वह उन्हे त्रास दे। **लेसिज्ज वा**—भूमि से सश्लिष्ट करे। **संघसिज्ज वा**—सघर्षित करे। **सघट्टिज्ज वा**—सघट्टा करे अथवा। **परियाविज्ज वा**—परितापना दे। **किलामिज्ज वा**—पीडा दे। **ठाणाओ ठाणं**—एक स्थान से दूसरे स्थान पर। **सकामिज्ज वा**—संक्रमण करे। **त**—इसलिए। **तहप्पगारं**—तथा प्रकार के। **मालोहड़**—ऊचे स्थान से उतारा हुआ। **असणं वा ४**—अशनादि चतुर्विध आहार। **लाभे संते**—मिलने पर भी। **नो पडिग्गाहिज्जा**—ग्रहण न करे। **से**—वह। **भिक्खू वा**—भिक्षु-साधु या साध्वी। **जाव समाणे**—यावत् गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर। **से ज**—यदि,ऐसा जाने कि। **असणं वा ४**—अशनादिक चतुर्विध आहार को। **कुट्ठियाओ वा**—मिट्टी की कोठी मे। **कोलेज्जाओ वा**—अधोवर्त्त-नीचे के प्रकोष्ठ विशेष से। **अस्सजए**—गृहस्थ। **भिक्खु पडियाए**—भिक्षु के निमित्त। **उक्कुज्जिय**—झुक कर। **अवउज्जिय**—बहुत नीचा होकर। **ओहरिय**—तिरछा-टेढा होकर। **आहट्टु**—उस वस्तु को निकालकर। **दलइज्जा**—दे तो। **तहप्पगारं**—इस प्रकार के। **असणं वा ४**—अशनादिक चतुर्विध आहार को। **लाभे संते**—प्राप्त होने पर भी साधु। **नो पडिग्गाहिज्जा**—ग्रहण न करे-अर्थात् उक्त प्रकार से लाया गया आहार साधु न ले।

मूलार्थ—साधु या साध्वी गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार, गृहस्थ के वहा भित्ति पर, स्तम्भ पर,

मंचक पर, छत पर, प्रासाद पर, कोठी आदि की छत पर तथा किसी अन्य अतरिक्षजात अर्थात् ऊच स्थान पर रक्खा हुआ है तो इस प्रकार के ऊंचे स्थान से उतार कर दिया गया अशनादि चतुर्विध आहार, अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्ध का कारण है जो कि गृहस्थ, साधु को आहार देने के लिए उचे स्थान पर रखे हुए आहार को उतारने के लिए चौकी, फलक, पट्टा, सीढ़ी या ऊखल आदि को लाकर, ऊंचा करके ऊपर चढेगा। यदि ऊपर चढता हुआ वह गृहस्थ फिसल जाए या गिर पड़े तो फिसलते या गिरते हुए उसका हाथ, पाव, भुजा, छाती, उदर, सिर या अन्य कोई शरीर का अवयव टूट जाएगा और उसके गिरने से किसी प्राणि, भूत, जीव और सत्व आदि का अवहनन होगा, उन जीवो को त्रास उत्पन्न होगा, सक्लेश उत्पन्न होगा, सघर्ष होगा, सघट्टा होगा, आतापना या किलामना होगी और स्थान से स्थानान्तर मे सक्रमण होगा, अतः इस प्रकार के मालाहृत-ऊचे स्थान से उतारे गए आहार के प्राप्त होने पर भी साधु उसे ग्रहण न करे।

साधु या साध्वी आहार के निमित्त घर मे प्रविष्ट होने पर यदि यह देखे कि अशनादिक चतुर्विध आहार जिसे गृहस्थ मिट्टी की कोठी से अथवा बास आदि की कोठी से भिक्षु के लिए नीचा होकर, कुब्जा होकर या तिरछा होकर निकालता है, तो वह आहार उपलब्ध होने पर भी साधु स्वीकार न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि समतल भूमि से बहुत ऊपर या नीचे के स्थान पर आहार आदि रखा हो, वह आहार सीढ़ी या चौकी को लगाकर या उसे ऊचा करके उस पर चढ़कर वहा से आहार को उतार कर दे या इसी तरह नीचे झुक कर, टेढा होकर नीचे के प्रकोष्ठ में रखे हुए पदार्थों को निकाल कर दे तो उन्हें अप्रासुक अकल्पनीय समझ कर ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहां अप्रासुक का अर्थ सचित्त नहीं, परन्तु अकल्पनीय है। उन अचित्त पदार्थों को अकल्पनीय इसलिए कहा गया है कि उक्त विषम स्थान से सीढ़ी, तख्त आदि पर से उतारते समय यदि पैर फिसल जाए या

सीढ़ी व तख्त का पाया फिसल जाए तो व्यक्ति गिर सकता है और उससे उसके शरीर में चोट आ सकती है एवं अन्य प्राणियों की भी विराधना हो सकती है। इसी तरह नीचे के प्रकोष्ठ मे झुककर निकालने से भी अयतना होने की सम्भावना है, अत साधु को ऐसे विषम स्थानों पर रखा हुआ आहार-पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

परन्तु, यदि उक्त स्थान पर चढ़ने के लिए सीढ़िया बनी हों, किसी तरह की अयतना होने की सम्भावना न हो तो ऐसे स्थानो पर स्थित वस्तु कोई यत्नापूर्वक उतार कर दे तो साधु ले सकता है। 'पीढं वा फलग वा निस्सेणिं वा आहट्टु उस्सविय दुरूहिज्जा' पाठ से यह सिद्ध होता है कि हिलने-डुलने वाले साधनों पर चढ़कर उन वस्तुओं को उतार कर दे तो साधु को नहीं लेनी चाहिएं, क्योंकि उन पर से फिसलने का डर रहता है। परन्तु, स्थिर सीढियो पर से चढ़कर कोई वस्तु उतार कर लाई जाए या किसी स्थिर रहे हुए तख्त आदि पर चढ़कर उन्हें उतारा जाए तो वे अकल्पनीय नहीं कही जा सकतीं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिससे आत्म विराधना, संयम विराधना, गृहस्थ की विराधना एवं जीवों की विराधना हो या गृहस्थ को किसी तरह का कष्ट होता हो तो ऐसे स्थान पर स्थित पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि किसी भी तरह की विराधना एवं किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचता हो तो उस स्थान पर स्थित वस्तु साधु के लिए ग्राह्य है। वस्तुत यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि साधु के निमित्त किसी भी प्राणी को कष्ट न हो और आत्मा एवं संयम की विराधना भी न हो।

पृथ्वीकाय पर स्थित आहार के विषय मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खु वा० सेजं० असणं वा० ४ मट्टियाउलित्तं तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो०, केवली० असंजए भि० मट्टिओलित्तं असणं वा ४ उब्भिदमाणं पुढविकायं समारंभिज्जा, तहा आऊ तेऊ वाऊ वणस्सइ तसकायं समारंभिज्जा पुणरवि उल्लिंपमाणे पच्छाकम्मं करिज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा जाव जं तहप्पगारं मट्टिओलित्तं असणं वा ४ लाभे संते नो।**

से भिक्खू० जं० असणं वा ४ पुढविकाय पइट्ठियं तहप्पगारं असणं वा० अफासुयं०। से भिक्खू० जं० असणं वा ४ आउकायपइट्ठियं चेव, एवं अगणिकायपइट्ठियं लाभे० केवली०, अस्संजए भि० अगणिं उस्सक्किय निस्सक्किय ओहरिय आहट्टु दलइज्जा अह भिक्खूणं० जाव नो पडि० ॥३८॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अथ यत् पुनरेव जानीयात् अशन वा ४ मृत्तिकावलिप्त तथा प्रकार अशन वा ४ लाभे सति न प्रतिगृण्हीयात्, केवली ब्रूयात् आदानमेतत्, असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया मृत्तिकोपलिप्त अशन वा ४ उद्भिन्दन् पृथ्वीकायं समारभेत् तथा तेजो वायु वनस्पति त्रसकायं समारभेत् पुनरपि अवलिपन् पश्चात् कर्म कुर्यात्, अथ भिक्षूणां पूर्वं दृष्टा (एषा प्रतिज्ञा एष हेतुरेतत्कारणमयमुपदेशः) यत् तथा प्रकारं मृत्तिकावलिप्तं अशन वा लाभेसति- ( न प्रतिगृण्हीयात् ) स भिक्षु० अथ यत्० अशनं वा ४ पृथ्वीकाय प्रतिष्ठित तथाप्रकारं अशनं वा ४ अप्रासुकम्। स भिक्षु यत्० अशनं वा ४ अपकाय प्रतिष्ठितं चैव, एवं अग्निकाय प्रतिष्ठित लाभे० केवली० असयतः भिक्षु० प्रतिज्ञया० अग्नि उत्सिच्य निषिच्य अवहृत्य आहृत्य दद्यात्। अथ भिक्षूणा यावत् न प्रतिगृण्हीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी गृहपति कुल मे प्रविष्ट होने पर। से जं०—यदि यह जाने कि। असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार। मट्टिया उलित्तं—मिट्टी से लिप्त वर्तन में है, तो। तहप्पगारं—इस प्रकार के। असण वा—अशनादिक चतुर्विध आहार के। लाभे स०—मिलने पर भी साधु उसे ग्रहण न करे। केवली०—केवली भगवान कहते है कि। अस्सजए—असयत-गृहस्थ। भि०—भिक्षु—साधु के लिए। मट्टिओलित्तं—मिट्टी से लिप्त भाजन मे रखा हुआ। असण वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार, उसे-अर्थात् भाजन को। उब्भिंदमाणं—उद्भेदन करता हुआ। पुढविकायं—पृथ्वीकाय के जीवो का। समारंभेज्जा— समारम्भ करता है। तह—तथा। तेउवाउवणस्सइतसकायं— अग्नि, वायु,

वनस्पति और त्रस काय के जीवों का। समारभिज्ज.—समारम्भ करता है। पुणरवि—फिर। उल्लिपमाणे—उस भाजन को शेष द्रव्य की रक्षा के लिए लेपन करता हुआ। पच्छाकम्मं करिज्जा—पश्चात् कर्म करता है। अह—अथवा। भिक्खूण—भिक्षुओं—साधुओं को। पुव्वो०—पूर्वोपदिष्ट प्रतिज्ञा आदि है। जाव—यावत्। तहप्पगारं—इस प्रकार का। मट्टिओलित्त—मिट्टी से अवलिप्त। असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार है। लाभे०—मिलने पर साधु उसे ग्रहण न करे।

से—वह। भिक्खू—साधु या साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से जं०—यदि इस प्रकार जाने कि। असण वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। पुढविकाय पइट्ठिय—सचित्त पृथ्वी पर प्रतिष्ठित—रखा हुआ है। तहप्पगार—उस प्रकार के। असण वा—अशनादिक चतुर्विध आहार को। अफासुय०—अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

से भिक्खू—वह साधु या साध्वी। जं—जो यह जाने कि। असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। आउकाय पइट्ठिय चेव—सचित्त पानी पर रखा हुआ है तो उसे भी पूर्व की भांति अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। एवं—इसी प्रकार। अगणिकाय पइट्ठिय—अग्नि-काय पर प्रतिष्ठित—रखे हुए आहार को भी अप्रासुक जानकर। लाभे०—मिलने पर भी उसे ग्रहण न करे। केवली०—केवली भगवान कहते हैं। अस्सजए—असंयत—गृहस्थ। भि०—भिक्षु के लिए। अगणिं—अग्नि में। उसक्किय—ईन्धन डाले। निस्सक्किय—अथवा प्रज्वलित अग्नि में से ईन्धन निकाले। ओहरिय—अग्नि पर रखे हुए भाजन को नीचे उतारे। आहट्टु—इस प्रकार आहार लाकर। दलइज्जा—साधु को दे। अह—अथवा। भिक्खूणं०—भिक्षुओं को पूर्वोपदिष्ट प्रतिज्ञा है। जाव—यावत्। नो पडि०—वह उसे ग्रहण न करे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी भिक्षा के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि यह देखे कि अशनादि चतुर्विध आहार मिट्टी से लीपे हुए वर्तन में स्थित है, इस प्रकार के अशनादि चतुर्विध आहार को, मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। क्योंकि भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। इसका कारण यह है कि गृहस्थ, भिक्षु के लिए मिट्टी से लिप्त अशनादि के भाजन का उद्भेदन करता हुआ पृथ्वीकाय का समारम्भ करता है, तथा अप्—पानी, तेज—अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय का समारम्भ करता है, फिर शेष द्रव्य की रक्षा के लिए उस बर्तन का पुनः लेपन करके पश्चात् कर्म करता है, इसलिए भिक्षुओं को तीर्थंकर आदि

ने पहले ही कह दिया है कि वे मिट्टी से लिप्त बर्तन में रखे हुए अशनादि को ग्रहण न करे। तथा गृहपति कुल मे प्रविष्ट हुआ भिक्षु यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार सचित्त मिट्टी पर रखा हुआ है तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे।

वह भिक्षु यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार अप्काय पर रखा हुआ है तो उसे भी अप्रासुक जान कर स्वीकार न करे। इसी प्रकार अग्निकाय पर प्रतिष्ठित अशनादि चतुर्विध आहार को भी अप्रासुक जानकर उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। केवली भगवान कहते है कि यदि गृहस्थ भिक्षु के निमित्त अग्नि में ईन्धन डालकर अथवा प्रज्वलित अग्नि मे से ईन्धन निकाल कर या अग्नि पर से भोजन को उतार कर, इस प्रकार से आहार लाकर दे तो साधु ऐसे आहार को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मिट्टी के लेप से बन्द किए गए खाद्य पदार्थ के बर्तन में से उक्त लेप को तोड़कर गृहस्थ कोई पदार्थ दे तो साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे पृथ्वीकाय की एवं उसके साथ अन्य अप्कायिक आदि जीवों की हिंसा होगी और उस बर्तन में अवशिष्ट पदार्थ की सुरक्षा के लिए उस पर पुन: मिट्टी का लेप लगाने के लिए नया आरम्भ करना होगा। इस तरह पश्चात कर्म दोष भी लगेगा। इसी तरह सचित्त पृथ्वी, पानी एवं अग्नि पर रखा हुआ आहार भी साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ अग्नि पर रखे हुए बर्तन को उतारते हुए या ऐसा ही कोई अन्य अग्नि सम्बन्धी आरम्भ करते हुए साधु को आहार दे तो उस आहार को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिससे छः काय एवं ६ में से किसी भी एक कायिक जीवों की हिंसा होती हो तो ऐसा आहार साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अब वायुकाय की यतना के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा २ जाव से जं० असणं वा ४ अच्चुसिणं, असंजए भि० सुप्पेण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा**

पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फुमिज्ज वा वीइज्ज वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! मा एतं तुमं असणं वा अच्चुसिणं सुप्पेण वा जाव फमाहि वा वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दाउ, एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सुप्पेण वा जाव बीइत्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं वा नो पडि० ॥३६॥

छाया—स भिक्षुर्वा २ अथ यत्० अशन वा० अत्युष्ण असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया सूर्पेण वा वीजनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभगेन वा बर्हेण वा (पिच्छेण वा) बर्हकलापेन वा (पिच्छहस्तेन वा) चेलेनवस्त्रेण वा चेलकर्णेन-वस्त्र कर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा फूत्कुर्याद् वा बीजयेद् वा, स पूर्वमेव आलोकयेद्—(आलोक्य) आयुष्मन्निति वा भगिनि ! इति वा मैवं त्वं अशन वा ४ अत्युष्णं सूर्पेण वा यावत् फूत्कुरु बीजय वा, अभिकाङ्क्षसि मे दातु एवमेव ददस्व, स तस्यैव वदतः परः सूर्पेण वा यावत् बीजयित्वा आहृत्य दद्यात् तथाप्रकार अशनं वा ४ अप्रासुक न प्रतिगृह्णीयात् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु या साध्वी, गृहपति कुल मे प्रवेश करने पर । से जं—यदि यह जाने कि । असण वा—अशनादिक चतुर्विध आहार । अच्चुसिणं—अत्युष्ण है और उसे । असंजए—गृहस्थ । भिक्खुपडियाए—साधु के निमित्त शीतल करने के लिए । सुप्पेण वा—छाज से । विहुयणेण वा—अथवा पंखे से । तालियंटेण वा—ताल पत्र से । पत्तेण वा—अथवा पत्र से । (पत्त भंगेण वा—खजूर आदि वृक्ष के पत्र खण्ड से ।) साहाए वा—शाखा से । साहाभंगेण वा—शाखा के खण्ड से । पिहुणेण वा—अथवा मयूर पिच्छ से । पिहुण हत्थेण वा—मयूर पिच्छ से बने हुए पखे से । चेलेण वा—अथवा वस्त्र से । चेलकण्णेण वा—वस्त्र

खण्ड से। हत्थेण वा—हाथ से। मुहेण वा—अथवा मुख से। फुमिज्ज वा—मुख की वायु से शीतल करे। वीइज्ज वा—पखे आदि से शीतल करे तब। से—वह–साधु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—ध्यान देकर देखे और विचार करे, विचार करके उसके प्रति कहे। आउसोत्ति वा—हे आयुष्मन्!, गृहस्थ! अथवा। भइणित्ति वा—हे भगिनि–हे बहिन! तुम—तू। एत—इस। अच्चुसिणं—अत्युष्ण–गर्म। असणं वा ४—अशनादिक आहार को। सुप्पेण—सूर्प—छाज से। जाव—यावत्। फुमाहि—मुख की वायु से अथवा। मा बीयाहि—पखे की वायु से ठण्डा मत करो! यदि तुम। मे—मुझे। दाउ—देना। अभिकखसि—चाहती हो तो। एमेव—इसी तरह–बिना शीतल किए ही। दलयाहि—दे दो। से—वह। परो—गृहस्थ। णेवं वदन्तस्स—इस प्रकार बोलते हुए उस साधु को यदि। सुप्पेण वा—शूर्प और व्यजनादि से। जाव—यावत्। वीइत्ता—शीतल करके। आहट्टु—लाकर। दलइज्जा—दे तो। तहप्पगारं—इस प्रकार के। असण वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार को। अफासुयं वा—अप्रासुक जान कर। नो पडिगा०—ग्रहण न करे।

मूलार्थ—आहार के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर यदि साधु साध्वी यह देखे कि, गृहस्थ साधु को देने के लिए अत्युष्ण अशनादिक चतुर्विध आहार को शूर्प से, पखे से, ताड पत्र से, शाखा से, शाखा खड से मयूरपिच्छ से, मयूर पिच्छ के पंखे से, वस्त्र से, वस्त्र खड से, हाथ से अथवा मुख से फूक मार कर या पखे आदि की हवा से ठडा करके देने लगे तब वह भिक्षु उस गृहस्थ को कहे कि हे आयुष्मन्-गृहस्थ! अथवा हे आयुष्मति बहिन! तुम इस उष्ण आहार को इस प्रकार पखे आदि से ठडा मत करो। यदि तुम मुझे देना चाहती हो तो ऐसे ही दे दो। साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ, उसे पखे आदि से ठंडा करके दे तो साधु उस आहार को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ उष्ण पदार्थ को पंखे आदि से ठण्डा करके देने का प्रयत्न करे तो साधु उसे ऐसा करने से इन्कार करदे। वह स्पष्ट कहे कि हमारे लिए पंखे आदि से किसी भी पदार्थ को ठण्डा करने की आवश्यकता नहीं है। इस पर भी यदि वह गृहस्थ साधु की बात को न मानकर उक्त उष्ण पदार्थ को पंखे आदि से ठण्डा करके दे तो साधु को उस आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस तरह की क्रिया से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।

अब वनस्पति काय की यतना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ वणस्सइ कायपइट्ठियं तहप्पगारं असणं वा ४ वण० लाभे संते नो-पडि०। एवं तसकाय वि ॥४०॥

छाया—स भिक्षुर्वा २ अथ यत् अशनं वा ४ वनस्पतिकायप्रतिष्ठित तथाप्रकारं अशनं वा ४ वन० लाभे सति न० प्रति०। एवं त्रसकायमपि।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट होने पर। से—वह। ज—यदि इस प्रकार जाने कि। असणं वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार। वणस्सकायपइट्ठिय—वनस्पति काय पर रखा हुआ है तो। तहप्पगार—इस प्रकार के वण०—वनस्पति काय पर प्रतिष्ठित। असण वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार को। लाने ससे—मिलने पर भी। नो पडि०—साधु ग्रहण न करे। एवं तसकाय वि—इसी प्रकार त्रसकाय के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

मूलार्थ—साधु या साध्वी, भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करते हुए यदि यह देखे कि गृहस्थ के वहां अन्नादि चतुर्विध आहार वनस्पति काय पर रखा हुआ है, तो ऐसे वनस्पतिकाय पर प्रतिष्ठित अशनादि को साधु प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे। इसी प्रकार त्रसकाय के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर में आहार वनस्पति या त्रस प्राणी ( द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों ) पर रखा हो या वनस्पति आदि खाद्य पदार्थों पर रखी हो तो साधु को उस आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि साधु के निमित्त स्थावर एवं त्रस किसी भी प्राणी को कष्ट होता हो तो साधु को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

सूत्रकार ने आहार के अन्य १ दोषों का अन्यत्र वर्णन किया है और वृत्तिकार

ने उनका प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में ही उल्लेख कर दिया है।❀

आहार की तरह पानी भी जीवन के लिए आवश्यक है और नदी, तालाब, कुंएं आदि का जल सचित्त होता है। अतः साधु को कैसा पानी ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा तंजहा—उस्सेइमं वा १ संसेइमं वा २ चाउलोदगं वा ३ अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाधोयं अणंबिलं अव्वुक्कंतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा अह पुण एवं जाणिज्जा चिराधोयं अंबिलं वुक्कंतं परिणयं विद्धत्थं फासुयं पडिगाहिज्जा। से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा—तिलोदगं वा ४ तुसोदगं वा ५ जवोदगं वा ६ आयामं वा ७ सोवीरं वा ८ सुद्धवियडं वा ९ अन्नयरं वा तहप्पगारं वा पाणगजायं पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा! भइणित्ति वा! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पाण-**

---

❀ अत्र च वनस्पति काय प्रतिष्ठितमित्यादिना निक्षिप्ताख्या एषणादोषोऽभिहित', एवमन्येऽप्येषणादोषायथासम्भवं सूत्रेष्वेवायोज्या.। ते चामी—

'सकिय १, मक्खिय २, निक्खित्त ३, पिहिय ४, साहरिय ५, दायगु ६ म्मी से ७, अपरिणय ८, लित्त ९, छड्डिय १०, एसणा दोसो दस हवंति १०।॥१॥ तत्र शकितमाधाकर्मादिना १-म्रक्षितमुदकादिना २ निक्षिप्त पृथिवी कायादौ ३ पिहित बीजपूरकादिना ४ साहरियति-मात्रकादेस्तुषाद्यदेयमन्यत्र सचित्त पृथिव्यादौ सहृत्य तेन मात्रकादिना यद् ददाति तत् संहृत-मित्युच्यते ५ दायगत्ति—दाताबालवृद्धाद्ययोग्यः ६ उन्मिश्र—सचित्त मिश्रम् ७ अपरिणतमिति—यद्देय न सम्यगचित्तीभूतं दातृग्राहकयोर्वा न सम्यग् भावोपेतं ८ लिप्तं-वसादिना। ९ छाड्डयंति परिशाटवदि १० त्येषणा दोषा.।

—आचाराङ्ग वृत्ति।

गजायं? से सेवं वयंतस्स परो वइज्जा आउसंतो समणा! तुमं चेवेयं पाणगजायं पडिग्गहेण वा उस्सिंचिया णं उयत्तिया णं गिण्हाहि, तहप्पगार पाणगजायं सयं वा गिण्हिज्जा परो वा से दिज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहिज्जा ॥४१॥

छाया—स भिक्षुर्वा २ अथ यत् पुन पानकजात जानीयात् तद् यथा-उत्स्वेदितं वा १ सस्वेदित वा २ तन्दुलोदक वा ३ अन्यतरद् वा तथाप्रकार पानकजातं अधुना धौत अनम्ल अव्युत्क्रान्तमपरिणतमविध्वस्तमप्रासुक यावन्नो प्रतिगृण्हीयात्। अथ पुनरेवं जानीयात्, चिरधौतं, अम्ल व्युत्क्रान्तं परिणत ध्वस्त प्रासुक प्रतिगृण्हीयात्। स भिक्षुर्वा० अथ यत् पुनः पानक-जात जानीयात्, तद्यथा-तिलोदक वा ४ तुषोदकं वा ५ यवोदक वा ६ आचाम्ल वा ७ सौवीरं वा ८ शुद्धविकटं वा ९ अन्यतरत् वा तथाप्रकारं वा पानकजातं पूर्वमेवालोचयेत्-आयुष्मन्! इति वा, भगिनि! इति वा दास्यसि मे इतोऽन्यतरत् पानकजातम्? अथ तस्यैव वदत. परो वदेत्—आयुष्मन् श्रमण! त्व चैवेद पानकजातं पतद्ग्रहेण वा उत्सिच्य अपवृत्य गृहाण, तथाप्रकार पानकजात स्वय वा गृण्हीयात् परो वा तस्मै दद्यात्, प्रासुक लाभे सति न प्रतिगृण्हीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी जल के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर। से जं पुण—फिर वह। पाणगजाय—पानी की जाति को—पानी के भेदो को। जाणिज्जा—जाने। तजहा—जैसे कि। उस्सेइम वा—चूर्ण से लिप्त वर्तन का धोवन, अथवा। ससेइमं वा—तिल आदि का धोवन, अथवा जिसमें पालक आदि शाक-भाजी को उबाला गया है वह धोवन या चावलो का ओसामन। चाउलोदग वा—चावलो का धोवन या। अन्न यर वा—अन्य कोई। तहप्पगार—इसी प्रकार का। पाणगजाय—प्रासुक धोवन आदि। अहुणा-धोय—तत्काल का हो। अणंबिल—जिससे अभी तक उसका स्वाद परिवर्तित नही हुआ है, वह। अव्वुक्कत—अपने रस मे अतिक्रान्त नही हुआ है। अपरिणय—वर्णादि से परिणत नही हुआ

है। अविद्धत्थं—जिसके जीव शस्त्र परिणत नहीं हुए हैं। अफासुय—उसे अप्रासुक जानकर। जाव—यावत् मिलने पर भी। नो पडिग्गाहिज्जा—साधु उसे ग्रहण न करे। अह—अथवा। पुण—फिर। एव—इस प्रकार। जाणिज्जा—जाने कि। चिराधोय—जो धोवन चिर काल का है। अंबिल—जिसका स्वाद बदल गया है। वुक्कत—अन्य रस को प्राप्त हो गया-अचित्त हो गया। परिणय—जिसका वर्णादि बदल गया है। विद्धत्थं—शस्त्र परिणत हो गया है। फासुय—उसे प्रासुक जानकर। पडिगाहिज्जा—साधु ग्रहण करे। से—वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी। से—अथ। ज—जो। पुण—पुन। पाणगजाय—पानी के सम्बन्ध मे यह। जाणिज्जा—जाने। तजहा—जैसे कि। तिलोदग वा—तिलो का धोवन। तुसोदग वा—अथवा तुप का धोवन। जवोदग वा—अथवा यवो का धोवन। आयामग वा—उबले हुए चावलो का धोवन। सोवीरं वा—कांजी के भाजन का धोवन। सुद्धवियड वा—उष्ण तथा प्रासुक पानी। अन्नयर वा—या अन्य कोई। तहप्पगार—इसी प्रकार के। पाणगजायं—अन्य अचित्त पानी का। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—अवलोकन करे-देखे और देखकर कहे। आउसोत्ति वा—आयुष्मन्-गृहपते! भइणित्ति वा—हे भगिनि! हे बहन! इत्तो—इसमें से। अन्नयरं—किसी एक तरह के। पाणगजाय—पानी को। मे—मुझे। दाहिसि—देगी? से—वह गृहपति। से—उस साधु को। एव—इस प्रकार। वयन्तस्स—बोलते हुए को। परा—गृहस्थ। वइज्जा—कहे। आउसतो—आयुष्मन्। समणा—श्रमण! तुम चेवेयं—तुम इसी। पाणगजायं—जल जात को। पडिग्गहेण वा—अपने पात्र मे। उस्सिचिया—नीचे उतार कर-उलीचकर। ण—वाक्यालंकार मे है। उयत्तिया—पानी को निकाल कर। ण—वाक्यालकार मे है। गिण्हाहि—पानी के बर्तन को पकडो लो। तहप्पगारं—इस प्रकार के। पाणगजायं—अचित्त पानी को। सयं वा—साधु स्वय ही। गिण्हिज्जा—ग्रहण करे। वा—अथवा। परो—यदि गृहस्थ। से—उस साधु को। दिज्जा—दे तो। फासुय—उसे प्रासुक जानकर। लाभेसते—मिलने पर। पडिगाहिज्जा—साधु ग्रहण कर ले।

मूलार्थ—साधु या साध्वी गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर पानी के भेदो को जाने जैसे कि— चूर्ण से लिप्त बर्तन का धोवन, अथवा तिल आदि का धोवन, चावल का धोवन अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई धोवन तत्काल का किया हुआ हो। जिसका कि स्वाद चलित नही हुआ हो, रस अतिक्रान्त नहीं हुआ हो। वर्ण आदि का परिणमन नही हुआ हो और शस्त्र भी परिणत नही हुआ हो तो ऐसे पानी के मिलने पर भी उसे अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। यदि पुन वह इस प्रकार

जाने कि यह धोवन बहुत देर का बनाया हुआ है और इसका स्वाद बदल गया है, रस का अतिक्रमण हो गया है, वर्ण आदि परिणत हो गया है और शस्त्र भी परिणत हो गया है तो ऐसे पानी को प्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण करले।

फिर वह साधु या साध्वी गृहस्थ के घर मे जलार्थ प्रविष्ट होने पर जल के विषय मे इस प्रकार जाने, यथा—तिलो का धोवन, तुषो का धोवन, यवो का धोवन तथा उबले हुए चावलो का जल, काजो के बर्तन का धोवन एवं प्रासुक तथा उष्ण जल अथवा इसी प्रकार का अन्य जल इनको पहले ही देखकर साधु गृहपति से कहे—आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा - [स्त्री हो तो] हे भगिनि! क्या मुझे इन जलो मे से किसी जल को दोगी? तब वह गृहस्थ, साधु के इस प्रकार कहने पर यदि कहे कि आयुष्मन् श्रमण! तुम इस जल के पात्र मे से स्वयं उलीचकर और नितार कर पानी ले लो। गृहस्थ के इस प्रकार कहने पर साधु स्वयं ले ले अथवा गृहस्थ के देने पर उसे प्रासुक जान कर ग्रहण कर ले।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को वह पानी ग्रहण करना चाहिए जो शस्त्र परिणत हो गया है और जिसका वर्ण, गंध एवं रस बदल गया है। अत बर्तन आदि का धोया हुआ प्रासुक पानी यदि किसी गृहस्थ के घर मे प्राप्त हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार निर्दोष एव एषणीय प्रासुक जल गृहस्थ की आज्ञा से स्वयं भी ले सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कभी गृहस्थ पानी का भरा हुआ वर्तन उठाने मे असमर्थ है और वह आज्ञा देता है तो साधु उस प्रासुक एवं एषणीय पानी को स्वयं ले सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में ९ तरह के पानी के नामों का उल्लेख किया गया है—१-आटे के वर्तनों का धोया हुआ धोवन (पानी)। २-तिलों का धोया हुआ पानी, ३-चावलों का धोया हुआ पानी, ४-जिस पानी मे उष्ण पदार्थ-शाक आदि ठंडे किए गए हों, वह पानी, ५-तुषों का धोया हुआ पानी, ६-यवों का धोया हुआ पानी, ७-उबले हुए चावलों का निकाला हुआ पानी, ८-कांजी के वर्तनों का धोया हुआ पानी, ९-उष्ण—गर्म

पानी। इसके आगे 'तहप्पगारं' शब्द से यह सूचित किया गया है कि इस तरह के शस्त्र से जिस पानी का वर्ण, गन्ध, रस बदल गया हो वह पानी भी साधु ग्रहण कर सकता है। जैसे— द्राक्षा का पानी, राख से मांजे हुए बर्तनों का धोया हुआ पानी आदि भी प्रासुक एवं ग्राह्य है।❀

इससे स्पष्ट हो गया कि साधु शस्त्र परिणत प्रासुक जल ग्रहण कर सकता है। यदि निर्दोष बर्तन आदि का धोया हुआ या गर्म पानी प्राप्त होता हो तो साधु उसे स्वीकार कर सकता है। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगं जाणिज्जा-- अणंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए उद्धट्टु २ निक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा**

---

❀ 'उस्सेइम' और 'ससेइम'। इन दो पदो की व्याख्या वृत्तिकार एव अन्य आगम टीकाकार तथा कोषकारो ने इस प्रकार की है—

'उस्सेइम वेति' पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकम्। 'ससेइम वेति' तिलधावनोदक, यदि वाऽरणिकादिसंस्विन्नधावनोदकम्' —आचाराङ्ग वृत्ति।

'उत्स्वेदेन निर्वृत्त मुत्स्वेदिम—येन व्रीह्यादि पिष्टं सुराद्यर्थं उत्स्वेद्यते, तथा ससेकेन निर्वृत्त-मति ,संसेकिम' अरणिकादि पत्र शाकमुत्काल्य येन शालि जलेन संसिच्यतेतदिति।

— स्थानाग सूत्र, ३, ३ वृत्ति (अभयदेव सूरि)

उस्सेइमं— (उत्स्वेदिम) आटा मे मिश्रित पानी आटा धोया जल, (कप्प, ठा० ३।३)

—प्राकृत महार्णव पृ० २३८।

संसेइम—(संसेकिम) संसेक से बना हुआ। नि० चू० १५।

उबाली हुई भाजी जिस ठण्डे जल से सीची जाए वह पानी। ठा० ३।३ पत्र १४ कप्प।

तिलका धोन। आचाराग २।८४।

पिष्टोदक आटे का धोन। दस० ५।१।७५।

उस्सेइम— न (उत्स्वेदिम) आटे का धोवन। पृ० ३१३।

ससेइम— तिलादि धान्य के धोवन का पानी, जिसमें पत्र शाक आदि बाफने मे आते हैं या धान्य ओसावन के काम में आता है वह पानी। —अर्धमागधी कोष, पृ० ३१३।

सकसाएण वा मत्तेण वा सीओदगेण वा संभोइत्ता आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं० एयं खलु सा-- मग्गियं० त्तिबेमि ॥४२॥

छाया— स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः पानकं जानीयात्— अनन्तर्हितायां पृथिव्यां यावत् सन्तानके, उद्धृत्य २ निक्षिप्तं स्यात्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उदकार्द्रेण वा सस्निग्धेन वा सकषायेण वा मात्रेण वा शीतोदकेन वा सं-भुक्त्वा-मिश्रयित्वा आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं पानकजातम् अप्रासुकं० एतत् खलु सामग्र्यम् ।

पदार्थ—से- वह । भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर । से—वह । ज—जो । पुण—फिर । पाणगजाय—अचित्त पानी के भेदोपभेद को । जाणिज्जा—जाने यथा । अणंतरहियाए पुढवीए—सचित्त पृथ्वी पर । जाव—यावत् । संताणए—सन्तानक-मकडी के जाले आदि पर । उद्धट्टु २—अन्य भाजन से निकाल कर २ । निक्खित्ते सिया-उन सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ हो । असंजए – असंयत–गृहस्थ । भिक्खुपडियाए– साधु की प्रतिज्ञा से — साधु के लिए । उदउल्लेण वा — जल टपकते हुए हाथो से । ससिणिद्धेण वा — अथवा गीले हाथो से । सकसाएण वा मत्तेण वा – अथवा सचित्त पृथ्वी आदि से अव- गुंठित बर्तन से, अथवा । सीओदगेण वा — सचित्त जल से । संभोइत्ता — मिश्रित-मिला करके । आहट्टु — लाकर । दलइज्जा — दे तो साधु । तहप्पगारं — इस प्रकार के । पाणगजायं — जल को । अफासुयं — अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे । एयं – यह । खलु — निश्चय ही । सामग्गियं – साधुत्व है अर्थात् साधु का समग्र आचार है । त्तिबेमि — ऐसा मैं कहता हू ।

मूलार्थ—जल के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर साधु या साध्वी जल के सम्बन्ध मे यदि यह जान ले कि गृहस्थ ने प्रासुक जल को सचित्त पृथ्वी से लेकर मकडी आदि के जालो से युक्त पदार्थ पर रखा है या उसने उसे अन्य सचित्त पदार्थ से युक्त बर्तन से निकाल कर रखा है या वह उन हाथो से दे रहा है जिससे सचित्त जल टपक रहा है या उसके हाथ जल से भीगे हुए है ऐसे हाथो से, या सचित्त पृथ्वी आदि से

युक्त बर्तन से या प्रासुक जल के साथ सचित्त जल मिलाकर देवे तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण न करे। यही सयमशील मुनि का समग्र आचार है। ऐसा मै कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर पर प्रासुक पानी सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ है, या उसमें सचित्त जल मिलाया जा रहा है, या उस सचित्त जल से गीले हाथों से या सचित्त पृथ्वी या रज आदि से भरे हुए हाथों से दे रहा है, तो साधु को वह पानी नहीं लेना चाहिए। क्योंकि उससे अन्य जीवों की हिंसा होती है। अत साधु को वही प्रासुक पानी ग्रहण करना चाहिए जो सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि पर न रखा हो और गृहस्थ भी इन पदार्थों से युक्त न हो।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

सकसाएण वा मत्तेण वा सीओदगेण वा संभोइत्ता आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं० एयं खलु सामग्गियं० त्तिबेमि ॥४२॥

छाया— स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः पानकं जानीयात्— अनन्तर्हितायां पृथिव्यां यावत् सन्तानके, उद्धृत्य २ निक्षिप्तं स्यात्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उदकार्द्रेण वा सस्निग्धेन वा सकषायेण वा मात्रेण वा शीतोदकेन वा संभुक्त्वा-मिश्रयित्वा आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं पानकजातम् अप्रासुकं० एतत् खलु सामग्र्यम्।

पदार्थ—से- वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से—वह। जं—जो। पुण—फिर। पाणगजायं—अचित्त पानी के भेदोपभेद को। जाणिज्जा—जाने यथा। अणतरहियाए पुढवीए—सचित्त पृथ्वी पर। जाव—यावत्। संताणए—सन्तानक-मकडी के जाले आदि पर। उद्धट्टु २—अन्य भाजन से निकाल कर २। निक्खित्ते सिया—उन सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ हो। असंजए—असंयत-गृहस्थ। भिक्खुपडियाए—साधु की प्रतिज्ञा से—साधु के लिए। उदउल्लेण वा—जल टपकते हुए हाथों से। ससिणिद्धेण वा—अथवा गीले हाथों से। सकसाएण वा मत्तेण वा—अथवा सचित्त पृथ्वी आदि से अवगुंठित बर्तन से, अथवा। सीओदगेण वा—सचित्त जल से। संभोइत्ता—मिश्रित-मिला करके। आहट्टु—लाकर। दलइज्जा—दे तो साधु। तहप्पगारं—इस प्रकार के। पाणगजायं—जल को। अफासुयं—अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। एयं—यह। खलु—निश्चय ही। सामग्गियं—साधुत्व है अर्थात् साधु का समग्र आचार है। त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जल के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी जल के सम्बन्ध में यदि यह जान ले कि गृहस्थ ने प्रासुक जल को सचित्त पृथ्वी से लेकर मकडी आदि के जालों से युक्त पदार्थ पर रखा है या उसने उसे अन्य सचित्त पदार्थ से युक्त बर्तन से निकाल कर रखा है या वह उन हाथों से दे रहा है जिससे सचित्त जल टपक रहा है या उसके हाथ जल से भीगे हुए हैं ऐसे हाथों से, या सचित्त पृथ्वी आदि से

युक्त बर्तन से या प्रासुक जल के साथ सचित्त जल मिलाकर देवे तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण न करे। यही सयम-शील मुनि का समग्र आचार है। ऐसा मै कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर पर प्रासुक पानी सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ है, या उसमें सचित्त जल मिलाया जा रहा है, या उस सचित्त जल से गीले हाथों से या सचित्त पृथ्वी या रज आदि से भरे हुए हाथों से दे रहा है, तो साधु को वह पानी नहीं लेना चाहिए। क्योंकि उससे अन्य जीवों की हिंसा होती है। अत साधु को वही प्रासुक पानी ग्रहण करना चाहिए जो सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि पर न रखा हो और गृहस्थ भी इन पदार्थों से युक्त न हो।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

सकसाएण वा मत्तेण वा सीओदगेण वा संभोइत्ता आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पाणगजाय अफासुयं० एयं खलु सामग्गियं० त्तिबेमि ॥४२॥

छाया— स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः पानक जानीयात्— अनन्तर्हितायां पृथिव्यां यावत् सन्तानके, उद्धृत्य २ निक्षिप्त स्यात्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उदकार्द्रेण वा सस्निग्धेन वा सकषायेण वा मात्रेण वा शीतोदकेन वा स-भुक्त्वा-मिश्रयित्वा आहृत्य दद्यात् तथाप्रकार पानकजातम् अप्रासुकं० एतत् खलु सामग्र्यम्।

पदार्थ—से- वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से—वह। ज—जो। पुण—फिर। पाणगजय'—अचित्त पानी के भेदोपभेद को। जाणिज्जा—जाने यथा। अणतरहियाए पुढवीए—सचित्त पृथ्वी पर। जाव—यावत्। संताणए—सन्तानक-मकडी के जाले आदि पर। उद्धट्टु २—अन्य भाजन से निकाल कर २। निक्खित्ते सिया-उन सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ हो। असजए – असयत-गृहस्थ। भिक्खुपडियाए-साधु की प्रतिज्ञा से – साधु के लिए। उदउल्लेण वा – जल टपकते हुए हाथो से। ससिणिद्धेण वा – अथवा गीले हाथो से। सकसाएण वा मत्तेण वा – अथवा सचित्त पृथ्वी आदि से अवगुंठित वर्तन से, अथवा। सीओदगेण वा – सचित्त जल से। सभोइत्ता – मिश्रित-मिला करके। आहट्टु – लाकर। दलइज्जा – दे तो साधु। तहप्पगार – इस प्रकार के। पाणगजाय – जल को। अफासुय – अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। एय – यह। खलु – निश्चय ही। सामग्गिय – साधुत्व है अर्थात् साधु का समग्र आचार है। त्तिबेमि – ऐसा मैं कहता हू।

मूलार्थ—जल के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर साधु या साध्वी जल के सम्बन्ध मे यदि यह जान ले कि गृहस्थ ने प्रासुक जल को सचित्त पृथ्वी से लेकर मकडी आदि के जालों से युक्त पदार्थ पर रखा है या उसने उसे अन्य सचित्त पदार्थ से युक्त बर्तन से निकाल कर रखा है या वह उन हाथों से दे रहा है जिससे सचित्त जल टपक रहा है या उसके हाथ जल से भीगे हुए है ऐसे हाथो से, या सचित्त पृथ्वी आदि से

युक्त बर्तन से या प्रासुक जल के साथ सचित्त जल मिलाकर देवे तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण न करे। यही सयमशील मुनि का समग्र आचार है। ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर पर प्रासुक पानी सचित्त पृथ्वी आदि पर रखा हुआ है, या उसमें सचित्त जल मिलाया जा रहा है, या उस सचित्त जल से गीले हाथों से या सचित्त पृथ्वी या रज आदि से भरे हुए हाथों से दे रहा है, तो साधु को वह पानी नहीं लेना चाहिए। क्योंकि उससे अन्य जीवों की हिंसा होती है। अत साधु को वही प्रासुक पानी ग्रहण करना चाहिए जो सचित्त पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति आदि पर न रखा हो और गृहस्थ भी इन पदार्थों से युक्त न हो।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## अष्टम उद्देशक

सप्तम उद्देशक के अन्त में प्रासुक पानी के विषय मे बताया गया है और प्रस्तुत उद्देशक में भी इसी विषय का और विस्तार से विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा तंजहा—अंबपाणगं वा १० अंबाडगपाणगं वा ११ कविट्ठ-पाण० १२ माउलिंगपा० १३ मुद्दियापा० १४ दालिमपा० १५ खज्जूरपा० १६ नालियेर पा० १७ करीरपा० १८ कोलपा० १९ आमलपा० २० चिंचापा० २१ अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजातं सअट्ठियं सकणुयं सबीयगं अस्संजए भिक्खू-पडियाए छब्बेण वा दूसेण वा वालगेण वा आविलियाण परि-वीलियाण परिसावियाण आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं पाणगजाय अफा० लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥४३॥

छाया—स भिक्षुर्वा तद् यत् पुनः पानकजातं जानीयात्, तद्यथा—आम्रपानकं वा १० आम्रातकपानकं वा ११ कपित्थपानकं १२ मातुलिंग पानकं १३ मृद्वीकापानक १४ दाडिमपानकं १५ खर्जूरपानक १६ नालिकेरपानक १७ करीरपानकं १८ कोलपानकं [illegible] आमल[illegible]नक २० चिंचापानक २१ अन्यतरत् वा तथाप्रकारं पा[illegible] जात स[illegible] [illegible]कं

सकणुकं सबीजकं असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया छब्बकेण वा दूष्येण वा वालकेन वा आपीड्य परिपीड्य परिस्राव्य आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं पानकजातं अप्रा० लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

पदार्थ—से - वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर। से—वह। पुण—फिर। ज—उस। पाणगजायं—अचित पानी के सम्बन्ध में। जाणिज्जा—जाने। तजहा—जैसे कि। अंबपाणगं वा—आम्र फल का धोवन। अंबाडग पाणग वा—अम्बाडग फल विशेष का धोवन। कविट्ठ पाण०—कपित्थ फल का धोवन। माउलिंग पा०—मातुलिंग का धोवन। मुद्दिया पा०—द्राक्षा का धोवन। दालिमा पा०—अनार का धोवन या रस। खज्जूरपा०—खजूर का धोवन। नालिएर पा०—नारियल का धोवन। करीर पा०—करीर का धोवन। कोल पा०—बदरी फल-बेर का धोवन। आमल पा०—आमले का धोवन। चिंचा पा०—इमली का धोवन-पानी। अन्नयर वा—अन्यतर। तहप्पगार—इसी प्रकार का कोई। पाणगजाय—जल विशेष। स अट्ठियं—अस्थि-गुठली के सहित हो। सकणुयं—वनस्पति छाल के सहित हो। सबीयं—बीज सहित हो और। अस्संजए—असंयत—गृहस्थ। भिक्खुपडियाए—भिक्षु के लिए। छब्बेण वा—छलनी से। दूसेण वा—वस्त्र से अथवा। वालगेण वा - गवादि के बालों से बनी हुई छलनी से। आविलियाण—गुठली आदि को दूर करने के लिए एक बार छानकर। परिवीलियाण—बार-बार छानकर। परिसावियाण—गुठली आदि को निकाल कर। आहट्टु—इस प्रकार से उस धोवन को लाकर। दलइज्जा—दे तो। तहप्पगार—उस प्रकार के। पाणगजाय—जल को। अफा०—अप्रासुक जानकर। लाभे संते—मिलने पर भी। नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में पानी के निमित्त प्रवेश करने पर साधु या साध्वी जल के विषय में इन बातों को जाने। जैसे कि—आम्रफल का पानी, अम्बाडगफल का पानी, कपित्थ फल का पानी, मातुलिंग फल का पानी, द्राक्षा का पानी, अनार का पानी, खजूर का पानी, नारियल का पानी, करीर का पानी, बदरी फल-बेर का पानी, आमले का पानी और इमली का पानी, तथा इसी प्रकार का अन्य पानी, जो कि गुठली सहित, छाल सहित और बीज सहित-बीज के साथ मिश्रित है, उसे यदि गृहस्थ भिक्षु के निमित्त बास की छलनी से, वस्त्र से या बालों की छलनी से, एक बार अथवा अनेक बार छान-कर और उसमें रहे हुए गुठली छाल और बीजादि को छलनी के द्वारा अलग

करके उसे दे तो साधु इस प्रकार के जल को अप्रासुक-जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में २१ प्रकार के प्रासुक पानी का उल्लेख किया गया है। उसमें आम्र फल आदि के धोवन पानी के विषय में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ आम्र आदि को धोने के पश्चात् उस पानी को छान रहा है और उसमें रहे हुए गुठली छाल एवं बीज आदि को निकाल रहा है, तो साधु को उक्त पानी नही लेना चाहिए। क्योंकि वह वनस्पतिकायिक (बीज, गुठली आदि) जीवों से युक्त होने के कारण निर्दोष एवं ग्राह्य नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में 'अस्थि' शब्द गुठली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि आम्र के साथ उसका प्रयोग होने के कारण उसका गुठली अर्थ ही घटित होता है। द्राक्षा की अपेक्षा त्वक्-छाल, अनार आदि की अपेक्षा से बीज शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि आम्र आदि फलों का धोया हुआ पानी एव रस यदि गुठली, बीज आदि से युक्त है और उसे बांस की बनाई गई टोकरी या गाय के बालों की बनाई गई छलनी या अन्य किसी पदार्थ से निर्मित छलनी या वस्त्र आदि से एक बार या एक से अधिक बार छानकर तथा उसमें से गुठली, बीज आदि को निकाल कर दे तो वह पानी या रस साधु के लिए अग्राह्य है। क्योंकि इस तरह का पाना उद्गमादि दोषों से युक्त होता है॥। अतः साधु को ऐसा जल अनेषणीय होने के कारण ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अपने स्थान मे स्थित साधु को भौतिक पदार्थों से किस तरह अनासक्त रहना चाहिए, इस बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

॥ उद्गम के दोष १६ प्रकार के बताए गए हैं—

आहाकम्मुदेसिअ पूतिकम्मे अ मीसजाए अ।
ठवणा पाहुडियाए पाओअरकीअ पामिच्चे॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इअ।
अच्छेज्जे अणिसिट्ठे अज्झोअरए अ सोलसमे॥

— श्री आचाराग सूत्र वृत्ति।

मूलम्– से भिक्खू वा २ आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइगिहेसु वा परियावसहेसु वा अन्नगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा आघाय २ से तत्थ आसायपडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने अहो गंधो २ नो गंधमाघाइज्जा ॥४४॥

छाया – स भिक्षुर्वा २ आगन्त्रगारेषु वा आरामागारेषु वा गृहपतिगृहेषु वा पर्यावसथेषुवा अन्नगन्धान् वा पानगन्धान् वा सुरभिगन्धान् वा आघ्राय २ स तत्र आस्वादनप्रतिज्ञया मूर्छितो गृद्धो ग्रथितोऽध्युपपन्नः (सन्) अहो-गन्धः २ न गन्धं जिघ्रेत् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा० – भिक्षु--साधु अथवा साध्वी । आगंतारेसु वा—धर्मशालाओ मे । आरामागारेस वा – अथवा उद्यान शालाओ मे । गाहावई गिहेसु वा – अथवा गृहस्थो के घरो में । परियावसहेसु वा – अथवा भिक्षुओ के मठो में अवस्थित--ठहरा हुआ हो ता उस समय । अन्न गंधाणि वा – अन्न की गन्ध को । पाण गन्धाणि वा – अथवा पानी की गन्ध का । सुरभिगन्धाणि वा – केसर-कस्तूरी आदि की सुगन्ध को । आघाय २— सूघकर । से – वह भिक्षु । तत्थ – उन सवासित पदार्थों मे । आसायपडियाए – आस्वादन की प्रतिज्ञा मे । मुच्छिए – मूर्छित । गिद्धे – गृद्ध । गढिए—ग्रथित । अज्झोववन्ने – आसक्त होता हुआ । अहोगंधो २—कि यह सुगन्ध कैसी मीठी एवं सुन्दर है ऐसे कहता हुआ । गधं — उस गंध को । नो आघाइज्जा – ग्रहण न करे—सूघे नही ।

मूलार्थ – धर्मशालाओ मे, आरामशालाओ मे, गृहस्थो के घरो मे या परिव्राजको के मठो मे ठहरा हुआ साधु या साध्वी अन्न एवं पानी की तथा सुगन्धित पदार्थो वस्तूरी आदि की गन्ध को सूघ कर उस गन्ध के आस्वादन की इच्छा से उसमे मूर्छित, गृद्धित, ग्रथित और आसक्त होकर कि वाह! क्या ही अच्छी सुगन्धि है, कहता हुआ उस गन्ध का सुवास न ले ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि धर्मशाला में, बगीचे में, गृहस्थ के मकान में, परिव्राजक—सन्यासी के मठ में अथवा किसी भी निर्दोष एवं एषणीय स्थान मे ठहरा हुआ साधु अनासक्त भाव से अपनी साधना मे संलग्न रहे। यदि उक्त स्थानों के पास स्वादिष्ट अन्न एव पानी या अन्य सुवासित पदार्थों की सुहावनी सुवास आती हो तो वहां स्थित साधु उसमें आसक्त होकर उस सुवास को ग्रहण न करे और न यह कहे कि क्या ही मधुर एवं सुहावनी सुवास आ रही है। परन्तु, वह अपने मन आदि योगों को उस ओर से हटाकर अपनी साधना में— स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन—मनन आदि में लगा दे।

अब सूत्रकार फिर से आहार ग्रहण करने के सम्बन्ध में कहते हैं—

मूलम्— से भिक्खू वा २ से जं० सालुयं वा विरालियं वा सासवनालियं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थ-परिणयं अफासु०। से भिक्खू वा० से जं पुण० पिप्पलिं वा पिप्पलिचुएणं वा मिरियं वा मिरियचुएणं वा सिंगबेरं वा सिंगबेरचुएणं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमगं वा असत्थ प०। से भिक्खू वा० से जं पुण पलंबजायं जाणिज्जा. तंजहा— अंब-पलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालप० सुरहि० झिज्झिरिप० सल्ल-रप० अन्नयरं वा तहप्पगारं पलंबजायं आमगं असत्थप०। से भिक्खू२ से जं पुण पवालजायं, जाणिज्जा तंजहा--आसोट्ठपवालं वा निग्गोहप० पिलुंखुप० नियू(पू)रप० सल्लइप० अन्नयरं वा तहप्पगारं पवालजायं आमगं असत्थपरिणयं। से भि० से जं पुण० सरडुयजायं जाणिज्जा, तंजहा— सरडुयं वा कविट्ठसर०

दाडिमसर० बिल्ल स० अन्नयरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं आमं असत्थपरिणयं०। से भिक्खू वा० से जं पु० तंजहा उबरमथुं वा निग्गोह मं० पिलुंखु मं० आसोत्थ मं० अन्नयरं वा तहप्पगारं वा मथुजायं आमयं दुरुक्कं साणुवीयं अफासुयं ॥४५॥

छाया—स भिक्षुर्वा अथ यत्० शालूक वा बिरालिक वा सर्षपनालिक वा अन्यतरद् वा तथाप्रकार आमक अशस्त्रपरिणत अप्रासुकं०। स भिक्षुर्वा अथ यत् पुन. पिप्पली वा पिप्पलीचूर्ण वा मरिच वा मरिचचूर्ण वा शृगबेरं वा शृंगबेरचूर्णं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकार आमक वा अशस्त्रपरिणत। स भिक्षुर्वा० अथ यत् पुनः प्रलम्बजात जानीयात्, तद्यथा—आम्रप्रलम्ब वा अम्बाडग प्रलम्ब वा तालप्रलम्ब वा झिज्झिर प्रलम्बं० सुरभि० शल्ल-की० अन्यतरद् वा तथाप्रकारं प्रलम्बजात आमकं अशस्त्रपरिणतं। स भिक्षुः २ अथ यत् पुनः प्रवाल जात जानीयात्, तद्यथा—अश्वत्थप्रवालं वा न्यग्रोधप्रवालं वा प्लक्षप्र० नियू(पू)र प्र० अन्यतरद् वा तथाप्रकार प्रवाल-जात आमक अशस्त्रपरिणतम्। स भिक्षुर्वा० अथ यत् पुनः सरडुय(अबद्धा-स्थिलम्) जानीयात्, तद्यथा-सरडुय वा कपित्थ सर० दाडिम सर० बिल्व सर० अन्यतरद् वा तथाप्रकारं सरडुय जातं आमक अशस्त्रपरिणतम्। स भिक्षुर्वा अथ यत् पुन. तद्यथा—उदुम्बरमन्थुं वा न्यग्रोधमन्थु वा प्लक्ष-मन्थु वा अश्वत्थ मं० अन्यतरद् वा तथाप्रकार मं० जात आमक दुरुक्कं सानुबीज अप्रासुक०।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल मे प्रवेश करने पर। से—अथ-यदि। जं—जो फिर जाने कि। सालुय वा—जल से उत्पन्न होने वाला कन्द विशेष। विरालियं वा—अथवा स्थल मे उत्पन्न होने वाला कन्द। सासवनालियं वा—सर्षपनालिका कन्द। अन्नयर वा—तथा अन्य। तहप्पगार—इसी प्रकार का कन्द विशेष। आमग—कच्चा। असत्थपरिणयं—जो शस्त्र से परिणत नही हुआ उसे। अफासुय०—अप्रासुक जानकर मिलने पर ग्रहण न करे। से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी गृहपति

कुल मे प्रवेश करने पर। से जं पुण—यदि फिर यह जाने कि। पिप्पलिं वा—पीपल-मघ। पिप्पलिचुण्णं वा—पीपल का चूर्ण। मिरियं वा—अथवा मिरच। मिरियचुण्ण वा—तथा मिर्च का चूर्ण। सिंगबेर वा—अदरक। सिंगबेरचुण्णं वा—अथवा अदरक का चूर्ण। अन्नयर वा—तथा अन्य। तहप्पगार—इसी प्रकार का। आमग वा—कच्चा चूर्ण एव अपरिपक्व पदार्थ। असत्थप०—जिसे शस्त्र ने परिणत नही किया है उसे। अफासुय—अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे। से—वह। भिक्खू०—साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर। से जं पुण—यदि फिर। पलंबजाय—फलो की जाति को। जाणिज्जा—जाने। तंजहा—जैसे कि। अंबपलबं वा—आम्र फल को। अबाडगपलब वा—अम्बाडग फल को। तालप०—ताड के फल को। झिज्झिर प०—लताओ के फल को। सुरहि०—सुरभि-वनस्पति विशेष के फल को। सल्लर प०—शल्य-वनस्पति विशेष के फल को। अन्नयर—तथा अन्य। तहप्पगार—इसी प्रकार के। पलबजाय—प्रलम्ब फल विशेष को। आमग—कच्चा। असत्थप०—जो कि शस्त्र परिणत नही हुआ, ऐसा मिलने पर। अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी गृहस्थ के घर जाने पर। से ज पुण—वह फिर। पवालजाय—प्रवाल जात को। जाणिज्जा—जाने। तंजहा—जैसे कि। आसोट्ठपवालं वा—पीपल वृक्ष के प्रवाल-पत्र। निग्गोह प०—न्यग्रोध-बट वृक्ष के पत्ते। पिलुखु प०—पिप्परी वृक्ष के पत्ते। नियू(पू)रप०—नन्दी वृक्ष के पत्ते। सल्लइ प०—शल्य वृक्ष के पत्ते तथा। अन्नयर—अन्य। तहप्पगारं—इसी प्रकार के। पवालजाय—पत्ते। आमग—कच्चे हैं। असत्थप०—जो शस्त्र परिणत नही हैं तो उन्हे। अफासुय—अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी गृहपति कुल में जाने पर। से ज पुण—वह फिर। सरडुयजाय—सरडु जात—अबद्धास्थि फल जिसमे अभी तक गुठली नही बनी है ऐसे सुकोमल फलो को। जाणिज्जा—जाने। तंजहा—जैसे कि। अंबसरडुयं वा—आम का सुकोमल फल। कविट्ठसर०—कपित्थ का सुकोमल फल। दाडिमसर०—अनार का सुकोमल फल। बिल्ल सर—बिल्व का सुकोमल फल तथा। अन्नयरं—अन्य। तहप्पगार—इसी प्रकार। सरडुयजाय—सुकोमल फलो को जो। आमं—कच्चे है। असत्थप०—जिसको शस्त्र परिणत नही हुआ है, मिलने पर भी अप्रासुक जानकर उसे ग्रहण न करे। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी गृहपति कुल मे प्रविष्ट होने पर। से जं पु०—फिर इस प्रकार जाने। तंजहा—जैसे कि। उंबर मंथुं वा—उदुम्बर फल का चूर्ण। निग्गोह मं—वट वृक्ष के फल का चूर्ण। पिलुखु मं—पिप्परी फल का चूर्ण। आसोत्थमं०—अश्वत्थ पीपल का चूर्ण। अन्नयरं—तथा अन्य। तहप्पगारं—इसी प्रकार का। मथुजायं—मन्थुजात-चूर्ण। आमयं—कच्चा है। दुरुक्कं—थोडा पीसा हुआ है। साणुबीय—जिसका योनि बीज विध्वस्त नही हुआ है तो। अफासुय०—उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहपति के घर मे प्रविष्ट जलज कन्द, और सर्षपनालिका

कन्द तथा इसी प्रकार का अन्य कोई कच्चा कन्द जिसको शस्त्रपरिणत नही हुआ ऐसे कन्द आदि को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट होने पर साधु वा साध्वी पिप्पली, पिप्पली का चूर्ण, मिरच, मिरच का चूर्ण, अदरक, अदरक का चूर्ण, तथा इसी प्रकार का अन्य कोई पदार्थ या चूर्ण, कच्चा और अशस्त्र परिणत-जिसे शस्त्र परिणत नही हुआ मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

गृहपति के घर मे प्रविष्ट साधु या साध्वी प्रलम्बजात फलजात-फल समुदाय को जाने, यथा—आम्रप्रलम्ब आमफल का गुच्छा—फलसामान्य, अम्बाडग फल, ताडफल, लताफल, सुरभि फल, और शल्यकी का फल तथा इसी प्रकार का अन्य कोई प्रलम्बजात कच्चा और जिसे शस्त्र परिणत नही हुआ मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट साधु या साध्वी प्रवालजात-पत्र समुदाय को जाने यथा अश्वत्थ प्रवाल, न्यग्रोध-वट प्रवाल, प्लक्ष प्रवाल, निपूर प्रवाल, नन्दी वृक्ष प्रवाल और शल्यकी प्रवाल तथा इसप्रकार का कोई अन्य प्रवालजात कच्चा अशस्त्रपरिणत जिसे शस्त्रपरिणत नही हुआ, मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

गृहपति के घर मे प्रविष्ट साधु या साध्वी अबद्धास्थि फल—कोमल फल को जाने, जैसे कि—आम्र वृक्ष का कोमल फल, कपित्थ का कोमल फल, अनार का कोमल फल और बिल्व का कोमल फल तथा इसी प्रकार का अन्य कोमल फल जोकि कच्चा और शस्त्र परिणत नही, मिलने पर भी अप्रासुक जान कर साधु को उसे परिग्रहण न करना चाहिए।

गृहस्थी के घर मे प्रविष्ट साधु या साध्वी मन्थ के सम्बंध मे जान-

कारी करे जैसे—उदुम्बर मन्थु-चूर्ण, न्यग्रोधमन्थु, प्लक्षमथु, अश्वत्थ-मन्थु, तथा इसी प्रकार का अन्य मन्थुजात जोकि कच्चा और थोड़ा पोसा हुआ तथा सबोज अर्थात् जिसका कारण-योनि बीज विध्वस्त नही हुआ ऐसे चूर्ण जात को मिलने पर भी अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को अपक्व कन्द-मूल, वनस्पति एवं फल आदि नहीं लेने चाहिएं। यदि कच्ची सब्जी शस्त्रपरिणत हो गई है तो वह ग्राह्य है, परन्तु, जब तक वह शस्त्रपरिणत नहीं हुई है, तब तक सचित्त है; अत साधु के लिए अग्राह्य है।

'विरालिय' का अर्थ है—जमीन में उत्पन्न होने वाला कन्द विशेष। 'पलम्ब जायं' का तात्पर्य फल से है। 'प्रबद्धा अत्थि फल' का तात्पर्य है—वह फल जिस में अभी तक गुठली नहीं बन्धी है, ऐसे सुकोमल फल को 'सरडुय' कहते हैं 'मन्थु' का अर्थ चूर्ण होता है और 'साणुबीयं' का तात्पर्य है— वह बीज जिसकी योनि का अभी नाश नहीं हुआ है। 'भिज्भरी' शब्द लता विशेष का बोधक है। इस पाठ का तात्पर्य यह है कि साधु को सचित्त वनस्पति को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

पुनः आहार के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— से भिक्खू वा० से जं पुण० आमडागं वा पूइ-पिन्नागं वा महुं वा मज्जं वा सप्पिं वा खोलं वा पुराणगं वा इत्थ पाणा अणुप्पसूयाइं जायाइं संवुड्ढाइं अव्वुक्कंताइं अप-रिणाया इत्थ पाणा अविद्धत्था नो पडिगाहिज्जा ॥४६॥**

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः० आम पत्रकं वा पूतिपिण्याकं वा मधु वा मद्य वा सर्पि र्वा खोलं वा पुराणकं वा अत्र प्राणाः अनप्रसूता जाता संवृद्धाः अव्युत्क्रान्ता. अपरिणताः अत्र प्राणाः (प्राणिनः) अविध्वस्ताः नो प्रतिगृह्णीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी। से जं पुण—गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट हुआ यदि इस प्रकार जाने कि। आमडाग वा—अर्द्धपक्क शाक अथवा। पूइपिन्नाग—सडी हुई खल अथवा। महुं वा—मधु। मज्जं वा—मद्य। सप्पि वा—घृत। खोल वा—अथवा खोल--मद्य के नीचे का कर्दम-कीच। पुराणग वा—ये पुराने पदार्थ। इत्थ—इनमे। पाणा—प्राणी-जीव। अणुप्पसूयाइं—उत्पन्न होते है। जायाइ—प्राणियो का जन्म होता है। सवुड्ढाइ—वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अव्वुक्कताइ—व्युत्क्रान्त नही होते हैं तथा। अपरिणया—परिणत नही होते है। इत्थ—इनमे। पाणा—प्राणी। अविद्धत्था—विध्वंस को प्राप्त नही हुए है, तो उसके मिलने पर भी। नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहपति कुल में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी अर्द्धपक्व शाक, सडी हुई खल, मधु, मद्य, सर्पि-घृत, खोल-मद्य के नीचे का कर्दम-कीच इन पुराने पदार्थों को ग्रहण न करे, कारण कि—इन मे प्राणी-जीव उत्पन्न होते है, जन्मते है, तथा वृद्धि को प्राप्त होते है और इन मे प्राणियो का व्युत्क्रमण, परिणमन तथा विध्वस नही होता, इसलिए मिलने पर भी उन पदार्थों को ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को कच्चा पत्र, (वृक्षादि का पत्ता), सचित्त पत्र या अर्द्धपक्व पत्र एवं शाक-भाजी आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए और सड़ी हुई खल एवं पुराना मद्य, मधु (शहद), घृत और मद्य के नीचे जमा हुआ कर्दम नहीं लेना चाहिए। क्योंकि ये पदार्थ बहुत दिनों के पुराने होने के कारण उनका रस विचलित हो जाता है और इस कारण उनमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मुनि को ये पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिएं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त मधु एवं घृत तो साधु के लिए कल्पनीय हैं। परन्तु, मद्य अकल्पनीय है, अतः मद्य शब्द कुछ विचारणीय है। क्योंकि सूत्र मे कहा गया है कि पुराना मद्य एवं उसके नीचे जमा हुआ कर्दम (मैल) नहीं लेना, तो इसका अर्थ यह है कि नया मद्य लिया जा सकता है। किन्तु, आगमों में मद्य एवं मांस का सर्वथा निषेध किया गया है। अतः यहां इसका यह अर्थ है—मद्य के समान गुण वाला पदार्थ। यदि इसका तात्पर्य शराब से होता तो उसके अन्य भेदों का उल्लेख भी करते। क्योंकि सूत्र की यह एक पद्धति है कि जिस वस्तु का उल्लेख करते हैं, उसके सब भेदों

का नाम गिना देते हैं। यहां मद्य शब्द के साथ अन्य नामों का उल्लेख नहीं होने से ऐसा लगता है कि मद्य का अर्थ होगा—उसके सदृश पदार्थ। आगम में युगलियों के अधिकार में दस प्रकार के कल्पवृक्षों में 'मातग' कल्प वृक्ष का नाम आता है। उसके फल मद्य के समान मादक होते हैं। आजकल महुए के फलों को उसके समान समझ सकते हैं*। इससे स्पष्ट है कि मद्य शब्द मदिरा का बोधक नहीं है। आगम मे मदिरा का प्रबल शब्दों मे निषेध किया गया है। इसके लिए दशवैकालिक सूत्र का ५वां अध्ययन द्रष्टव्य है†। दशवैकालिक सूत्र प्राय: आचाराङ्ग का पद्यानुवाद है। इससे प्रस्तुत सूत्र का मदिरा सदृश पदार्थ अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

आहार के विषय में और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है।

**मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० उच्छुमेरगं वा अंककरेलुगं वा कसेरुगं वा सिंघाडगं वा पूइ आलुगं वा अन्नयरं वा०। से भिक्खू वा० से जं० उप्पलं वा उप्पलनालं वा भिसं वा भिस-**

* जीवाभिगम सूत्र।

† सुर वा मेरग वावि, अन्न वा मज्जग रस।
ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो॥
पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे॥
वड्ढइ सुंडिआ तस्स, माया मोस च भिक्खुणो।
अयसो अ अनिव्वाण, सयय च असाहुआ॥
निच्चूव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहि दुम्मई।
तारिसो मरणते वि, न आराहेइ सवर॥
आयरिए नाराहेइ समणे आवि तारिसो।
गिहत्था विणं गरिहति, जेण जाण ति तारिस।
एव तु अगुणप्पेही गुणाण च विवज्जए।
तारिसो मरणतेवि, ण आराहेइ सवर॥
तवं कुव्वइ मेहावी, पणीय वज्जए रस।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कस्सो॥

—दशवैकालिक सूत्र, ५, २, ३६-४२।

मुणालं वा पुक्खलं वा पुक्खलविभंगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं° ॥४७॥

छाया—स भिक्षुर्वा स यत् इक्षु मेरक वा अंककरेलुक कसेरुक वा शृगाटक वा पूतिआलुक वा अन्यतरद् वा० (तथाप्रकारं)।

स भिक्षुर्वा० स यत् उत्पलं वा उत्पलनालं वा बिसं वा बिसमृणालं वा पुष्करं वा पुष्करविभंगं वा अन्यतरद् वा तथाप्रकारं०।

पदार्थ—से—वह। भिक्खूवा—साधु अथवा साध्वी। से जं—फिर इस प्रकार जाने यथा। उच्छु मेरगं वा—इक्षुखण्ड-गंडेरी। अंककरेलु वा—अंक करेलु नाम वनस्पति कसेरुग वा—कसेरु। सिंघाडगं वा—सिंघाडे। पूइ आलुग वा— पूतिआलुक-वनस्पति विशेष अन्नयरं वा— तथा इसी प्रकार की अन्य वनस्पति जो कच्ची शस्त्र परिणत न हो, तो उसे अप्रासुक जान कर साधु ग्रहण न करे।

से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी गृहस्थ के घर जाने पर। से जं पुण०—फिर इस प्रकार जाने यथा। उप्पल वा—उत्पल कमल। उप्पल नाल वा—उत्पल कमल की नाल। भिस वा—कमल का कन्द मूल। भिसमुणाल वा—कमल के कन्द के ऊपर की लता पुक्खलं वा— कमल की केसर। पुक्खलविभगं वा—कमल का कन्द। अन्नयरं वा—तथा। अन्य। तहप्पगार—इसी प्रकार का कन्द आदि जो कच्चा और अशस्त्र परिणत हो तो उसे साधु मिलने पर भी अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

मूलार्थ—गृहपति कुल में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी इस प्रकार से जाने, यथा—इक्षुखड-गंडेरी, अककरेलु नामक वनस्पति, कसेरु, सिंघाडा और पूति आलुक तथा अन्य इसी प्रकार की वनस्पति विशेष जो शस्त्र परिणत नहीं हुई, उसे मिलने पर भी अप्रासुक जान कर साधु ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी यदि यह जान ले कि उत्पल-कमल, उत्पलकमल की नाल, उसका कन्द-मूल, उस कन्द के ऊपर की लता, कमल की केसर और पद्म कन्द तथा इसी प्रकार का अन्य कन्द कोई कच्चा हो, जिसको शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो तो साधु मिलने पर भी

उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को इक्षुखंड, कसेरु, सिंघाड़ा, उत्पल (कमल), उत्पल-नाल (कमल की डंडी), मृणाल (कमल के नीचे का कन्द) आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये सचित्त होते हैं, अतः जब तक शस्त्रपरिणत न हों तब तक साधु के लिए अग्राह्य हैं।

इस विषय में और पदार्थों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ से जं पु० अग्गबीयाणि वा मूलबीयाणि वा खंधबीयाणि वा पोरबी० वा अग्गजायाणि वा मूलजा० वा खंधजा० वा पोरजा० वा नन्नत्थ तक्कलिमत्थएण वा तक्कलिसीसेण वा नालियेरमत्थएण वा खज्जूरिमत्थएण वा तालम० अन्नयरं वा तह० । से भिक्खू वा २ से जं० उच्छुं वा काणगं वा अंगारियं वा संमिस्सं विगदूमियं वित्तग्गगं वा कंदलीऊसुगं अन्नयरं वा तहप्पगा० ।

से भिक्खू वा० से जं० लसुणं वा लसुणपत्तं वा ल० नालं वा लसुणकंदं वा ल० चोयगं वा अन्नयरं वा० । से भिक्खू वा० से जं० अंच्छियं वा कुंभिपक्कं वा तिदुगं वा बेलुगं वा कासवनालियं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० । से भिक्खू वा० से जं० कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलियं वा चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिल-

पप्पड़गं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० लाभे-संते नो प०, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं ॥४८॥

छाया—स भिक्षुर्वा अथ यत् पुनः० अग्रबीजानि वा मूलबीजानि वा स्कन्धबीजानि वा पर्वबीजानि वा, अग्रजातानि वा मूलजातानि वा, स्कन्ध-जातानि वा पर्वजातानि वा नान्यस्माद्, तक्कलीमस्तकेन वा तक्कलीशीर्षेण वा नालिकेरमस्तकेन वा खर्जूरमस्तकेन वा ताल मस्तकेन वा अन्यत द् वा तथाप्रकार० ।

स भिक्षुर्वा २ अथ यत् इक्षु वा काणक वा अगारतिकं वा संमिश्र वृक-भक्षित वेत्राग्रं कन्दलीमध्या अन्यतरद् वा तथाप्रकारं० ।

स भिक्षुर्वा० अथ यत्० लशुन वा लशुनपत्र वा लशुननाल वा लशुन-कन्द वा, लशुनचोदक वा अन्यतरद् वा० स भिक्षुर्वा० स यत्० अस्थिक वा कुंभिपक्क वा तिन्दुकं वा बिल्व वा काश्यपनालिकां वा अन्यतरद् वा तथा-प्रकारं आमं अशस्त्रपरिणतं० ।

स भिक्षुर्वा० स यत्० कणं वा कणकुडकं वा कणपूपलिकां वा ओदन वा ओदनपिष्टं वा तिल वा तिलपिष्टं वा तिलपर्पटक वा अन्यतरद् वा तथाप्रकार आमं अशस्त्रपरिणतं लाभेसति न प्रतिगृण्हीयात् । एवं खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यम् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु या साध्वी गृहपति कुल मे प्रविष्ट हुआ । से ज—इस प्रकार जाने, जैसे कि— । अग्गबीयाणि वा—अग्रबीज, जपा कुसुमादि, अथवा । मूलबीयाणि वा—मूल बीज—जात्यादि । खधबीयाणि वा—स्कन्ध बीज-सल्लक्यादि । पोर--बीयाणि—पर्व बीज—इक्षु दण्डादि अथवा । अग्गजायाणि वा—अग्रजात-अग्रभाग में उत्पन्न होने वाले । मूल जा०—मूल जात--मूल मे उत्पन्न होने वाले । खध जा०—स्कन्ध जात—स्कन्ध मे उत्पन्न होने वाले । पोर जा०—पर्वजात—पर्व मे उत्पन्न होने वाले । नन्नत्थ—इतना विशेष है कि ये उक्त स्थानो मे उत्पन्न होते हैं अन्य स्थानो पर नही, अतः इनको अग्रजातादि कहते है । ण—यह वाक्यालकार में है । तक्कलि मत्थए—कन्दली के मध्य का गर्भ तथा । तक्कलिसीसे—कन्दली स्तवक । णालिएरमत्थए—अथवा नारियल का मध्य

गर्भ। खज्जूर मत्थए—खजूर का मध्य गर्भ अथवा। ताल मत्थए—ताल का मध्य गर्भ, तथा। अन्नयर वा—अन्य। तहप्पगार—इसी प्रकार का। आम—कच्चा और जिसको शस्त्र परिणत नहीं हुआ, मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

से—वह। भिक्खू वा२—साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर। से ज०—इस प्रकार जाने, यथा। उच्छुं वा—इक्षु और इक्षु के समान अन्य वनस्पति को तथा। काणं वा—व्याधि विशेष से सछिद्र हुई वनस्पति को। अंगारियं वा—अथवा ऋतु विशेष से जिसका वर्ण और हो गया हो। सम्मिस्स—वह वनस्पति जिसकी त्वचा फटी हुई हो। विगदूमियं—वृक या श्याल भक्षित अर्थात् जिसे वृक या शृगाल आदि ने खाया हुआ हो। वित्तग्ग वा—वेतस-बैंत का अग्र भाग अथवा। कदलीऊसुग—कन्दली का मध्य-भाग तथा। अन्नयरं वा—अन्य। तहप्पगार—इसी प्रकार की कच्ची और अशस्त्र परिणत वनस्पति, मिलने पर अप्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण न करे।

से-वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से जं पुण०—फिर इस प्रकार जाने, यथा। लसुण वा—लशुन को। लसुणपत्त वा—लशुन के पत्र को। लसुण नालं वा—लशुन की नाल को अथवा। लसुणं कंद वा—लशुन कन्द को लसुणचोयगं वा—लशुन के ऊपर की छाल-छिलका, तथा। अन्नयरं वा—अन्य। तहप्पगार०—इसी प्रकार की कच्ची और अशस्त्र परिणत वनस्पति, मिलने पर अप्रासुक जान कर उसे ग्रहण न करे।

से—वह। भिक्खू वा०—साधु या साध्वी गृहपति कुल मे प्रविष्ट होने पर। से ज—फिर इस प्रकार जाने यथा। अच्छियं वा—आस्तिक नाम के वृक्ष विशेष का फल, तथा। कुंभिपक्कं—गर्त आदि में धूंए आदि से पकाया हुआ। तिंदुगं वा—तिन्दुग वृक्ष क फल। वेलुगं वा—अथवा विल्व वृक्ष का फल। कासवानालियं वा—श्रीपर्णिफल तथा। अन्नयर वा—अन्य कोई। तहप्पगार—इसी प्रकार का। आम—कच्चा। असत्थ प०—अशस्त्रपरिणत फल विशेष मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

से—वह। भिक्खू वा०—साधु या साध्वी गृहस्थ के घर मे प्रवेश करने पर। से ज०—यदि इस प्रकार जाने जैसे कि। कण वा—शाल्यादि के कण। कण कुण्डग वा—कणो आदि से मिश्रित छानस। कणपूयलियं वा—कणो से मिश्रित रोटी अर्थात् मन्दपक्वरोटिका। चाउलं वा—अथवा चावल। चाउलपिट्ठं वा—अथवा चावलों का पिष्ट-आटा। तिल वा—तिल। तिल पिट्ठं वा—अथवा तिल पिष्ट—(तिलकुट) तथा। तिलपप्पडग वा—तिल पर्पटिका-तिल पापडी तथा। अन्नयरं वा—अन्य कोई। तहप्पगारं—इसी प्रकार का। आम—कच्चा। असत्थ प०—अशस्त्र परिणत पदार्थ विशेष।

लाभे सते—मिलने पर। नो प०—ग्रहण न करे। एवं—इस प्रकार। खलु—निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। सामग्गियं—समग्र भिक्षुभाव अर्थात् सम्पूर्ण आचार है।

मूलार्थ—गृहपतिकुल में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज, तथा पर्वबीज, एव अग्रजात, मूलजात, स्कन्धजात पर्वजात, इनमे इतना विशेष है कि ये उक्त स्थानों से अन्यत्र उत्पन्न नही होते, तथा कन्दली के मध्य का गर्भ, कन्दली का स्तबक, नारियल का मध्यगर्भ, खजूर का मध्यगर्भ और ताड का मध्यगर्भ तथा इसी प्रकार की अन्य कोई कच्चो और अशस्त्रपरिणत वनस्पति, मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इक्षु [ईख] को, सच्छिद्र इक्षु को तथा जिसका वर्ण बदल गया, त्वचा फटगई एव शृगालादि के द्वारा खाया गया ऐसा फल, तथा बैंत का अग्रभाग और कन्दली का मध्यभाग तथा अन्य इसी प्रकार की वनस्पति, जो कि कच्चो और शस्त्र परिणत नहो हुई, मिलने पर अप्रासुक जानकर साधु उसे स्वीकार न करे।

गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी लशुन, लशुन के पत्र, लशुन की नाल और लशुन की वाह्यत्वक्-बाहर का छिलका, तथा इसी प्रकार की अन्य कोई वनस्पति जो कि कच्ची और शस्त्रोपहत नही हुई है, मिलने पर अप्रासुक जान कर उसे ग्रहण न करे।

गृहपति कुलमे प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वो अस्तिक (वृक्षविशेष) के फल, तिन्दुकफल, बिल्वफल और श्रीपर्णीफल, जोकि गर्त आदि मे रखकर धूएं आदि से पकाए गए हो, तथा इसी प्रकार के अन्यफल जोकि कच्चे और अशस्त्र परिणत हो मिलने पर अप्रासुक जान कर उन्हे ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी शाल्यादि के कण कणमिश्रितछाणस, कणमिश्रित रोटी, चावल, चावलो का चूर्ण-आटा, तिल, तिलपिष्ठ— तिलकुट और तिलपर्पट—तिलपपडी तथा इसी प्रकार का अन्य पदार्थ जोकि कच्चा और अशस्त्र परिणत हो, मिलने पर अप्रासुक जान कर उसे ग्रहण न करे। यह साधु को समग्र-सम्पूर्ण आचार है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज, पर्वबीज, अग्रजात, मूलजात, स्कन्धजात, पर्वजात, कन्द का, खजूर का एवं ताड़ का मध्य भाग तथा इक्षु या शृगाल आदि से खाया हुआ फल, लहसुन का छिलका, पत्ता, त्वचा या बिल्व आदि के फल आदि सभी तरह की वनस्पति जो सचित्त है, अपक्व है, शस्त्र-परिणत नहीं हुई है, तो साधु को उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अग्रबीज' एवं 'अग्रजात' मे यह अन्तर है कि अग्रबीज को भूमि में बो देने पर उस वनस्पति के बढ़ने के बाद उसके अग्रभाग मे बीज उत्पन्न होता है, जबकि अग्रजात अग्रभाग मे ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। वृत्तिकार ने 'नन्नत्थ' शब्द के दो अर्थ किए है— एक तो अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते है और दूसरा अर्थ यह किया है कि कदली (केला) आदि फलों का मध्य भाग छेदन होने से नष्ट हो जाता है। इस तरह वे फल अचित्त होने से ग्राह्य हैं। परन्तु, इन अचित्त फलों को छोड़ कर, अन्य अपक्व एवं शस्त्र से परिणित नही हुए फलों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी तरह शृगाल आदि पशु या पक्षियों के द्वारा थोड़ा सा खाया हुआ तथा आग के धुंएं से पकाया हुआ फल भी अग्राह्य है।

प्रस्तुत सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे साधु प्रायः बगीचों मे ठहरते थे। शृगाल आदि द्वारा भक्षित फल बगीचों में ही उपलब्ध हो सकते है। क्योंकि शृगाल आदि जङ्गलों मे ही रहते एवं घूमते हैं, वे नगरों में आकर फलों को नहीं खाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उस युग मे साधु अधिकतर बगीचों मे ही ठहरते थे। इसी कारण वनस्पति की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता पर विशेष रूप से विचार किया गया है। जैसे गर्म पानी के चश्मे भी बहते हैं, परन्तु फिर भी वह पानी साधु के लिए अग्राह्य है। इसी तरह कृत्रिम साधनों से पकाए जाने वाले फल

भी अग्राह्य हैं। क्योंकि वह उष्ण योनि के जीवों का समूह होने से सचित्त हैं। इसी तरह कुछ फल ऐसे हैं, जो अपक्व एवं शस्त्र परिणत नहीं होने के कारण साधु के लिए अग्राह्य हैं। इस तरह साधु को सब्जी ग्रहण करते समय उसकी सचित्तता एवं अचित्तता का सूक्ष्म अवलोकन करके ग्रहण करना चाहिए। इस तरह प्रासुक सब्जी ग्रहण करने पर ही उसका अहिंसा महाव्रत निर्दोष रह सकता है। अस्तु साधु के लिए अप्रासुक, अनेषणीय सब्जी ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

## प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

### नवम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में भी अनेषणीय आहार आदि का निषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, गाहावई वा जाव कम्मकरी वा. तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-जे इमे भवंति समणा भगवंता सीलवंतो वयवंतो गुणवंतो संजया संवुडा बंभयारी उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा पायए वा. से जं पुण इमं अम्हं अप्पणो अट्ठाए निट्ठियं तं असणं ४ सव्वमेयं समणाणं निसिरामो. अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो अट्ठाए असणं वा ४ चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं० ॥४६॥

छाया—इह खलु प्राचीन वा ४ सन्त्येकका: श्राद्धा भवति, (श्रद्धालवो भवेयु) गृहपतिर्वा यावत् कर्मकरी वा तेषां च एवं उक्त पूर्वं भवति (भवेत्) ये इमे भवन्ति श्रमणाः भगवन्तः शीलवन्तः व्रतवन्तः गुणवन्तः संयताः संवृता ब्रह्मचारिण उपरतः मैथुनाद् धर्मात्, न खलु एतेषां कल्पते आधाकर्मिकं, अशनंवा ४ भोक्तु वा पातु वा, स यत् पुनः इदं अस्माक

आत्मार्थं निष्ठितं तद् अशनं वा ४ सर्वं एतेभ्यः श्रमणेभ्यः निसृजामः-प्रयच्छामः, अपि च वय पश्चात् आत्मार्थं अशनं वा ४ चेतयिष्यामः। एतत् प्रकार निर्घोष श्रुत्वा निशम्य तथाप्रकार, अशन वा ४ अप्रासुकं —(यावत्-न प्रतिगृह्णीयात्)।

पदार्थ—इह खलु—इह शब्द वाक्योपन्यास अर्थ में, तथा प्रज्ञापक क्षेत्र के अर्थ मे है, और खलु शब्द वाक्यालकार मे है। पाईण वा० ४—प्रज्ञापक की अपेक्षा से पूर्व दिशा मे, पश्चिम दिशा मे तथा उत्तर और दक्षिण दिशा मे अर्थात् पूर्वादि दिशाओ मे। संतेगइया—अनेक पुरुष हैं उनमे कई एक। सड्ढा भवति—श्रद्धालु-श्रद्धावाले भी होते हैं यथा। गाहावइ वा—गृहपति। जाव—यावत्। कम्म करीवा—काम करने वाली दासी आदि। च—पुन। णं—वाक्यालकार में है। तेसिं—उनके परस्पर मिलने पर। एव—इस प्रकार। वुत्त पुव्व भवइ—पहले वार्तालाप होता है, जैसे कि। जे इमे—जो ये। समणा—श्रमण। भगवतो—भगवान। सीलवंतो—शील वाले अर्थात् अष्टादश सहस्रशीलाग रथ धारा के धारण करने वाले तथा। वयवंतो—व्रतधारी अर्थात् पाच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन विरमण त्याग व्रत को धारण करने वाले एवं। गुणवंतो—पिण्ड विशुद्धि आदि उत्तरगुणों को धारण करने वाले। संजया—सयत-अर्थात् इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करने वाले। संवुडा—आस्रव द्वारों को बन्द करने वाले। बंभयारी—ब्रह्मचारी अर्थात् नव विध ब्रह्मचर्य गुप्ति से युक्त। मेहुणाओ धम्माओ—मैथुन धर्म से। उवरया—उपरत-निवृत्त। भवति—होते है। खलु—वाक्यालकार मे है। एएसिं—उनको। आहाकम्मिए—आधाकर्मिक। असण वा ४। अशनादिक। चतुर्विध आहार। भुत्तए वा—खाना। पायए वा—पीना। नो—नहीं। कप्पइ—कल्पता पुण—फिर। से ज—वह जो। इम—यह। अम्ह—हमारे। अट्ठाए—वास्ते। निट्ठिय बना हुआ है। तं—वह। असण वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। सव्वमेय—सभी। समणाण - इन श्रमणो को। निसिरामो—दे देते हैं। अवियाइ—अपिच और फिर। वयं—हम। पच्छा—पीछे से। अप्पणो अट्ठे—अपने लिए। असण वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। चेइस्सामो—और बना लेंगे। एयप्पगार—इस प्रकार के। निग्घोस—शब्द को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—विचार कर। तहप्पगार—वह साधु इस प्रकार के। असण०—अशनादि चतुर्विध आहार को। अफासुय—अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

मूलार्थ—इस क्षेत्र मे पूर्वादि चारो दिशाओं मे कई गृहपति एव उनके परिजन आदि श्रद्धावान् सद्गृहस्थ रहते है, और वे परस्पर मिलने पर इस प्रकार बाते करते हैं कि ये पूज्य श्रमण शील निष्ठ है, व्रतधारी है,

गुण सपन्न है, सयमी है, सवृत-आस्रवों का निरोध करने वाले है, परम-ब्रह्मचारी हे, मैथुन धर्म से सर्वथा निवृत्त है। इनको आधाकर्मिक अशनादि चतुर्विध आहार लेना नही कल्पता है। अतः हमने जो अपने लिए आहार बनाया है, वह सब आहार इन श्रमणो को दे देंगे, और हम अपने लिए और आहार बना लेगे। उनके इस प्रकार के वार्त्तालाप को सुन कर तथा विचार कर साधु इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न कर।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि साधु को अपने घर मे आया हुआ देखकर यदि कोई श्रद्धालु गृहस्थ एक-दूसरे से कहे कि ये पूज्य श्रमण संयम निष्ठ हैं, शीलवान हैं, ब्रह्मचारी हैं। इसलिए ये आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार नहीं लेते हैं। अत हमने जो अपने लिए आहार बनाया है, वह सब आहार इन्हे दे दें और अपने लिए फिर से आहार बना लेंगे। इस तरह के विचार सुन कर साधु उक्त आहार को ग्रहण न करे। क्योंकि इससे साधु को पश्चात्कर्म दोष लगेगा।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त तीन शब्द विशेष विचारणीय हैं— १--सड्ढा, २--असणं वा ४ और ३-चेइस्सामो। १--सड्ढा-प्रस्तुत सूत्रमे सूत्रकार ने श्रावक एवं उपासक दोनों शब्दों का उपयोग न करके 'सड्ढा' शब्द का उपयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्रतधारी एवं साधुसमाचारी से परिचित श्रावक इतनी भूल नहीं कर सकता कि वह पश्चात्कर्म का दोष लगाकर साधु को आहार दे। अत इससे यह स्पष्ट होता है कि इस तरह का आहार देने का विचार करने वाला व्यक्ति श्रद्धानिष्ठ भक्त है, परन्तु साधु आचार से पूरी तरह परिचित नहीं है। वह इतना तो जानता है कि ये आधाकर्म आदि आहार ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं है कि ये पश्चात्कर्म दोष युक्त आहार भी ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु, यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चाहे दाता श्रद्धालु हो, प्रकृति का भद्र हो, दोषों से अज्ञात हो फिर भी साधु को इस तरह का सदोष आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

२- असणं वा— सूत्रकार ने जगह-जगह चार प्रकार के आहार का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मद्य-मांस आदि का आहार साधु के लिए सर्वथा अग्राह्य है। यदि इस प्रकार के पदार्थ ग्राह्य होते तो जगह-जगह चार प्रकार के आहार का ही ग्रहण न करके, अन्य प्रकार के आहार को भी साथ जोड़ देते।

३-चेइस्सामो— इससे स्पष्ट होता है कि साधु को आहार देने के बाद फिर से ६ काय का आरम्भ करके आहार तैयार करने का विचार करके दिया जाने वाला आहार भी सदोष माना गया है। अत आहार शुद्धि के लिए साधु को बड़ी सावधानी से गवेषणा करनी चाहिए।

इसी विषय में कुछ और जानकारी कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भिक्खू वा०, वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे से जं० गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा रायहाणिंसि वा संतेगइयस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा—गाहावई वा जाव कम्म० तहप्पगाराइं कुलाइं नो पुव्वामेव भत्ताए वा निक्ख-मिज्ज वा पविसिज्ज वा २, केवली बूया--आयाणमेयं, पुरा-पेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं वा ४ उवकरिज्ज वा उवक्ख-डिज्ज वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा ४ जं० नो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्ख-मिज्ज वा २, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २, अणावायमसं-लोए चिट्ठिज्जा, से तत्थकालेणं अणुपविसिज्जा २ तत्थि-यरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारिज्जा, सिया से परो कालेण अणुपविट्ठस्स आहाकम्मियं असणं वा उवकरिज्ज वा उवक्खडिज्ज वा तं-चेगइओ तुसिणीओ उवेहेज्जा, आहडमेव पच्चाइक्खिस्सामि,

माइट्ठाणं संफासे. नो एवं करिज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा· आउसोत्ति वा भइणित्ति वा नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मियं असणं वा ४ भुत्तए वा पायए वा, मा उवकरेहि वा उवक्खडेहि, से सेववयंतस्स परो आहाकम्मियं असणं वा० उवक्खडावित्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा० अफासुयं० ॥५०॥

छाया—स भिक्षुर्वा० वसन् वा ग्रामानुग्रामं वा दूयमानः स यत् ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा अस्मिन् खलु ग्रामे वा राजधान्यां वा सन्ति एकस्य (कस्यचित्) भिक्षोः पूर्वं संस्तुता वा पश्चात् संस्तुता वा परिवसन्ति, तद्यथा—गृहपतिः वा यावत् कर्मकरी, तथाप्रकाराणि कुलानि न पूर्वमेव भक्ताय निष्क्रामेत् प्रविशेद् वा, केवली ब्रूयात्—कर्मोपादानमेतत्, पूर्वं प्रेक्ष्य तस्य परः अर्थाय, अशनं वा उपकुर्यात् वा उपसंस्कुर्याद् वा—(तस्य भिक्षोः कृते परः गृहस्थोऽशनाद्यर्थं उपकुर्यात्-ढौकयेदुपकरणजातम् तदशनादि पचेत्) अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत् प्रतिज्ञादि, यत् न तथाप्रकाराणि कुलानि पूर्वमेव भक्ताय वा पानाय वा प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा स तमादाय एकान्तमपक्रामेत्, उपक्रम्य च अनापाते, असंलोके तिष्ठेत्, स तत्र कालेनानुप्रविशेत् २, तत्र इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं एषणीयं वेषितं पिंडपातं एषित्वा, आहारमाहारयेत्, स्यात् स परः कालेनानुप्रविष्टस्य, आधाकर्मिकमशनं वा उपकुर्यात् उपसंस्कुर्याद् वा तच्चैककः तूष्णीकः उत्प्रेक्षेत्, आहृतमेव प्रत्याख्यास्यामि, मातृस्थानं संस्पृशेत्, नैवं कुर्यात्, स पूर्वमेवालोकयेत् (आलोक्य च) आयुष्मन्! इति वा भगिनि! इति वा खलु मम कल्पते आधाकर्मिकमशनं वा भोक्तुं वा पातुं वा; मा उपकुरु, मा उपसंस्कुरु, स तस्यैवं वदतः परः आधाकर्मिकमशनं वा ४ उपसंस्कृत्य, आहृत्य दद्यात् तथाप्रकारं, अशनं वा ४ अप्रासुकं० ।

पदार्थ—से - वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी के। जाव—जंघा आदि के निर्बल होने के कारण एक ही क्षेत्र मे रहते हुए। वा—अथवा। वसमाणे— मासकल्पादि विहार करते हुए। गामाणुगाम वा—या एक गाव मे दूसरे गाव को। दूइज्जमाणे—जाते हुए। से—वह भिक्षु। ज —जो ऐसा जानता है कि। गाम वा—ग्राम। जाव —यावत्। रायहाणि— वा—राजधानी को। खलु—निश्चय में। इमंसि गामंसि वा—इस ग्राम मे अथवा। रायहाणिंसि वा—राजधानी मे। सतेगइयस्स—कई एक साधु विद्यमान है। भिक्खुस्स—उस भिक्षु के। पुरसंथुया वा—माता-पिता आदि या। पच्छासंथुया वा—श्वसुर आदि परिजन। परिवसति—वसते हैं। तंजहा—यथा। गाहावइ—गृहपति। जाव —यावत्। कम्मकरी— दासी, आदि रहती हैं। तहप्पगाराइं—इस प्रकार के। कुलाइं—कुलो में। पुव्वामेव — भिक्षा काल से पहले ही। भत्ताए वा—भोजन के लिए अथवा। पाणाए वा—पानी के लिए नो निक्खमिज्ज वा पविसेज्ज वा—न निकले और न प्रवेश करे। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं। आयाणमेयं—यह कर्म आने का मार्ग है, क्योंकि। पुरा पेहाए—पहले देखकर। परो—गृहस्थ। तस्स अट्ठाए—उस भिक्षु के लिए। असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार को। उवकरिज्ज वा—एकत्रित करेगा तथा। उवक्खडिज्ज वा—पकाएगा। अह—अथ। भिक्खूणं—भिक्षुओ को। पुव्वोवइट्ठा ४—पूर्वोपदिष्ट प्रतिज्ञा हेतु कारण और उपदेश का भगवान ने प्रतिपादन किया है। ज—जो। तहप्पगारं—तथा प्रकार के। कुलाइं- कुलो मे। पुव्वामेव—पहले ही। भत्ताए वा—भोजन के लिए अथवा। पाणाए वा—पानी के लिए। नो पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा—न तो प्रवेश करे और न ही निकले किन्तु। से—वह भिक्षु। तमायाय—उन कुलो को जानकर। एगन्तमवक्कमिज्जा—एकान्त मे चला जाए वहा जाकर। अणावायमसंलोए—जहा पर न कोई आता-जाता हो और न देखता हो, ऐसे स्थान पर। चिट्ठिज्जा—ठहर जाए। से—वह भिक्षु। तत्थ—उस ग्रामादि मे—जहा सम्बन्धी लोग रहते है। कालेण—भिक्षा के समय पर। अणुपविसिज्ज २— उनके घरमे प्रवेश करे और निकले। तत्थियरेयरेहिं—वह स्वजन रहित अन्य। कुलेहिं—कुलो से। सामुदाणिय—सामुदानिक—बहुत से घरो की भिक्षा। एसियं—एषणीय अर्थात् उद्गमादि दोषो से रहित। वेसिय - केवल साधु वेष से प्राप्त अर्थात् उत्पादनादि दोषो से रहित। पिंडवाय— पिंडपात-भिक्षा को। एसित्ता—गवेषणा करके। आहार—आहार का। आहारिज्जा—भक्षण करे। सिया—कदाचित्। से परो—वह गृहस्थ। कालेण—साधु के भिक्षा के समय। अणुपविट्ठस्स—प्रवेश करने पर भी। आहाकम्मिय—आधाकर्मी। असण वा—आहार-पानी। उवकरिज्ज वा—एकत्रित करे अथवा। उवक्खडिज्ज वा—पकावे। तंचेगइओ—उसे देखकर कोई साधु। तुसीणीओ—मौन रहे। उवेहेज्जा—इस भावना से कि। आहडमेव—जब यह मुझे लाकर देगा। पच्चाइक्खिस्सामि—मैं इसका प्रतिषेध कर दूंगा यदि साधु ऐसा करे तो।

माइट्ठाणं सफासे—मातृस्थान-कपट का स्पर्श होता है अतः। एव—इस प्रकार। नो करिज्जा—न करे किन्तु। से—वह। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—उपयोग पूर्वक देखे और विचार करे तदनन्तर कहे कि। आउसोति वा—आयुष्मन्! गृहस्थ (स्त्री हो तो)। भइणित्ति वा—हे भगिनि! हे बहिन! खलु—निश्चय ही। मे—मुझे। आहाकम्मियं—आधाकर्मिक। असणं वा—अशनादिक आहार। भुत्तए वा—भोगना—खाना अथवा। पायए वा—पीना। नो कप्पइ—नही कल्पता है। इसलिए तू। मा उवकरेहि—इसे एकत्र मत कर तथा। मा उवक्खडेहि—मत पका। से—वह। सेव वयतस्स—उसके इस प्रकार कहने पर भी। परो—यदि गृहस्थ। आहाकम्मियं—आधाकर्मिक। असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार को। उवक्खडावित्ता—बना कर और। आहट्टु—लाकर साधु को। दलइज्जा—दे तो। तह पगारं—साधु इस प्रकार के। असणं वा ४—आहार को। अफासुय०—अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

मूलार्थ—शारीरिक अस्वस्थता एव वार्द्धक्य के कारण एक ही स्थान पर रहने वाले या ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु या साध्वी के किसी गाव या राजधानी मे, माता-पिता या श्वसुर आदि सम्बन्धिजन रहते हो या परिचित गृहपति, गृहपत्नी यावत् दास-दासी रहती हो तो इस प्रकार के कुलो मे भिक्षाकाल से पूर्व आहार-पानी के लिए उनके घर मे आए-जाए नहीं। केवली भगवान कहते है, कि यह कर्म आने का मार्ग है। क्योंकि आहार के समय से पूर्व उसे अपने घर मे आए हुए देखकर, वह उसके लिए आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार एकत्रित करेगा या पकाएगा। अतः भिक्षुओ को पूर्वोपदिष्ट तीर्थंकर आदि का उपदेश है कि इस प्रकार के कुलो मे भिक्षा के समय से पूर्व आहार-पानी के लिए आए-जाए नही, किन्तु वह साधु स्वजनादि के कुल को जानकर और जहा पर न कोई आता-जाता हो और न देखता हो, ऐसे एकान्त स्थान पर चला जाए। और जब भिक्षा का समय हो, तब ग्राम मे प्रवेश करे और स्वजन आदि से भिन्न कुलो मे सामुदानिक रूप से निर्दोष आहार का अन्वेषण करे। यदि कभी वह गृहस्थ भिक्षा के समय प्रविष्ट हुए भिक्षु के लिए भी आधाकर्मी आहार एकत्रित कर रहा हो या पका रहा हो और उसे देख-

कर भी कोई साधु इस भाव से मौन रहता हो कि जब यह लेकर आएगा तब इसका प्रतिषेध कर दूंगा तो उसे मातृस्थान-माया का स्पर्श होता है। अत. साधु ऐसा न करे, अपितु वह देखते ही कह दे कि हे आयुष्मन्! गृहस्थ ! अथवा भगिनि ! मुझे आधाकर्मिक आहार-पानी खाना और पीना नही कल्पता है, अतः मेरे लिए इसको एकत्रित न कर और न पका। उस भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ, आधाकर्म आहार को एकत्रित करता है या पकाता है, और उसे लाकर देता है तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर वह ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में दो बातों का उल्लेख किया गया है— १–साधु आहार का समय होने से पहले अपने पारिवारिक व्यक्तियों के घरों में आहार को न जाए। क्योंकि उसे अपने यहां आया हुआ जानकर वे स्नेह एवं श्रद्धा-भक्ति वश सदोष आहार तैयार कर देंगे। इस तरह साधु को पूर्वकर्म दोष लगेगा। २— यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए आधाकर्मी आहार बना रहा हो, तो उसे देखकर साधु को स्पष्ट कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है। यदि इस बात को जानते-देखते हुए भी साधु उस गृहस्थ को आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार बनाने से नहीं रोकता है, तो वह माया का सेवन करता है। यदि साधु के इन्कार करने के बाद भी कोई आधाकर्म आहार बनाता रहे और वह सदोष आहार साधु को देने के लिए लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे।

प्रस्तुत सूत्र में जो सम्बन्धियों के घर में जाने का निषेध किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि उनके घर में राग-स्नेह भाव के कारण आहार में दोष लगने की सम्भावना हो तो वहां साधु आहार को न जाए। क्योंकि आगम में परिवार वालों के यहां आहार को जाने एवं आहार-पानी लाने का निषेध नहीं किया है। आगम में बताया है कि स्थविरों की आज्ञा से साधु सम्बन्धियों के घर पर भी भिक्षा के लिए जा सकता है*।

निष्कर्ष यह है कि साधु को १६ उद्गम के, १६ उत्पादन के और १० एपणा के ४२ दोष टाल कर आहार ग्रहण करना चाहिए और ग्रासैषणा के ५ दोषों का त्याग

* व्यवहार सूत्र, उद्देशक ६।

करके आहार करना चाहिए। इस तरह साधु को ४७ दोषों से दूर रहना चाहिए।

साधु को सभी दोषों से रहित निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करके अब सूत्रकार उत्सर्ग एवं अपवाद मे आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख करते हुए कहते है—

**मूलम्—सेभिक्खू वा० से जं० मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए तिल्लपूयं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए नो खद्धं २ उवसंकमित्तु ओभासिज्जा, नन्नत्थ गिलाणणीसाए ॥५१॥**

छाया—स भिक्षुर्वा अथ यत्० मांस वा मत्स्यं वा भज्यमानं (पच्यमान) प्रेक्ष्य तैलपूत वा आदेशाय-उपसंस्क्रियमाण प्रेक्ष्य न शीघ्र २ उपसक्रम्य अवभाषेत (याचेत) नान्यत्र ग्लान निश्रया।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। से जं०—वह यह जाने कि। आएसाए—पाहुनो के लिए। मस वा—मास। मच्छं वा—अथवा मत्स्य को। भज्जिज्जमाणं—पकाते हुए। पेहाए—देखकर। वा—अथवा। तिल्लपूयं—तैल प्रधान अपूप (पूडे)—अर्थात् तेल के पूडे। उवक्खडिज्जमाणं—बनाते हुए। पेहाए—देखकर। खद्धं २—अति शीघ्रता से। उवसंकमित्तु—पास जाकर। नो ओभासिज्जा—न मागे। नन्नत्थ—इतना विशेष है। गिलाण णीसाए—रोगी के लिए माग सकता है।

---

†१६ उद्गम और १० एषणा के दोषो का उल्लेख पीछे कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रकरण मे वृत्तिकार ने शेष दोषो का उल्लेख करते हुए लिखा है—

धाई, दूइ, निमित्ते, आजीव, वणिमगे तिगिच्छा य।
कोहे, माणे, माया, लोभे य हवंति दस एए।
पुव्वि, पच्छा, संथव, विज्जा, मते, अ चुण्ण, जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥

ग्रासैषणा के ५ दोष—

सजोग्रणा, पमाणे, इगाले, धूम, कारणे चेव। —आचाराग वृत्ति।

हुए हैं, तो फिर उसके लिए याचना करने को अपवाद मार्ग क्यों बताया गया ? वनस्पति तो साधु बिना कारण भी माग कर ला सकता है। इसका समाधान यह है कि अतिथि के लिए बनाए हुए पदार्थ उसके भोजन करने से पूर्व मांग कर लाना नहीं कल्पता इसलिए यह आदेश दिया गया है कि यदि बीमार के लिए उनकी आवश्यकता हो तो साधु अतिथि के भोजन करने के पूर्व भी उनकी याचना करके ला सकता है।

आहार के विषय में और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता सुब्भिं सुब्भिं भुच्चा दुब्भिं दुब्भिं परिट्ठवेइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। सुब्भिं वा दुब्भिं वा सव्वं भुंजिज्जा, नो किंचिवि परिट्ठविज्जा ॥५२॥

छाया—स भिक्षुर्वा अन्यतरद् भोजनजातं प्रतिगृह्य सुरभि २ भुक्त्वा दुरभि २ परिष्ठापयति (परित्यजेत्) मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात्। सुरभि वा दुरभि वा सर्वं भुञ्जीत न किंचिदपि परिष्ठापयेत।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल मे प्रवेश करने पर। अन्नयर—कोई एक साधु। भोयणजाय—भोजन को। पडिगाहित्ता—ग्रहण कर उसमें से। सुब्भि २—अच्छे २ पदार्थ। भुच्चा—खाकर। दुब्भि २—खराब या निकृष्ट पदार्थों को। परिट्ठवेइ—फैंक देता है तो उसे। माइट्ठाण—मातृस्थान—माया का। संफासे—स्पर्श होता है अत। एव—साधु इस प्रकार। नो करिज्जा—न करे, किन्त। सुब्भि वा—सुगन्ध युक्त। दुब्भि वा—दुर्गन्ध युक्त अर्थात् अच्छे–बुरे। सव्व—सब तरह के भोजन को। भुंजिज्जा—खा ले और। किंचिवि—किंचिन्मात्र भी। नो परिट्ठविज्जा—फैंके नहीं।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मे जाने पर कोई साधु या साध्वी वहा से भोजन लेकर, उसमे से अच्छा-अच्छा खाकर शेष रुक्ष आहार को बाहर फैंक दे तो उसे मातृस्थान (माया) का स्पर्श होता है। इसलिए उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, सुगन्धित या दुर्गन्धित जैसा भी आहार मिला है, साधु उसे समभाव पूर्वक खा ले, किन्तु उसमे से किचिन्मात्र भी फैंके नहीं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को रस (स्वाद) की आसक्ति के वश लाए हुए आहार मे से अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ को ग्रहण करके, शेष अस्वादिष्ट पदार्थों को फैंक नहीं देना चाहिए। से सरस एवं नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हुआ है, उसे अनासक्त एवं समभाव पूर्वक खा लेना चाहिए। क्योंकि साधु का आहार स्वाद के लिए नहीं, संयम का परिपालन करने के लिए होता है। अत उसे लाए हुए आहार मे स्वाद की दृष्टि से अच्छे-बुरे का भेद करके नहीं, बल्कि सबको समभाव पूर्वक, बिना स्वाद लिए खा लेना चाहिए।

अब पानी के विषय में वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ अन्नयरं पाणगजायं पडिगाहित्ता पुप्फं २ आविइत्ता कसायं २ परिट्ठवेइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। पुप्फं पुप्फेइ वा कसायं कसाइ वा सव्वमेयं भुंजिज्जा, नो किंचिवि परि० ॥५३॥

छाया—स भिक्षुर्वा २ अन्यतरत् पानकजातं प्रतिगृह्य पुष्पं २ आपीय कषायं २ परिष्ठापयेत् मातृस्थानं संस्पृशेत् न एवं कुर्यात्। पुष्पं पुष्पमिति वा कषायं कषाय इति वा सर्वमेतत् भुञ्जीत न किञ्चिदपि परिष्ठापयेत्।

को फैंक देता है तो उसे मातृस्थान—कपट का स्पर्श होता है। अतः वह ऐसा न करे, किन्तु वर्ण, गन्ध युक्त या वर्ण, गन्ध रहित जैसा भी जल उपलब्ध हो उसे समभाव पूर्वक पी ले, परन्तु उसमे से थोडा सा भी न फैंके।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कभी खट्टा या कषायला पानी आ गया हो तो मुनि उसे फैंके नहीं। मधुर पानी के साथ उस पानी को भी पी ले। आहार की तरह पानी पीने में भी साधु अनासक्त भाव का त्याग न करे। दशवैकालिक सूत्र मे भी इस सम्बन्ध मे बताया गया है कि मधुर या खट्टा जैसा भी प्रासुक पानी आ जाए, साधु को बिना खेद के उसे पी लेना चाहिए*।

अब फिर से आहार के विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

* तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वार धोअण।
ससेइमं चाउलोदगं अहुणाधोयं विवज्जए॥

जं जाणेज्ज चिराधोयं, मइए दंसणेण वा।
पडि पुच्छिऊण सुच्चावा,जं च निस्संकियं भवे॥

अजीवं पडिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ता।ण रोअए॥

थोवमासायणट्ठाए, हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चविलं पूयं, नालं तिण्ह विणित्तए॥

तं च अच्चम्बिलं पूई, नालं तिण्ह विणित्तए।
दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

तं च हुज्ज अकामेणं; विमणेण पडिच्छियं।
तं अप्पणा न पिबे, नो वि अन्नस्स दावए।

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया।
जयं पडिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे॥

— दशवैकालिक सूत्र ५, १. ७८-८१।

मूलम्—से भिक्खू वा० बहुपरियावन्नं भोयणजायं पडिगाहित्ता, बहवे साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुन्ना अपरिहारिया, अदूरगया, तेसिं अणालोइय अणामंतिय परिट्ठवेइ माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसंतो समणा! इमे मे असणे वा पाणे वा ४ बहुपरियावन्ने तं भुंजह णं, से सेवं वयंतं परो वइज्जा-आउसंतो समणा! आहारमेयं असणं वा ४ जावइयं २ सरइ तावइयं २ भुक्खामो वा पाहामो वा, सव्वमेयं परिसडइ सव्वमेयं भुक्खामो वा पाहामो वा ॥५४॥

छाया—स भिक्षुर्वा० बहुपरियापन्नं भोजनजातं प्रतिगृह्य बहवः सार्धमिकाः तत्र वसन्ति सांभोगिका समनोज्ञा अपरिहारिका अदूरगताः तेषाम् अनालोच्य अनामन्त्र्य परिष्ठापयेत्, मातृस्थान संस्पृशेत्, नैवं कुर्यात, स तदादाय तत्र गच्छेत् २ (गत्वा च) स पूर्वमेव, आलोचयेत्-आयुष्मन्तः श्रमणाः! एतत् मम अशन वा पानं वा बहुपर्यापन्नं तद्भुङ्ग्ध्वम्, तस्य चैवं वदतः परो वदेत्-आयुष्मन्तः श्रमणाः! आहार एषः अशन वा ४ यावन्मात्र शक्नुमः तावन्मात्रं भोक्ष्यामहे वा पास्यामो वा, सर्वमेतत् परिशटति सर्वमेतत् भोक्ष्यामहे वा पास्यामो वा।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर। परियावन्न—प्राप्त हुए। बहु भोयणजाय—बहुत से भोजन को। पडिगाहित्ता—लेकर के अपने स्थान पर आए। यदि वह आहार अधिक हो तो साधु। तत्थ—उस ग्राम आदि मे। बहवे—बहुत से। साहम्मिया—स्वधर्मी। संभोइया—सभोगी साधु। समणुन्ना—अपने समान आचार वाले जोकि। अपरिहारिया—त्यागने योग्य नहीं हैं अर्थात् शुद्ध आचार वाले हैं तथा। अदूरगया—अपने उपाश्रय मे दूर नही हैं। वसति—निवास करते हो। तेसिं—उनको।

अणालोइया—विना पूछे। अणामते—विना निमन्त्रित किये यदि। परिट्ठवेइ—आहार को परठे-बाहर फैंक दे तो उसे। माइट्ठाणं—मातृ स्थान का। संफासे—स्पर्श होता है। अत.। नो एव करिज्जा—वह इस प्रकार न करे किन्तु। से—वह भिक्षु। तमायाए—उस आहार को लेकर। तत्थ—वहा पर। गच्छिज्जा—जाए जहा सन्त ठहरे हुए हैं और वहा जाकर। से—वह भिक्षु। पुव्वामेव—पहले। आलोइज्जा—उन्हे उस आहार को दिखाए और दिखाकर इस प्रकार कहे। आउसतो समणा—आयुष्मन्त श्रमणो! इमे—यह। असणे वा पाणे वा—आहार और पानी। मे—मेरे प्रमाण से। बहु परियावन्ने—बहुत अधिक है। त—इस आहारादि का। भुजह—आप भी उपभोग करें। सेव वयत—इस प्रकार कहते हुए उस साधु के प्रति। से परो—कोई दूसरा साधु। वइज्जा—बोले। आउसंतो समणा—आयुष्मन् श्रमण! आहार-मेय—यह आहार। असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध। जावइय—यावन्मात्र-जितना। सरइ—हमसे खाया जाएगा। तावइय २—तावन्मात्र-उतना। भुक्खामो वा—हम खाएगे तथा। पाहामो वा—पीएगे अथवा। सव्वमेयं—यदि यह सव। परिसडइ—खाया गया तो। सव्वमेय—यह सब। भुक्खामो वा—खा लेंगे। पाहामो व—और सब पी लेंगे।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल मे प्रवेश करने पर गृहस्थ के घर से बहुत सा अशनादिक आहार प्राप्त होने पर ग्रहण करके अपने स्थान पर आए। यदि वह आहार उससे खाया न गया हो तो वहा पर जो अन्य स्वधर्मी साधु रह रहे हो, जो साभोगिक तथा समान आचार वाले है, और जो अपने उपाश्रय के समीप भी हैं, उनको बिना पूछे, बिना निमन्त्रित किए यदि उस शेष आहार को परठ-फेंक देता है तो उसे मातृस्थान का स्पर्श होता है, अर्थात् माया का दोष लगता है। इस लिए वह ऐसा न करे, किन्तु वह भिक्षु उस आहार को लेकर वहा जावे और जाकर सर्वप्रथम उस आहार को दिखाए और दिखाकर इस प्रकार कहे—कि हे भाग्यशाली श्रमणो! यह अशनादिक चतुर्विध आहार मेरे खाने से वहुत अधिक है अत आप इसे खालें। इसके इसप्रकार कहने पर किसी भिक्षु ने कहा—हे आयुष्मन् श्रमण! यह आहार हम जितना खा सकेंगे उतना खाने का प्रयत्न करेंगे। यदि हम पूरा आहार-पानी खा-पी सके तो सब खा-पी लेंगे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि साधु रोगी एवं बीमार आदि के लिए पर्याप्त आहार लेकर आए और वह आहार खाने के बाद कुछ बच गया है, तो साधु उक्त शहर में या समीपस्थ गांव आदि में स्थित सांभोगिक साधुओं को उस आहार को खाने के लिए प्रार्थना करे, किन्तु उन्हें दिखाए बिना परठे(फैंके) नहीं। यदि वह समीपस्थ स्थान में स्थित साधुओं को दिखाए बिना उस बढ़े हुए आहार को बाहर फैंकता है, तो वह प्रायश्चित का अधिकारी होता है। अतः साधु का कर्त्तव्य है कि वह अपने निकट प्रदेश में स्थित सहधर्मी एवं सांभोगिक साधुओं के पास जाकर उन्हें प्रार्थना करे कि हमारे खाने के बाद कुछ आहार बढ़ गया है, अतः आप इसे ग्रहण करने की कृपा करें। और आप थोड़ा या पूरा जितना भी खा सकें, खाने का प्रयत्न करें।

इससे स्पष्ट होता है कि बढ़ा हुआ आहार समान धर्मी, समान आचार-विचार वाले या सांभोगिक साधु को ही देने का विधान है। दूसरी बात यह है कि उस युग में बड़े-बड़े शहर होते थे, अतः एक ही शहर में कई स्थानों पर साधु आकर ठहर जाते थे। या थोड़ी-थोड़ी दूर पर गांव होते थे, जिनमे साधु ठहरा करते थे और वे गांव आहार-पानी लाने-ले जाने की मर्यादा में होते थे। तीसरी बात यह है कि साधु की भाषा निश्छल एवं स्पष्ट होती है। वह अन्य साधु के पास जाकर ऐसा नहीं कहता कि मैं आपके लिए अच्छा आहार लेकर आया हूँ। वह तो स्पष्ट कहता है कि मैं अपने या अपने साथ के साधुओं के लिए आहार लाया था, उसमे से इतना आहार बढ़ गया है। अतः कृपा करके इसे ग्रहण करें और लेने वाले साधु भी बिना किसी भेदभाव के स्नेह एवं सद्भावना के साथ तथा जीवों की यतना के लिए उसे ग्रहण करते हैं और उस आए हुए श्रमण से कहते हैं कि हम जितना खा सकेंगे उतना खाने का प्रयत्न करेंगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु जीवन कितना स्पष्ट, सरल एवं मधुर है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा से जं० असणं वा ४ परं समुद्दिस्स बहिया नीहडं जं परेहिं असमणुन्नायं अणिसिट्ठं अफा० जाव नो पडिगाहिज्जा जं परेहिं समणुन्नायं सम्मं णिसिट्ठं फासुयं जाव**

**पडिगाहिज्जा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥५५॥**

छाया—स भिक्षुर्वा २ स यद्० अशनं वा ४ पर समुद्दिश्य वहिर्निष्क्रान्तं यत् परैः असमनुज्ञातं, अनिसृष्टं, अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृह्णीयात्। यत् परैः समनुज्ञातं सम्यग् निसृष्टं प्रासुकं यावत् प्रतिगृह्णीयात्। एव खलु तस्य भिक्षोर्भिक्षुक्या वा सामग्र्यम्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा २—साधु अथवा साध्वी। से जं—जो फिर इस प्रकार जाने यथा। असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार। परं—अन्य भाट आदि को। समुद्दिस्स—उद्देश करके—उनके निमित्त। वहिया—वाहर। नीहडं—देने के लिए निकाला है। ज—जिसकी। परेहिं—गृहस्थो ने। असमणुन्नायं—आज्ञा नही दी है अर्थात् तुम जहा चाहो और जिसको चाहो दे सकते हो, ऐसा नही कहा। अणिसिट्ठं—उस आहार को अभी तक उसे पूरी तरह समर्पित नही किया है। ऐसा आहार देने के लिए ले जाया जा रहा हो और यदि मार्ग मे साधु मिल जाए और उसे उस आहार को ग्रहण करने की अभ्यर्थना की जाये तो। अफासुय—उस आहार को अप्रासुक जानकर। जाव—यावत् मिलने पर भी। नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे तथा। जं—जिस के लिए। परेहिं—गृहस्थो ने। समणुन्नायं—आज्ञा दे दी है और जो। सम्मं—भली प्रकार से। निसिट्ठं—उनके स्वाधीन किया गया है तब वह आहार जिस के अधिकार मे है वह यदि साधु को आहार ग्रहण करने की विनती करे तो साधु उस आहार को। फासुय—प्रासुक जानकर। जाव—यावत्—मिलने पर। पडिगाहिज्जा—ग्रहण करले। एव—इस प्रकार। खलु—निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स—साधु। भिक्खुणिए वा—या साध्वी का। सामग्गियं—समग्र-सम्पूर्ण साधु भाव है।

मूलार्थ—गृहस्थो के घर मे भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी भाट आदि के निमित्त बनाया गया जो अशनादिक चतुर्विध आहार घर से देने के लिए निकाला गया है, परन्तु, गृहपति ने अभी तक उस आहार को उन्हें ले जाने के लिए नही कहा है, और उनके स्वाधीन नही किया है, ऐसी स्थिति मे यदि कोई व्यक्ति उस आहार को साधु को विनति करे तो वह उसे अप्रासुक जानकर स्वीकार न करे। और यदि गृहपति आदि ने उन

भाटादि को वह भोजन सम्यक् प्रकार से समर्पित कर दिया है और कह दिया है कि तुम जिसे चाहो दे सकते हो। ऐसी स्थिति मे वह साधु को विनति करे तो साधु उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करले। यही साधु या साध्वी का समग्र आचार है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ ने भाट या अन्य किसी के लिए अशन आदि चार प्रकार का भोजन बनाया है, किन्तु अभी तक न तो उसे दिया गया है, न उसके अधिकार में किया गया है और न उसे यह कहा गया है कि इस आहार को तुम जिसे चाहो दे सकते हो, ऐसी स्थिति में यदि कभी वह उस आहार के लिए साधु को प्रार्थना करे तो साधु उस आहार को अप्रासुक–अकल्पनीय समझ कर ग्रहण न करे। क्योंकि, वह आहार देने वाले व्यक्ति के अधिकार में नहीं है, अतः हो सकता है कि साधु को देते हुए देखकर गृहस्थ के मन में भाट या साधुके प्रति दुर्भाव या आवेश आ जाए। या वह भाट को देने के लिए फिर से भोजन बनाए। इससे कई तरह के दोष लगने की सम्भावना है। अतः साधु को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यदि वह आहार भाट आदि के अधिकार में हो गया है तो अब वह इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि उक्त आहार को चाहे जिसे दे। ऐसी स्थिति में यदि वह साधु को आहार के लिए विनति करता है, तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

॥ नवम उद्देशक समाप्त ॥

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## दशम उद्देशक

नवम उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु को किस तरह से आहार ग्रहण करना चाहिए। अब प्रस्तुत उद्देशक में इस बात को स्पष्ट करते हुए कि यदि साधारण आहार उपलब्ध हो तो स्थान पर आने के पश्चात् साधु को क्या करना चाहिए, सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से एगइओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहित्ता ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। से तमायाय तत्थ गच्छिज्जा २ एवं वइज्जा--आउसंतो समणा! संति मम पुरेसंथुया वा पच्छा० तंजहा--आयरिए वा १ उवज्झाए वा २ पवित्ती वा ३ थेरे वा ४ गणी वा ५ गणहरे वा ६ गणावच्छेइए वा ७ अवियाइं एएसिं खद्धं खद्धं दाहामि, सेणेवं वयंतं परो वइज्जा-कामं खलु आउसो! अहापज्जत्तं निसिराहि, जावइयं २ परो वदइ तावइयं २ निसिरिज्जा, सव्वमेवं परो वयइ सव्वमेयं निसिरिज्जा ॥५६॥**

छाया—स एककः साधारणं वा पिण्डपातं प्रतिगृह्य तान् साधर्मिकान् अनापृच्छ्य यस्मै यस्मै इच्छति तस्मै तस्मै प्रभूतं प्रभूतं प्रयच्छति, मातृस्थानं संस्पृशेत्। नैव कुर्यात् स तदादाय तत्र गच्छेत् २ (गत्वा) चैवं वदेत्

आयुष्मन्तः श्रमणाः ! सन्ति मम पुरः संस्तुता वा पश्चात्० तद्यथा-आचार्यो वा १ उपाध्यायो वा २ प्रवृति० (प्रवर्त्तकः) वा ३ स्थविरो वा ४ गणी वा ५ गणधरो वा ६ गणावच्छेदको वा ७ अपि च, एतान् एतेभ्यः प्रभूत प्रभूतं दास्यामि, तस्यैवं वदन्तः परो वदेत्--कामं खलु आयुष्मन् ! यथा प्राप्तं निसृज यावत् २ परो वदेत् तावत् २ निसृजेत् सर्वमेतत् परो वदेत् सर्वमेतन्निसृजेत् (दद्यात) ।

पदार्थ—से—वह—भिक्षु । एगइओ—कभी । साहारणं—सब के लिए । वा—अथवा । पिंडवायं—आहार को । पडिगाहित्ता—ग्रहण करके । ते—उन । साहम्मिए—साधर्मिओ को । अणापुच्छित्ता—पूछे विना । जस्स जस्स—जिस-जिस को । इच्छइ—उस आहार की आवश्यकता है । तस्स तस्स—उस-उस के लिए । खद्धं खद्धं—अधिक से अधिक दलइ—आहार दे देता है, तो । माइट्ठाणं—माया के स्थान को । संफासे—स्पर्श करता है अतः । एवं—इस प्रकार । नो—नहीं । करेज्जा—करे किन्तु । से—वह-भिक्षु । त—उस आहार को । आयाय—लेकर । तत्थ—वहां—गुरुजनादि के पास । गच्छिज्जा—जाए और वहां जाकर । एव—इस प्रकार । वइज्जा—कहे कि । आउसन्तो—हे आयुष्मन् ! समणा—श्रमणो ! मम—मेरे । पुरे संथुया—पूर्व परिचित अर्थात् जिनके पास दीक्षा ग्रहण की है । वा—और । पच्छा संथुया—पश्चात् परिचित अर्थात् जिनके पास सूत्र आदि का अध्ययन किया है । तंजहा—जैसे कि । आयरिए वा—आचार्य । उवज्झाए वा—उपाध्याय । पवित्ती वा—साधुओं को यथा योग्य वैयावृत्य आदि में नियुक्त करने वाले प्रवर्तक । थेरे वा—धर्म से भ्रष्ट होने वाले साधुओं को तथा श्रावकों को पुनः धर्म में स्थिर करने वाले स्थविर । गणी वा—गण समूह की व्यवस्था करने वाले गणि । गणहरे वा—गुरुजनों की आज्ञा से आचार्य रूप से साधुओं को लेकर स्वतन्त्र रूप से विहार करने वाले गणधर और । गणावच्छेइए वा—गच्छ के कार्यों की चिंता-देखभाल करने वाले गणावच्छेदक । अवियाइं—इत्यादि को कहे कि आप की आज्ञा हो तो । एएसिं—इन साधुओं को । खद्धं खद्धं—पर्याप्त आहार । दाहामि—दूं ? से णेवं—उसके इस प्रकार । वयंतं—बोलने पर । परो—आचार्यादि । वइज्जा—कहे कि । आउसो—हे आयुष्मन् ! श्रमण ! कामंखलु—तू अपनी इच्छानुसार । अहापज्जत्तं—यथापर्याप्त । निसिराहि—दे ? जावइयं २—जितना-जितना । परो—आचार्यादि गुरुजन । वदइ—कहे । तावइयं २—उतना-उतना आहार उन्हें । निसिरिज्जा—दे देवे यदि । परो—आचार्य । वइज्जा—कहे कि । सव्वमेयं—सभी पदार्थ दे दे तो । सव्वमेव—सभी पदार्थ । निसिरिज्जा—दे दे ।

मूलार्थ—कोई भिक्षु गृहस्थ के यहा से सम्मिलित आहार को लेकर अपने स्थान पर आता है और अपने साधर्मियो को पूछे बिना जिस जिस को जो रुचता है उस उस के लिए वह दे देता है तो ऐसा करने से वह मायास्थान का सेवन करता है। अतः साधु को ऐसा नही करना चाहिए परन्तु, उसे यह चाहिए कि उपलब्ध आहार को लेकर जहां अपने गुरु जनादि हो जैसे कि--आचार्य,उपाध्याय, प्रवर्त्तक स्थविर, गणी, गणधर और गणावच्छेदक आदि,वहा जाए और उनसे प्रार्थना करे कि हे गुरुदेव ! मेरे पूर्व और पश्चात् परिचय वाले दोनो ही भिक्षु यहा उपस्थित है यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन उपस्थित सभी साधुओं को आहार दे दू ? उस भिक्षु के ऐसा कहने पर आचार्य कहे कि— आयुष्मन् श्रमण ! जिस साधु को जैसी इच्छा हो, उसी के अनुसार उसे पर्याप्त आहार दे दो। आचार्य की आज्ञानुसार सबको यथोचित बाट कर दे देवे। यदि आचार्य कहें कि जो कुछ लाए हो, सभी दे दो, तो बिना किसी संकोच के सभी आहार उन्हे दे दे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई मुनि अपने सांभोगिक साधुओं का आहार लेकर आया है, तो उसे पहले आचार्य आदि की आज्ञा लेनी चाहिए कि मैं यह आहार लाया हूं, आपकी आज्ञा हो तो सभी साधुओं में विभक्त कर दूं। उसके प्रार्थना करने पर आचार्य आदि जो आज्ञा प्रदान करें उसके अनुसार कार्य करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को संघ की व्यवस्था करने वाले आचार्य आदि प्रमुख मुनियों की आज्ञा लेकर ही साधु जीवन की प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।

आचार्य अभयदेव सूरि ने सात पदवियों का निम्न अर्थ किया है—

१—आचार्य-. प्रतिबोधक प्रव्राजकादि, अनुयोगाचार्यो वा।

२—उपाध्याय :— सूत्रदाता।

३—प्रवर्त्तक—प्रवर्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्यादिष्विति प्रवर्ती।

४— स्थविर — प्रवर्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीक- रोतीति स्थविरः।

५—गणी—गणोऽस्यानीति गणी—गणाचार्य।
६—गणधरः—गणधरो—जिनशिष्य विशेषः।
७—गणावच्छेदकः—गणस्यावच्छेदो—विभागोंऽशोऽस्यास्तीति योहि-गणांश गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादि निमित्त विहरति स गणावच्छेदकः।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उक्त सातों उपाधियां गण की, संघ की सुरक्षा एव सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए रखी गई हैं। इनमें गणावच्छेदक का कार्य साधुओं की उपधि आदि की आवश्यकता को पूरा करना है। जबकि आचाराङ्ग सूत्र के वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने गणावच्छेदक को गण, गच्छ या संघ का चिन्तक बताया है*। परन्तु, आचार्य अभयदेव सूरि ने जो अर्थ किया है, वह दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में वर्णित आठ गणि संपदाओं से सबन्ध रखता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरे संथुवा' और 'पच्छा सथुवा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य दीक्षाचार्य एवं वाचनाचार्य से है। उक्त सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि दीक्षाचार्य एवं वाचनाचार्य (आगम का ज्ञान कराने वाले) अलग-अलग होते थे।

प्रस्तुत सूत्र में साधु के वात्सल्य भाव का वर्णन किया गया है और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसे प्रत्येक कार्य आचार्य आदि की आज्ञा से करना चाहिए। उन्हें बिना बताए या उन्हें बिना पूछे न स्वयं आहार करना चाहिए एवं न अन्य साधुओं को देना चाहिए। से आहार आदि कार्यों में माया, छल, कपट आदि का परित्याग करके सरल भाव से साधना में संलग्न रहना चाहिए।

साधु को माया-कपट से सदा दूर रहना चाहिए इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से एगइओ मणुन्नं भोयणजायं पडिगाहित्ता पंतेण भोयणेन पलिच्छाएइ मा मेयं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमाइए आयरिए वा जाव गणावच्छेए वा, नो खलु मे कस्सइ किंचि दायव्वं सिया, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। से तमा-**

* गणावच्छेदकस्तु गच्छ कार्य चिन्तक.।

याए तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कट्टु इमं खलु इम खलुत्ति आलोइज्जा, नो किंचिवि निगूहिज्जा। से एगइओ अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता भद्दयं २ भुच्चा विवन्नं विरसमाहरइ माइ० नो एवं ॥५७॥

छाया— स एकतरः मनोज्ञं भोजनजात प्रतिगृह्य प्रान्तेन भोजनेन प्रतिच्छादयेत् ममेद दर्शितं मन् दृष्ट्वा स्वयं आदद्यात् आचार्यः वा यावन् गणावच्छदकः वा नो खलु मे कस्यापि किंचिद् दातव्य स्यात्, मातृस्थानं संस्पृशेत, नो एवं कुर्यात्। स तमादाय तत्र गच्छेत् गत्वा पूर्वमेव उत्तानके हस्ते प्रतिग्रह कृत्वा इद खलु इद खलु इति आलोचयेत् दर्शयेत्, न किंचिदपि निगूहयेत्। स एकतरः अन्यतरद् भोजनजात प्रतिगृह्य भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा विवर्णं विरसमाहरति, मातृस्थान संस्पृशेत् न एव कुर्यात्।

पदार्थ—से—वह। एगइओ—कोई एक भिक्षु। मणुन्न—मनोज्ञ। भोयणजायं—भोजन को। पडिगाहित्ता—ग्रहण करके। पंतेण भोयणेण—नीरस भोजन से। परिच्छाएइ—आच्छादित करे। मा—मत। मेयं—यह आहार। दाइम सत—दिखाने पर, फिर। दट्ठूणं देखकर। सयमाइए—स्वय ही ले ले। आयरिए—आचार्य। वा—अथवा। जाव—यावत्। गणावच्छयए—गणावच्छेदक। खलु—निश्चय ही। मे—मेरे को। कस्सइ—किसी भी भोजन का। किंचि—कुछ भी भाग। नो—नही। दायव्व सिया—दें। ऐसा करने से भिक्षु। माइठाण—मातृस्थान का। सफासे—स्पर्श करता है अत वह। एव—इस प्रकार। नो करिज्जा—न करे। से—वह-भिक्षु। तं—उस आहार को। आयाए—लेकर। तत्थ—जहा आचार्य आदि गुरुजन हो वहा। गच्छिज्जा—जाए और वहा जाकर। पुव्वामेव—पहले ही। उत्ताणए—पसारे हुए। हत्थे—हाथ मे। पडिग्गह—पात्र को। कट्टु—करके। इम खलु-इम खलुत्ति—यह पदार्थ यह है और यह पदार्थ यह है-इस प्रकार एक-एक करके सब पदार्थ। आलोइज्जा—दिखलावे। किंचिवि—किंचित्मात्र भी। नो निगूहिज्जा—छिपावे नहीं। से—वह। एगइओ—कोई एक भिक्षु। अन्नयर भोयण जाय—अन्य किसी प्रकार का भी भोजन। पडिगाहित्ता—ग्रहण करके और गृहस्थ के वहीं। भद्दय भद्दय—अच्छा अच्छा भोजन। भुच्चा—खाकर के। विवन्न विरस—वचा हुआ विरस और निकृष्ट भोजन। आहरइ—निवास स्थान

पर आचार्यादि के पास लाता है, ऐसा करने से। माइट्ठाणं — मातृ स्थान का। संफासे — सेवन करता है अत भिक्षु को। एवं — इस प्रकार। नो — नही। करिज्जा — करना चाहिए।

मूलार्थ—यदि कोई मुनि भिक्षा मे प्राप्त सरस, स्वादिष्ट आहार को आचार्य आदि न ले लेवे इस दृष्टि से उसे रूखे-सूखे आहार से छिपा कर रखता है, तो वह माया का सेवन करता है। अत. साधु को सरस एव स्वादिष्ट आहार के लोभ मे आकर ऐसा छल-कपट नही करना चाहिए। जैसा भी आहार प्राप्त हुआ हो उसे ज्यो का त्यो लाकर आचार्य आदि के सामने रख दे और झोलो एव पात्र को हाथ मे ऊपर उठाकर एक-एक पदार्थ को बता दे कि मुझे अमुक-अमुक पदार्थ प्राप्त हुए है। इस तरह साधु को थोड़ा भी आहार छिपाकर नही रखना चाहिए।

यदि कोई साधु गृहस्थ के घर पर ही प्राप्त पदार्थो मे से अच्छे-अच्छे पदार्थो को उदरस्थ करके बचे-खुचे पदार्थ आचार्य आदि के पास लेकर आता है, तो वह भी माया का सेवन करता है। अतः साधु को ऐसा कार्य नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु जीवन की सरलता एवं स्पष्टता का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु को अपने स्वादेन्द्रिय का परिपोषण करने के लिए सरस को न तो नीरस आहार से छुपाकर रखना चाहिए और न उसे गृहस्थ के घर में या मार्ग में ही उदरस्थ कर लेना चाहिए। साधु को चाहिए कि उसे गृहस्थ के घरों से जो भी आहार उपलब्ध हुआ है, उसमें किसी तरह की आसक्ति नहीं रखते हुए अपने अपने स्थान पर ले आए और आहार के पात्र को अपने हाथ में ऊपर उठाकर आचार्य आदि से निवेदन करे कि मुझे भिक्षा में ये पदार्थ प्राप्त हुए हैं। परन्तु, उसे उसमें से थोड़ा सा भी छुपाना नहीं चाहिए। आगम में यह भी कहा गया है कि जो साधु प्राप्त पदार्थों का सबसे समान भाग नहीं देता है तो वह मुक्ति नहीं पा सकता। अत साधु को चाहिए कि वह बिना किसी सकोच एवं बिना किसी तरह की स्वाद-लोलुपता को रखते हुए सब सांभोगिक साधुओं में सम विभाजन करके आहार करे*।

* असंविभागी न हु तस्स मोक्खो। —दशवैकालिक सूत्र, ९, २।

परन्तु, ऐसा न करे कि अच्छे-अच्छे पदार्थ स्वयं खा ले और बचे-खुचे पदार्थ अन्य साधुओं को देवे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'मणुन्न' और 'पतेणं' पदों से सामूहिक आहार की परम्परा सिद्ध होती है। क्योंकि विविध प्रकार के सरस आहार की प्राप्ति अनेक घरों से ही हो सकती है। और अनेक घरों मे कई साधुओं के लिए ही घूमा जाता है। केवल एक साधु के लिए एक-दो घर ही पर्याप्त होते है। इस तरह इस सूत्र से सामूहिक गोचरी का स्पष्ट निर्देशन मिलता है।

इस सूत्र में यह भी बताया गया है कि साधु को सदा सरल एवं स्पष्ट भाव रखना चाहिए। उसे अपने स्वाद एवं स्वार्थ के लिए किसी भी वस्तु को छुपाकर नहीं रखना चाहिए और गुरु एवं आचार्य आदि के सामने सभी पदार्थ इस तरह रखने चाहिएं कि वे आसानी से सभी पदार्थों को देख सकें। न तो उन्हें देखने मे कोई कष्ट हो और न कोई पदार्थ उनकी दृष्टि से ओझल रह सके।

इस सूत्र से विशेष कारण होने पर गृहस्थ के घर मे आहार करने की ध्वनि भी प्रस्फुटित होती है। यह ठीक है कि उस समय वह इतनी ईमानदारी एवं प्रामाणिकता रखे कि वह स्वय ही सभी सरस पदार्थ न खा जाए। उस समय उस पर अपनी प्रामाणिकता को निभाने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है। परन्तु, विशेष परिस्थिति में गृहस्थ के घर मे खाने का पूर्णतया निषेध नहीं है। आगम मे इसकी आज्ञा भी दी गई है*।

साधु को किस तरह का आहार ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० अंतरुच्छियं वा उच्छुगंडियं**

---

* सिया एगइओ लद्धु, विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं—भद्दगं भुच्चा, विवन्नं विरसमाहरे॥

जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवए पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ॥

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माण कामए।
बहुं पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वइ॥

— दशवैकालिक सूत्र, ५, २, ३३ — ३५।

वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरंग वा उच्छुसालगं वा. उच्छुडालगं वा, सिंबलिं वा सिंबलथालगं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे भोयणजाए बहुउज्झियधम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा० अफा० ॥ से भिक्खू वा २ से जं० बहुअट्ठियं वा मंसं वा मच्छं वा बहुकंटयं अस्सिं खलु० तहप्पगारं बहुअट्ठियं वा मंसं० लाभे संते० । से भिक्खू वा० सिया णं परो बहुअट्ठिएण-मंसेण वा बहुकंटएण मच्छेण वा उवनिमंतिज्जा आउसंतो समणा ! अभिकखसि बहुअट्ठियं मंसं० पडिगाहित्तए ? एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोइज्जा-- आउसोत्ति वा २ नो खलु मे कप्पइ बहु० पडिगा०, अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पोग्गलं दलयाहि, मा य अट्ठियाइं, से सेवंवयंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहंसि बहु० परिभाइत्ता निहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसिवा परपायंसि वा अफा० नो । से आहच्च पडिगाहिए सिया तं नोहित्ति वइज्जा नो अणिहित्ति वइज्जा,से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे जाव संताणए मंसगं मच्छगं भुच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे-ज्झामथंडिलंसि वा जाव पमज्जिय पमज्जिय परट्ठविज्जा ॥५८॥

छाया—स भिक्षुः वा स यत्० अन्तरिक्षुक वा इक्षुगंडिका वा इक्षुचोयग वा इक्षुमेरुक वा इक्षुशालक वा इक्षुडालक वा सिम्बलि वा सिम्बलस्थालकं वा अस्मिन् खलु प्रतिग्रहे अल्पे भोजन जाते बहूज्झिक धर्मके तथाप्रकार अन्तरिक्षुक वा अप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् । स भिक्षुः वा० स यत्० बह्वस्थिकं मांसं वा मत्स्यं वा बहुकण्टक अस्मिन् खलु० तथाप्रकार बह्वस्थिकेन वा मांसं लाभेसति यावत् न प्रतिगृण्हीयात् । स भिक्षु, वा० स्यात् परः बह्वस्थिकेन मांसेन वा मत्स्यकेन वा उपनिमन्त्रयेत् आयुष्मन्त. श्रमणा ! अभिकांक्षसि बह्वस्थिकं मांस प्रतिग्रहीतुम् ? एतत्प्रकारं निर्घोष श्रुत्वा निशम्य स पूर्वमेव आलोचयेत्—आयुष्मन् इति वा २ नो मे खलु कल्पते बह्वस्थिक मांस प्रतिग्रहीतुम् । अभिकांक्षसि मे दातुं यावतिकं तावतिकं पुद्गलं देहि, मा च अस्थिकानि, तस्य एवं वदतः परः अभ्याहृत्य अन्तः प्रतिग्रहे बहु० परिभाज्य निहृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं प्रतिग्रहं परहस्ते वा पर पात्रे वा अप्रासुक० नो प्रतिगृण्हीयात् । स आहृत्य प्रतिग्राहितः स्यात् त नो ही इति वदेत् नो अही इति वदेत् स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य अथ आरामे वा अथ उपाश्रये वा अल्पाडे यावत् अल्प सन्तानक मांस मत्स्यकं भुक्त्वा अस्थिकानि कण्टकान् गृहीत्वा स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य अथ ज्झामस्थंडिले वा प्रमृज्य प्रमृज्य परिष्ठापयेत् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू—भिक्षु । वा—अथवा भिक्षुणी गृहस्थ के घर मे गया हुआ । से जं०—फिर वह ग्राह्य पदाथ को जाने, जैसेकि—अंतरुच्छियं वा—इक्षुका छिला हुआ पर्व का मध्य भाग अथवा । उच्छुगंडियं वा—छिला हुआ इक्षुखण्ड । उच्छुचोयगं वा—अथवा इक्षु के पीने जाने पर जो निःसार छिलके रहजाते हैं वे । उच्छुमेरग वा—अथवा इक्षु का छिला हुआ अग्रभाग । उच्छुसालगं वा—अथवा इक्षु की छिली हुई शाखा । उच्छुडालग वा । अथवा छिली हुई इक्षु शाखा का एक भाग । सिंबलिं वा—अथवा मूंग आदि की किसी भी प्रयोग से प्रासुक हुई अचित्त फलिया, अथवा । सिंबल थालगं वा—बल्ली आदि की अग्नि प्रयोग से अचित्त हुई फलिया । खलु—वाक्यालंकार मे है । अंसि पडिग्गहियंसि—इस प्रकार का आहार गृहस्थ के पात्र मे पडा हुआ है । अप्पेसिया भोयणजाए—जिस में भोजन योग्य अश अल्प है और । बहुउज्झिय धम्मिए—परठने-फैंकने योग्य अंश अधिक है । तहप्पगारं—तथाप्रकार के । अंतरुच्छुयं वा—छिला हुआ इक्षु पर्व का मध्य भाग आदि मिलने पर । अफा०—

साधु उसे अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे। से भिक्खू वा २—वह साधु अथवा साध्वी गृहपति के घर मे गया हुआ। से ज०—वह आहार को जाने जैसे कि—बहु अट्ठियं वा मंसं—बहुत अस्थिवाला मास अर्थात् जिस वनस्पति के फलो मे गुठलिया अधिक हो और गूदा कम हो अथवा। मच्छं वा बहु कंटय—मत्स्य नामक वनस्पति, जिसके फल मे काटे विशेष होते है। अस्सिं खलु०—इस प्रकार का आहार गृहस्थ के पात्र मे है तथा। तहप्पगार—तथा प्रकार का। बहुअट्ठियं वा मंस—बहुत अस्थि वाला मास अर्थात् बहुत गुठली वाला गूदा और बहुत काटो वाला अनिमिषफल। लाभे संते—मिलने पर अकल्पनीय जान कर ग्रहण न करे।

से भिक्खू वा०—वह भिक्षु अथवा भिक्षुकी गृहस्थ के घर मे गया हुआ। णं—वाक्यालकार मे है। सिया—कदाचित्। बहुअट्ठिएणमंसेण वा—बहुत गुठलियो वाले गूदे मे और। मच्छेण वा—बहुत काटो वाली मत्स्य नामक वनस्पति के फलो से। उवनिमंतिज्जा—उपनिमन्त्रित करे कि। आउसंतो समणा! हे आयुष्मन् श्रमणो! बहुअट्ठियमंसं—बहुत अस्थियो वाले गूदे को। पडिगाहित्तए—ग्रहण करना। अभिकंखसि—चाहते हो? एयप्पगारं—इस प्रकार के। निग्घोसं—निर्घोष-शब्द को। सुच्चा—सुन कर और। निसम्म—हृदय मे विचार कर। से—वह भिक्षु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोएज्जा—देखे और गृहस्थ के प्रति कहे कि। आउसोत्ति वा०—हे आयुष्मन् गृहपते! या बहन!। खलु—निश्चय ही। मे—मुझे। बहुअट्ठियं वा मंसं—बहुत गुठलियो वाला गूदा। पडिगाहित्तए—ग्रहण करना। नो कप्पइ—नही कल्पता किन्तु यदि तू। मे—मेरे का। दाउं—देना। अभिकंखसि—चाहता है या चाहती है तो। जावइयं—इसमे से जितना। पुग्गलं—पुद्गल-खाद्य अश है। तावइयं—उतना ही। दलयाहि—दे, दे। मा अट्ठियाइं—अस्थिया-गुठलिया मत दे। से—वह। गृहस्थ। सेवं—उस भिक्षु के इस प्रकार। वयंतस्स—कहने पर। परो—वह। अभिहट्टु—लाकर। अन्तो पडिग्गहंसि—घर मे जाकर अन्य पात्र मे। बहु—बहुत गुठलियो वाला गूदा। परिभाइत्ता—अविभक्त कर और। निहट्टु—बाहर लाकर। दलइज्जाहि—दे तो। तहप्पगारं—तथा प्रकार का। पडिग्गहं—प्रतिग्रह पात्रगत आहार। परहत्थंसि वा—गृहस्थ के हाथ मे हो अथवा। पर पायंसि वा—गृहस्थ के पात्र मे हो। अफासुयं—उसे अप्रासुक जानकर मिलने पर ग्रहण न करे। से—उस भिक्षु ने। आहच्च—कदाचित्। पडिगाहिएसिया—ऐसा आहार ले लिया हो अर्थात् गृहस्थ ने पात्र मे डाल दिया हो, तो फिर। तं—उस गृहस्थ को। नो हित्ति वइज्जा—न अच्छा कहे और। नो—नाही। अणिहित्ति वा—बुरा कहे किन्तु। स—वह भिक्षु। त—उस आहार को। आयाय—लेकर। एगंत—एकान्त स्थान मे। अवक्कमिज्जा—चला जाए और वहा जाकर। अहे आरामंसि वा—बाग में अथवा। अहे उवस्सयंसि वा—उपाश्रय मे ही। अप्पंडे जाव संताणे—जहां चीटी आदि के अण्डे और मकडी आदि के जाले न हो। मंसगमच्छगं—वहा फल के गूदे और मत्स्य वनस्पति फल को। भुच्चा—

खाकर। अट्ठियाइ—गुठलियो और। कटए—काटों को। गहाए—ग्रहण कर और। से—वह भिक्षु। त—उसको। मायाय—लेकर। एगत—एकान्त स्थान के। अवक्कमिज्जा—चला जाए और वहा जाकर। अहेज्झामथडिलसि वा—अग्नि द्वारा दग्ध भूमि आदि अचित एव निर्दोष स्थान को। जाव—यावत्। पमज्जिय २—अच्छी तरह प्रमाजित करके। परट्ठविज्जा—उन गुठलियों को वहा परठ फैंक दे।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर पर आहार आदि के लिए गया हुआ भिक्षु, इक्षु खड आदि जो छिले हुए है एव सब प्रकार से अचित्त है, तथा मूग और बल्ली आदि की फली, जो किसी निमित्त से अचित्त हो चुकी है, परन्तु उसमे खाद्य भाग स्वल्प है और फैंकने योग्य भाग अधिक है तो इस प्रकार का आहार मिलने पर भी अकल्पनीय जानकर ग्रहण न करे।

फिर वह भिक्षु किसी गृहस्थ के यहा गया हुआ बहुत गुठलियो युक्त फल के गूदे को और बहुत काटो वाली मत्स्य नामक बनस्पति को भी उपर्युक्त दृष्टि के कारण ग्रहण न करे। यदि गृहस्थ उक्त दोनो पदार्थो की निमत्रणा करे तो मुनि उसे कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ! यदि तू मुझे यह आहार देना चाहता है तो उक्त दोनो पदार्थों का खाद्य भाग ही मुझे दे दे, शेष गुठली तथा कांटे मत दे।

यदि शीघ्रता मे गृहस्थ ने उक्त पदार्थ मुनि के पात्र मे डाल दिए हो तो गृहस्थ को भला बुरा न कहता हुआ वह मुनि बगीचे या उपाश्रय मे आए और वहा एकान्त स्थान मे जाकर खाने योग्य भाग खाले और शेष गुठली तथा काटो को ग्रहण कर एकान्त अचित्त एव प्रासुक स्थान पर परठ छोड दे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि साधु को ऐसे पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिएं जिनमें से थोड़ा भाग खाया जाए और अधिक भाग फैंकने में आए। जैसे—छिला हुआ इक्षु खण्ड—गण्डेरी, मूंग, एवं वल्ली आदि की फली जो आग आदि के प्रयोग से अचित्त हो चुकी है, साधु को नहीं लेनी चाहिए। आग में भूना हुई मूङ्गफली, पिस्ते,

नोजे (छिलके सहित) भी नहीं लेने चाहिए। इसी तरह अग्नि पर पके हुए या अन्य तरह से अचित्त हुए फल भी नहीं लेने चाहिएं। जिनमें गुठली, कांटे आदि फैंकने योग्य भाग अधिक हो। यदि कभी शीघ्रतावश गृहस्थ ऐसे पदार्थ पात्र में डाल दे तो फिर मुनि को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उक्त पदार्थों को लेकर अपने स्थान पर आ जाए और उनमें से खाने योग्य भाग खा लेवे और अवशेष भाग (गुठली, कांटे आदि) एकान्त प्रासुक स्थान में परठ-फैंक दे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'बहु अट्ठिय मंसं' और 'मच्छ वा बहु कंटय' पाठ कुछ विवादास्पद है। कुछ विचारक इसका प्रसिद्ध शाब्दिक अर्थ ग्रहण करके जैन साधुओं को भी मांस भक्षक कहने का साहस करते हैं। वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने इसका निराकरण करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। वे स्वयं लिखते हैं कि बाह्य भोग के लिए अपवाद में मांस आदि का उपयोग किया जा सकता है❀।

परन्तु, वृत्तिकार के पश्चात् आचाराङ्ग सूत्र पर बालबोध व्याख्या लिखने वाले उपाध्याय पार्श्वचन्द्र सूरि वृत्तिकार के विचारों का विरोध करते हैं। उन्होंने लिखा है कि आगम में अपवाद एवं उत्सर्ग का कोई भेद नहीं किया है और जो कंटक आदि को एकान्त स्थान में परठने का विधान किया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि अस्थि एवं कण्टक आदि फलों में से निकलने वाले बीज (गुठली) या कांटे आदि ही हो सकते हैं। प्रज्ञापना सूत्र में बीज (गुठली) के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा—'एगट्ठिया बहुट्ठिया' एक अस्थि (बीज) वाले हरड़ आदि और बहुत अस्थि (बीज) वाले अनार, अमरूद आदि। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त शब्दों का वनस्पति अर्थ में प्रयोग हुआ है। अतः वृत्तिकार का कथन संगत नहीं जचता†।

---

❀ एवं मांससूत्रमपि नेयम्, अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात् फलवद्दृष्टं, भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थे नाभ्यवहारार्थे पदातिभोगवदिति।
—आचाराङ्ग वृत्ति।

† ते मास शुद्धिइं जे कुलिया विना आहार न उं दलछइ ते जिमी नद कुलिया कटकादि लेई राकीति निरवद्य स्थंडिलइज्झाम थंडिलंसि कहता अग्निदग्ध स्थानक नीवाहादिक तिहां आवी पडिलेही २ प्रमार्जी २ परिठवइं। ए परठवि वा नी विधि जाणवी जिणि कारणी एकेक वनस्पति माहिला कुलिया आहारी न सकिवइ पान न कराय कटक गलइ न अतरइ तिणी कारणि परठविवा कह्या। इहा वृत्तिकार लोक प्रसिद्ध मांस मत्स्यादिक न उ भाव वखाणय उछ इ पर सूत्र स्यउं विरोध भणिए अर्थ न संभवइ। पछइ वली श्री जिनमतना जाण गितार्थ

जब हम प्रस्तुत प्रकरण का गहराई से अध्ययन करते है तो स्पष्ट हो जाता है कि वृत्तिकार का कथन प्रसंग से बाहर जा रहा है। उक्त सूत्र मे गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट साधु का आहार के सम्बन्ध मे गृहस्थ के साथ होने वाले सम्वाद का वर्णन किया गया है, न कि औषध के सम्बन्ध मे। यदि वृत्तिकार के कथनानुसार यह मान लें कि बाह्य लेप के लिए साधु मास ग्रहण कर सकता है। तो यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहेगा कि बाह्य लेप के लिए कच्चे मांस की आवश्यकता पड़ेगी, न कि पक्व मांस की और कच्चे मास के लिए किसी के घर न जाकर कसाई की दुकान पर जाना होता है। और यहा कसाई की दुकान का वर्णन न होकर गृहस्थ के घर का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि वृत्तिकार का अपवाद में मास ग्रहण करने का कथन आगम के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रस्तुत पाठ में इसका कहीं भी संकेत नहीं किया गया है कि रोग को उपशान्त करने के लिए मांस को बान्धना चाहिए। अत वृत्तिकार का कथन प्रस्तुत सूत्रसे विपरीत होने के कारण मान्य नही हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र के पूर्व भाग मे वनस्पति का स्पष्ट निर्देश है और उत्तर भाग मे मास शब्द का उल्लेख है। इस तरह पूर्व एव उत्तर भाग का परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है। एक ही प्रकरण में वनस्पति एवं मांस का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता। और अस्थि एव मास शब्द का आगम एव वैद्यक ग्रन्थों मे गुठली एवं गुदा अर्थ मे प्रयोग मिलता है। आचाराङ्ग सूत्र मे जहां धोवन (प्रासुक) पानी का वर्णन किया गया है, वहा अस्थि शब्द का प्रयोग किया गया है। उसमे बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ आम्र आदि के धोवन को साधु के सामने छान कर एवं अस्थि (गुठली) निकाल कर दे तो ऐसा धोवन पानी साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहा गुठली के लिए अस्थि

---

जे प्रमाण करेइ—ते-प्रमाण। शास्त्र माँहि [अस्थि शब्द इ कुलिया घणे ठामे कह्या छइ। श्री पन्नवणा माँहि वनस्पति अधिकारि "एगट्ठिया, बहुअट्ठिया" एहवा शब्द छइ एगट्ठिया हरडइ प्रभृति बहु अट्ठिया दाड़िम प्रभृति जाणि वा इमइज इहा अस्थि न इ शब्दइं कुलिया बोल्या छइ, त उ मास शब्दिइ माहिल उ गिर भावियइ, एह भणी वनस्पति विशेष मास मत्स शब्दिइं फलाख्या छइ इम चारित्रिया नइ मांस अने मत्स उघाडइ भाविं कारणि पुण आहारवा योग्य न दीसइ, तथा वली सूत्र माँहि ए साधु नइ उत्सर्गि कह्यउ छइ, वृत्ति माँहि अपवादि पद वखाणि उं छइ, तिणि विशांवि सूत्र स्यउ मिलतु पण नथी, तिणि कारणि वनस्पति विशेष कहता सूत्र नउ अर्थ जिम उत्सर्गि छइ तिमइ ज मिलइ इति भावः।

— उपाध्याय पार्श्वचन्द्र सूरि।

शब्द का प्रयोग हुआ है❀। और यह भी स्पष्ट है कि आम्र के धोवन अस्थि (हड्डी) के होने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। उसमें गुठली का होना ही उचित प्रतीत होता है। और आम्र के धोए हुए पानी में गुठली के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि अस्थि शब्द का गुठली के अर्थ में प्रयोग होता रहा है।

प्रज्ञापना सूत्र में वनस्पति के प्रसंग मे 'समकडाह' शब्द का प्रयोग किया गया है†। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'समांसं सगिर' अर्थात् फलों का गुदा किया है। और वृक्षों का वर्णन करते हुए लिखा है कि कुछ वृक्ष एक अस्थि वाले फलों के होते है—जैसे— आम्र, जामुन आदि के वृक्ष। अर्थात् आम्र, जामुन आदि फलों में में एक गुठली होती है‡। यह तो स्पष्ट है कि फलों में गुठली ही होती है, न कि हड्डी इससे स्पष्ट है यि आगम में अस्थि शब्द गुठली के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

जैनागमों के अतिरिक्त आयुर्वेद के ग्रन्था मे भो अस्थि शब्द का गुठलो के अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है—

पथ्याया मज्जा स्वादु, स्नायावम्लो व्यवस्थितः।
वृन्ते तिक्तस्त्वचि कटुरस्थिस्थस्तुवरो रसः ॥

अर्थात्—हरड़ की मज्जा स्वादु है, इसकी नाड़ियों में खट्टापन है, वृन्त में तिक्त रस है, त्वचा में कटुपन और अस्थि-गुठली मे कसैला रस है❀।

मज्जा पनसजा वृष्या, वात पित्त कफा पहाः।

अर्थात कटहर की मज्जा वृष्य, वात पित्त और कफ को नाश करती है।

अभिनव निघण्टु पृ० १ ६०

मुण्डी भिक्षुरपि प्रोक्ता, श्रावणी च तपोधना।
श्रावणाह्वा मुण्डतिका, तथा श्रवणशीर्षका॥
महाश्रावणिकाऽन्यातु, सा स्मृता भूकदम्बिका।
कदम्बपुष्पिका च स्यादव्यथाति तपस्विनी।

---

❀ आचाराग सूत्र, २, १, ८, ४३।
† प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद।
‡ प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद।
❀ भावप्रकाश निघ० हरीतक्यादि० व० पृ० ५६।

अर्थात् – मुण्डी, भिक्षु, श्रावणी, तपोधना श्रावणाह्वा, मुण्डतिका, श्रवणशीर्षका, मूलघ्नी पलकषा कदम्बपुष्पा अरुणा, मुण्डीरिका, कुम्भला, तपस्विनी, प्रव्रजिता और परिव्राजिका ये मुण्डी के नाम हैं। — भावप्रकाश पृ० २३१, २३२

भाव प्रकाश में और भी इसी प्रकार वनस्पतियों के नामों का उल्लेख है, जैसे कि—

| | | |
|---|---|---|
| हयपुच्छिका | माषपर्णी वनस्पति | २६६ |
| व्याघ्रपुच्छ | एरण्ड | २०७ |
| सिंहतुण्ड | बडा थोहर | २०९ |
| सिंहास्य वृष | बांसा | २११ |
| जीव | चकापण-डेक | २१२ |
| वत्स, कीट, इन्द्र | कुटज-कोरडसक | २१५ |
| मर्कटी, वायसी | करंजुआ (मीचका) | २१६ |
| मर्कटी | कौंचबीज | २१७ |
| गोलोमी | श्वेतदूर्वा-सफैद दूब | २२५ |
| मत्स्याक्षी | गाठदूब | २२५ |
| मृगाक्षी | इन्द्रीयण (तुम्मा) | २२९-२३० |
| गान्धारी | जवासा | २३१ |
| शिखरी मयूरक, मर्कटी | अपामार्ग (पुठकडा) | २३२ |
| भिक्षु | तालमखाणा | २३३ |
| कुमारी, कन्या | घीकुआर | २३४ |
| गोपी, गोपा, कन्या<br>गोपवधू, कृशोदरी | काला बांपा | २३५ |
| मृग | भंगरा | २३६ |
| वायसी, काका | मको | २३७ |
| काकनामा | कौआटूण्टी | २३८ |
| काकजंघा | एक वनस्पति | २३८ |
| मेष श्रृङ्गी | मेढासिंगी | ,, |
| मत्स्याक्षी | मछोछी | २४१ |
| मत्स्यादनी | जल पिप्पली | २४६ |
| गो जिव्हा | गोभी (गावजवां) | २४७ |
| ताम्र चूड | ककरौंदा | २४७ |
| व्याल, चित्रक | चीता – वनस्पति | १४९ |

| | | |
|---|---|---|
| मार्जारी | जवादि वनस्पति | ५५ |
| कुक्कुटी | शेमल | ६७ |
| तापस, मार्जार | तिगोटी | ६८ |
| कुक्कुर | श्लिष्ठपूर्ण, त्रिकीर्ण, शीर्ण रोमक (ये ग्रन्थि पर्ण वनस्पति के नाम हैं) | ६८ |
| शठ, कुटिल | तगर | १८३ |
| पिशुन | केसर | १६० |
| जटायु, कौशिका, धूर्त | गुग्गुल | १८३ |
| गौरी | गोरोचन | ११० |
| कुक्कुट | कुकुभ-कुम्हार का मुर्गा, श्वे। तीतर, ताम्रचूड-मुर्गा अग्नि का अंगारा, चाण्डाल, शूद्रपुत्र, सुनिषण्णक वनस्पति। | ७५४ |
| केश | सुगन्ध वाला | १६१ |
| तपस्विनी | वालछड़ | १६२ |
| मेघ वारिद | मोथा | १६३ |
| दैत्या | मुरा वनस्पति | १६४ |
| वधू | कपूर कचरी | १६४ |
| अङ्गना, प्रिया | प्रियगु औषधि | १६४ |
| राज पुत्री, द्विजा | सम्भालू के बीज | १६५ |
| कुक्कुर, शुक, मयूर | थुनेर | १६६ |
| ब्राह्मणी, देवी, देवपुत्री | असवर्ग वनस्पति | १६८ |
| जननी | पपडी | १८८ |
| नटी, धमनी | नली-सुगन्धित द्रव्य | १६६ |

इन उपर्युक्त नामों को देखते हुए, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के नामों से अनेकानेक वनस्पतियें -अभिहित हुई हैं। अतएव प्रस्तुत प्रकरण मे भी शठ का अर्थ धूर्त, कुटिल का वक्र और पिशुन का चुगलखोर अर्थ करना सगत नहीं है, किन्तु इन शब्दों के वनस्पति रूप अर्थ ही प्रसंगोचित है।

| | | |
|---|---|---|
| भल्लूक | आलू बुखारा | ६१ |
| मत्स्य | पोई नामक वनस्पति | १०२ |
| कपोतिका | मूली | १०४ |

इन प्रमाणों से यह भलीःभांति सिद्ध हो जाता है कि—फलों के गुदे को मास,

और गुठली को अस्थि के नाम से निर्दिष्ट करना भी इस युग की प्रणाली रही है। ऊपर प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों के प्रमाणों से अस्थि और मांस का गुठली और गूदे के अर्थ में प्रयुक्त होना प्रमाणित किया गया है। आयुर्वेद साहित्य के नवीन ग्रंथों में भी इस तरह का वर्णन मिलता है। देखिए हरिताल भस्म की विधि का वर्णन करते हुए ग्रंथकार लिखते हैं —

तालं सुधा प्रस्तार नीर मग्न, कूष्माण्ड मांसैः पुटित विधाय।
दहेद्दशप्रस्थ वनोपलेषु, गुञ्जोन्मित स्यात् सकल ज्वरेषु ॥१॥

अर्थात्— हरिताल को चूने के पानी में रखने के अनन्तर कूष्मांड के मांस से (पेठे के गूदे से) सम्पुटित करके १० सेर वन्योपलों (पाथियों) में फूंक देने से उत्तम भस्म बन जाती है और उसकी १ रत्ति की मात्रा है तथा वह सभी प्रकार के ज्वरों को शान्त करने के लिए हितकर है। (सिद्ध भेषज मणिमाला ज्वराधिकार) इसमें कूष्मांड (पेठा) का 'मांस' इसके गूदे के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ सम्भव नहीं हो सकता। तात्पर्य कि उक्त श्लोक में मांस शब्द का प्रयोग गूदे के अर्थ में ही हुआ है। इसके अतिरिक्त संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में भी मांस शब्द का गूदा अर्थ किया है*। इस प्रकार वैद्यक के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि अस्थि और मांस के लोक प्रसिद्ध अर्थ के ही बोधक नहीं अपितु गुठली और गूदे के भी बोधक हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि इनका वाच्यार्थ केवल लोक प्रसिद्ध अर्थ अस्थि (हड्डी) और मांस (रुधिर निष्पन्न धातु) ही नहीं अपितु गुठली और गूदा भी होता है।

वृक्ष के कठिन भाग एवं फलों के बीज (गुठली) के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग हम वैद्यक एवं जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर देख चुके हैं। परन्तु, वैद्यक ग्रंथों में कपास के अंदर के कठिन भाग के लिए भी अस्थि शब्द का प्रयोग किया गया है। क्षेमकुतूहल में लिखा है— 'कपास का फल अति उष्ण प्रकृति वाला कषाय, मधुर रस वाला और गुरु होता है। वह वात, कफ को दूर करने वाला और रुचिकर होता है। इसमें से अस्थि (बीच का कठिन भाग) निकाल कर प्रयोग करने से विशेष लाभदायक होता है।

---

* मांस (न०) १ गोश्त। २ मछली। ३ फल का गूदा।
— संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ ८६५

कर्पास फलमत्युष्ण, कषायं मधुरं गुरु।
वातश्लेष्महरं रुच्यं, 'वर्गेणास्थिविवर्जितम्'।
१

इसी ग्रंथ में आगे कहा गया है कि जो शंख, कुन्द पुष्प और चन्द्र के समान श्वेत वर्ण की हो उसे अजा नामक महौषधि समझना चाहिए† ।

इस तरह हम देख चुके हैं कि जैनागमों में ही नहीं, अपितु वैद्यक एवं अन्य ग्रन्थों में भी मांस, मत्स्य एवं पशु-पक्षी के वाचक शब्दों का वनस्पति अर्थ में प्रयोग हुआ है। अतः प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त मांस एव मत्स्य शब्द वनस्पति वाचक हैं, न कि मांस और मछली के वाचक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त शब्दों के आधार पर जैन मुनियों को मांस-मछली खाने वाला कहना नितान्त गलत है।

आचाराङ्ग सूत्र के आधार पर आचार्य शयंभव द्वारा रचित दशवैकालिक सूत्र में इस तरह का पाठ आता है। फलों के प्रकरण में अस्थि शब्द का गुठली के अर्थ में प्रयोग किया गया है❋। और ७वीं शताब्दी में होने वाले आचार्य हरिभद्र ने अस्थि का अर्थ फलों की गुठली एवं पुद्गल का अर्थ गुदा किया है†। उन्होंने स्पष्ट लिखा है

---

द्विरत्निमात्रा जानीयाद्, गोनसीं गोनसाकृतिम् ।
सक्षारां रोमशा मृद्वी, रसनेक्षुरसोपमाम् ॥

एव रूप रसां चापि, कृष्ण कापोतिमादिशेत् ।
कृष्ण सर्पस्य रूपेण, वाराहीकन्दसम्भवाम् ॥

एकपर्णां महावीर्यां, भिन्नाञ्जनचयोपमाम् ।
छत्रातिच्छत्रके विद्येत, रक्षोघ्ने कन्दसभवे ॥

जरा मृत्युनिवारिण्यौ, श्वेतकापोतिसम्भवे ।
कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः ॥

— कल्पद्रुम कोष ५६८ ।

† अजामहौषधिर्ज्ञेया शखकुन्देन्दुपाण्डुरा । — कल्प द्रुम कोष ५६८ ।

❋ वहु अट्ठियं पोग्गलं, अणिमिसं वा वहुकंटयं ।
उच्छियं तिदुअ विल्ल, उच्छुखड च सिंवलिं ॥
अप्पेसिया भोयण जाये, वहु उज्झिय धम्मियं ।
दितिय पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥

— दशवैकालिक ५, १, ७३-७४ ।

† 'वहु अट्ठियं' त्ति 'सूत्रम् वहर्वास्थ, पुद्गल मांसम् 'अनिमिषं वा' मत्स्य वा वहु-कण्टक । अय किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेध अन्येत्वभिदधति — वनस्पत्यधिकारात् तथाविध फलाभिधाने एते इति । तथा चाह— 'अस्थिक' अस्थिक वृक्ष फलम्, 'तेन्दुक' तेदुरुकी

कि यहां फलों के वर्णन का प्रसंग होने के कारण उक्त शब्द गुठली एवं गुद्दे के ही परिबोधक हैं और पुराने आचार्यों ने भी ऐसा ही अर्थ किया है‡। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य हरिभद्र से पूर्व भी मांस एवं मत्स्य आदि शब्दों का वनस्पति अर्थ किया जाता था।

उक्त वृत्ति में 'पुद्गल' शब्द का जो मांस अर्थ किया है, वह भी युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि जब अस्थि शब्द का गुठली अर्थ स्पष्ट परिलक्षित होता है, तो ऐसी स्थिति में पुद्गल शब्द मांस परक कैसे हो सकता है। जिसमें बहुत अस्थियां (गुठलियां) हों ऐसे पुद्गल का तात्पर्य बहुत गुठलियों वाला मांस नहीं, प्रत्युत बहुत गुठलियों वाला फलों का गुद्दा ही होगा। अर्द्धमागधी कोष में भी इसका अर्थ—गर्भ (फलों का गुद्दा) फल के मध्य का मनोरम अंश किया है❀।

आगमों में साधु के लिए कहीं भी मांस ग्रहण करने का उल्लेख नहीं किया गया है। अनेक स्थलों पर निषेध अवश्य किया है। साधु की आहार विधि के वर्णन में कहीं भी मांस आहार के ग्रहण का उल्लेख नहीं मिलता है। यहां हम कुछ पाठों का उल्लेख करदें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उक्त सूत्र में प्रयुक्त शब्द फलों के अर्थ से संबन्धित है। वे पाठ इस प्रकार हैं—

अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा तुच्छाहारा
अन्तजीवी, पन्तजीवी आयाम्बिलिया, पुरिमड्ढिया निव्विगइया
अमज्जमंसासिणो नो नियामरसभोई। — सूत्रकृताङ्ग द्वि० श्रु० द्वि० अ०।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के इस पाठ में मुनि के अन्य विशेषणों के साथ 'अमज्जमंसासिणो' यह विशेषण भी दिया है, जिसका आशय है कि— साधु कभी मद्य और मांस का सेवन न करे। क्या इतने पर भी जैन भिक्षु को मांसाहारी कहने का साहस किया जा सकता है? और भी देखिए—

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए खीरं वा दहिं वा णवणीयं

---

फलम्, बिल्वम्, इक्षुखण्डमिति च प्रतीते, शाल्मलिं वा वल्लादि फलिं वा। वा शब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध इति सूत्रार्थः। अत्रैव दोषमाह— 'अप्पे' त्ति सूत्रम्, अल्पं स्याद् भोजनजातमत्रअपितु बहूज्झन धर्मकमेतत्। यतश्चैवमतोददती प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः।

— दशवैकालिक वृत्ति।

‡ अन्येत्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात् तथाविध फलभिधाने एते इति।

— दशवैकालिक सूत्र, वृत्ति।

❀ अर्द्धमागधी कोष; भाग ३, पृष्ठ ५६५।

वा सप्पिं वा गुलं वा खंडं वा सक्करं वा मच्छंडियं वा अण्णयरं
वा पणीयं आहारं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ।*

निशीथ सूत्र के इस पाठ का भाव यह है कि— 'साधु मैथुन के लिए दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, खांड और शर्करा आदि पौष्टिक पदार्थों का कभी सेवन न करे। उक्त सूत्र में साधु के खाने के पदार्थों में मांस को बिल्कुल नहीं गिना, इससे स्पष्ट है कि जैन आगमों का आशय साधु को मांस खाने के निषेध में है। और भी—

कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं—असणपाण—
खाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकम्बलपायपुञ्छणेणं पीढ फलग
सिज्जासंथारएणं ओसह भेसज्जेणं य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए
त्तिकट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ। —उपा० दशा० प्र० अ० सूत्र ८।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के पास आनन्द श्रावक ने साधु को आहार देने का नियम लिया है। इस पाठ में साधु को क्या-क्या आहार देना चाहिए, यह लिखा है। इसमें अशन आदि का तो उल्लेख है परन्तु मांस देने का उल्लेख नहीं है। अगर भिक्षुओं में मांस खाने की भी प्रथा होती तो उसका भी उल्लेख होता।

आगमों से स्पष्ट होता है कि साधु के लिए मांस सर्वथा त्याज्य रहा है। आर्द्रकुमार ने मांसभक्षक बौद्ध भिक्षुओं का उपहास्य करते हुए कहा है—

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठ भत्तं च पगप्पएत्ता।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं॥

तं भुञ्जमाणा पिसियं पभूयं, नो ओवलिप्पामु वयं रएणं।
इच्चेव माहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा॥

सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए, सावज्ज दोसं परिवज्जयंता।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति॥

भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा सव्वेसि पाणाण निहाय दण्डं।
तम्हा न भुञ्जन्ति तहप्पगारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं†॥

आर्द्रकुमार का कथन जैन आचार-विचार को स्पष्ट कर देता है। वह बौद्ध-भिक्षुओं से कहता है कि आप बकरे का मांस खाकर भी अपने आप को पाप से लिप्त नहीं मानते। परन्तु, यह कैसे हो सकता है? मांस भक्षण का कार्य तो स्पष्टतः अनार्य-

* निशीथ सूत्र ६ उद्देशक ३९ सूत्र।

† सूत्र कृतांग श्रु० २ अध्य० ३,

कर्म है। उसका सेवन करने वाला पाप कर्म के बन्ध से कैसे बच सकता है? निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान महावीर के साधु कभी भी मांसाहार नहीं करते। आर्द्रकुमार की यह स्पष्ट आलोचना सुनकर बौद्ध भिक्षु चुप हो जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैन साधु मासाहारी नहीं थे और न है। यदि जैन साधु स्वयं मांसाहार करते होते तो वे बौद्धों के सामिष भोजन की आलोचना नहीं करते। और यदि करने का दुःसाहस करते भी तो बौद्ध भिक्षु उन्हें सचोट उत्तर देने से कभी नहीं चूकते कि तुम भी तो सामिष भोजन करते हो, तुम कौन से पवित्र व्यक्ति हो। परन्तु, जैन मुनियों की कहीं ऐसी आलोचना नहीं की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन मुनि आमिष भोजन से सर्वथा निवृत्त हैं। आगम में तो मासाहार को साधु के लिए तो क्या मनुष्य के लिए भी उपयुक्त नहीं बताया है। उसे मनुष्यों का नहीं पशुओं का, जङ्गली जानवरों का आहार कहा है*।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया गया है कि उत्सर्पिणी काल चक्र का पहला आरा समाप्त होकर जब दूसरा लगेगा तब ४९ दिन तक अनवरत वर्षा होगी। उससे पृथ्वी मे सरसता आएगी और वह विविध वनस्पतियों से शस्य-श्यामला हो जाएगी। उस समय बिलों में रहने रहने वाले मनुष्य बाहर आएंगे और फल-फूल खाकर अत्यधिक प्रसन्न होंगे और यह सामाजिक नियम बनाएंगे कि आज तक हमने विवश होकर मांसाहार किया, परन्तु, अब कभी भी मांसाहार नहीं करेंगे। जो सामिष आहार करेगा उसका बहिष्कार करेंगे और उसकी छाया से भी दूर रहेंगे†। आचार्य शान्तिचन्द्र ने प्रस्तुत सूत्र की टीका में लिखा है कि मांसाहारी लोगों के अपवित्र शरीर को छूना तो दूर रहा,

---

* तिरिक्खजोणियाण चउव्विहे आहारे पन्नत्ते तजहा कंकोवमे, बिलोवमे, पाणमंसोवमो, पुत्त मंसोवमो। मणुसाणं चउव्विहे आहारे पन्नत्ते तंजहा—असणे जाव साइमे'

— स्थानांग सूत्र, स्थान ४, ३४०।

† 'तएणं से मणुआ भरह वास परूढ रुक्खगुच्छगुम्मगुम्मलयवल्लीतणपव्वय हरिआ ओसहीयं उवचियतय पत्त पवाल पल्लवंकुर पुप्फ फलं समुइअ सुहोवभोगजाय २ चाव पासिहिन्ति पासित्ता बिलेहितो णिद्धाइस्संति णिद्धाइत्ता हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं सद्दविस्सति २ त्ता एव वदिस्सति — जाते ण देवाणुप्पिया! भरहे वासे परूढ रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्ली तणपव्वयहरिय जाव सुहोवभोगे, तं जे देवाणुप्पिया! अम्हं केइ अज्जप्पभिइ असुभ कुणिम आहारं आहारिस्सइ से ण अणेगाहिं छायाहिं वज्जणिज्जे त्ति कट्टु सठियं ठवेंति २ त्ता भरहे वासे सुहंसुहेण अभिरममाणा २ विहरिस्सति।

— जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २, ३९।

उनकी छाया तक को भी नहीं छूएंगे†। अर्थात् उनकी छाया को स्पर्श करना भी पाप माना जाएगा। इससे बढ़कर मांसाहार के प्रति और अधिक क्या कहा जा सकता है? इसे पढ़ने के पश्चात् क्या कोई समझदार व्यक्ति यह कल्पना कर सकता है कि इतने कड़े शब्दों में मांसाहार का विरोध करने वाले जैनागम साधु के लिए सामिष भोजन का विधान कर सकते हैं? बिल्कुल नहीं।

आगमों में चार गति मानी हैं— १-नरक, २-तिर्यञ्च, ३-मनुष्य और ४-देव गति। औपपातिक सूत्र में प्रत्येक गति में जाने के कारणों का उल्लेख किया गया है। उसमें मांस भक्षण को नरक गति का कारण बताया गया है‡। उत्तराध्ययन सूत्र में भी बताया गया है कि मांस मद्य का आहार करने वाला व्यक्ति अकाम मृत्यु को प्राप्त होकर नरक में जाता है※। मृगापुत्र ने भी मांस एवं मद्य का सेवन करने से नरक गति का मिलना कहा है।

इन सब पाठों से यह स्पष्ट होता है कि आगम में सामिष भोजन को कड़े शब्दों में निषेध किया गया है। इसे मनुष्य का भोजन नहीं, अपितु पशु का भोजन कहा है। मांसाहार करने वाला खूंखार भेड़िये से भी भयानक है, जो अपने आहार को छोड़कर अपने पेट को जीवित पशुओं की कब्र बनाता है। अत. इन सब उद्धरणों

† आस्तां तेषामस्पृश्यानां शरीर स्पर्शः तच्छरीरच्छायास्पर्शोऽपि वर्जनीयः।

‡ चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेति, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति, तंजहा— १-महारंभयाए २-महापरिग्गहयाए ३-पंचिंदियवहेण ४-कुणिमाहारेण। —औपपातिक सूत्र, भगवद्देशना।

※ हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई॥ —उत्तरा० ५, ६

इत्थी विसय गिद्धे य, महारंभ परिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परं दमे॥
अय कक्करभोइ य, तुंदिल्ले चियलोहिये।
आउयं नरए कंखे, जहा एस व एलए॥ —उत्तरा० ७, ६,७।

तुहं पियाइं मंसाइं, खंडाणि सोल्लगाणि य।
खाइओ विसमंसाइं, अग्गि वण्णाइं णेगसो॥
तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।
पाइओमि जलन्तीओ, वसाओ रुहिराणि य॥

— उत्तरा०; १६, ६६-७०।

कर्म है। उसका सेवन करने वाला पाप कर्म के बन्ध से कैसे बच सकता है? निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान महावीर के साधु कभी भी मांसाहार नहीं करते। आर्द्रकुमार की यह स्पष्ट आलोचना सुनकर बौद्ध भिक्षु चुप हो जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैन साधु मासाहारी नहीं थे और न हैं। यदि जैन साधु स्वयं मासाहार करते होते तो वे बौद्धों के सामिष भोजन की आलोचना नहीं करते। और यदि करने का दु साहस करते भी तो बौद्ध भिक्षु उन्हें सचोट उत्तर देने से कभी नहीं चूकते, कि तुम भी तो सामिष भोजन करते हो, तुम कौन से पवित्र व्यक्ति हो। परन्तु, जैन मुनियों की कहीं ऐसी आलोचना नहीं की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन मुनि आमिष भोजन से सर्वथा निवृत्त हैं। आगम में तो मांसाहार को साधु के लिए तो क्या मनुष्य के लिए भी उपयुक्त नहीं बताया है। उसे मनुष्यों का नहीं पशुओं का, जङ्गली जानवरों का आहार कहा है*।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया गया है कि उत्सर्पिणी काल चक्र का पहला आरा समाप्त होकर जब दूसरा लगेगा तब ४९ दिन तक अनवरत वर्षा होगी। उससे पृथ्वी मे सरसता आएगी और वह विविध वनस्पतियों से शस्य-श्यामला हो जाएगी। उस समय बिलों में रहने रहने वाले मनुष्य बाहर आएंगे और फल-फूल खाकर अत्यधिक प्रसन्न होंगे और यह सामाजिक नियम बनाएंगे कि आज तक हमने विवश होकर मांसाहार किया, परन्तु, अब कभी भी मांसाहार नहीं करेंगे। जो सामिष आहार करेगा उसका बहिष्कार करेंगे और उसकी छाया से भी दूर रहेंगे†। आचार्य शान्तिचन्द्र ने प्रस्तुत सूत्र की टीका में लिखा है कि मासाहारी लोगों के अपवित्र शरीर को छूना तो दूर रहा,

---

* तिरिक्खजोणियाण चउव्विहे आहारे पन्नते तजहा कंकोवमे, विलोवमे; पाणमंसोवमो, पुत्त मसावमो। मणूसाणं चउव्विहे आहारे पन्नते तंजहा—असणे जाव सातिमे'

— स्थानांग सूत्र, स्थान ४, ३४०।

† 'तएण से मणुआ भरह वास परूढ रुक्खगुच्छगुम्मगुम्मलयवल्लीतणपव्वय हरिआ ओसहीयं उवचियतय पत्त पवाल पल्लवकुर पुप्फ फलं समुइअ सुहोवभोगंजाय २ चाव पासिहिन्ति पासित्ता विलेहिंतो णिद्धाइस्संति णिद्धाइत्ता हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं सद्दविस्सति २ त्ता एव वदिस्सति — जाते ण देवाणुप्पिया! भरहे वासे परूढ रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्ली तणपव्वयहरिय जाव सुहोवभोगे, त जे देवाणुप्पिया! अम्हं केइ अज्जप्पभिइ असुभ कुणिम आहार आहारिस्सइ से ण अणेगाहिं छायाहिं वज्जणिज्जे त्ति कट्टु सठियं ठवेति २ त्ता भरहे वासे सुहंसुहेण अभिरममाणा २ विहरिस्मति।

— जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २, ३९।

उनकी छाया तक को भी नहीं छूएगे†। अर्थात् उनकी छाया को स्पर्श करना भी पाप माना जाएगा। इससे बढ़कर मांसाहार के प्रति और अधिक क्या कहा जा सकता है? इसे पढ़ने के पश्चात् क्या कोई समझदार व्यक्ति यह कल्पना कर सकता है कि इतने कड़े शब्दों में मांसाहार का विरोध करने वाले जैनागम साधु के लिए सामिष भोजन का विधान कर सकते हैं? बिल्कुल नहीं।

आगमों में चार गति मानी हैं— १-नरक, २-तिर्यञ्च, ३-मनुष्य और ४-देव गति। औपपातिक सूत्र में प्रत्येक गति में जाने के कारणों का उल्लेख किया गया है। उसमें मांस भक्षण को नरक गति का कारण बताया गया है‡। उत्तराध्ययन सूत्र में भी बताया गया है कि मांस मद्य का आहार करने वाला व्यक्ति अकाम मृत्यु को प्राप्त होकर नरक में जाता है※। मृगापुत्र ने भी मांस एवं मद्य का सेवन करने से नरक गति का मिलना कहा है† ।

इन सब पाठों से यह स्पष्ट होता है कि आगम में सामिष भोजन का कड़े शब्दों में निषेध किया गया है। इसे मनुष्य का भोजन नहीं, अपितु पशु का भोजन कहा है। मांसाहार करने वाला खूंखार भेड़िये से भी भयानक है, जो अपने आहार को छोड़कर अपने पेट को जीवित पशुओं की कब्र बनाता है। अत: इन सब उद्धरणों

---

† आस्तां तेषामस्पृश्यानां शरीर स्पर्शः तच्छरीरच्छायास्पर्शोपि वर्जनीयः।

‡ चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति, तंजहा— १-महारंभयाए २-महापरिग्गहयाए ३-पंचिंदियवहेण ४-कुणिमाहारेण।
—औपपातिक सूत्र, भगवद्देशना।

※ १. हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई॥ —उत्तरा० ५, ९

इत्थी विसय गिद्धे य, महारंभ परिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परं दमे॥
अय कक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिये।
आउयं नरए कंखे, जहा एसं व एलए॥ —उत्तरा० ७, ६,७।

तुहं पियाइ मंसाइं, खंडाणि सोल्लगाणि य।
खाइओ मिसमंसाइं, अग्गि वण्णाइणेगसो॥
तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।
पाइओमि जलन्तीओ, वसाओ रुहिराणि य॥

— उत्तरा०, १९, ६९–७०।

कर्म है। उसका सेवन करने वाला पाप कर्म के बन्ध से कैसे बच सकता है? निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान महावीर के साधु कभी भी मांसाहार नहीं करते। आर्द्रकुमार की यह स्पष्ट आलोचना सुनकर बौद्ध भिक्षु चुप हो जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैन साधु मासाहारी नहीं थे और न हैं। यदि जैन साधु स्वयं मांसाहार करते होते तो वे बौद्धों के सामिष भोजन की आलोचना नहीं करते। और यदि करने का दुःसाहस करते भी तो बौद्ध भिक्षु उन्हें सचोट उत्तर देने से कभी नहीं चूकते, कि तुम भी तो सामिष भोजन करते हो, तुम कौन से पवित्र व्यक्ति हो। परन्तु, जैन मुनियों की कहीं ऐसी आलोचना नहीं की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन मुनि आमिष भोजन से सर्वथा निवृत्त है। आगम में तो मांसाहार को साधु के लिए तो क्या मनुष्य के लिए भी उपयुक्त नहीं बताया है। उसे मनुष्यों का नहीं पशुओं का, जङ्गली जानवरों का आहार कहा है*।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में बताया गया है कि उत्सर्पिणी काल चक्र का पहला आरा समाप्त होकर जब दूसरा लगेगा तब ४६ दिन तक अनवरत वर्षा होगी। उससे पृथ्वी में सरसता आएगी और वह विविध वनस्पतियों से शस्य-श्यामला हो जाएगी। उस समय बिलों में रहने रहने वाले मनुष्य बाहर आएंगे और फल-फूल खाकर अत्यधिक प्रसन्न होंगे और यह सामाजिक नियम बनाएंगे कि आज तक हमने विवश होकर मांसाहार किया, परन्तु, अब कभी भी मांसाहार नहीं करेंगे। जो सामिष आहार करेगा उसका बहिष्कार करेंगे और उसकी छाया से भी दूर रहेंगे†। आचार्य शान्तिचन्द्र ने प्रस्तुत सूत्र की टीका में लिखा है कि मासाहारी लोगों के अपवित्र शरीर को छूना तो दूर रहा,

---

* तिरिक्खजोणियाण चउव्विहे आहारे पन्नते तंजहा ककोवमे, विलोवमे; पाणमंसोवमो, पुत्त मंसावमो। मणुसाणं चउव्विहे आहारे पन्नते तंजहा—असणे जाव सातिमे'
— स्थानाग सूत्र, स्थान ४, ३४०।

† 'तएणं से मणुआ भरह वास परूढ रुक्खगुच्छगुम्मगुम्मलयवल्लीतणपव्वय हरिआ ओसहीयं उवचियतय पत्त पवाल पल्लवंकुर पुप्फ फलं समुइअ सुहोवभोगजाय २ चाव पासिहिन्ति पासित्ता बिलेहितो णिद्धाइस्संति णिद्धाइत्ता हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं सद्दविस्सति २ त्ता एव वदिस्सति — जाते ण देवाणुप्पिया! भरहे वासे परूढ रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्ली तणपव्वयहरिय जाव सुहोवभोगे, त जे देवाणुप्पिया! अम्हं केइ अज्जप्पभिइ असुभ कुणिम आहार आहारिस्सइ से ण अणेगाहि छायाहि वज्जणिज्जे त्ति कट्टु संठियं ठवेंति २ त्ता भरहे वासे सुहंसुहेण अभिरममाणा २ विहरिस्सति।
— जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २, ३९।

उनकी छाया तक को भी नहीं छूएगें†। अर्थात् उनकी छाया को स्पर्श करना भी पाप माना जाएगा। इससे बढ़कर मांसाहार के प्रति और अधिक क्या कहा जा सकता है? इसे पढ़ने के पश्चात् क्या कोई समझदार व्यक्ति यह कल्पना कर सकता है कि इतने कड़े शब्दों में मांसाहार का विरोध करने वाले जैनागम साधु के लिए सामिष भोजन का विधान कर सकते हैं? बिल्कुल नहीं।

आगमों में चार गति मानी हैं— १-नरक, २-तिर्यञ्च, ३-मनुष्य और ४-देव गति। औपपातिक सूत्र में प्रत्येक गति में जाने के कारणों का उल्लेख किया गया है। उसमें मांस भक्षण को नरक गति का कारण बताया गया है‡। उत्तराध्ययन सूत्र में भी बताया गया है कि मांस मद्य का आहार करने वाला व्यक्ति अकाम मृत्यु को प्राप्त होकर नरक में जाता है*। मृगापुत्र ने भी मांस एवं मद्य का सेवन करने से नरक गति का मिलना कहा है† ।

इन सब पाठों से यह स्पष्ट होता है कि आगम में सामिष भोजन का कड़े शब्दों में निषेध किया गया है। इसे मनुष्य का भोजन नहीं, अपितु पशु का भोजन कहा है। मांसाहार करने वाला खूंखार भेड़िये से भी भयानक है, जो अपने आहार को छोड़कर अपने पेट को जीवित पशुओं की कब्र बनाता है। अतः इन सब उद्धरणों

† आस्तां तेषामस्पृश्यानां शरीर स्पर्शः तच्छरीरच्छायास्पर्शोऽपि वर्जनीयः।

‡ चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति, तंजहा— १-महारंभयाए २-महापरिग्गहयाए ३-पंचिंदियवहेणं ४-कुणिमाहारेणं।
—औपपातिक सूत्र, भगवद्देशना।

* १. हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई॥ —उत्तरा० ५, ९

इत्थी विसय गिद्धे य, महारंभ परिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परं दमे॥
अय कक्करभोइ य, तुंदिल्ले चियलोहिये।
आउयं नरए कंखे, जहा एस व एलए॥ —उत्तरा० ७, ६,७।

तुहं पियाइ मंसाइं, खंडाणि सोल्लगाणि य।
खाइओ मिममंसाइं, अग्गि वण्णाइऽणेगसो॥
तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य।
पाइओमि जलन्तीओ, वसाओ रुहिराणि य॥

— उत्तरा०, १९, ६९–७०।

से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त मांस एवं मत्स्य शब्द सामिष आहार से नहीं, अपितु फलों से सम्बन्धित है। अत उक्त शब्दों का वनस्पति विशेष अर्थ करना ही उचित एवं आगम सम्मत प्रतीत होता है।

आहार के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहे बिलं वा लोणं वा उब्भियं वा लोणं परिभाइत्ता-नीहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा २ अफासुयं नो पडि०। से आहच्च पडिगाहिए सिया, तं च नाइदूरगए जाणिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा २ इमं किं ते जाणया दिन्नं उदाहु अजाणया? से य भणिज्जा नो खलु मे जाणया दिन्नं, अजाणया दिन्नं कामं खलु आउसो! इयाणिं निसिरामि, तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं तं परेहिं समणुन्नायं समणुसट्ठं तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाएइ भोत्तए वा पायए वा साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुन्ना अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणुप्पयायव्वं सिया, नो जत्थ साहम्मिया जहेव बहुपरियावन्नं कीरइ तहेव कायव्वं सिया, एवं खलु० ॥५६॥

छाया—स भिक्षुः० स्यात् स परः अभिहृत्य अन्तः पतद्ग्रहे बिडं वा

लवण वा उद्भिज्जं वा लवण परिभाज्य निर्हृत्य दद्यात् तथाप्रकारं पतद्-ग्रह परहस्ते वा २ अप्रासुकं नो प्रतिगृण्हीयात्। स आहृत्य प्रतिगृहीत स्यात् तं च नातिदूरगतं जानीयात् (ज्ञात्वा) स तमादाय तत्र गच्छेत् गत्वा च पूर्वमेव आलोकयेत्— आयुष्मन् इति वा २ इदं किं त्वया जानता दत्तं, उत अजानता ? स च भणेत् नो खलु मया जानता दत्त, अजानता दत्तं, कामं खलु आयुष्मन् ! इदानीं निसृजामि त भुंक्ष्वम् वा परिभाजयत तद् परैः समनुज्ञात, समनुसृष्टं ततः संयतमेव भुंजीत पिबेद् वा। यच्च नो शक्नोति भोक्तु वा पातुं वा साधर्मिकाः यत्र वसंति सभोगिकाः समनोज्ञाः अपरिहारिकाः अदूरगता तेभ्योऽनुप्रदातव्य स्यात् नो यत्र साधर्मिकाः। यथैव बहु पर्यापन्न क्रियेत तथैव कर्तव्यं स्यात्। एवं खलु० (सूत्र ५९)

—पिंडैषणायां दशम उद्देशकः।

वा—अथवा। परिभाएह—आपस मे बाट लो। णं—पूर्ववत्। त—वह। परेहिं—गृहस्थो की ओर से। समणुन्नाय—आज्ञा मिलने पर। समणुसट्ठं—सम्यक् प्रकार से प्राप्त कर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—साधु यत्ना पूर्वक। भुंजिज्जा वा—खा ले अथवा। पिबेज्ज वा—पी ले। ज च—यदि वह। भोत्तए वा—खाने मे तथा। पायए वा—पीने मे। नो सचाएमि—समर्थ नही है। तत्थ—वहां पर। साहम्मिया—जो साधर्मिक साधु। वसंति—रहते है, जो। संभोइया—एक मॉडले के सभोगी है। समणुन्ना—समनोज्ञ है तथा। अपरिहारिया—अपरिहार्य अर्थात् त्यागने योग्य नहीं हैं—निर्दोष हैं। अदूरगया—दूर भी नही—अर्थात् समीपवर्ती है। तेसिं—उनको। अणुप्पयायव्वसिया—उनको प्रदान करना चाहिए यदि। जत्थ—जहा पर। साहम्मिया—सार्धमिक। नो—नही है तो। जहेव—जिस प्रकार। बहुपरियावन्नं—अधिक आहार मिलने पर जो परठने की विधि बताई है। कीरइ—पूर्व किया है। तहेव—उसी प्रकार। कायव्व सिया—करना चाहिए। एव खलु०—इस प्रकार मुनि का समग्र आचार वर्णन किया है।

मूलार्थ—यदि कोई गृहस्थ घर पर भिक्षार्थ आए हुए भिक्षु को अंदर- घर मे अपने पात्र में बिड़ अथवा उद्भिज्ज लवण को विभक्त कर उसमे से कुछ निकाल कर साधु को दे दे तो तथाप्रकार लवणादि को गृहस्थ के पात्र में अथवा हाथ में अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

यदि कभी अकस्मात् वह ग्रहण कर लिया है तो-मालूम होने पर गृहस्थ को समीपस्थ ही जानकर लवणादि को लेकर वहां जावे और वहा जाकर पहले दिखलाए और कहे कि—हे आयुष्मन्! अथवा भगिनि! तुमने यह लवण मुझे जानकर दिया है या बिना जाने दिया है? यदि वह गृहस्थ कहे कि मैंने जानकर नही दिया, किन्तु भूल से दिया है। परन्तु, हे आयुष्मन्! अब मैं तुम्हे जानकर दे रहा हू, अब तुम्हारी इच्छा है- तुम स्वय खाओ अथवा परस्पर में बाट लो। अस्तु, गृहस्थ की ओर से सम्यक् प्रकार से आज्ञा पाकर अपने स्थान पर चला जावे, और वहा जाकर यत्न-पूर्वक खाए तथा पीए। यदि स्वयं खाने या पीने को असमर्थ हो तो जहा आस-पास में एक माडले के सभोगी, समनोज्ञ और निर्दोष साधु रहते हो वहा जावे और उनको दे दे। यदि साधर्मिक पास मे न हों तो जो

परठने की विधि बतलाई है उसी के अनुसार परठ दे। इस प्रकार मुनि का आचार धर्म बतलाया गया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ ने साधु को भूल से अचित्त नमक दे दिया है तो साधु उस गृहस्थ से पूछे कि यह नमक तुमने भूल से दिया है या जानकर? वह कहे कि मैंने दिया तो भूल से है, फिर भी मैंने आपको दे दिया है अत. अब आप इसे खा सकते हैं या अपने अन्य साधुओं को भी दे सकते हैं। ऐसा कहने पर वह साधु उस अचित्त नमक को यदि स्वयं खा सकता है तो स्वयं खा ले, अन्यथा अपने सांभोगिक, मनोज्ञ एवं चारित्रनिष्ठ साधुओं को बाट दे। यदि स्वयं एवं अन्य साधु नहीं खा सकते हों तो उसे एकान्त एवं प्रासुक स्थान में जाकर परठ देवे।

इसमें यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि नमक सचित्त होता है और उसके लिए अप्रासुक शब्द का प्रयोग भी हुआ है, फिर उसे खाने एवं सांभोगिक साधुओं में विभक्त करने की आज्ञा कैसे दी गई? इसका समाधान यह है कि आगम में जो खाने का आदेश दिया गया है, वह अचित्त नमक की अपेक्षा से दिया गया है। किसी शस्त्र के प्रयोग से जो नमक अचित हो गया है और वह भूल से आ गया है तो गृहस्थ को पूछकर उसके कहने पर साधु खा सकता है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त अप्रासुक शब्द सचित्त के अर्थ मे प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि भूल से आए हुए नमक के विषय में गृहस्थ से पूछकर यह निर्णय करे कि यह नमक भूल मे दिया गया है या जानकर और यदि भूल से दिया गया है तो अब गृहस्थ की इसे खाने के लिए आज्ञा है या नहीं— आज्ञा लिए बिना साधु को उसे खाना नहीं कल्पता। अत अप्रासुक शब्द सचित्त के अर्थ में नहीं, अपितु अकल्पनीय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वह कब तक अकल्पनीय है इसकी स्पष्ट व्याख्या ऊपर कर चुके है।

जैसे आचाराग में स्थित सचित्त एवं अकल्पनीय दोनों अर्थों में अप्रासुक शब्द का प्रयोग हुआ है, उसी तरह दशवैकालिक सूत्र में अग्रहणीय सचित्त वस्तु एवं जो वस्तु लेने की इच्छा न हो उन दोनों के लिए 'न कप्पइ तारिसं' शब्द का प्रयोग हुआ है✽। और भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने सचित्त उड़द के लिए भी अभक्ष्य शब्द का प्रयोग किया है और किसी गृहस्थ के द्वारा बिना याचना किए हुए उड़द को भी साधु के लिए अभक्ष्य कहा है†। इसी तरह थावच्चा पुत्र ने शुकदेव संन्यासी को और

✽ दशवैकालिक सूत्र ५, १, ७९।

† भगवती सूत्र १८, उ० १०।

भगवान पार्श्वनाथ ने सोमल ब्राह्मण को भी ऐसे शब्द कहे थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह आगम की एक शैली रही है कि एक शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः यहां अप्रासुक शब्द अकल्पनीय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि यदि कोई पदार्थ बिना इच्छा के भूल से आ गया है तो उसके लिए गृहस्थ से पूछकर उसकी आज्ञा मिलने पर उसे खा सकता है, अपने समान आचार-विचारनिष्ठ साधुओं को दे सकता है और उसे खाने मे समर्थ न हो तो साधु मर्यादा के अनुसार आचारण कर सकता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ दशम उद्देशक समाप्त

# प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा

## एकादशम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक में यह बताया गया है कि साधु को जो आहार प्राप्त हुआ है, उसे उसका कैसे उपयोग करना चाहिए। इस बात का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

मूलम्—भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु—समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे मणुन्नं भोयणजायं लभित्ता से भिक्खू गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य भिक्खू नो भुंजिज्जा तुमं चेव णं भुंजिज्जासि, से एगइओ भोक्खामित्ति कट्टु पलिउंचिय २ आलोइज्जा, तंजहा- इमे पिंडे इमे लोए इमे तित्ते इमे कडुयए इमे कसाए इमे अंबिले इमे महुरे, नो खलु इत्तो किंचि गिलाणस्स सयइत्ति माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, तहाठियं आलोइज्जा जहाठियं गिलाणस्स सयइत्ति, तं तित्तयं तित्तएत्ति वा कडुयं कडुअं कसायं कसायं अंबिलं अंबिलं महुरं महुरं० ॥६०॥

छाया—भिक्षाका नामैके एवमाहुः समाना वा वसन्तो वा ग्रामानुग्रामं वा दूयमानाः मनोज्ञ भोजनजातं लब्ध्वा स भिक्षुः ग्लायति, स

गृहणीत यूयम् ण तस्य आहरतः स च भिक्षुः न भुंक्ते त्वमेव भुंक्व स एककः भोक्ष्ये इति कृत्वा परिकुंच्य परिकुंच्य आलोकयेत्, तद्यथा—अयं पिण्डः अयं रूक्षः अयं तिक्तः अयं कटुकः अयं कषायः, अयं अम्लः, अयं मधुरः, नो खलु इतः किंचिद् ग्लानस्य स्वदतीति, मातृस्थानं संस्पृशेत्, नो एवं कुर्यात्, तथा स्थित आलोकयेत् यथा स्थित ग्लानस्य स्वदतीति, तद् तिक्तकं तिक्तक इति वा कटुक कटुकं, कषाय कषायं, अम्ल अम्लं मधुरं मधुरम्।

पदार्थ—भिक्खागा—भिक्षु-साधु। नाम—सम्भावनार्थक अव्यय है। एगे—कितने एक। एव—इस प्रकार। आहसु—कहने लगे। समाणे वा—संभोगी साधु तथा असंभोगी साधु वसमाणे वा—रोगादि के कारण से एक स्थान मे रहते हुए। गामाणुगाम दूइज्जमाणे—अनुक्रम से ग्रामानुग्राम विचरते हुए, वहां आ गए उनमें कोई साधु रोगी है उसके लिए। मणुन्न—मनोज्ञ। भोयणजाय—भोजन पदार्थ। लभित्ता—प्राप्त कर कहने लगे। से—वह। भिक्खू—भिक्षु। गिलाइ—रोगी है। से हदह—यह आहार तुम ले लो। णं—वाक्यालंकार मे है। तस्साहरह—उसके लिए दे दो। से य भिक्खू—यदि रोगी-वह भिक्षु। न भुंजिज्जा—न खावे तो। तुमचेव—तुम ही। भुंजिज्ज सि—भोग लेना। ण—वाक्यालंकार मे है। से एगइओ—वह कोई एक भिक्षु गृहस्थ से आहार लेकर मन मे विचारता है कि। भोक्खामित्ति कट्टु—इस आहार को मैं ही भोगूंगा-मैं ही खाऊंगा। पलिउंचिय पलिउंचिय—अस्तु मनोज्ञ आहार को छुपा छुपाकर वातादि रोगों को उद्देश्य कर। आलोइज्जा—दिखलाता है। तंजहा—जैसे कि। इमे पिंडे—यह जो आहार साधुओं ने आपके लिए दिया है, यह अपथ्य है, क्योंकि। इमे लोए—यह रूक्ष आहार है। इमे तित्त—यह तिक्त है। इमे कडुयए—यह कटुक है। इमे कसाए—यह कषाय है। इमे अंबिले—यह खट्टा है। इमे महुरे—यह मीठा है। खलु—निश्चय ही। इत्तो—इससे। किंचि—किंचिन्मात्र भी। गिलाणस्स—रोगी को। नो सयइत्ति—लाभ नहीं होगा, ऐसा करने से वह भिक्षु। माइट्ठाण—मातृस्थान-छल के स्थान का। संफासे—सेवन करता है। एव—इस प्रकार। नो करिज्जा—वह न करे किन्तु। तहाठियं—तथावस्थित। आलोइज्जा—दिखलावे। जहाठिय—यथावस्थित। गिलाणस्स—रोगी को। सयइत्ति—लाभ पहुंचे। त—जैसे कि। तित्तयं तित्तएत्ति—तिक्त को तिक्त। वा—और। कडुयं कडुअ—कटुक को कटुक। कसाय कसाय—कषाय को कषाय। अंबिल अंबिल—खट्टे को खट्टा। महुर महुर—मधुर को मधुर कहे।

मूलार्थ—एक क्षेत्र मे किसी कारण से साधु रहते हैं, वहां पर ही

ग्रामानुग्राम विचरते हुए अन्य साधु भी आगये है और वे भिक्षाशील मुनि मनोज्ञ भोजन को प्राप्त कर उन पूर्वस्थित भिक्षुओं को कहे कि अमुक भिक्षु रोगी है उसके लिए तुम यह मनोज्ञ आहार ले लो। यदि वह रोगी भिक्षु न खाए तो तुम खालेना ? अस्तु, किसी एक भिक्षु ने उनके पास से आहार लेकर मन मे विचार किया कि यह मनोज्ञ आहार मै ही खाऊगा। इस प्रकार विचार कर उस मनोज्ञ आहार को अच्छी तरह छिपा कर, रोगी भिक्षु को अन्य आहार दिखला कर कहे कि यह आहार भिक्षुओ ने आप के लिए दिया है। किन्तु यह आहार आपके लिए पथ्य नही है, क्योकि यह रुक्ष है, तिक्त है, कटुक है, कसैला है, खट्टा है, मधुर है, अत: रोग की वृद्धि करने वाला है, आपको इससे कुछ भी लाभ नही होगा। जो भिक्षु इस प्रकार कपट चर्या करता है, वह मातृस्थान का स्पर्श करता है, अतः भिक्षु को ऐसा कभी नही करना चाहिए। किन्तु जैसा भी आहार हो उसे वैसा ही दिखलावे—अर्थात् तिक्त को तिक्त, कटुक को कटुक, कषाय को कषाय, खट्टे को खट्टा और मीठे को मीठा बतलावे। तथा जिस प्रकार रोगी को शांति प्राप्त हो उसी प्रकार पथ्य आहार के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में रोगी साधु की निष्कपट भाव से सेवा-शुश्रूषा करने का आदेश दिया गया है। यदि किसी साधु ने किसी रोगी साधु के लिए मनोज्ञ आहार दिया हो तो सेवा करने वाले साधु का कर्तव्य है कि जिस साधु ने जैसा आहार दिया है उसे उसी रूप मे बताए। ऐसा न करे कि उस मनोज्ञ आहार को स्वयं के लिए छुपाकर रख ले और बीमार साधु से कहे कि तुम्हारे लिए अमुक साधु ने यह रूखा-सूखा, खट्टा, कषायला आदि आहार दिया है, जो आपके लिए अपथ्यकर है। यदि स्वाद लोलुपता के वश साधु इस तरह से सरस आहार को छुपाकर उस रोगी साधु को दूसरे पदार्थ दिखाता है और उसके सम्बन्ध मे गलत बातें बताता है तो वह माया--कपट का सेवन करता है। कपट आत्मा को गिराने वाला है। इससे महाव्रतों मे दोष लगता है और साधु साधुत्व से

गिरता है। अतः साधु को अपने अपने स्वाद का पोषण करने के लिए छल-कपट नहीं करना चाहिए। जैसा आहार दिया गया है उसे उसी रूप में रोगी साधु के सामने रख देना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु—समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगाम दूइज्जमाणे वा मणुन्नं भोयण जाय लभित्ता से य भिक्खू गिलाइ से हदह णं तस्स आहरह, से य भिक्खू नो भुंजिज्जा आहारिज्जा, से ण खलु मे अतराए आहरिस्सामि, इच्चेयाइ आयतणाइ उवाइक्कम्म ॥६१॥

छाया—भिक्षाकाः नामेके एवमाहुः समानान् वा वसमानान् वा ग्रामानुग्राम दूयमानान् वा मनोज्ञं भोजनजातं लब्ध्वा स च भिक्षु ग्लायति स गृह्णीत, णं तस्य आहरत स च भिक्षु नो भुंक्ते आहरेत् स न खलु मे अन्तरायं आहरिष्यामि इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य।

पदार्थ—नाम—संभावना अर्थ मे है। एगे—कोई एक। भिक्खागा—भिक्षा से जीवन व्यतीत करने वाले भिक्षु-साधु। एवमाहंसु—इस प्रकार साधुओं के समीप आकर कहने लगे। समाणे वा—संभोगी साधुओं को। वसमाणे—अथवा एक क्षेत्र मे स्थिर वास रहने वालो को अथवा। गामाणुगाम दूइज्जमाणे वा—ग्रामानुग्राम विहार करने वालो को। मणुन्नं—मनोज्ञ। भोयणजाय—भोजन पदार्थ। लभित्ता—प्राप्त कर। से—वह। भिक्खू—साधु, वसते हुए या विहार करने वाले आगन्तुक साधु को कहे कि। गिलाइ—जो भिक्षु रोगी है उसके लिए। हदह—यह आहार ले लो। तस्स—उसको। आहरह—दे दो। णं—वाक्यालंकार मे है, यदि। से—वह। भिक्खू—रोगी साधु। नो भुंजिज्जा—न खावे, तो। आहारिज्जा—वापिस लाकर हमको दे देना क्योंकि हमारे यहा भी रोगी साधु है। य ण—प्राग्वत्। से—वह-भिक्षु, लेने वाला कहने लगा कि यदि। मे—मुझे। नो अतराए—कोई अंतर न हुआ अर्थात् आने मे कोई विघ्न उपस्थित न हुआ तो। आहारिस्सामि—मैं वापिस लाकर दे दूंगा, इस प्रकार प्रतिज्ञा कर, वह आहार रोगी को न देकर आप ही खा जाता है तो। इच्चेयाइं—इस प्रकार यह कार्य। आयतणाइ—कर्म बन्धन का कारण है। उवाइक्कम्म—इनको सम्यक्

प्रकार से दूर करके रोगी साधु की सेवा करनी चाहिए। क्योंकि छल-कपटादि से कर्म का वन्ध होता है।

**मूलार्थ**—भिक्षाशील साधु, सभोगो साधु वा एक क्षेत्र मे स्थिर बास रहने वाला साधु गृहस्थ के वहां से मनोज्ञ आहार प्राप्त करके ग्रामानुग्राम विचरने वाले अतिथि रूप में आए हुए साधुओ से कहे कि तुम रोगी साधु के लिए यह मनोज्ञ आहार ले लो? यदि वह रोगी साधु इसे न खाए तो यह आहार हमे वापिस लाकर दे देना, क्योंकि हमारे यहां भी रोगी साधु है। तब वह आहार लेने वाला साधु उनसे कहे कि यदि मुझे आने मे कोई विघ्न न हुआ तो मै इस आहार को वापिस लाकर दे दूगा, परन्तु रस लोलुपो वह साधु उस आहार को रोगी को न देकर स्वय खा जाए और पूछने पर कहे मेरे शूल उत्पन्न होगया था अर्थात् मेरे पेट मे बहुत दर्द होगया था इस लिए मै नहीं आ सका, इसप्रकार वह साधु मायास्थान का सेवन करता है, अतः इस तरह के पापकर्मो के स्थानो को सम्यक्तया दूर करके, रोगी साधु की आहार आदि के द्वारा सेवा करनी चाहिए,

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में कथित विषय को कुछ विशेषता के साथ बताया गया है। पूर्व सूत्र मे कहा गया था कि यदि कोई साधु रोगी साधु की सेवा में स्थित साधु को यह कहकर मनोज्ञ आहार दे गया हो कि इस आहार को रोगी को दे देना यदि वह न खाए तो तुम खा लेना, तो साधु उस आहार को अपने लिए छुपाकर नहीं रखे। और प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि यदि किसी साधु ने प्रतिज्ञा पूर्वक यह कहा हो कि यह मनोज्ञ आहार रोगी साधु को ही देना यदि वह न खाए तो हमें वापिस लाकर दे देना, तो उस साधु को चाहिए कि वह आहार रोगी साधु को दे दे। स्वयं उसका उपभोग न करे। यदि वह स्वाद की लोलुपता से उस आहार को अपने लिए छुपाकर रखता है, तो माया का सेवन करता है। और उसकी इस वृत्ति से उसका दूसरा महाव्रत भी भग होता है और रोगी को आहार की अंतराय देने के कारण अन्तराय कर्म का भी वन्ध होता है। इस

तरह स्वाद के वश साधु अपना अधःपतन कर लेता है। वह आध्यात्मिक साधना से भ्रष्ट हो जाता है। अतः साधक को अपनी क्रिया में छल-कपट नहीं करना चाहिए। पदार्थों के स्वाद की अपेक्षा साधना, सरलता, सेवा एवं सत्यता का अधिक मूल्य है, उस से आत्मा का विकास होता है। इसलिए साधु को शुद्ध एवं निष्कपट भाव से रोगी की सेवा करनी चाहिए और उसके लिए जो आहार दिया गया हो उसे बिना छुपाए उसी रूप में उसको देना चाहिए। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है❀।

अब सूत्रकार सप्त पिंडैषणा के विषय में कहते हैं—

**मूलम्—अह भिक्खू जाणिज्जा सत्त पिंडेसणाओ सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा—असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते, तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा मत्तेण वा असणं वा ४ सयं वा णं जाइज्जा परो वा से दिज्जा फासुयं पडिगाहिज्जा, पढमा पिंडेसणा॥१॥ अहावरा दुच्चा पिंडेसणा-संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, तहेव दुच्चा पिंडेसणा॥२॥ अहावरा तच्चा पिंडेसणा—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइआ सड्ढा भवंति—गाहावई वा जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं अन्नयरेसु विरूवरूवेसु भायणजाएसु उवनिक्खित्तपुव्वे सिया तंजहा—थालंसि वा, पिढरंसि वा सरगंसि वा परगंसि वा वर-**

---

❀ सचैवमुक्त. सन् एव वदेत्—यथाऽन्तरायमतरेणाहरिष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽहार-मादाय ग्लानान्तिक गत्वा प्राक्तनान् भक्तादिरूक्षादिदोषानुद्घाट्य ग्लानायादत्वा स्वतएव लौल्याद् भुक्त्वा ततस्तस्य साधोर्निवेदयति, यथा मम शूलं वैयावृत्यकालापर्याप्त्यादिक मन्तरायिकमभूदतोऽहं तद् ग्लानभक्तं गृहीत्वा नायात इत्यादि मातृस्थानं संस्पृशेत् एतदेव दर्शयति—इ येतानि—पूर्वोक्तान्यायतनानि—कर्मोपादानस्थानानि 'उपातिक्रम्य' सम्यक् परिहृत्य मातृस्थान-परिहारेण ग्लानाय वा दद्याद् दातृमातुमभीप वाऽऽहरेदिति। — आचाराङ्ग वृत्ति

गंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा—असंसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे असंसट्ठे मत्ते, से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहिए वा, से पुव्वामेव०—आउसोत्ति वा ! २ एएण तुमं असंसट्ठेण हत्थेण, संसट्ठेण मत्तेणं संसट्ठेण वा हत्थेण असंसट्ठेण मत्तेण अस्सिं पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा निह-ट्टु उचित्तु दलयाहि तहप्पगारं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा २ फासुयं० पडिगाहिज्जा, तइया पिंडेसणा ॥३॥ अहावरा चउत्था पिंडेसणा—से भिक्खू वा० से जं० पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाए, तहप्पगारं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं० जाव पडि०, चउत्था पिंडेसणा ॥४॥ अहावरा पंचमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा, तंजहा—सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा बहुपरियावन्ने पाणीसु दगलेवे, तहप्पगारं असणं वा ४ सयं० जाव पडिगाहि०, पंचमा पिंडेसणा ॥५॥ अहावरा छट्ठा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ पग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा, जं च सयट्ठाए पग्गहियं, जं च पर-ट्ठाए पग्गहियं, तं पायपरियावन्नं, तं पाणिपरियावन्नं फासुयं

पडि०, छट्ठा पिंडेसणा ॥६॥ अहावरा सत्तमा पिंडेसणा--से भिक्खू वा० बहुउज्झियधम्मियं भोयणजायं जाणिज्जा, जं चऽन्ने बहवे दुपयचउप्पय समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा नावकंखंति, तहप्पगारं उज्झियधम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा, परो वा से दिज्जा जाव पडि०, सत्तमा पिंडेसणा ॥७॥ इच्चेयाओ सत्त पिंडसेणाओ, अहावराओ सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढ़मा पाणेसणा असंसट्ठे हत्थे, असंसट्ठे मत्ते, तं चेव भाणियव्वं, नवरं चउत्थाए नाणत्तं – से भिक्खू वा० से जं० पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा—तिलोदगं वा ६, अस्सिं खलु पडिग्गहियसि अप्पे पच्छाकम्मे तहेव पडिगाहिज्जा ॥६२॥

छाया—अथ भिक्षुर्जानीयात् सप्त पिंडैषणाः सप्तपानैषणाः तत्र खलु इयं प्रथमा पिंडैषणा असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रम्, तथाप्रकारेण असंसृष्टेन हस्तेनवा मात्रेण वा अशन वा ४ स्वयं वा याचेत् परो वा स दद्यात् प्रासुकं प्रतिगृह्णीयात्, प्रथमा पिंडैषणा ॥१॥ अथापरा द्वितीया पिंडैषणा—संसृष्टो-हस्तः संसृष्टं मात्र तथैव द्वितीया पिंडैषणा ॥२॥ अथापरा तृतीया पिंडैषणा-इह खलु प्राचीन वा ४ सन्त्येकका: श्राद्धा भवंति गृहपति वा यावत् कर्मकरा वा तेषां च अन्यतरेषु विरूपरूपेषु भाजनजातेषु उपनिक्षिप्तपूर्वः स्यात्, तद्यथा—स्थाले वा पिठरे वा सरके वा परके वा वरके वा, अथ पुनरेवं जानीयात्, असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं संसृष्टो वा हस्तः असंसृष्टं मात्रं स च प्रतिग्रहधारी स्यात् पाणिप्रतिग्राहितः वा स पूर्वमेव आयुष्मन् ! इति वा एतेन त्वं असंसृष्टेन हस्तेन संसृष्टेन मात्रेण संसृष्टेन वा हस्तेन असंसृष्टेन

मात्रेण अस्मिन् पतद्ग्रहे वा पाणौ वा निर्हृत्य उच्चित्य ददस्व, तथाप्रकार भोजनजातं स्वयं वा याचेत् २ प्रासुकं प्रतिगृह्णीयात्, तृतीया पिंडैषणा ।।३।। अथापरा चतुर्थी पिंडैषणा—स भिक्षुः वा स यत् पृथुक वा यावत् ओदन-पलम्बं वा अस्मिन् खलु पतद्ग्रहे अल्प पश्चात् अल्प पर्यायजातं, तथाप्रकार पृथुक वा यावत् तन्दुलपलब वा स्वयं वा यावत् प्रतिगृह्णीयात्, चतुर्थी पिण्डैषणा ॥४॥ अथापरा पंचमी पिण्डैषणा—स भिक्षुर्वा० उपहृतमेव भोजन-जात जानीयात्, तद्यथा—शरावे वा डिण्डिमे वा कोशके वा अथ पुनरेवं जानीयात् बहुपर्यापन्नः पाणिषु दकलेपः तथाप्रकार अशनं वा ४ स्वय यावत् प्रतिगृह्णीयात्, पंचमी पिंडैषणा ।।५।। अथापरा षष्ठी पिण्डैषणा स भिक्षुर्वा २ प्रगृहीतमेव भोजनजातं जानीयात्, यच्च स्वार्थाय प्रगृहीतं यच्च परार्थायप्रगृहीत तत् पात्रपर्यापन्न वा तत् पाणिपर्यापन्नं वा प्रासुक प्रतिगृह्णीयात्, षष्ठीपिण्डै-षणा ।।६।। अथापरासप्तमी पिण्डैषणा-स भिक्षुः वा बहु उज्भितधर्मिक भोजन-जातं जानीयात् यच्च अन्ये बहवः द्विपद-चतुष्पद-श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकाः नावकांक्षन्ति तथाप्रकारं उज्भितधर्मिकं भोजनजात स्वय वा याचेत् परो वा स दद्यात् प्रतिगृह्णीयात्, सप्तमी पिण्डैषणा ॥७॥ इत्येताः सप्त पिंडैषणाः ।। अथापराः सप्त पानैषणाः—तत्र खलु इयं प्रथमा पानैषणा—असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रं तच्चैव तथैव पूर्ववत् भणितव्य, नवरं चतुर्थ्यां नानात्वम्—स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः पानकजातं जानीयात्, तद्यथातिलोदकं वा ६ अस्मिन् खलु पतद्ग्रहे अल्पं पश्चात्कर्म तथैव प्रतिगृह्णीयात् ।

पदार्थ—अह—अथ । भिक्खू—भिक्षु । जाणिज्जा—इस बात को जाने कि । सत्त पिंडैसणाओ—सात पिंडैषणा और । सत्त पाणेसणाओ—सात पानैषणा हैं । खलु—निश्चयार्थक है । तत्थ—उन सात पिंडैषणाओं में से । इमा—यह । पढ़मा—पहली । पिंडेसणा—पिंडैषणा है कि । असंसट्ठे हत्थे—हाथ लेने वाले पदार्थों से लिप्त नहीं । असंसट्ठे मत्ते—और पात्र भी भोज्य पदार्थों से लिप्त न हो । तहप्पगारेण—तथा प्रकार के । असंसट्ठेण हत्थेण—अलिप्त हाथ से । वा—अथवा । मत्तेण—अलिप्त पात्र से । असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार की । सयं वा जाइज्जा—याचना करे अथवा । परो जा। वह गृहस्थ

दे तो उसे। फासुय—प्रासुक जान कर। पडिगाहिज्जा—ग्रहण कर ले। ण—वाक्यालकार में है। पढमा पिंडेसणा—यह पहली पिंडैषणा है। अहावरा—अथ अब अन्य। दुच्चा पिंडेसणा—दूसरी पिंडैषणा कहते हैं। ससट्ठे हत्थे—अचित पदार्थ से हाथ लिप्त है और। संसट्ठे मत्ते—पात्र-भाजन भी अचित्त पदार्थ से लिप्त है। तहेव—तो उसे उसी प्रकार प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। दुच्चा पिंडेसणा—यह दूसरी पिंडैषणा है। अहावरा—अब इसके आगे। तच्चा-पिंडेसणा—तीसरी पिंडैषणा कहते है। खलु—वाक्यालकार मे है। इह—इस ससार में या क्षेत्र मे। पाईण वा ४—पूर्वादि चारो दिशाओ मे। संतेगइया—कई एक अर्थात् बहुत से लोग हैं उनमें कोई २। सड्ढा भवति—श्रद्धालु-श्रद्धा वाले भी होते है यथा। गाहावई वा—गृहपति, गृहपत्नी। जाव—यावत्। कम्मकरी वा—दासी पर्यन्त। च—पुन। ण—वाक्यालकार में है। तेसिं—उनके। अण्णयरेसु—अन्यतर। विरूवरूवेसु—नाना प्रकार के। भायणजाएसु—पात्रो मे। उवणिक्खित्तपुव्वेसिया—पहले ही अशनादिक चतुर्विध आहार रखा हुआ हो। तजहा—जैसे कि। थालसि वा—थाल मे। पिठरंसि वा—पिठर-बटलोही या हाडी में। सरगंसि वा—सूपादि मे। परगंसि वा—अथवा बांस की टोकरी मे। वरगंसि वा—किसी विशिष्ट महर्घ पात्र मे। अह—अथ। पुण—फिर। एवं—इस प्रकार। जाणिज्जा—जाने जैसे कि। असंसट्ठे हत्थे—सचित्त व अचित्त पदार्थ से हाथ लिप्त नही हैं किन्तु। ससट्ठे मत्ते—भाजन लिप्त है तथा। ससट्ठे वा हत्थे—हाथ लिप्त है और। असंसट्ठे मत्ते—भाजन-पात्र लिप्त नही है। य—फिर। से—वह भिक्षु-साधु। पडिग्गहधारी सिया—पात्रो के धारण करने से स्थविरकल्पी हो। वा—अथवा। पाणि पडिग्गहिए—हाथ ही जिसका पात्र है ऐसा जिनकल्पी हो। से पुव्वामेव—वह पहले ही। आलोइज्जा—देखे-विचारे और कहे। आउसोत्ति वा—हे आयुष्मन्! गृहस्थ अथवा भगिनि! तुम एएणं—तम इस। असंसट्ठेण हत्थेण—असंसृष्ट-अलिप्त हाथ से। ससट्ठेण मत्तेण—और लिप्त भाजन से। वा—अथवा। ससट्ठेण हत्थेण—लिप्त हाथ से। असंसट्ठेण मत्तेण—और अलिप्त भाजन से। अस्सि पडिग्गहसि—इस हमारे पात्र मे। वा—अथवा। पाणिसि वा—हमारे हाथ मे। निहट्टु—लाकर। उचित्तु दलयाहि—हमें दे दो। तहप्पगारं—तथ प्रकार के अर्थात् ऐसे। भोयणजायं—भोजन को। सयं वा—स्वयं। जाइज्जा—याचना करे। वा—अथवा। परो वा से दिज्जा—गृहस्थ स्वयमेव दे तो। फासुयं—उसे प्रासुक जानकर। पडिगाहेज्जा—ग्रहण करले। तइयापिंडेसणा—यह तीसरी पिंडैषणा है। अहावरा—अब इसके अनन्तर। चउत्था पिंडेसणा—चौथी पिंडैषणा कहते हैं। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा—वह साधु अथवा साध्वी। से ज०—गृहपति कुल में प्रवेश करने पर इस प्रकार जाने यथा। पिहुयं वा—अग्नि से परिपक्व तुष रहित शाल्यादि। जाव—यावत्। चाउलपलंबं वा—तुष-रहित चावल। खलु—वाक्यालकार मे है। अस्स पडिग्गहंसि—हमारे इस पात्र मे। अप्पे-

पच्छा कम्मे—जहा पश्चात् कर्म नहीं तथा। अप्पे पज्जवजाए—तुषादि रहित है। तहप्पगारं—तथाप्रकार के। पिहुय वा—अचित्त शाल्यादि को। जाव—यावत्। चाउलपलंब वा—तुष-रहित चावलों को। सय वा ण जाव पडि०—स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ स्वयं दे तो उसे प्रासुक जानकर स्वीकार करले, यह। चउत्था पिंडेसणा—चौथी पिंडैषणा है। अहावरा—अब इसके अनन्तर। पंचमा पिंडेसणा—पांचवीं पिंडैषणा के विषय में कहते हैं यथा—। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा—खाने के लिए पात्र में रखे हुए भोजन को जाने, यथा। सरावंसि वा—शराव में मिट्टी के सकोरे में। डिंडिमंसि वा—कांसी के वर्तन में अथवा। कोसगंसि वा—कोशक-मिट्टी के बने हुए पात्र विशेष में। अह पुण एवं जाणिज्जा—अथवा फिर इस प्रकार जाने। बहुपरियावन्ने—कि सचित्त जल से हाथ आदि धोए हुए उसे बहुत देर हो गई है जिससे वह अचित्त हो गया है और। पाणिसु दगलेवे—हाथ आदि में लिप्त जल अचित्त हो रहा है। तहप्पगारं—तथा प्रकार के। असणं वा ४—अशनादि चार प्रकार के आहार को। सय वा ण० जाव पडि०—स्वयं याचना करे या गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर स्वीकार करले। पंचमा पिंडेसणा—यह पांचवीं पिंडैषणा है। अहावरा—अब अन्य। छट्ठा पिंडेसणा—छठी पिंडैषणा के सम्बन्ध में कहते हैं। से भिक्खू वा०—वह साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर गया हुआ। पग्गहियमेव—भाजन से निकाली गई वस्तु दूसरे ने अभी ग्रहण नहीं की उस समय अभिग्रहधारी भिक्षु। भोयणजायं—भोजनादि पदार्थ को जाने। च—पुनः-फिर। जं—जो वस्तु। सयट्ठाए पग्गहियं—अपने लिए वर्तन आदि से निकाली है। जं च- और जो फिर। परट्ठाए पग्गहियं—दूसरे के लिए निकाली है। तं पायपरियावन्नं—वह भोजनादि वस्तु गृहस्थ के पात्र में है अथवा। तं पाणि परियावन्नं—हाथ में है, तो। फासुयं जाव पडिगाहिज्जा—उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करले। छट्ठा—यह छठी। पिंडेसणा—पिंडैषणा है। अहावरा—अब इसके बाद। सत्तमा पिंडेसणा—सातवीं पिंडैषणा के सम्बन्ध में कहते हैं। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा—वह साधु अथवा साध्वी गृहपति के घर में गया हुआ। बहु-उज्झिय धम्मियं—उज्झित धर्म वाले। भोयणजायं—भोजनादि पदार्थ को। जाणिज्जा—जाने। जं चऽन्ने—और जिसको फिर अन्य। बहवे—बहुत से। दुपय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा—द्विपद-चतुष्पद, (दो पैर और चार पैर वाले) श्रमण-शाक्यादि भिक्षु माहण-ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वणीमग-भिखारी आदि। नावकखंति—नहीं चाहते हैं। तहप्पगारं—तथा प्रकार का आहार। उज्झिय धम्मियं—जिसको लोग नहीं चाहते ऐसे। भोयणजायं—भोजन को। सय वा ण जाइज्जा—स्वयमेव गृहस्थ से याचना करे अथवा। से—उस साधु को। परो वा दिज्जा—गृहस्थ दे। जाव—यावत्-मिलने पर। पडिगाहिज्जा—प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। सत्तमा पिंडेसणा—यह सातवीं पिंडैषणा है। इच्चेयाओ—इस प्रकार ये। सत्त पिंडेसणाओ—सात पिंडैषणा कही गई हैं। अहावराओ—अब इसके

अनन्तर। सत्त-सात । पाणेसणाओ—पानैषणा—पानी की एषणा कहते हैं। खलु—निश्चय ही। तत्थ—उन सात पानैषणाओ मे से। इमा पढमा—यह पहली पानैषणा है। असंसट्ठे हत्थे-असंसृष्ट हाथ-अलिप्त हाथ और। असंसट्ठे मत्ते—अलिप्त पात्र है अर्थात् हाथ और पात्र दोनो ही अछूते है, इत्यादि। तं चेव भाणियव्वं—सब कुछ पूर्व कथित की भांति जानना। णवर—इतना विशेष है कि। चउत्थाए—चौथी मे। नाणत्तं—नानात्व है, विशेषता है। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा—वह साध या साध्वी। से ज०—गृहपति कुल मे प्रवेश करने पर फिर इस प्रकार। पाणगजाय—पानी के विषय में। जाणिज्जा—जाने। तंजहा—जैसे कि। तिलोदग वा ६—तिलादि का धोवन। खलु—निश्चय ही। अंस्सि पडिग्गहियंसि—इसके ग्रहण करने मे। अप्पे पच्छा कम्मे—पश्चात्कर्म नही है। तहेव पडिगाहिज्जा—तो उसे उसी प्रकार प्रासुक जानकर ग्रहण करले।

मूलार्थ—सयमशील साधु सात पिण्डैषणाओ तथा सात पानैषणाओ को जाने। उन सातो मे से पहली पिंडैषणा यह है कि अचित्त वस्तु से न हाथ लिप्त और न पात्र ही लिप्त है, तथा प्रकार के अलिप्त हाथ और अलिप्त पात्र से अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करले, यह प्रथम पिंडैषणा है, इसके अनन्तर दूसरी पिंडैषणा यह है कि अचित वस्तु से हाथ और भाजन लिप्त है तो पूर्ववत प्रासुक जान कर उसे ग्रहण करले, यह दूसरी पिण्डैषणा है। तदनन्तर तीसरी पिण्डैषणा कहते है—इस ससार या क्षेत्र मे पूर्वादि चारो दिशाओ में बहुत पुरुष है उन मे से कई एक श्रद्धालु-श्रद्धा वाले भी हैं, यथा गृहपति, गृहपत्नी यावत् उनके दास और दासी आदि रहते है। उनके वहां नानाविध भाजनो मे भोजन रखा हुआ होता है यथा—थाल मे, पिठर-बटलोही में, सरक [छाजजैसा] मे, टोकरी मे और मणिजटित महार्घ पात्र मे। फिर साधु यह जाने कि गृहस्थ का हाथ तो लिप्त नही है भाजन लिप्त है, अथवा हाथ लिप्त है, भाजन अलिप्त है, तव वह स्थविर कल्पी अथवा जिनकल्पी साधु प्रथम ही उसको देखकर कहे कि-हे आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा भगिनि! तू मुझ को इस अलिप्त हाथ से और लिप्त भाजन से हमारे पात्र वा हाथ मे

वस्तु लाकर दे दे। तथाप्रकार के भोजन को स्वयं मांगले अथवा विना-मांगे ही गृहस्थ लाकर दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करले। यह तीसरी पिण्डैषणा है। अब चौथी पिण्डैषणा कहते हैं—वह भिक्षु तुषरहित शाल्यादि को यावत् भुग्न शाल्यादि के चावल को जिसमें पश्चात्कर्म नहीं है, और न तुषादि गिराने पड़ते है, इस प्रकार का भोजन स्वय माग ले या बिना मांगे गृहस्थ दे तो प्रासुक जान कर ले ले, यह चौथी पिण्डैषणा है। पांचवीं पिण्डैषणा—गृहस्थ ने सचित्त जल से हस्तादि को धोकर अपने खाने के लिए, सकोरे में, कांसे की थाली में अथवा मिट्टी के किसी भाजन में भोजन रक्खा हुआ है-उसके हाथ जो सचित्त जल से धोए थे अचित्त हो चुके है तथाप्रकार के अशनादि आहार को प्रासुक जानकर साधु ग्रहण करले, यह पांचवी पिण्डैषणा है। छठी पिण्डैषणा यह है—गृहस्थ ने अपने लिए अथवा किसी दूसरे के लिए बर्तन में से भोजन निकाला है परन्तु दूसरे ने अभी उसको ग्रहण नहीं किया है तो उस प्रकार का भोजन गृहस्थ के पात्र में हो या उसके हाथ मे हो तो मिलने पर प्रासुक जानकर उसे ग्रहण कर ले। यह छठी पिण्डैषणा है। सातवी पिंडैषणा यह है— वह साधु या साध्वी, जिसे बहुत से पशु-पक्षी मनुष्य-श्रमण (बौद्ध भिक्षु) ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लोग नही चाहते, तथाप्रकार के उज्झित धर्म वाले भोजन को स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले, यह सातवीं पिंडैषणा है। इस प्रकार ये सात पिंडैषणाए कही है। तथा अपर सात पानैषणा अर्थात् पानी की एषणाएं है। जैसेकि अलिप्त हाथ और अलिप्त भाजन आदि, शेष सब वर्णन पूर्व की भांति समझना चाहिए। और चौथीपानैषणा मे नानात्व का विशेष है। वह साधु या साध्वी पानी के विषय में जाने जैसे कि तिलादि का धोवन जिसके ग्रहण करने पर पश्चात्कर्म नही लगतो है तो उसे प्रासुक जानकर हण करले। शेष पानैषणा पिंडैषणा की तरह जाननी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनियों के सात पिंडैषणा एवं सात पानैषणा का वर्णन किया गया है। इसमें आहार एवं पानी ग्रहण करने के एक जैसे ही नियम हैं। ये सातों एषणाएं इस प्रकार हैं—

१–अलिप्त हाथ एवं अलिप्त पात्र से आहार ग्रहण करना प्रथम-पिण्डैषणा है और अलिप्त हाथ एवं अलिप्त पात्र से पानी ग्रहण करना प्रथम पानैषणा है।

२–लिप्त हाथ और लिप्त पात्र से आहार ग्रहण करना द्वितीय पिण्डैषणा है और ऐसी ही विधि से पानी ग्रहण करना द्वितीय पानैषणा है।

३–अलिप्त हाथ और लिप्त पात्र या लिप्त हाथ और अलिप्त पात्र से आहार एवं इसी विधि से पानी ग्रहण करना तृतीय पिण्ड एवं पानैषणा है।

४–साधु को आहार देने के बाद सचित्त जल से हाथ या पात्र आदि धोने या पुन आहार बनाने आदि का पश्चात्कर्म नहीं करना चतुर्थ पिण्डैषणा है, इसी तरह पानी देने के बाद भी पश्चात् कर्म नहीं लगाना चतुर्थ पानैषणा है। इसमें तिल, तुष, यव (जौ) का धोवन, आयाम—जिस पानी में गर्म वस्तु ठण्डी की जाती है, कांजी का पानी और उष्ण जल आदि ६ प्रकार के प्रासुक जल का नाम निर्देश किया है। परन्तु उपलक्षण से अन्य प्रासुक पानी को भी समझ लेना चाहिए।

५–गृहस्थ ने अपने पात्र में खाद्य पदार्थ रखे हैं और उसके बाद वह सचित्त जल से हाथ धोता है, यदि हाथ धोने के बाद वह जल अचित्त रूप मे परिवर्तित हो गया है तो मुनि उसके हाथ से आहार ले सकता है। इस तरह पानी भी ले सकता है, यह पाचवीं पिण्डैषणा एव पानैषणा है।

६–गृहस्थ ने अपने या अन्य के खाने के लिए पात्र में खाद्य पदार्थ रखा है, परन्तु न स्वय ने खाया है और न अन्य ने ही खाया है, ऐसा आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना छठी पिण्डैषणा है और ऐसा पानी लेने का सङ्कल्प करना छठी पानैषणा है

७–जिस आहार को बहुत से लोग खाने की इच्छा नहीं रखते हों ऐसा रूक्ष आहार लेने का संकल्प करना सातवीं पिण्डैषणा है। इसी तरह ऐसे पानी को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना सातवीं पानैषणा है।

उक्त अभिग्रह जिनकल्प एवं स्थविरकल्प दोनों तरह के मुनियों के लिए हैं। तृतीय पिण्डैषणा मे 'पडिग्गहधारी सिया पाणि पडिग्गहिए वा' तथा छठी पिण्डैषणा में ,पाय

परियावन्न पाणि पडियावन्न' दो पदों का उल्लेख करके यह स्पष्ट कर दिया है कि दोनों ही कल्प वाले मुनि इन अभिग्रहों को ग्रहण कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में उस युग के गृहस्थों के रहन-सहन, आचार विचार एवं उस युग की सभ्यता का स्पष्ट परिचय मिलता है। ऐतिहासिक अन्वेषकों के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है।

'उज्झित धर्म वाला' अर्थात् जिस आहार को कोई नहीं चाहता हो इसका तात्पर्य इतना ही है कि जो अधिक मात्रा में होने के कारण विशेष उपयोग में नहीं आ रहा है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पदार्थ खाने योग्य नहीं है। इस अभिग्रह का उद्देश्य यही है कि अधिक मात्रा में अवशिष्ट आहार में से ग्रहण करने से पश्चात्कर्म का दोष नहीं लगता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'बहुपरियावन्ने पाणीसु दगलेवे' का अर्थ है— यदि सचित्त जल से हाथ धोए हों, परन्तु हाथ धोने के बाद वह जल अचित्त हो गया है तो साधु उस व्यक्ति के हाथ से आहार ले सकता है।

"सयं वा जाइज्जा परो वा से दिज्जा" का तात्पर्य है— जिस प्रकार मुनि गृहस्थ से आहार की याचना करे उसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी यह विधान है कि वह भक्ति एवं श्रद्धा पूर्वक साधु को आहार ग्रहण करने की प्रार्थना करे।

उक्त अभिग्रह ग्रहण करने वाले मुनि को अन्य मुनियों के साथ—जिन्होंने अभिग्रह नहीं किया है या पीछे से ग्रहण किया है, कैसा वर्ताव रखना चाहिए, इस संबंध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इच्चेयासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं सत्तण्हं पाणेसणाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे नो एवं वइज्जा-मिच्छापडिवन्ना खलु एए भयंतारो, अहमेगे सम्मं पडिवन्ने, जे एए भयंतारो एयाओ पडिमाओ पडिवज्जित्ता णं विहरंति, जो य अहमंसि एयं पडिमं पडिवज्जित्ताणं विहरामि सव्वेवि ते उ जिणाणाए उवट्ठिया अन्नुन्नसमाहीए, एवं च णं विहरंति,

एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥६३॥

छाया—इत्येतासां सप्तानां पिण्डैषणानां सप्तानां पानैषणानां अन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानो नैतद् वदेत्, तद्यथा—मिथ्या प्रतिपन्नाः खलु एते भयत्रातारः (भगवन्तः) अहमेवैकः सम्यक् प्रतिपन्न ये एते भयत्रातारः एताः प्रतिमाः प्रतिपद्य विहरन्ति अहमपि एतां प्रतिमां प्रतिपद्य विहरामि सर्वेऽपि ते जिनाज्ञायां समुत्थिता अन्योऽन्यसमाधिना एव च विहरन्ति । एवं खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्यम् ।

पदार्थ-इच्चेयासिं—इस प्रकार ये । सत्तण्हं—सात । पिंडेसणाणं—पिंडैषणा और । सत्तण्हं पाणेसणाणं—सात पानैषणा में से । अन्नयरं—अन्यतर—कोई एक । पडिमं—प्रतिमा को । पडिवज्जमाणे—ग्रहण करता हुआ फिर । एवं—इस प्रकार । नो वइज्जा—न बोले । खलु—निश्चय । एए भयंतारो—ये सब अभिग्रह धारण करने वाले भगवत अर्थात् साधु लोग । मिच्छा पडिवन्ना—मिथ्या प्रतिपन्न अर्थात् पिंडैषणादि अभिग्रह को इन्होंने अच्छी तरह ग्रहण नहीं किया है । अहमेगे—मैं ही एक अकेला । सम्मं पडिवन्ने—सम्यक्-भली प्रकार से अभिग्रह को ग्रहण करने वाला हूं अर्थात् जिस प्रकार अभिग्रह धारण किया है उस प्रकार का और कोई नहीं है इस प्रकार मुनि को अहंकार वृत्ति से नहीं बोलना चाहिए किन्तु इस तरह बोलना चाहिए यथा- । जे—जो । एए—ये सब । भयंतारो—भय से रक्षा करने वाले भगवान-साधु । एयाओ पडिमाओ—इन प्रतिमाओं को । पडिवज्जित्ता—ग्रहण करके । ण—वाक्यालंकार में है । विहरंति—विचरते हैं । य—और । जो—जो । अहमंसि—मैं । एयं—इस । पडिमं—प्रतिज्ञा रूप प्रतिमा को । पडिवज्जित्ताणं—ग्रहण करके । विहरामि—विचरता हूं । सव्वे वि ते—ये सर्व ही । उ—वितर्क-वितक अर्थ में है । जिणाणाए—जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में उवट्ठिया—उपस्थित हुए । अन्नुन्न समाहिए—अन्योन्य परस्पर समाधि में । एवं च ण—इस प्रकार । विहरंति—विचरते हैं । चकार पुनरर्थक है । ण—वाक्यालंकार में है । एयं खलु—इस प्रकार निश्चय ही । तस्स—उस । भिक्खुस्स—भिक्षु । वा—अथवा । भिक्खुणीए—भिक्षुकी-साध्वी का । सामग्गियं—समग्र श्रमण भाव है—सम्पूर्ण आचार है ।

मूलार्थ—इन सातों पिण्डैषणाओं तथा पानैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा-प्रतिज्ञा अभिग्रह को ग्रहण करता हुआ साधु फिर इस प्रकार न कहे ये सब अन्य साधु सम्यक्तया प्रतिमाओं को ग्रहण करने वाले नहीं

है, केवल एक मै ही सम्यक् प्रकार से प्रतिमा ग्रहण करने वाला हूं। उसे किस तरह बोलना चाहिए ? इस विषय में कहते है—ये सब साधु महाराज इन प्रतिमाओ को ग्रहण करके विचरते है। ये सब जिनाज्ञा मे उद्यत हुए परस्पर समाधि पूर्वक विचरते है। इस तरह जो साधु साध्वी अहभाव को नही रखता उसी मे साधुत्व है और अहंकार नही रखना सम्यक् आचार है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधना में अहंकार करने का निषेध किया गया है। साधना का उद्देश्य जीवन को ऊंचा उठाना है, अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना है। अत. साधक को चाहिए कि वह दूसरे की निन्दा एवं असूया से ऊपर उठकर क्रिया करे। यदि कोई साधु उसके समान अभिग्रह या प्रतिमा स्वीकार नहीं करता है, तो उसे अपने से निम्न श्रेणी का मानना एवं उससे घृणा करना साधुत्व से गिरना है। साधना की दृष्टि से की जाने वाली प्रत्येक क्रिया महत्त्व पूर्ण है और उसका मूल्य बाह्य त्याग के साथ आभ्यन्तर दोषों के त्याग मे स्थित है। यदि बाह्य साधना की उत्कृष्टता के साथ-साथ उस त्याग का अहंकार है और दूसरे के प्रति ईर्ष्या एवं घृणा की भावना है तो वह बाह्य त्याग आत्मा को ऊपर उठाने में असमर्थ ही रहेगा। अस्तु, प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि साधु को अपने त्याग का, अपने अभिग्रह आदि का गर्व नहीं करना चाहिए और अन्य साधुओं को अपने से हीन नही समझना चाहिए। उसे तो साधना के पथ पर गतिशील सभी साधकों का समान भाव से आदर करना चाहिए। गुण सम्पन्न पुरुषों के गुणों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए और उनके गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। इसी से आत्मा का विकास होता है।

आगम में यह स्पष्ट शब्दों मे बताया गया है कि साधु को परस्पर एक-दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए। एक वस्त्र रखने वाले मुनि को दो वस्त्रधारी मुनि की और दो वस्त्र सम्पन्न मुनि को तीन या बहुत वस्त्र रखने वाले मुनि की निन्दा नही करनी चाहिए। इसी तरह अचेलक मुनि को सवस्त्र मुनि का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। साधु को निन्दा-चुगली से सर्वथा निवृत्त रहना चाहिए*। क्योंकि आत्मा का विकास

---

* जेऽवि दुवत्थ तिवत्थो बहुवत्थो अचेल ओव्वसयरइ, न हु ते हीलंति परं सव्वेविअ ते जिणाणाए।

निन्दा एवं चुगली से निवृत्त होने में है। साधना का महत्त्व आभ्यन्तर दोषों के त्याग में है, न कि केवल बाह्य साधना में। माता मरुदेवी एवं भरत चक्रवर्ती ने आभ्यन्तर दोषों का त्याग करके ही गृहस्थ के वेश में पूर्णता को प्राप्त किया था।

प्रस्तुत सूत्र में सात पिण्डैषणाओं का वर्णन करके अभिग्रह की संख्या सीमित कर दी है। सात से ज्यादा या कम अभिग्रह नहीं होते। और 'विहरंति' वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि चारित्र की साधना वर्तमान में ही होती है। ज्ञान एवं दर्शन पूर्व भव से भी साथ में आते हैं और एक गति से दूसरी गति में जाते समय भी साथ रहते हैं। परन्तु, चारित्र न पूर्वभव से साथ में आता है और न साथ में जाता है। उसकी साधना-आराधना इसी भव में की जा सकती है।

अभिग्रह के सम्बन्ध में वृत्तिकार का मत है कि स्थविर कल्पी मुनि सात अभिग्रह स्वीकार कर सकता है और जिन कल्पी मुनि ५ अभिग्रह स्वीकार कर सकता है*।

आगमोदय समिति की प्रति में प्रस्तुत उद्देशक के अन्त में 'त्तिबेमि' नहीं दिया है। किन्तु, अन्य कई प्रतियों में 'त्तिबेमि' शब्द दिया है। 'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ ग्यारहवां उद्देशक समाप्त ॥

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

* अत्र च द्वये साधवो—गच्छान्तर्गता गच्छविनिर्गताश्च तत्र गच्छान्तर्गतानां सप्तानामपि ग्रहणमनुज्ञातं, गच्छ निर्गतानां पुनराद्ययोर्द्वयोरग्रहः पंचस्वभिग्रह इति।

— आचाराङ्गवृत्ति।

अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा, से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा सअंडं जाव समंताणय तहप्पगारे उवस्सए नो ठाणं वा सिज्ज वा निसीहियं वा चेइज्जा ॥

से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अप्पंडं. जाव अप्पसंताणयं, तहप्पगारे उवस्सए पडिलेहित्ता, पमज्जित्ता तओ संजयामेव ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥

से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ समारब्भ समुद्दिस्स, कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु चेएइ, तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा जाव अणासेविए वा नो ठाणं वा ३ चेइज्जा। एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ। से भिक्खू वा० से जं पुण उ० बहवे समणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स तं चेव भाणियव्वं ॥

से भिक्खू वा० से जं० बहवे समण० समुद्दिस्स पाणाइ ४ जाव चे एति, तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ३, अह पुणेवं जाणिज्जा, पुरिसंतरकडे जाव सेविए पडिलेहित्ता २ तओ-संजयामेव चेइज्जा॥

से भिक्खू वा० से ज पुण अस्संजए भिक्खुपडियाए कडिए वा उक्कंविए व छन्ने वा लित्ते वा घट्ठे वा मट्ठे वा संमट्ठे वा संपधूमिए वा तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा सेज्जं वा निसीहिं वा चेइज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडे जाव आसेविए पडिलेहित्ता २ तओ चेइज्जा ॥६४॥

छाया—स भिक्षुः वा० अभिकाक्षेत्, उपाश्रयं एषितु अनुप्रविश्य ग्रामं वा यावत् राजधान्यां वा स यत् पुनः उपाश्रय जानीयात् साण्डं यावत् ससन्तानकम्। तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थान वा शय्या वा निर्षाधिकां वा चेतयेत, स भिक्षुर्वा० यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात् अल्पाण्ड यावत् अल्प सन्तानकं तथाप्रकारे उपाश्रये प्रतिलिख्य प्रमज्य ततः संयतमेव स्थान वा ३ चेतयेत्। स यत् पुः उपाश्रयं जानीयात् एतत्प्रतिज्ञया एक साधर्मिक समुद्दिश्य प्राणानि ४ समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं प्रामृत्य आच्छेद्य अनिसृष्ट अभ्याहृत आहृत्य, चेतयति तथाप्रकारे उपाश्रये पुरुषान्तर कृते यावत् अनासेविते नो स्थान वा ३ चेतयेत, एव बहवः साधर्मिकाः एका साधर्मिका बह्वीः साधर्मिकाः ? स भिक्षुर्वा० स यत् पुन उपाश्रयं० बहून् श्रमण वनीपकान प्रगणय २ समुद्दिश्य, तच्चैव भणितव्यम्। स भिक्षुर्वा० स यत् बहून् श्रमण० समुद्दिश्य प्राणानि ४ यावत् चेतयति तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तर कृते यावत् अनासेविते नो स्थानं वा ३ चेतयेत्। अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतः यावत् सेवितः प्रतिलिख्य २ ततः संयतमेव चेतयेत्। स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया कटकितो वा उत्कंचितो वा छन्नो वा लिप्तो वा घृष्टो वा मृष्टो वा समृष्टो वा संप्रधूपितो वा तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते यावत् अनासेविते नो स्थानं वा शय्या

वा निषीधिका वा चेतयेत्। अथ पुनरेवं जानीयात्, पुरुषान्तरकृतः यावत् आसेवितः प्रतिलिख्य २ ततः चेतयेत्।

**पदार्थ—से**—वह। **भिक्खू वा**—साधु अथवा साध्वी। **उवस्सयं**—उपाश्रय की। **एसित्तए**—गवेषणा करनी। **अभिकंखेज्जा**—चाहे तब। **गाम वा**—ग्राम मे अथवा। **जाव**—यावत्। **रायहाणिं वा**—राजधानी मे। **अणुपविसित्ता**—प्रवेश करके। **से** वह-भिक्षु। **जं पुण**—जो फिर। **उवस्सय**—उपाश्रय को। **जाणिज्जा**—जाने। **स अंड**—अण्डादि से युक्त। **जाव**—यावत्। **ससंताणय**—मकडी आदि के जालो से युक्त। **तहप्पगारे**—तथा प्रकार के। **उवस्सए**—उपाश्रय मे। **ठाण वा**—कायोत्सर्ग का स्थान अथवा। **सिज्ज वा**—शय्या-संस्तारक-संथारे का स्थान। **निसीहियं वा**—अथवा स्वाध्याय भूमि का स्थान। **नो चेइज्जा**—न करे।

**से भिक्खू वा**—वह साधु या साध्वी। **से जं पुण**—जो कि फिर। **उवस्सयं जाणिज्जा**—उपाश्रय को जाने। **अप्पंड**—अंडो से रहित। **जाव**—यावत्। **अप्पसंताणयं**—मकडी आदि के जालो से रहित। **तहप्पगारे उवस्सए**—इस प्रकार के उपाश्रय की। **पडिलेहित्ता**—प्रतिलेखना कर। **पमज्जित्ता**—प्रमार्जना कर। **तओ**—तदनन्तर। **संजयामेव**—संयत-साधु। **ठाण वा ३**—कायोत्सर्ग-शय्या और स्वाध्याय भूमी का स्थान। **चेइज्जा**—बनावे।

**से ज पुण**—वह साधु फिर। **उवस्सयं जाणिज्जा**—उपाश्रय को जाने, यथा। **अस्सि पडियाए**—इस प्रतिज्ञा-अर्थात् साधु की प्रतिज्ञा मे। **एगं साहम्मियं**—एक सार्धमिक साधु का। **समुद्दिस्स**—उद्देश्य रखकर। **पाणाइं**—प्राणी आदि का। **समारब्भ**—समारम्भ करके अर्थात् षट्काय की विराधना-हिंसा करके। **समुद्दिस्स**—तथा साधु के उद्देश्य से। **कीय**—मोल लेकर। **पामिच्चं**—दूसरे से उधारा लेकर। **अच्छिज्जं**—अन्य से छीन कर। **अणिसिट्ठ**—दो या दो से अधिक की मालकियत के उपाश्रय को एक की आज्ञा के विना ग्रहण करके। **अभिहडं**—अन्य से आज्ञा। **आहट्टु**—लेकर। **चेएति**—देना है तो। **तहप्पगारे उवस्सए**—तथाप्रकार के उपाश्रय मे। **पुरिसंतरकडे**—पुरुषान्तरकृत। **वा**—अथवा अपुरुषान्तरकृत। **जाव**—यावत्। **अणासेविए**—अनासेवित सेवित-अर्थात् सेवन नही किया या सेवन किया हो उसमें। **ठाण ३ वा**—स्थान दि-कायोत्सर्गादि। **नो चेइज्जा**—न करे। **एव**—इसी प्रकार। **बहवे साहम्मिया**—बहुत से साधर्मी साधु अथवा। **एगं साहम्मिणिं**—एक साध्वी तथा। **बहवे साहम्मिणीओ**—बहुत साध्वियो के विषय मे भी जानना चाहिए।

**से भिक्खू वा०**—वह साधु अथवा साध्वी। **से ज पुण**—वह फिर। **उवस्सयं जाणिज्जा**—उपाश्रय को जाने, जैसे कि। **बहवे समण वणीमए**—श्रमण तथा भिखारियो को।

पगणिय २—गिन गिन कर। समुदिस्स—एक एक का उद्देश करके। तं चेव भाणियव्वं—शेष वर्णन पूर्व की ही भांति जानना चाहिए। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। से ज०—फिर वह उपाश्रय को जाने। बहवे—बहुत से। समण०—श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियों का। समुद्दिस्स—उद्देश्य करके। पाणाइ ४—प्राणी, भूत, जीव और सत्वों की हिंसा करके। जाव—यावत्। चेइति—उपाश्रय बनाया है। तहप्पगारे—तथा प्रकार का उपाश्रय। अपुरिसंतरकडे—अपुरुषान्तर कृत। जाव अणासेविए—यावत् अनासेवित अर्थात् जिसे किसी ने भी सेवन नहीं किया है ऐसे उपाश्रय में। ठाणं वा ३—कायोत्सर्ग, संस्तारक तथा स्वाध्याय आदि। नो चेइज्जा—न करे। अह पुण एवं जाणिज्जा—अथ फिर इस प्रकार जाने कि। पुरिसंतरकडे—यह उपाश्रय पुरुषान्तरकृत है। जाव—यावत। सेविए—दूसरों से सेवित है उसे। पडिलेहित्ता २—प्रतिलेखन करके। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—साधु कायोत्सर्गादि-। चेइज्जा—करे।

से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। से ज पुण—वह जो फिर। असंजए—गृहस्थ ने। भिक्खू पडियाए—साधु के लिए। कडिए वा—काष्ठादि से दीवार आदि का संस्कार किया। उक्कंबिए वा—अथवा वांस आदि से बांधा है। छन्ने वा—तृणादि से आच्छादित किया है। लित्ते २ वा—गोबर आदि से उपलिप्त किया है। घट्ठे वा—या सवारा है अथवा। मट्ठे वा—ऊंची नीची भूमि को समतल बनाया है। समट्ठे वा—उसे घोट कर कोमल बनाया है और दुर्गन्ध आदि को दूर करने के लिए। संपधूमिए वा—धूप आदि के द्वारा सुगन्धित किया हो। तहप्पगारे—तथा प्रकार का। उवस्सए—उपाश्रय जोकि। अपुरिसंतरकडे—पुरुषान्तर-कृत नहीं है। जाव—यावत्। अनासेविए—अनासेवित है उसमें। ठाण वा ३—कायोत्सर्ग। सेज्ज वा—अथवा शैय्या-संस्तारक या। णिसीहियं वा—स्वाध्याय। नो चेइज्जा—न करे। अह पुण एवं जाणिज्जा—फिर वह इस प्रकार जाने कि जो उपाश्रय। पुरिसंतरकडे—पुरुषान्तर कृत। जाव—यावत्। आसेविए—आसेवित है तो उसका। पडिलेहित्ता—प्रतिलेखन करके। तओ—तदनन्तर उसमें कायोत्सर्गादि कार्य। चेइज्जा—करे।

**मूलार्थ**—वह साधु वा साध्वी उपाश्रय की गवेषणा के लिए ग्राम यावत् राजधानी में जाकर उपाश्रय को जाने जो उपाश्रय अण्डों से यावत् मकड़ी आदि के जालों से युक्त है तो उसमें वह कायोत्सर्ग संस्तारक (संथारा) और स्वाध्याय न करे। वह साधु या साध्वी जिस उपाश्रय को अण्डों और मकड़ी के जाले आदि से रहित जाने, उसे प्रतिलेखित और

प्रमार्जित करके उसमे कायोत्सर्गादि करे।

जो उपाश्रय एक साधर्मी के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्वादिका समारम्भ करके, मोल लेकर, उधार लेकर, किसी निर्बल से छीन कर, यदि सर्व साधारण का है तो किसी एक की भी बिना आज्ञा लिए साधु को देता है तो इस प्रकार का उपाश्रय पुरुषान्तरकृत हो अथवा अपुरुषान्तरकृत, एवं सेवित हो या अनासेवित, उसमे साधु कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे। इसी प्रकार जो बहुत से साधर्मियो के लिए बनाया गया हो तथा एक साधर्मिणी या बहुत सी साधर्मिणियो के लिए बनाया आदि गया है उसमे भी स्थानादि कायोत्सर्गादि न करे। और जो उपाश्रय बहुत से श्रमणो तथा भिखारियो के लिए बनाया गया हो उसमे भी स्थान न करे।

जो उपाश्रय शाक्यादि भिक्षुओ के निमित्त षट्काय का समारम्भ करके बनाया गया है, जब तक वह अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित है तब तक उसमे स्थानादि—कायोत्सर्गादि न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत या आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन करके यत्नापूर्वक वहा स्थानादि कार्य कर सकता है।

जो उपाश्रय गृहस्थ ने साधु के लिए बनाया हुआ है उस का काष्ठादि से सस्कार किया है, बास आदि से बान्धा है तृणादि से आच्छादित किया है गोबरादि से लोपा है, सवारा है तथा ऊची नीची भूमि को समतल बनाया है, सुकोमल बनाया है और दुर्गन्धादि को दूर करने के लिए सुगन्धित द्रव्यो से सुवासित किया है तो इस प्रकार का उपाश्रय जब तक अपुरुषान्तरकृत या अनासेवित है, तबतक उस मे नहीं ठहरना चाहिए, और यदि वह पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित होगया हो तो उस का प्रति--लेखन करके उस मे स्थानादि कार्य कर सकता है, अर्थात् कायोत्सर्ग, सथारा और स्वाध्याय आदि कर सकता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गांव या शहर में ठहरने के इच्छुक साधु-साध्वी को उपाश्रय (ठहरने के स्थान) की गवेषणा करनी चाहिए। उसे देखना चाहिए कि उस स्थान में अण्डे एवं मकडी के जाले आदि न हों और बीज एवं अनाज के दाने बिखरे हुए न हों। क्योंकि अण्डे, बीज एवं सब्जी आदि से युक्त मकान में ठहरने से उनकी विराधना होने की सम्भावना है। अतः साधु को ऐसे मकान की गवेषणा करनी चाहिए कि जिसमें संयम की विराधना न हो। यदि किसी मकान में चींटी आदि क्षुद्र जन्तु हों तो उस मकान का प्रमार्जन करके उन त्रस जीवों को एकान्त में छोड दे। इस तरह साधु ऐसे मकान में ठहरे जिसमे किसी भी प्राणी की विराधना (हिंसा) न हो।

स्थान की गवेषणा करते समय क्षुद्र प्राणियों से रहित स्थान के साथ-साथ यह भी देखना चाहिए कि वह स्थान साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो, साधु के लिए किसी निर्बल व्यक्ति से छीन कर न लिया गया हो, अनेक व्यक्तियों के सांझे का न हो तथा सामने लाया हुआ न हो। यदि वह उपरोक्त दोषों से युक्त है तो वह स्थान चाहे गृहस्थों ने अपने काम में लिया हो या न लिया हो, चाहे उसमें गृहस्थ ठहरे हों या न ठहरे हों, साधु के लिए अकल्पनीय है, साधु उस स्थान में न ठहरे।

सांझे के मकान के विषय में इतना अवश्य है कि यदि वह मकान साधु के लिए नहीं बनाया गया है और जिन व्यक्तियों का उस पर अधिकार है वे सब व्यक्ति इस बात में सहमत हैं कि साधु उक्त मकान में ठहरे तो साधु उस मकान में ठहर सकते हैं। यदि उन में से एक भी व्यक्ति यह नही चाहता कि साधु उक्त मकान में ठहरें तो साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या मकान भी सामने लाकर दिया जाता है? इसका समाधान यह है कि तम्बू आदि सामने लाकर खड़े किए जासकते हैं। लकडी के बने हुए मकान भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जा सकते हैं। और आजकल तो ऐसे मकान भी बनने लगे हैं कि उन्हें स्थानान्तर किया जा सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु के निमित्त ६ काय की हिंसा करके जो मकान बनाया गया है, साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए। और जो मकान साधु के लिए नहीं बनाया गया है, परन्तु उसमे साधु के निमित्त फर्श आदि को लीपा-पोता गया है या उसमें सफेदी आदि कराई गई है, तो साधु को उस मकान मे तब तक नहीं ठहरना चाहिए जब तक वह पुरुषान्तर नहीं हो गया है। इसी तरह जो मकान अन्य

श्रमणों* के लिए या अन्य व्यक्तियों के ठहरने के लिए बनाया गया है— जैसे धर्मशाला आदि। ऐसे स्थानों में उनके ठहरने के पश्चात् पुरुषान्तर होने पर साधु ठहर सकता है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० पुण उवस्सयं जा० अस्संजए भिक्खुपडियाए खुड्डियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ-कुज्जा, जहा पिंडेसणाए जाव संथारगं संथारिज्जा बहिया वा निन्नक्खु तहप्पगारे उवस्सए अपु० नो ठाणं ३ अह पुणेवं० पुरिसंतरकडे आसेविए पडिलेहित्ता २ तओ संजयामेव जाव चेइज्जा। से भिक्खू वा० से जं० अस्संजए भिक्खुपडियाए उदग्गप्पसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा ठाणाओठाणं साहरइ बहिया वा निणक्खू तं० अणु० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसंतरकडं चेइज्जा। से भिक्खू वा से जं० अस्संज० भि० पीढं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूखलं वा ठाणाओठाणं साहरइ बहिया वा निणक्खू तहप्पगारे उ० अपु० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसं० चेइज्जा ॥८५॥

छाया— स भिक्षुः वा स यत् पुनः उपाश्रय जानीयात्, असयतः भिक्षु

* 'श्रमण' शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थ (जैन मुनि), शाक्य (बौद्ध भिक्षु), तापस, गैरुक और आजीवक (गोशालक के अनुयायी) सम्प्रदाय के लिए होता रहा है।

प्रतिज्ञया क्षुद्रद्वारं महाद्वारं कुर्यात् तथा पिण्डैषणायां यावत् संस्तारकं संस्तरेत्, बहिर्वा निस्सारयति तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते नो स्थान० ३ । अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतः आसेवितः प्रतिलिख्य २ ततः संयतमेव यावत् चेतयेत् । स भिक्षुर्वा० स यत् भिक्षुप्रतिज्ञया उदकप्रसूतानि कन्दानि वा मूलानि वा पत्राणि वा पुष्पाणि वा, फलानि वा, बीजानि वा, हरितानि स्थानात् स्थानं साहरति—संक्रामयति बहिर्वा निस्सारयति त० अ पु० नो स्थान वा ३ चेतयेत् । अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृत चेतयेत् । स भिक्षुर्वा स यत् असंयतः भिक्षु-प्रतिज्ञया पीठ वा फलक वा निश्रेणि वा उदूखल वा स्थानात् स्थानं संक्रामयति बहिर्वा निस्सारयति तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते नो स्थानं वा ३ चेतयेत्, अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं चेतयेत् ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी । से ज० पुण उवस्सय जा०—वह जो फिर उपाश्रय को जाने । अस्संजए—असंयत—गृहस्थ । भिक्खुपडियाए—भिक्षु-साधु के लिए । खुड्डियाओ दुवारियाओ—छोटे द्वार को । महल्लियाओ—बडा । कुज्जा—बनाए । जहा पिंडेसणाए—जैसे पिंडैषणा अध्ययन मे बताया है । जाव—यावत् । संथारग संथारिज्जा—सस्तारक (बिछौना) को बिछावे । वा—अथवा । बहिया—कोई पदार्थ उपाश्रय से बाहर । निन्नक्खु—निकाले । तहप्पगारे—तथा प्रकार के । उवस्सए—उपाश्रय मे । अपुरिसतर कडे—जो कि पुरुषान्तरकृत नहीं है तो । नो ठाणं ३—साधु वहा स्थानादि कायोत्सर्गादि न करे । अह पुणेव०—साधु पुनः यह जाने कि यदि उक्त उपाश्रय । पुरिसतरकडे—पुरुषान्तरकृत है । आसेविए—आसेवित है तो फिर उसका । पडिलेहित्ता २—प्रतिलेखन करके । तओ—तदनन्तर । सजयामेव—साधु । जाव—यावत् । चेइज्जा—उसमें स्थानादि करे कायोत्सर्गादि करे । से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी । से ज०—वह फिर यह जाने कि । असंजए—गृहस्थ ने । भिक्खुपडियाए-भिक्षु के लिए । उदगप्पसूयाणि—पानी से उत्पन्न हुए । कदाणि वा—कन्द । मूलाणि वा—अथवा मूल । पत्ताणि—पत्र । वा—अथवा । पुप्फाणि वा—पुष्प । फलाणि वा—फल अथवा । बीयाणि वा—बीज, अथवा । हरियाणि वा—हरी सब्जी को । ठाणाओ—एक स्थान से । ठाण—अन्य स्थान पर । साहरइ—रखता है । वा—अथवा । बहिया निण्णक्खू—भीतर से बाहर फेंकता है तो । त०—वैसे उपाश्रय में जो कि । अपु०—अपुरुषान्तरकृत है । नो ठाण वा—३ चेइज्जा—कायोत्सर्गादि न करे ।

अह—अथ। पुण०—फिर जो ऐसा जाने कि यह। पुरिसतर कड—पुरुषान्तर कृत है तो। चेइज्जा—उसमें कायोत्सर्गादि करे अर्थात् निवास-करले वे। से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी। से ज पुण—जोकि उपाश्रय को जाने कि। अस्सज०—गृहस्थ। भि०—भिक्षु के लिए। पीढ वा—पीठ। फलग वा—फलक। निस्सेणि वा—लकडी की सीढियें। उदूखल वा—अथवा ऊखल को। ठाणाओ ठाणं साहरइ—एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखता है। बहिया वा निण्णक्खू—अथवा भीतर से बाहर निकालता है। तहप्पगारे—तो इस तरह के। उ०—उपाश्रय में जो। अपु०—अपुरुपान्तरकृत है। नो ठाणं वा ३ चेइज्जा—साधु निवास न करे। अह पुण—अथ यदि वह यह जाने कि। पुरिस०—यह पुरुपान्तरकृत है तो। चेइज्जा—उस में निवास करे।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी उपाश्रय के विषय में यह जाने कि गृहस्थ ने साधु के लिए उपाश्रय के छोटे द्वार को बडा बनाया है और बडे को छोटा कर दिया है, तथा भीतर से कोई पदार्थ बाहर निकाल दिया है तो इस प्रकार के उपाश्रय मे जब तक वह अपुरुषान्तरकृत एव अनासेवित है तब तक वहा कायोत्सर्गादि न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित हो गया है, तो उसमे स्थानादि कर सकता है।

इसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए उदक से उत्पन्न होने वाले कन्द मूल, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरी का एक स्थान से स्थानान्तर मे सक्रमण करता है, या भीतर से किसी पदार्थ को बाहर निकालता है, तो इस प्रकार का उपाश्रय भी अपुरुषान्तरकृत और अनासेवित हो तो साधु के लिए अकल्पनीय है। और यदि पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित है तो उसमे वह कायोत्सर्गादि कर सकता है।

इसी भाति यदि गृहस्थ साधु के लिए पीढ [चौकी] फलक और ऊखल आदि पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान मे रखता है या भीतर से बाहर निकालता है, तो इस प्रकार के उपाश्रय मे जो कि अपुरुषान्तरकृत और अनासेवित है तो साधु उसमे कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे, और यदि वह पुरुपान्तरकृत अथवा आसेवित हो चुका है तो उसमे वह कायोत्सर्गादि

क्रियाए कर सकता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ ने साधु के निमित्त उपाश्रय के दरवाजे छोटे-बड़े किए है, या कन्द, मूल, वनस्पति आदि को हटाकर या कांट-छांट कर उपाश्रय को ठहरने योग्य बनाया है तथा उसमें स्थित तख्त आदि को भीतर से बाहर या बाहर से भीतर रखा है और इस तरह की क्रियाएं करने के बाद उस उपाश्रय में गृहस्थ ने निवास किया हो या अपने सामायिक संवर आदि धार्मिक क्रियाएं करने के काम में लिया हो तो साधु उस मकान में ठहर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो मकान मूल से साधु के लिए बनाया हो, उस मकान में साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में नहीं ठहर सकता। परन्तु, जो स्थान मूल से साधु के लिए नहीं बनाया गया है, केवल उसकी मुरम्मत की गई है या उसके कमरों या दरवाजों आदि की छोटाई-बड़ाई में कुछ परिवर्तन किया गया है या उसका अभिनव संस्कार किया गया है तो वह पुरुषान्तर होने के बाद साधु के लिए कल्पनीय है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० तंजहा—खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासा० हम्मि० अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, नन्नत्थ आगाढ़ागाढेहिं कारणेहिं ठाणं वा नो चेइज्जा। से आहच्च चेइए सिया नो तत्थ सीयोदग-वियडेण वा २ हत्थाणि वा पायाणि वा अच्छीणि वा दंताणि वा मुहं वा उच्छोलिज्ज वा पहोइज्ज वा, नो तत्थ ऊसढं पकरे-ज्जा, तंजहा—उच्चारं वा पा० खे० सिं० वंतं वा पित्तं वा पूयं वा सोणियं वा अन्नयरं वा सरीरावयवं वा, केवली बूया आयाणमेयं, से तत्थ ऊसढं पगरे माणे पयलिज्ज वा २, से तत्थ

पयलमाणे वा पवडमाणेवा हत्थं वा जाव सीसं वा अन्नयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज्ज वा पाणिं ४ अभिहणिज्जि वा जाव ववरोविज्ज वा, अथ भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा ४ जं तहप्पगारं उवस्सए अंतलिक्खजाए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥६६॥

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत्-तद्यथा—स्कन्धे वा मंचे वा माले वा प्रासादे वा हर्म्यतले वा अन्यतरस्मिन् वा अन्तरिक्ष जाते नान्यत्र अगाढागाढैः कारणैः स्थानं वा नो चेतयेत्, स आहृत्य चितः—गृहीतः स्यात् न तत्र शीतोदक विकटेन वा २ हस्तौ वा पादौ वा अक्षिणी वा दन्तान् मुखं वा उत्सोलयेत् वा प्रधावेद् वा न तत्र उत्सृष्टं प्रकुर्यात्, तद्यथा उच्चार वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिंघानं वा वान्त वा पित्त वा पूति वा शोणित वा अन्यतर वा शरीरावयव वा केवली ब्रूयात् आदानमेतत् स तत्र उत्सृष्ट प्रकुर्वन् प्रचलेद् वा २ स तत्र प्रचलन् वा पतन् वा हस्तौ वा यावत् शीर्ष वा अन्यतरं वा काये इन्द्रियजात लूषयेद्—विनाशयेद् वा प्राणिनः वा ४ अभिहन्यात् यावद् व्यपरोपयेद् वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्ट ४ यत् तथाप्रकारे उपाश्रये अन्तरिक्ष जाते नो स्थानं वा ३ चेतयेत्।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी। सेजं—वह फिर उपाश्रय के सम्बन्ध मे जाने। तंजहा—जैसेकि। खवंसि वा—एक स्कन्ध पर अथवा। मंचसि वा—मंच पर। मालसिवा—माल पर। पासायंसि वा—प्रासाद पर दूसरी भूमिका-मंजिल पर। हम्मियतलसिवा—महल पर। अण्णयरंसि वा—अन्य कोई। तहप्पगारसि—इसी प्रकार के। अतलिक्खजायसि वा—आकाश मे अर्थात् ऊंचे स्थान मे है उसमें। ठाणं वा ३—कायोत्सर्गादि। नो चेइज्जा—न करे। णण्णत्थ—इतना विशेष है अर्थात्। अगाढागाढेंहि—किसी विशेष या अगाढ कारण के उपस्थित हुए बिना उपाश्रय को स्वीकार न करे। आहच्च—यदि कभी। से—उसने। चेइए सिया—उसे ग्रहण कर लिया है तो। तत्थ—वह वहा पर। सीओदगवियडेण वा—प्रासुक शीतल या उष्ण जल से। हत्थाणि वा—हाथ। पायाणि वा—पैर। अच्छीणि वा—आंख। दंताणि वा—दान्त। मुह वा—मुख आदि को। नो उच्छोलिज्ज वा—प्रक्षालन न करे। पहोएज्ज वा—वार २ प्रक्षालन न करे और। तत्थ—वहां पर। ऊसढं—

मल मूत्रादि। नो पकरेज्जा – न करे। तजहा – जैसे कि। उच्चारं वा – उच्चार–विष्ठा। पा० – मूत्र। खे० – मुख की मैल। सि० – नाक का मल। वतं वा – वान्ति-वमन। पित्त वा – पित्त। पूय वा – पीप। सोणिय वा – शोणित-रुधिर या। अन्नयर वा – अन्य कोई। सरीराव-यवं वा – शरीर का अवयव वहा पर परठे नही। केवली – केवली भगवान। बूया – कहते हैं। आयाणमेय – यह कर्म आने का मार्ग है। से तत्थ – यदि वह वहा पर। ऊसढंपगरे-माणे – उच्चार आदि करता हुआ। पयलेज्ज वा २ – फिसल पडेगा या गिर पडेगा फिर। से – उसके। तत्थ – वहा पर। पयलमाणे वा – फिसलने अथवा। पवड़माणे – गिरने से। हत्थं वा – हाथ। जाव – यावत्। सीसं वा – सिर या। कायसि – शरीर का। अन्नयर वा – कोई। इंदिय जाल – अवयव विशेष। लूसिज्ज वा – टूट जाएगा तथा। पाणि वा ४ – द्वीन्द्रिय आदि प्राणियो को। अभिहणेज्ज वा – विराधना होगी। जाव – यावत्। ववरोविज्ज वा – विनाश होगा। अथ – अत:। भिक्खूण पुव्वोवदिट्ठा – भगवान ने भिक्षुओ के लिए पहले ही आदेश दे रखा है कि। ज – जो। तहप्पगार – इस तरह के। उवस्सए – उपाश्रय मे जो कि। अन्तलिक्खजाये – आकाश में अर्थात् ऊचे स्थान मे स्थित है। ठाणसि वा – कायोत्सर्गादि। नो चेइज्जा – न करे और ऐसे उपाश्रय मे न ठहरे।

**मूलार्थ**—वह साधु या साध्वी उपाश्रय को जाने, जैसे कि-जो उपाश्रय एक स्तम्भ पर है, मचान पर है, माले पर हे, प्रासाद पर—दूसरी मजिल पर या महल पर बना हुआ है, तथा इसी प्रकार के अन्य किसी ऊचे स्थान पर स्थित है तो किसी असाधारण कारण के बिना, उक्त प्रकार के उपाश्रय मे स्थानादि न करे। यदि कभी विशेप कारण से उसमे ठहरना पडे तो वहां पर प्रासुक शीतल या उष्ण जल से, हाथ, पैर, आख, दान्त और मुख आदि का एक या एक से अधिक बार प्रक्षालन न करे। वहा पर मल आदि का उत्सर्जन न करे यथा– उच्चार (विष्ठा) प्रस्रवण (मूत्र) मुख का मल, नाक का मल, वमन, पित्त, पूय, और रुधिर तथा शरीर के अन्य किसी अवयव के मल का वहा त्याग न करे। क्योकि केवली भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। यदि वह मलादि का उत्सर्ग करता हुआ फिसल पडे या गिर पड़े, तो उसके फिसलने या गिरने पर उसके हाथ-पैर, मस्तक एवं शरीर के किसी भी भाग मे चोट लग सकती है और

उसके गिरने से स्थावर एव त्रस प्राणियों का भी विनाश हो सकता है। अत भिक्षुओ के लिए तीर्थंकरादि का पहले ही यह उपदेश है कि इस प्रकार के उपाश्रय मे जो कि अन्तरिक्ष मे अवस्थित हैं, साधु कायोत्सर्गादि न करे और न वहा ठहरे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे उपाश्रय के विषम स्थान मे रहने का निषेध किया गया है। जो उपाश्रय एक स्तम्भ या मंचान पर स्थित हो और उसके ऊपर निश्रेणी (लकडी की सीढ़ी) लगाकर चढना पडे, तो ऐसे स्थानों मे किसी विशेष कारण के नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उस पर चढने के लिए नि.श्रेणी लाने (लगाने) की व्यवस्था करनी होगी और उस पर से गिरने से शरीर पर चोट लगने या अन्य प्राणियों का हिंसा होने की संभावना रहती है। अत जहा इस तरह के अनिष्ट की संभावना हो ऐसे विषम स्थानों मे नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे अन्तरिक्षजात स्थानों में जो ठहरने का निषेध किया गया है, वह स्थान की विषमता के कारण किया गया है। यदि किसी उपाश्रय मे ऊपर बने हुए आवासस्थल पर पहुचने के लिए सुगम रास्ता है, उसमे गिरने आदि का भय नहीं है और ऊपर छत इतनी मजबूत है कि चलने-फिरने से हिलती नही है या ऊपर से मिट्टी आदि नहीं गिरती है तो ऐसे स्थानों मे ठहरने का निषेध नहीं किया गया है। आगम में यत्र-तत्र विषम स्थानों पर ठहरने या ऐसे विषम स्थानों पर रखी हुई वस्तु यदि कोई गृहस्थ उतार कर देवे तो साधु को ग्रहण करने का निषेध किया गया है*। इसी तरह जो उपाश्रय दुर्बद्ध (विषम स्थान पर स्थित) है, तो वहा साधु को नहीं ठहरना चाहिए। परन्तु, जिस उपाश्रय में ऊपर पहुचने का मार्ग सुगम है और उसमें किसी भी प्राणी की हिंसा नही होती हो तो ऐसे स्थान में साधु को ठहरने का निषेध नहीं किया गया है।

इसी तरह ऊपर की छत पर जो हाथ-पैर धोने एव दांत आदि साफ करने का निषेध किया है उसमे भी यही दृष्टि रही हुई है। यदि विषम स्थान नहीं है तो साधु उस पर आ-जा सकता है और दन्त आदि प्रक्षालन करने का जो निषेध किया है वह विभूषा की दृष्टि से किया गया है, न कि कारण विशेष की दृष्टि से। छेद सूत्रों मे स्पष्ट कहा गया है कि जो साधु विभूषा, के लिए दान्तों का प्रक्षालन करते है उन्हें प्रायश्चित आता

* दशवैकालिक सूत्र, ५, १, ६७-६८।

† निशीथ सूत्र, उद्देशक १४, सूत्र २८, ३९।

है‡। अस्तु, कारण विशेष से उपाश्रय में स्थित ऊपर के ऐसे स्थानों मे जिन पर पहुंचने का मार्ग सुगम है, उन पर दन्त आदि का प्रक्षालन करने का निषेध नहीं है।

उपाश्रय के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० सइत्थियं सखुड्डं सपसु-भत्तपाणं, तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा। आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइकुलेण सद्धिं संवसमाणस्स अलसगे वा विसूइया वा छड्डी वा उव्वाहिज्जा अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जिज्जा, अस्संजए कलुणवडियाए तं भिक्खुस्स गायं तिल्लेण वा घएण वा नवणीयेण वा वसाए वा अब्भंगिज्ज वा मक्खिज्ज वा सिणाणेण वा कक्केण वा लुद्धेण वा वणेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आघंसिज्ज वा पघंसिज्ज वा उव्वलिज्ज वा उव्वट्टिज्ज वा सीओदगवियड़ेण वा उसि-णोदगवियड़ेण वा उच्छोलिज्ज वा पक्खालिज्ज वा सिणा-विज्ज वा सिंचिज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणि-कायं उज्जालिज्ज वा पज्जालिज्ज वा उज्जालित्ता२ कायं आया-विज्जा वा प०, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा० जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥६७॥

‡ जे भिक्खू विभूसा वडियाए अप्पणो दते सीउदगवियडेण वा जाव पधोवतं वा साइज्जइ।

— निशीथ सूत्र, उ० १५, सूत्र १४१

छाया—स भिक्षुर्वा स यत् सस्त्रियं सक्षुद्र सपशुभक्तपान तथाप्रकार-के सागारिके उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत्। आदानमेतत् भिक्षोः गृहपति-कुलेन सार्द्धं संवसतः अलसकं वा विसूचिका वा छर्दी वा उद्बाधेरन्, अन्यतरद् वा दुःख रोगातङ्कः समुत्पद्येत असयतः कारुण्य प्रतिज्ञया तद् भिक्षो गात्रं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा अभ्यज्यात् वा मृक्षयेद् वा स्नानेन वा कल्केन वा लोध्रेण वा वर्णेन वा चूर्णेन वा पद्मेन वा आघर्षेत् प्रघर्षेत् उद्वलेत् उद्वर्तेत् वा शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छालयेद् वा प्रक्षालयेद् वा स्नपयेद् वा सिञ्चेद् वा दारुणा वा दारुपरिणाम कृत्वा अग्निकाय उज्वालयेद् वा प्रज्वालयेद् वा उज्ज्वाल्य कायं वा आतापयेत् वा प्रतापयेद् वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं० यत् तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये नो स्थान वा ३ चेतयेत्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। से जं०—उपाश्रय को जाने जैसे कि। सइत्थियं—यह उपाश्रय स्त्री युक्त है। सखुड्डं—क्षुद्र पशुओ और बालको से युक्त है। सपसुभत्तपाणं—पशुओ तथा उनके खाने योग्य अन्न पानी से युक्त है। तहप्पगारे—तथाप्रकार के। सागारिए—सागारिक-गृहस्थो से युक्त। उवस्सए—उपाश्रय मे। ठाणं वा—कायोत्सर्गादि नो चेइज्जा—न करे। आयाणमेयं—यह कर्म बन्धन का कारण है। भिक्खुस्स—भिक्षु को। गाहावइ कुलेण सद्धिं—यदि गृहपति के कुटुम्ब के साथ। संवसमाणस्स—वसते-निवास करते हुए कदाचित्। अलसके—हाथ-पैर आदि का स्तम्भन हो जाए अथवा उनमे सोजन आ जाए अथवा। विसूइया वा—विसूचिका—हैजा हो जाए या। छड्डी वा—वमन। उव्वाहिज्जा—होने लगे। से अन्नयरे वा—अथवा उसे अन्य कोई। दुक्खे—दुःख। रोगायंके—या ज्वरादि रोग अथवा शूल आदि प्राणनाशक रोग। समुप्पज्जेज्जा—उत्पन्न हो जाए तो इस प्रकार के रोग से पीडित साधु को देखकर। असंजए—गृहस्थ। कलुणापडियाए—करुणा से। तं—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु के। गायं—शरीर को। तेल्लेण वा—तेल से। घएण वा—घृत से। नवणीएण वा—नवनीत—मक्खन से अथवा। वसाए वा—चर्बी से। अब्भंगेज्ज वा—उसके शरीर का एक वार मालिश करेगा अथवा। मक्खिज्ज वा—अनेक वार मालिश करेगा तथा। सिणाणेण वा—सुगन्धित द्रव्य मिश्रित जल से स्नान कराएगा या। कक्केण—कषाय द्रव्य से मिश्रित जल से। लोद्धेण वा—लोद से। वण्णेण वा—कम्पिल्लकादि वर्ण से। चुण्णेण वा—जवादि के चूर्ण से। पउमेण वा—पद्म से। आघसिज्ज वा—उसके शरीर का थोडा सा घर्षण करेगा। पघसिज्ज वा—वार वार घर्षण करेगा। उव्वलिज्ज वा—उक्त पदार्थों को मसल कर शरीर की स्निग्धता को दूर करेगा। उव्वट्टिज्ज वा—उबटन करेगा तथा। सीओदगवियडेण वा—उसे

प्रासुक शीतल जल से। उत्तिणोदगवियडेण वा—या उष्ण जल से। उच्छोलेज्ज वा-एक बार। धोएगा या। पक्खलिज्ज वा—अनेक बार प्रक्षालन करेगा। सिणाविज्ज वा—बार-बार मस्तक को धोएगा। सिंचेज्ज वा—जल के द्वारा गात्र-शरीर का सिंचन करे अथवा। दारुणा वा दारु-परिणामं कट्टु—अरणी के काष्ठ को घर्षण करके। अगणिकायं—अग्नि को। उज्जालेज्ज वा—उज्ज्वलित करेगा। पज्जालिज्ज वा—प्रज्वलित करेगा और। उज्जलित्ता—उज्ज्वलित वा प्रज्वलित करके। कायं—साधु के शरीर को। आयाविज्जा—एक बार तपाएगा। पयाविज्ज वा—या बार-बार तपाएगा। अह—इसलिए। भिक्खूणं—भिक्षुओं को। पुव्वोव इट्ठा—तीर्थंकरादि ने पहले ही आदेश किया है कि। जं—जो कि। तहप्पगारे—तथा प्रकार के। सागारिए—सागारिक-गृहस्थादि से युक्त। उवस्सए—उपाश्रय है, उनमें। ठाणं वा—स्थानादि। नो चेइज्जा—न करे, अर्थात् ऐसे स्थान में न ठहरे।

मूलार्थ—जो उपाश्रय स्त्री, बालक और पशु तथा उनके खाने योग्य पदार्थों से युक्त है तो इस प्रकार के गृहस्थादि से युक्त उपाश्रय में साधु-साध्वी न ठहरें। क्योंकि यह कर्म आने का मार्ग है। भिक्षु का गृहस्थ के कुटुम्ब के साथ बसते हुए कदाचित् शरीर का स्तम्भन या सूजन हो जाए या विसूचिका, वमन, ज्वर या शूलादि रोग उत्पन्न हो जाये, तो वह गृहस्थ करुणाभाव से प्रेरित होकर साधु के शरीर का तेल से, घी से, नवनीत (मक्खन) से और वसा से मालिश करेगा। और फिर उसे प्रासुक शीतल या उष्ण जल से स्नान कराएगा या लोध्र से, चूर्ण से तथा पद्म से एक अथवा अनेक बार उसके शरीर को घर्षित करेगा, तथा शरीर को स्निग्धता को उबटन आदि से दूर करेगा। उस मैल को साफ करने के लिए उसके शरीर का प्रासुक शीतल या उष्ण जल से प्रक्षालन करेगा। उसके मस्तक को धोएगा या उसे जल से सिंचित करेगा, अथवा अरणी के काष्ठ को परस्पर रगड़ कर अग्नि प्रज्वलित करेगा और उससे साधु के शरीर को गर्म करेगा। इस तरह गृहस्थ के परिवार के साथ उसके घर में ठहरने से अनेक दोष लगने की संभावना देखकर भगवान ने ऐसे स्थान पर ठहरने का निषेध किया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को ऐसे मकान में नहीं ठहरना

चाहिए जिसमें गृहस्थ सपरिवार रहता हो और अपने परिवार एवं पशुओं के पोषण के लिए सब तरह के सुख-साधन एवं भोगोपभोग की सामग्री रखी हो। क्योंकि, गृहस्थ के साथ ऐसे मकान मे ठहरने पर यदि कभी वह बीमार हो गया तो वह अनुरागी गृहस्थ अनेक तरह की सावद्य एवं निरवद्य औषधियों से, तेल आदि के लेपन से या अग्नि जलाकर उसके शरीर को तपाकर उसे व्याधि से मुक्त करने का प्रयत्न करेगा और साधु का उसको प्रतिकार करना होगा। यदि वह प्रतिकार नहीं करेगा तो उसके संयम का नाश होगा। इसलिए साधु को ऐसे स्थान में नही ठहरना चाहिए, जिससे उसके महाव्रतों मे किसी तरह का दोष लगे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'वसा' शब्द का अर्थ चर्बी नही, किन्तु स्निग्ध (चिकनाहट से युक्त) औषधि विशेष है। और 'पसुभत्तपाण' का अर्थ है— पशुओं के काम मे आने वाले खाद्य पदार्थ। 'सखुड्ड' (क्षुद्र) शब्द से कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं का एवं पशु शब्द से गाय भैंस आदि पशुओं का ग्रहण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि बीमार साधु को देखकर गृहस्थ के मन मे दयाभाव विशेष रूप से जागृत होता है। इसलिए साधु को गृहस्थ के परिवार के साथ नहीं ठहरना चाहिए। इससे और भी अनेक दोष लगने की संभावना है। स्त्री आदि के साथ अधिक परिचय रहने से ब्रह्मचर्य में भी शिथिलता आ सकती है। यही कारण है कि आगम में साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक युक्त मकान में और साध्वी को पुरुष, पशु और नपुंसक सहित मकान में रहने का निषेध किया गया है और इनसे रहित मकान में रहने वाले साधु को ही निर्ग्रन्थ कहा गया है❀। यह बात अलग है कि जिस मकान में केवल पुरुष ही रहते हों तो उस मकान में साधु और जिस मकान में केवल स्त्रियें निवसित हों तो उस मकान में साध्वियें ठहर सकती हैं†।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरी वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा पचंति वा रुंभंति वा उद्दविंति वा, अह भिक्खूणं उच्चावयं मणं नियंछिज्जा, एए खलु अन्नमन्नं**

---

❀ नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता से निगन्थे।

—उत्तराध्ययन सूत्र, १६।

† कल्प सूत्र।

अक्कोसंतु वा मा वा अक्कोसंतु जाव मा वा उद्दविंतु, अह भिक्खूणं पुव्वो० जं० तहप्पगारे सा० नो ठाणं वा३ चेइज्जा ॥६८॥

छाया—आदानमेतत् भिक्षोः सागारिके उपाश्रये संवसतः इह खलु गृहपतिः वा यावत् कर्मकरी वा अन्योऽन्यं आक्रोशयन्ति वा पचन्ति वा रुंधन्ति वा उपद्रावयन्ति वा अथ भिक्षुः उच्चावच मनः कुर्यात्, एते खलु अन्योऽन्यं आक्रोशन्तु मा वा आक्रोशन्तु यावत् उपद्रावयन्तु, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत्।

पदार्थ—सागारिए उवस्सए—गृहस्थ से युक्त उपाश्रय मे। संवसमाणस्स—निवास करना। भिक्खुस्स—साधु के लिए। आयाणमेयं—कर्म बन्ध का कारण है, क्योकि। इह खलु—इस उपाश्रय मे। गाहावई वा—गृहपति। जाव—यावत्। कम्मकरी वा—उसकी दासी आदि। अन्नमन्नं—परस्पर। अक्कोसंति वा—एक-दूसरे को कोसती है। पचंति वा—खाना पकाती हैं। रुभंति वा—रोकती है। उद्दविंति वा—उपद्रव करती है। अह—अत. उन्हे ऐसा करते देखकर, भिक्खूण—भिक्षु के। उच्चावयं मणं नियच्छिज्जा—मन में ऊंचे-नीचे परिणाम आ सकते है, वह सोच सकता है कि। एए खलु—यह सब निश्चय ही। अन्नमन्नं—परस्पर। अक्कोसंतु वा—आक्रोश करे। मा वा अक्कोसंतु—आक्रोश न करे। जाव—यावत्। मा वा उद्दवितु—उपद्रव न करे। अह भिक्खूण—भिक्षुओ को। पुव्वोवइट्ठा—तीर्थंकरो ने पहले ही उपदेश दिया है कि। जं—जो। तहप्पगारे—ऐसा स्थान है, जिसमे। सा०—गृहस्थ निवास करता है, उसमे। नो ठाण वा ३ चेइज्जा—साधु निवास न करे।

मूलार्थ—गृहस्थो से युक्त उपाश्रय मे निवास करना साधु के लिए कर्म बन्ध का कारण कहा है। क्योकि उसमे गृहपति, उसकी पत्नी, पुत्रिये, पुत्रवधु, दास-दासिए आदि रहती है और कभी वे एक-दूसरी को मारे, रोके या उपद्रव करे तो उन्हे ऐसा करते हुए देखकर मुनि के मन मे ऊंचे-नीचे भाव आ सकते है। वह यह सोच सकता है कि ये परस्पर लड़े-झगडे या लड़ाई-झगड़ा न करें आदि। इसलिए तीर्थंकरों ने साधु को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वह गृहस्थ से युक्त उपाश्रय में न ठहरे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे भी परिवार से युक्त मकान में ठहरने का निषेध किया है। क्योंकि कभी पारिवारिक संघर्ष होने पर साधु के मन मे भी अच्छे एवं बुरे संकल्प विकल्प आ सकते है। वह किसी को कहेगा कि तुम मत लड़ो और किसी को संघर्ष के लिए प्रेरित करेगा। इस तरह वह साधना के पथ से भटककर झंझटों मे उलझ जाएगा। यहां प्रश्न हो सकता है कि किसी को लड़ने से रोकना तो अच्छा है, फिर यहा उसका निषेध क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि परिवार के साथ रहने के कारण उसका मन तटस्थ न रहकर राग द्वेप से युक्त हो जाता है और इस कारण वह अपने अनुरागी व्यक्ति का पक्ष लेकर विरोधी को रोकना चाहता है और अनुरागी को भड़काता है, उसकी यह राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति कर्म बन्ध का कारण होने से साधु के लिए इसका निषेध किया है। यदि कोई साधु तटस्थ एवं मध्यस्थ भाव से संघर्ष को शान्त करने का प्रयत्न करता है तो उसका कहीं निषेध नहीं किया गया है। भगवान महावीर ने कहा है कि साधु जनता को शान्ति का मार्ग बताए और उपदेश के द्वारा कलह को शान्त करने का प्रयत्न करे*। अस्तु, प्रस्तुत प्रसंग मे जो निषेध किया है, वह राग-द्वेष युक्त भाव से किसी का पक्ष लेकर हा या ना करने का निषेध किया गया है, और इसी भावना को सामने रख कर साधु को परिवार युक्त मकान में ठहरने का निषेध किया गया है, जिससे वह पारिवारिक संघर्ष से अलग रहकर अपनी साधना में संलग्न रह सके।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावई अप्पणो सयट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जा वा पज्जालिज्ज वा, विज्झविज्ज वा अह भिक्खू उच्चावयं मणं नियंछिज्जा एए खलु अगणिकायं उ० वा २ मा वा उ० पज्जलितु वा मा वा प०, विज्झवितु वा मा वा वि०, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥६६॥**

* उत्तराध्ययन सूत्र १९

छाया—आदानमेतद् भिक्षोः गृहपतिभिः सार्द्धं संवसतः इह खलु गृहपतिः आत्मनः स्वार्थमग्निकाय उज्ज्वालयेद् वा प्रज्वालयेद् वा विध्यापयेद् वा अथ भिक्षुः उच्चावचं मनः कुर्यात् एते खलु अग्निकायमुज्ज्वालयन्तु वा २ मा वा उज्ज्वालयन्तु, प्रज्वालयन्तु वा मा वा विध्यापयन्तु अथ भिक्षूणा पूर्वोपदिष्ट यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थान वा ३ चेतयेत् ।

पदार्थ—भिक्खुस्स—भिक्षु को । गाहावईहिं—गृहपतियो–गृहस्थो के । सद्धिं—साथ । संवसमाणस्स—निवास करना । आयाणमेयं—यह कर्म बन्धन का कारण है। इह खलु—निश्चय ही उस उपाश्रय मे । गाहावई— गृहस्थ ; अप्पणोसयट्ठाए—अपने स्वार्थ के लिए--आत्म–प्रयोजन के लिए । अगणिकाय—अग्निकाय को । उज्जालिज्जा वा – उज्वलित करे अथवा । पज्जालिज्जा—प्रज्वलित करे अथवा । वा—अथवा । विज्झाविज्ज वा—बुझावे, इस प्रकार के काम करते हुए को देखकर । अह—अथ । भिक्खू—भिक्षु कभी । उच्चावय—ऊचा-नीचा । मण नियच्छिज्जा—मन करे, यथा- । खलु—निश्चय ही । एए—ये गृहस्थ लोग । अगणिकाय—अग्निकाय–अग्नि को । उ० वा २—उज्ज्वलित करे । मा वा उ० —अथवा उज्वलित न करे तथा । पज्जालितु —प्रज्वलित करे । मा वा प० – अथवा प्रज्वलित न करें । विज्झावितु वा—बुझा दे । मा वा वि० —अथवा न बुझाएं । अह—अथ । भिक्खूण - भिक्षुओ को । पु० —तीर्थंकरादि का पहले ही यह उपदेश है । ज – जो । तहप्पगारे—तथाप्रकार के । उ० – उपाश्रय मे । ठाण वा ३ —स्थानादि । नो चेइज्जा—न करे- ठहरे ।

मूलार्थ—गृहस्थादि से युक्त उपाश्रय मे ठहरना साधु के लिए कर्म-बन्ध का कारण है। क्योकि वहां पर गृहस्थ लोग अपने प्रयोजन के लिए अग्नि को उज्वलित और प्रज्वलित करते है या प्रज्वलित आग को बुझाते है। अतः उनके साथ बसते हुए भिक्षु के मन मे कभी ऊचे-नीचे परिणाम भी आ सकते है । कभी वह यह भी सोच सकता है कि यह गृहस्थ अग्नि को उज्ज्वलित और प्रज्वलित करे या ऐसा न करें, यह अग्नि को बुझादें या न बुझाएं । इसलिए तीर्थकरादि ने भिक्षु को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के सागारिक उपाश्रय मे न ठहरे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भी गृहस्थ के साथ गृहवास करने का निषेध किया गया है और

वताया गया है कि उसके साथ निवास करने से मन विभिन्न संकल्प-विकल्पों में चक्कर काटता रहेगा। कभी गृहस्थ दीपक प्रज्वलित करेगा और कभी जलते हुए दीपक को बुझा देगा। उसके इन कार्यों से साधु की साधना में रुकावट पड़ने के कारण उसके मन में ऊंचे-नीचे संकल्प-विकल्प उठ सकते हैं। इन सव संकल्प-विकल्पों से वचने के लिए साधु को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

इस सवन्ध मे सूत्रकार और भी वताते है—

मूलम्——आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइस्स कुंडले वा गुणे वा मणी वा मुत्तिए वा हिरण्णेसु वा सुवण्णेसु वा कडगाणि वा तुडियाणि वा तिसराणि वा पालंबाणि वा हारे वा अद्धहारे वा एगावली वा कणगावली वा मुत्तावली वा रयणावली वा तरुणीयं वा कुमारिं अलंकिय विभूसियं पेहाए, अह भिक्खू उच्चाव० एरिसिया वा सा नो वा एरिसिया इय वा णं बूया इय वा णं मणं साइज्जा। अह भिक्खूणं पु० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए नो ठा० ॥७०॥

छाया—आयानमेतत् भिक्षोः गृहपतिभिः सार्द्धं संवसतः इह खलु गृहपतेः कुंडलं वा गुणं वा मणि वा मौक्तिकं वा हिरण्येषु वा सुवर्णेषु वा कटकानि वा त्रुटितानि वा त्रिसराणि वा प्रालम्बानि वा, हारं वा अर्द्धहारं वा, एकावलिं वा कनकावलिं वा मुक्तावलिं वा रत्नावलिं वा तरुणिकां वा कुमारीं वा अलंकृतविभूषितां प्रेक्ष्य, अथ भिक्षुः उच्चावचं० मनः कुर्यात् ईदृशी वा सा नो वा ईदृशी इति वा ब्रूयात् इति वा मनः स्वदेत अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टम् ४ यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं ३ चेतयेत्।

पदार्थ—आयाणमेयं—गृहस्थों के साथ निवास करना साधु के लिए कर्मबन्ध का

यरी सड्ढी तं तवस्सिं भिक्खुं मेहुणधम्मपडियारणाए आउट्टा-विज्जा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे सा० उ० नो ठा० ३ चेइज्जा। एयं खलु तस्स०॥ पढमा सिज्जा सम्मता ॥७१॥

छाया— आदानमेतत् भिक्षोः गृहपतिभिः सार्द्धं संवसतः इह खलु गृहपतन्य वा गृहपतिदुहितरो वा गृहपतिस्नुषा वा गृहपतिधात्र्यो वा गृहपति-दास्यो वा गृहपतिकर्मकर्यो वा, तासां च एवं उक्तपूर्वं भवति—ये इमे श्रमणा भगवन्तः यावद् उपरता मैथुनाद् धर्मात् नो खलु एतेषां कल्पते मैथुन धर्मपरिचारणया आकुटयितुं- अभिमुखं कर्तुम्। या च खलु एतैः सार्द्धं मैथुन-धर्मपरिचारणया आकुट्टियेत्- अभिमुखं कुर्वीत पुत्रं खलु लभेत-ओजस्विनं, तेजस्विनं, वर्चस्विनं, यशस्विन संपरायं आलोकं दर्शनीयं. एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य तासां च अन्यतरा श्राद्धी त तपस्विन भिक्षुं मैथुनधर्म-परिचारणायामभिमुखं कुर्यात्, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये नो स्थानं वा ३ चेतयेत्। एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्याः वा सामग्र्यम्। प्रथमा शय्या समाप्ता।

पदार्थ—आयाणमेयं—यह कर्म बन्धन का कारण है। भिक्खुस्स—भिक्षु को। गाहावईहिं सद्धिं—गृहस्थों के साथ। संवसमाणस्स—बसते हुए को, ये दोष उत्पन्न हो सकते हैं यथा। इह खलु—निश्चय ही सागारिक उपाश्रय में। गाहावईणीओ वा—गृहपति की भार्यायें अथवा। गाहावईधूयाओ—गृहपति की पुत्रियें। गाहावईसुण्हाओ—गृहपति की पुत्रवधुयें। गाहावईधातिओ वा—गृहपति की धायमातायें अथवा। गाहावईदासिओ—गृहपति की दासियें अथवा। गाहावईकम्मकरीओ वा—गृहपति का काम करने वाली अनुचरिएं। णं—वाक्यालंकार में है। च—फिर। तासिं—उन्हों का। एव—इस प्रकार। वुत्तपुव्वं भवइ—पहले ही यह कथन होता है अर्थात् वे परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करते हैं। जे इमे—जो ये। भगवंतो समणा—पूज्य श्रमण हैं। जाव—यावत्। मेहुणाओ धम्माओ—मैथुन धर्म से। उवरया भवंति—सर्वथा उपरत रहते हैं अर्थात् ये मैथुन का कभी सेवन नहीं करते। खलु—निश्चय ही। एएसिं—इनको। मेहुणधम्मं—मैथुन धर्म के। परियारणाए—सेवनार्थ—सेवन करने के लिए। आउट्टित्तए—सन्मुख होना। नो कप्पइ—नहीं कल्पता, किन्तु। य—और। जा—जो स्त्री।

एएहिं सद्धिं—इनके साथ। मेहुणधम्मं—मैथुन धर्म के। परियारणाए—सेवन के लिए। आउट्टाविज्जा—सन्मुख करे अर्थात् मैथुन सेवन करे। खलु—निश्चय ही। सा—वह स्त्री। ओयस्सि—ओजस्वी—बलवान। तेयंस्सि—तेजस्वी-तेजवाला। वच्चसि—वर्चस्वी-रूपवान। जसस्सि—यशस्वी-यशवाला। सपराइय-संग्राम मे शूरवीर। आलोयणदरसणिज्ज—आलोकनीय और दर्शनीय। पुत्तं—पुत्र को। लभिज्जा—प्राप्त करती है। एयप्पगारं—इस प्रकार के। निग्घोसं—शब्द को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—और विचार कर-हृदय मे धारण कर। तासिं च णं—उनमे से। अन्नयरी—कोई एक। सड्ढी—स्त्री। तं—उस। तवस्सि—तपस्वी। भिक्खु—भिक्षु को। मेहुणधम्मपडियारणाए—मैथुन धर्म के सेवनार्थ। आउट्टाविज्जा—सन्मुख करे। अह—अथ। भिक्खूणं—भिक्षुओ को। पु०—तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश किया है। जं—जो कि। तहप्पगारे—तथाप्रकार के। उवस्सए—उपाश्रय मे। ठाणं वा ३—भिक्षु स्थानादि न करे-न ठहरे। एय—यह। खलु—निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा—भिक्षु-साधु या साध्वी का। सामग्गियं—यह सम्पूर्ण भिक्षु-भाव-भिक्षुत्व है। पढमा सिज्जा सम्मत्ता—पहली शय्या समाप्त हुई।

मूलार्थ—भिक्षु को गृहस्थो के साथ बसने से निम्नलिखित दोष लग सकते है। जब वह गृहस्थो के साथ रहेगा तब उन गृहस्थो की गृहपत्निएं उनकी पुत्रिए, पुत्रवधुएं, धायमाताएं, दासिए और अनुचरिए आपस मे मिल कर यह वार्तालाप भी करने लगती है कि—ये साधु मैथुन धर्म से सदा उपरत रहते है अर्थात् ये मैथुन क्रीडा नही करते। अतः इन्हे मैथुन सेवन करना नही कल्पता। परन्तु, जो कोई स्त्री इनके साथ मैथुन क्रीडा करती है, उसको बलवान, तेजस्वी, रूप वाला और कीर्तिमान, संग्राम मे शूरवीर एवं दर्शनीय पुत्र की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के शब्द को सुनकर उनमे से कोई एक पुत्र की इच्छा रखने वाली स्त्री उस तपस्वी भिक्षु को मैथुन सेवन के लिए तैयार कर लेवे। इस तरह की संभावना हो सकती है, इसलिए तीर्थंकरो ने ऐसे स्थान मे ठहरने का निषेध किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ के साथ ठहरने से साधु के ब्रह्मचर्य व्रत मे दोष आ सकता है। क्योंकि साधु को अपने बीच मे पाकर स्त्रिए उसकी ओर आकर्षित हो सकती है और पारस्परिक वार्तालाप से यह जानकर कि ब्रह्मचारी के संपर्क से होने

वाला पुत्र बलवान एवं तेजस्वी होता है, तो पुत्र की अभिलाषा रखने वाली कोई स्त्री मुनि से मैथुन क्रीड़ा करने की प्रार्थना भी कर सकती है और अपने हाव-भाव से वह मुनि को भी इस कार्य के लिए तैयार कर सकती है। इस तरह महाव्रतों से गिरने की संभावना देखकर भगवान ने साधु को गृहस्थ के परिवार के साथ ठहरने का निषेध किया है।

वस्तुत देखा जाए तो वीर्य ही जीवन है। क्योंकि इस शरीर का निर्माण वीर्य से ही होता है। आगम में बताया गया है कि मनुष्य की अस्थि, मज्जा, केश एवं रोम का निर्माण पिता के वीर्य से होता है और मांस-मस्तक आदि का ढांचा माता के रुधिर (रज) से बनता है। अस्तु माता और पिता का जीवन जितना संयमित, नियमित एवं मर्यादित होगा उतना ही सन्तान का शरीर शक्तिसम्पन्न एवं तेजस्वी होगा। अतः जीवन को शक्तिसम्पन्न एवं तेजस्वी बनाए रखने के लिए वीर्य की सुरक्षा करना आवश्यक है। इसी कारण गृहस्थ के लिए भी स्वदारसन्तोष व्रत का उल्लेख किया गया है। स्वपत्नी के साथ भी मर्यादा से अधिक मैथुन का सेवन करना अपनी शक्ति का नाश करना एवं सन्तति को दुर्बल एवं रोगी बनाना है। असंयत एवं अमर्यादित जीवन चाहे गृहस्थ का हो या साधु का, किसी के लिए भी हितप्रद नहीं है। अतः साधु को अपने संयम एवं ब्रह्मचर्य की रक्षा में सदैव सावधान रहना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मचर्य साधना का महत्वपूर्ण स्तम्भ है, इसलिए साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए, जहां ब्रह्मचर्य के स्खलित होने की संभावना हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आउट्टितए, आउट्टिविज्जा' का प्राकृत महार्णव में आवृत्त करना, भुलाना, व्यवस्था करना, सन्मुख करना एवं तत्पर होना अर्थ किया है*। और अर्द्धमागधी कोष मे आउट (आ+कुट्ट) धातु को हिंसार्थक माना है और 'आउट्टइ, आउट्टेइ, आउट्टानी, आउट्टिया, आउट्टे, आउट्टेजा, आउट्टितए और आउट--आवृत्त शब्द से भी दिया है†। परन्तु, प्रस्तुत प्रसंग मे 'आउट्टिए' पद का सम्मुख करना अर्थ ही सगत प्रतीत होता है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

* प्राकृत शब्द महार्णव, पृ० १३०।

† अर्द्धमागधी कोष, भाग २, पृ० ११।

# द्वितीय अध्ययन शय्यैषणा

## द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में उपाश्रय के दोषों का वर्णन किया गया है, और प्रस्तुत उद्देशक में निवास स्थान संबन्धी कुछ विशेष दोषों का उल्लेख किया है। साधु को स्त्री-पशु एवं नपुंसक से युक्त मकान में क्यों नहीं ठहरना चाहिए, इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

**मूलम्—गाहावई नामेगे सुइसमायारा भवंति, से भिक्खू य असिणाणए मोयसमायारे, से तग्गंधे दुग्गंधे पडिकूले पडिलोमे यावि भवइ, जं पुव्वंकम्मं तं पच्छाकम्मं जं पच्छाकम्मं तं पुरे-कम्मं, तं भिक्खू पडियाए वट्टमाणा करिज्जा वा नो करिज्जा वा अह भिक्खूणं पु० जं० तहप्पगारे उ० नो ठाणं० ॥७२॥**

छाया—गृहपतयो नामैके शुचिसमाचारा भवन्ति, स भिक्षुश्च अस्नानतया मोकसमाचारः स तद्गन्धः दुर्गन्धः प्रतिकूलः प्रतिलोमश्चापि भवति, यत् पूर्वकर्म तत् पश्चात्कर्म यत् पश्चात्कर्म तत् पुराकर्म तद् भिक्षुप्रतिज्ञया वर्तमानाः कुर्युः वा नो कुर्युः वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत् यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं वा ३ कुर्यात्।

पदार्थ—नाम—सभावनार्थक है अथवा आमन्त्रण अर्थ में आता है। एगे—कई एक। गाहावई—गृहपति-गृहस्थ लोग। सुइसमायारा—शुचि धर्म के मानने वाले। भवंति—होते हैं। य—और। से—वह। भिक्खू—भिक्षु। असिणाणए—स्नान न करने से और। मोयसमायारे—मोक प्रतिमा का आचरण करने से। से—वह भिक्षु। तग्गंधे—तद्गन्ध वाला और। दुग्गंधे—

दुर्गन्ध वाला । पडिकूले—प्रतिकूल और। पडिलोमे यावि भवइ—प्रतिलोम होता है, अत । जं पुव्वंकम्मं—गृहस्थ साधु के कारण से जो पहले कार्य करना है। तं पच्छ कम्मं—उसे पीछे करने लगता है। ज पच्छाकम्म—जो पीछे कर्म करना है। त पुरेकम्मं—उसे पहले करने लगता है। त भिक्खुपडियाए—वह भिक्षु के कारण से भोजन आदि क्रिया प्राप्त काल मे। वट्टमाणा—वर्तता हुआ। करिज्जा वा—आगे-पीछे करे अथवा। नो करिज्जा वा—न करे, तथा साधु गृहस्थ के कारण से प्रत्युपेक्षणादि क्रिया आगे-पीछे करने लगे अथवा कालातिक्रम करके क्रिया करे या कम करे या सर्वथा ही न करे। अह—अतः। भिक्खूणं—भिक्षुओ को। पु०—तीर्थंकरो ने पहले ही यह उपदेश दिया है। जं—जो। तहप्पगारे—साधु तथाप्रकार के। उवस्सए—उपाश्रय में। नो ठाणं०—न ठहरे।

मूलार्थ—कई एक गृहस्थ शुचि धर्म वाले होते हैं, और साधु स्नानादि नही करते और विशेष कारण उपस्थित होने पर मोक का आचरण भी कर लेते है। अत. उनके वस्त्रो से आने वाली दुर्गन्ध गृहस्थ के लिए प्रतिकूल होती है। इस लिए वह गृहस्थ जो कार्य पहले करना है उसे पीछे करता है और जो कार्य पीछे करना है उसे पहले करने लगते है और भिक्षु के कारण भोजनादि क्रियाए समय पर करे, या न करे। इसी प्रकार भिक्षु भी प्रत्युपेक्षणादि क्रियाए समय पर नही कर सकेगा, अथवा सर्वथा ही नही करेगा। इसलिए तीर्थंकरादि ने भिक्षुओ को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वे इस प्रकार के उपाश्रय मे न ठहरें।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में गृहस्थ एवं साधु जीवन के रहन-सहन का अन्तर बताते हुए कहा है कि कुछ गृहस्थ शुद्धि वाले होते हैं। वे स्नान आदि से अपने शरीर को शुद्ध बनाने में ही व्यस्त रहते हैं। और साधु सदा आत्मशुद्धि में, संलग्न रहता है। वह ज्ञान रूपी सागर की अनन्त गहराई में डुबकिएं लगाता रहता है। वह गृहस्थों की तरह स्नान आदि नहीं करता और यदि कभी उसके शरीर पर घाव आदि हो जाता है तो वह औषध के रूप में अपने मूत्र का प्रयोग करके उस घाव को ठीक कर लेता है※। इस तरह उसका

※ इस का यह अर्थ नहीं है कि वह पानी से नफरत करता है या शरीर को अशुचि मे आवृत्त रखता है। वह अशुचि दूर करने के लिए अचित्त जल का उपयोग भी करता है। परन्तु वह विना किसी प्रयोजन के केवल शृंगार के लिए स्नान आदि नहीं करता।

आचरण गृहस्थ से भिन्न होता है। इसलिए अधिक शौच का ध्यान रखने वाला व्यक्ति मुनि के जीवन को देखकर उससे घृणा कर सकता है। और इस कारण वह गृहस्थ साधु के कारण अपनी क्रियाओं को आगे-पीछे कर सकता है और साधु भी गृहस्थों के संकोच से अपनी आवश्यक क्रियाओं को यथासमय करने में असमर्थ हो जाता है। इस तरह गृहस्थके कारण साधु की साधना में अन्तराय पडती है और साधु के कारण गृहस्थ के दैनिक कार्यों में विघ्न होता है, इससे दोनों के मन में चिन्ता एवं एक-दूसरे के प्रति कुछ बुरे भाव भी आ सकते हैं। अतः मुनि को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'मोय समायारे' का पाठ भी विचारणीय है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ कायिक मूत्र माना है। परन्तु, वृत्तिकार ने उसके आचरण करने के विशिष्ट कारण का भी उल्लेख नहीं किया है और इसके पीछे किसी तरह का विशेषण नहीं होने से यह भी स्पष्ट नहीं होता है कि 'वह मूत्र सामान्य है या विशिष्ट ? मूत्र सामान्य की अपेक्षा से गो मूत्र का भी ग्रहण हो सकता है और उसे वैदिक एवं लौकिक परम्परा में भी अशुद्ध नहीं माना है†। इसके अतिरिक्त 'मोय' शब्द के संस्कृत में मोक, मोच और मोद तीन रूप बनते हैं। इस अपेक्षा से 'मोय समायारे' की संस्कृत छाया 'मोद समाचारः' बनेगी और इसका अर्थ होगा—प्रसन्नता पूर्वक स्नान का त्याग करने वाला। अर्थात्—ज्ञान के पवित्र सागर में गोते लगाने वाला मुनि। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी मुनि के लिए बाह्य स्नान के स्थान में अन्तर स्नान को महत्व दिया गया है। क्योंकि पानी से केवल शरीर की शुद्धि होती है, आत्मा की शुद्धि नहीं होती। आत्मशुद्धि के लिए ज्ञान एवं तप-त्याग का स्नान ही आवश्यक माना गया है*। इस तरह 'मोय' का संस्कृत रूप मोद मान लेने पर अर्थ में किसी तरह की असंगति नहीं रहती है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी 'मोय' शब्द का 'मोद' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। उसमें बताया गया है कि जैसे पक्षी स्वेच्छा पूर्वक आकाश में उड़ानें भरता है, उसी तरह काम-भोग का परित्याग करके लघुभूत बना हुआ मुनि 'पमोयमाणा—प्रमोदमना†' अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक देश में

† वैदिक परम्परा में अशुद्धि को दूर करने तथा पाप आदि की निवृत्ति के लिए पंचगव्य का पान करना श्रेष्ठ माना है और प्रसूता स्त्री को गोमूत्र का पान कराकर या गोमूत्र प्रधान पंचगव्य से स्नान कराकर शुद्ध करने की प्रथा अभी भी प्रचलित है।

* ज्ञान पाल परिक्षिप्ते ब्रह्मचर्य दयाम्भसि, स्नात्वाति विमलेतीर्थे पाप पंकापहारिणि।
—स्याद्वादमंजरी, कारिका ११ (व्याख्या)

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धति चान्तरात्मा।

† उत्तरा० अ० १४ गा० ४४

विचरण करे। इस तरह 'मोय' शब्द का प्रसन्नता अर्थ ही अधिक संगत एवं उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं सं॰ इह खलु गाहवइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया, अह पच्छा भिक्खूपडियाए असणं वा ४ उवक्खडिज्ज वा उवकरिज्ज वा, तं च भिक्खू अभिकंखिज्जा भुत्तए वा पायए वा, वियट्टित्तए वा अह भि॰ जं नो तह॰ ॥७३॥

छाया—आदानमेतद् भिक्षोः गृहपतिभिः सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृह-पतिना आत्मना स्वार्थं विरूपरूपं भोजनजातं उपस्कृतं स्यात्, अथ पश्चाद् भिक्षु-प्रतिज्ञया अशनं वा ४ उपस्कुर्यात् वा उपकुर्यात् वा तं च भिक्षुः अभिकांक्षेद् भोक्तुं वा पातुं वा विवर्तितुं वा, अथ भिक्षु यत् नो तथाप्रकारे उपाश्रये स्थानं वा ३ चेतयेत्।

मूलम्—आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइणा सद्धिं संव॰ इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिन्नपुव्वाइं भवंति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिंदिज्ज वा किणिज्ज वा पामिच्चेज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उ॰ प॰, तत्थ भिक्खू अभिकंखिज्जा आयावित्तए वा पयावित्तए वा वियट्टित्तए वा, अह भिक्खू॰ जं नो तहप्पगारे॰ ॥७४॥

छाया—आदानमेतद् भिक्षोः गृहपतिना सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृहपतिना आत्मना स्वार्थाय विरूपरूपाणि दारूणि भिन्नपूर्वाणि भवन्ति, अथ पश्चाद् भिक्षुप्रतिज्ञया विरूपरूपाणि दारुकाणि भिन्द्याद् वा क्रीणीयाद् वा अपमित्येत दारुणा वा दारुपरिणामं कृत्वा अग्निकायं, उज्ज्वालयेत् प्रज्वालयेत् वा तत्र भिक्षुः अभिकांक्षेत् आतापयितु वा परितापयितु वा, विवर्तितुं वा, अथ भिक्षुः यत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानादि चेतयेत्--कुर्यात् ।

पदार्थ—भिक्खुस्स—भिक्षु के लिए । आयाणमेयं—यह एक और भी कर्म बन्ध का कारण है, जैसे कि । गाहावईहिं सद्धि—गृहस्थो के साथ । संवसमाणस्स—बसते हुए को यथा । इह खलु—निश्चय ही इस उपाश्रय मे । गाहावइस्स—गृहपति ने । अप्पणो सयट्ठाए—स्वय अपने लिए । विरूवरूवे—नाना प्रकार के । भोयणजाए—खाद्य पदार्थों को । उवक्खडिए सिया—तैयार किया है । अह—अथ-फिर । पच्छा—पश्चात्-पीछे से । भिक्खुपडियाए—भिक्षुओ के लिए अर्थात् उनके निमित्त । असणं वा ४—चार प्रकार के अशनादिक आहार को । उवक्खडिज्ज वा—बन ता है अथवा । उवकरिज्ज वा—उनके लिए सामग्री एकत्रित करता है । त च—और उस बनते हुए आहार को साधु । भुत्तए वा— खाना अथवा । पायए वा—पीना । अभिकखिज्जा—चाहते हैं और । वियट्टित्तए वा—उस आहार का अच्छी तरह से आस्वाद लेना चाहे । अह भि०—अत. तीर्थंकरादि ने भिक्षुओ को पहले ही यह उपदेश किया है कि साधु इस प्रकार के उपाश्रय में । जं नो तह०—न ठहरे ।

गाहावइणा सद्धिं—गृहस्थो के साथ । संवसमाणस्स—बसते हुए । भिक्खुस्स—भिक्षु को । आयाणमेयं—यह एक और भी कर्म बन्ध का हेतु हो सकता है, यथा । इह खलु—निश्चय ही उस स्थान मे । गाहावइस्स—गृहपति ने । अप्पणो सयट्ठाए—स्वय अपने लिए । विरूवरूवाइ—नाना प्रकार के । दारुयाइ—काष्ठ । भिन्न पुव्वाइं भवंति—जो भेदन करके पहले ही रखे हुए है । अह पच्छा—अथ-फिर पश्चात् पीछे से । भिक्खूपडियाए—भिक्षु-साधु के लिए । विरूवरूवाइ—नाना प्रकार के । दारुयाइ—काष्ठो को । भिंदिज्ज वा—भेदन करे अथवा । किणिज्ज वा—मोल ले अथवा । पामिच्चेज्ज वा—किसी से उधार ले, फिर । दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु—काष्ठ से काष्ठ को संघर्षित करके । अगणिकाय—अग्नि को । उ०—उज्वलित करे । प०—प्रज्वलित करे । तत्थ—वहा पर । भिक्खू—साधु । आयावित्तए—आताप लेना अथवा । पयावित्तए वा—विशेष रूप से आताप लेना और । वियट्टित्तए वा—अग्नि के आताप मे विशेष आसक्त होना । अभिकखेज्जा—चाहे तो । अह भिक्खू०—तीर्थंकरादि ने भिक्षु के लिए यह पहले उपदेश दिया है कि । ज नो तहप्पगारे—भिक्षु इस प्रकार के

उपाश्रय मे स्थानादि न करे।

मूलार्थ—गृहस्थो के साथ निवास करते हुए भिक्षु के लिए यह भी एक कर्म वन्धन का कारण हो सकता है, जैसे कि--गृहस्थ अपने लिये नाना-प्रकार का भोजन तैयार करके फिर साधु के लिये चतुर्विध आहार को तैयार करने एव उसके लिये सामग्री एकत्रित करने मे लगेगा, उस ग्राहार को देखकर साधु भी उसका आस्वादन करना चाहेगा या उसमे ग्रासक्त हो जायगा। इसलिये तीर्थंकर भगवान ने पहले ही यह प्रतिपादन कर दिया है कि साधु का इस प्रकार के उपाश्रय मे नही ठहरना चाहिये।

इसी प्रकार गृहस्थो के साथ ठहरने से भिक्षु को एक यह भी दोप लगेगा कि गृहस्थ ने अपने लिये नाना प्रकार का काष्ठ-ईंधन एकत्रित कर रखा है, फिर वह साधु के लिये नाना प्रकार के काष्ठो का भेदन करेगा, मोल लेगा अथवा किसो से उधार लेगा, और काष्ठ से काष्ठ को सघर्पित करके अग्निकाय को उज्ज्वलित और प्रज्वलित करेगा, और उस गृहस्थ की तरह साधु भी शीत निवारणार्थ अग्नि का आताप लेगा और उसमें ग्रासक्त हो जायगा। इस लिये भगवान ने साधु के लिये ऐसे मकान मे ठहरने का निपेध किया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय सूत्रों मे यह बताया गया है कि यदि साधु गृहस्थ के साथ ठहरेगा तो गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाने तथा सर्दी निवारणार्थ ताप के लिए लकड़ी आदि की व्यवस्था कर चुकने के बाद अतिथि रूप मे ठहरे हुए साधु के लिए भोजन बनाने की सामग्री एकत्रित करेगा और उसके शीत को दूर करने के लिए लकड़ियें खरीदेगा, उनका छेदन-भेदन कराएगा। उसे ऐसा करते हुए देखकर साधु के भावों मे भी परिवर्तन आ सकता है और वह उस भोजन एवं आताप मे आसक्त होकर संयम पथ से गिर भी सकता है। क्योंकि आत्मा का विकास एवं पतन भावों पर ही आधारित है। भावों के बनते एवं बिगडते विशेष देर नहीं लगती है। जैसे अपस्मार (मृगी) का रोगी पानी को देखते ही मूछित होकर गिर पड़ता है। इसी तरह आत्मा मे सत्ता रूप मे स्थित औदयिक भाव बाहर का निमित्त पाकर जागृत हो उठते हैं और आत्मा को सन्मार्ग के शिखर से

पतन के गर्त्त मे गिरा देते हैं। इसलिए साधु को सदा सावधान रहना चाहिए और उसे सदा ऐसे निमित्तों से वचकर रहना चाहिए जिससे उसकी आत्मा पतन की ओर गतिशील न हो। इसीलिए आगम मे यह आदेश दिया गया है कि साधु को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'गाहावइस्स' पद में तृतीया विभक्ति के अर्थ मे षष्ठी-विभक्ति का प्रयोग किया गया है। और 'उवस्सए' अर्थात् उपाश्रय शब्द का प्रयोग स्थानक के अर्थ में नहीं, प्रत्युत मकान मात्र के अर्थ में हुआ है। और जब हम प्रस्तुत पाठ का गहराई से अध्ययन करते हैं तो उपाश्रय का अर्थ गृहस्थों से युक्त एवं भोजनशाला के निकटवर्ती स्थान विशेष पर ही स्पष्ट होता है। इसे अन्तरगृह भी कहते हैं और कल्प-सूत्र में साधु-साध्वी को अन्तरगृह में ठहरने एवं मल-मूत्र के त्याग करने आदि क्रियाओं का निषेध किया गया है और दशवैकालिक सूत्र में भी अन्तरगृह में निवास करने एवं पर्यंक आदि पर बैठने का निषेध किया गया है॥। इससे स्पष्ट होता है कि सयम की सुरक्षा के लिए मुनि को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए जिसमें गृहस्थ अपने परिवार सहित निवसित हो।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० उच्चारपासवणेण उब्बाहिज्जमाणे, राओ वा वियाले वा गाहावईकुलस्स दुवारबाहं अवंगुणिज्जा, तेणे य तस्संधिचारी अणुपविसिज्जा, तस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ, एवं वइत्तए—अयं तेणो पविसइ वा नो वा पविसइ उवल्लियइ वा नो वा०, आवयइ वा नो वा०, वयइ वा नो वा०, तेण हडं अन्नेण हडं, तस्स हडं अन्नस्स हडं, अयं तेणे, अयं उवचरए अयं हंता, अयं इत्थमकासी, तं तवस्सिं भिक्खुं अतेणं तेणंति संकइ।**

---

॥ सिज्जायर पिंड च आसंदीपलियंकए,
गिहतर निसिज्जाय, गायस्सुव्वट्टणाणि य। —दशवैकालिक सूत्र, ३, ५।

अह भिक्खूणं पु० जाव नो ठा० ॥७५॥

छाया—स भिक्षुर्वा उच्चारप्रस्रवणेन उद्बाध्यमानः रात्रौ वा विकाले वा गृहपतिकुलस्य द्वारभागम् अपवृणुयात् स्तेनश्च तत्संधिचारी अनुप्रविशेत्, तस्य भिक्षोः नो कल्पते एवं वक्तुम्-अयं स्तेनः प्रविशति, वा नो वा प्रविशति, उपलीयते वा नो वा० आपतति वा नो वा० वदति वा नो वा० तेन हृतं, अन्येन हृतं तस्य हृतं अन्यस्य हृत अयं स्तेनः अयं उपचारकः अयं हन्ता अयमत्राकार्षीत्, तं तपस्विनं भिक्षु अस्तेनं स्तेनमिति शङ्केत, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यावन्नो स्थानं चेतयेत्।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू—भिक्षु-साधु । उच्चारपासवणेण—मल-मूत्र से । उव्वाहिज्जमाणे—बाधित-पीड़ित होने से । राओ वा—रात्रि मे । वियाले वा—अथवा विकाल मे । गाहावईकुलस्स—गृहपति के घर के । दुवारबाहं—द्वार को । अवंगुणिज्जा—खोल कर बाहर निकले । य—और फिर । तेणे—चोर । तस्संधिचारी—और छिद्र देखने वाला व्यक्ति । अणुपविसिज्जा—घर मे प्रवेश कर जाए तो । तस्स—उस । भिक्खुस्स—भिक्षु को । एवं—इस प्रकार । वइत्तु—बोलना । नो कप्पइ—नही कल्पता, यथा । अयंतेणो—यह चोर । पविसइ वा—प्रवेश कर रहा है । नो वा पविसइ—अथवा नही प्रवेश कर रहा है । उवल्लियइ वा यह यहा छिप रहा है । नो वा०—अथवा नही छिप रहा है । आवयइ वा—नीचे कूदता है । नो वा०—अथवा नीचे नही कूदता है । वयइ वा—बोलता है । नो वा०—अथवा नही बोलता है । तेणहडं—उसने चोरी की है । अन्नेणहडं—या अन्य ने चोरी की है । तस्स हडं—इसने उसका माल चुराया है । अन्नसहडं—या अन्य का चुराया है । अयं तेणे—यह चोर है । अयं उवचरए—यह उसका उपचारक—संरक्षक है । अयं हन्ता—यह मारने वाला है । अयं इत्थमकासी—इस चोर ने यहा यह काम किया । तं—उस । तवस्सि—तपस्वी । भिक्खु—भिक्षु के प्रति । अतेणं—जो चोर नही है । तेणति—चोरपनेकी । संकइ—आशका करता है । अह भिक्खूणं—भिक्षुओ को । पु०—तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि इस प्रकार के उपाश्रय मे साधु । जाव—यावत् । नो ठा०—कायोत्सर्गादि न करे ।

मूलार्थ—रात्रि में अथवा विकाल में साधु ने मल-मूत्रादि की बाधा होने पर गृहस्थ के घर का द्वार खोला और उसी समय कोई चोर या उसका साथी घर मे प्रविष्ट हो गया तो उस समय साधु तो मौन रहेगा । वह हल्ला नही मचाएगा, कि यह चोर घरमे घुसता है,

अथवा नही घुसता है, छिपता है, अथवा नही छिपता है, नीचे कूदता है अथवा नही कूदता है, बोलता है अथवा नही बोलता है, उसने चुराया है, अथवा अन्य ने चुराया है, उसका धन चुराया है, अथवा अन्य का धन चुराया है, यह चौर है, यह उसका उपचारक है, यह मारने वाला है, और इस चोर ने यहा यह कार्य किया है। और साधु के कुछ नही कहने पर उसे उस तपस्वी साधु पर जो वास्तव मे चोर नहीं है, चोर होने का सन्देह हो जाएगा। इसलिए भगवान ने गृहस्थ से युक्त मकान में ठहरने एवं कायोत्सर्ग का निषेध किया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु रात्रि में या विकाल में मल-मूत्र का त्याग करने के लिए द्वार खोलकर बाहर आए और यदि उसी समय कोई चोर घर मे प्रविष्ट होकर छुप जाए और समय पाकर चोरी करके चला जाए। ऐसी स्थिति में साधु उस चोर को चोर नहीं कह सकता है और न हो हल्ला ही कर सकता है। वह उस चोर को उपदेश दे सकता है। यदि उसने साध का उपदेश नहीं माना तो उसके चोरी करके चले जाने के बाद गृहस्थ को मालूम पड़ने पर उस साधु पर चोरी का संदेह हो जाएगा, अतः साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि जिस मकान मे मल-मूत्र के परिष्ठापन का योग्य स्थान न हो वहां साधु को नहीं ठहरना चाहिए तथा यह भी स्पष्ट होता है कि मल-मूत्र के त्याग के लिए साधु द्वार खोलकर जा सकता है एवं वापिस आने पर बन्द भी कर सकता है।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए, जिसमें गृहस्थ का कीमती सामान पड़ा हो। इस तरह गृहस्थ के साथ ठहरने से साधु की साधना मे अनेक दोष आने की संभावना है। इसलिए साधु को गृहस्थ से युक्त मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

**मूलम्—से भिक्खू वा से जं० तणपुंजेसु वा, पलाल पुंजेसु वा सअंडे जाव ससंताणए, तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा ३। से भिक्खू वा० से जं० तणपुं० पलाल० अप्पंडे जाव चेइज्जा ॥७६॥**

छाया—स भिक्षुर्वा स यत० तृणपुंजेषु वा पलाल पुंजेषु वा साण्डः यावद् ससन्तानकः तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थान वा ३। स भिक्षुर्वा स यत्० तृण-पुंजेषु वा पलालपु० अल्पाण्डे यावत् चेतयेत्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—भिक्षु अथवा भिक्षुणी। से—वह। जं०—जो फिर उपाश्रय के सम्बन्ध में जाने, जैसे कि—तण पुञ्जेसु वा—तृण के समूह मे। पलाल पुञ्जेसु वा—पलाल के समूह में। सअंडे—अण्डे। जाव—यावत्। ससंताणए—मकडी के जाले हैं तो। तहप्पगारे—इस प्रकार के। उ०—उपाश्रय मे साधु। नो ठाणं वा ३—कायोत्सर्गादि क्रिया न करे। से—वह। भिक्खू वा०—भिक्षु—साधु या साध्वी। से—वह। ज०—उपाश्रय को जाने, जैसे कि। तण पु०—तृण का समूह। पलाल०—अथवा पलाल के समूह मे। अप्पंडे—अण्डो से रहित है। जाव—यावत् मकडी आदि के जालो से रहित है तो इस प्रकार के उपाश्रय मे। चेइज्जा—कायोत्सर्गादि क्रिया करे एवं ठहरे।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी उपाश्रय के संवन्ध में यह जाने कि यदि तृण एव पलाल का समूह अण्डो से युक्त है, अथवा मकडी के जालो से युक्त है तो इस प्रकार के उपाश्रय मे कायोत्सर्गादि न करे। वह भिक्षु यदि यह जाने कि यह उपर्युक्त प्रकार का उपाश्रय अण्डो से रहित यावत् मकडो के जालो से रहित है, तो इस प्रकार के उपाश्रय मे कायोत्सर्गादि क्रियायें कर सकता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि तृण और पलाल (घास)के पुंजों से निर्मित उपाश्रय अण्डे आदि से युक्त हो तो साधु को वहां नहीं ठहरना चाहिए और न कायोत्सर्ग (ध्यान) ही करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि उस युग में साधु गांवों मे अधिक भ्रमण करते थे। क्योंकि, घास-फूस की झोंपड़िएं (मकान) प्रायः गावों में ही मिलती हैं। और इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि मकान के जिस भाग में साधु को कायोत्सर्ग आदि क्रियायें करनी हों, उस भाग में अण्डा एवं त्रस जीव आदि न हों दशवैकालिक सूत्र मे भी बताया गया है कि कायोत्सर्ग करते समय या अन्य समय में मुनि के शरीर पर या वस्त्र-पात्र आदि पर ऊपर से त्रस जीव गिर गया हो तो मुनि उसे बिना किसी तरह का कष्ट पहुंचाए एकान्त स्थान में छोड़ देवे*। इस तरह प्रस्तुत पाठ

*दशवैकालिक सूत्र, ४।

परिचय होने से श्रद्धा मे विपरीतता आने की भी संभावना रहती है। इसलिए साधु को अन्य मत के भिक्षुओं के अधिक आवागमन वाले स्थान में मासकल्प या चातुर्मास कल्प नहीं करना चाहिए ।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे स्थानों में परिस्थितिवश एक-दो दिन ठहरना पड़े तो उसका निषेध नहीं है। प्रस्तुत पाठ से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में यात्रियों के ठहरने की सुविधा के लिए गांव के बाहर धर्मशालाएं, विश्रामगृह एवं मठ आदि होते थे और गांव या शहर में गृहपतियों के अतिथ्यालय बने होते थे और उनमें विना किसी जाति-पांति एवं सम्प्रदाय या पंथ भेद के सबको समान रूप से ठहरने की सुविधा मिलती थी।

प्रस्तुत सूत्र में 'साहम्मिएहिं' पद का केवल साधर्मिक साधुओं के लिए नहीं, अपितु सभी साधुओं के लिए सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ अन्य मत के साधु संन्यासी करना चाहिए। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ किया है।

साधु को अपनी विहार मर्यादा में काल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं —

**मूलम्—से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवाइणित्ता तत्थेव भुज्जो २ संवसंति अयमाउसो ! कालाइक्कंत किरियावि भवति ॥७८॥**

छाया— स आगन्तागारेषु वा ४ ये भयत्रातारः ऋतुबद्ध वा वर्षावासंवा कल्पमुपनीय तत्रैव भूयः २ संवसन्ति अयमायुष्मन् ! कालातिक्रान्तक्रियापि भवति।

पदार्थ — से — वह-भिक्षु। आगतारेसु वा ४ — धर्मशाला आदि मे। जे भयतारो — जो पूज्य भगवान। उडुबद्धिय — शीतोष्णकाल में मासकल्पादि तथा। वासावासियंवा - वर्षाकाल-चातुर्मास। कप्पं — कल्प की मर्यादा को। उवाइणित्ता — विताकर। तत्थेव — वहीं पर। भुज्जो २ — पुनः पुन.। संवसंति — विना कारण रहते है। अयमाउसो — हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। कालाइक्कतकिरियावि — कालातिक्रान्त क्रिया। भवति — होती है।

मूलार्थ—धर्मशाला आदि स्थानो मे जो मुनिराज शीतोष्ण काल में

मास कल्प एवं वर्षाकाल मे चातुर्मासकल्प को बिताकर बिना कारण पुन: वही पर निवास करते है तो वे काल का अतिक्रमण करते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जिस स्थान में साधु ने मासकल्प या वर्षावासकल्प किया हो उसे उसके बाद उस स्थान में बिना कारण के नहीं ठहरना चाहिए। यदि बिना किसी विशेष कारण के वे उस स्थान में ठहरते हैं तो कालातिक्रमण दोष का सेवन करते हैं। क्योंकि मर्यादा से अधिक समय तक एक स्थान में रहने से गृहस्थों के साथ अधिक घनिष्ठ परिचय हो जाता है और इससे उनके साथ राग-भाव हो जाता है और इस कारण आहार में भी उद्गमादि दोषों का लगना सम्भव है। और दूसरी बात यह है कि एक ही स्थान पर रुक जाने से अन्य गावों मे धर्म प्रचार भी नहीं होता है। अत. संयम शुद्धि एवं शासनोन्नति की दृष्टि से साधु को मर्यादित काल से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक क्रिया काल-मर्यादा में ही होनी चाहिए। इससे जीवन की व्यवस्था बनी रहती है और तप-संयम भी निर्मल रहता है। आगम मे एक प्रश्न किया गया है कि काल की प्रतिलेखना करने से अर्थात् कालमर्यादा का पालन करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? इसका उत्तर देते हुए श्रमण भगवान महावीर ने फरमाया है कि काल मर्यादा का सम्यक्तया परिपालन करने वाला व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्मों की निर्जरा करता है❀। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्रिया समय पर करने के कारण वह स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन के समय का उल्लंघन नहीं करेगा और स्वाध्याय आदि के करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होगा और उसके ज्ञान में अभिवृद्धि होगी। और समय पर क्रियाएं न करके आगे-पीछे करने से साधक स्वाध्याय आदि के लिए भी व्यवस्थित समय नहीं निकाल सकेगा। अत मुनि को मास-कल्प एव वर्षावासकल्प के पश्चात् बिना किसी कारण के काल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

अब सूत्रकार उपस्थान क्रिया के सम्बन्ध में कहते हैं—

**मूलम्—से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारा उडुबद्धियं वा**

❀ काल पडिलेहणयाए ण भन्ते जीवे किं जणयइ ?
काल पडिलेहणाए ण नाणावरणिज्जं कम्मं खवइ।
— उत्तराध्ययन-सूत्र, २६, १५।

वासावासियं वा कप्पं उवाइणावित्ता तं दुगुणतिगुणेण वा अप-रिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति, अयमाउसो! उवट्ठाण किरिया यावि भवति ॥७६॥

छाया—स आगन्तागारेषु वा ४ये भयतारः(भयत्रातारः)ऋतुबद्धं वा वर्षा-वासं वा कल्पमुपनीय तं द्विगुणत्रिगुणेन वा अपरिहृत्य तत्रैव भूयः सवसन्ति, अयमायुष्मन्! उपस्थानक्रियाचापि भवति।

पदार्थ—से—वह भिक्षु। आगतारेसु वा—धर्मशाला आदि स्थानो मे। जे भयंतारो-पूज्य मुनिराज। उडुबद्धिय—शीतोष्णा काल में मासकल्प तथा। वासावासिय—वर्षाऋतु मे चातुर्मास। कप्प—कल्प को। उवाइणित्ता—बिता कर। तं—वह अन्यत्र। दुगुणतिगुणेण—वा—द्विगुण त्रिगुण काल को। अपरिहरित्ता—न बिना कर। तत्थेव—वही। भुज्जो॰ पुन। संवसति—निवास करते हैं। अयमाउसो—हे आयुष्मन् शिष्य! यह उवट्ठाण किरिया-यावि—उपस्थान क्रिया। भवति—होती है, अर्थात् इसे उपस्थान क्रिया कहते है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् (शिष्य)! जो साधु साध्वी धर्मशाला आदि स्थानो मे, शेषकाल मे मासकल्प आदि और वर्षा काल मे चातुमार्सकल्प को बिताकर अन्य स्थानो मे द्विगुण या त्रिगुण काल को न बिताकर जल्दी ही फिर उन्ही स्थानो मे निवास करते है, तो उन्हें उपस्थान क्रिया लगती है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी ने जिस स्थान में मास कल्प या वर्षावासकल्प किया है, उससे दुगुना या तिगुना काल व्यतीत किए बिना उक्त स्थान में फिर से मास या वर्षावास कल्प नहीं करना चाहिए। यदि कोई साधु-साध्वी अन्य क्षेत्र मे मर्यादित काल बिताने से पहले पुन· उस क्षेत्र मे आकर मास या वर्षावास कल्प करते हैं तो उन्हें उपस्थान क्रिया लगती है। इससे स्पष्ट है कि जिस स्थान मे एक महीना ठहरे हों उस स्थान पर दो या तीन महीने अन्य क्षेत्रों में लगाए बिना मास कल्प करना नहीं कल्पता। इसी तरह जहां चातुर्मास किया है उस क्षेत्र में दो या तीन वर्षावास अन्य क्षेत्रों मे किए बिना पुन· वर्षावास करना नही कल्पता। इस

प्रतिबन्ध का कारण यह है कि नए-नए क्षेत्रों मे घूमते रहने से साधु का संयम भी शुद्ध रहता है और अनेक क्षेत्रों को उनके उपदेश का लाभ भी मिलता है। और अनेक प्राणियों को आत्म विकास करने का अवसर मिलता है। मुनियों का आवागमन कम होने से कई बार लोगों की श्रद्धा मे शिथिलता एव विपरीतता भी आ जाती है। नन्दन-मणिहार का उदाहरण हमारे सामने है। वह व्रतधारी श्रावक था, परन्तु साधुओं का सपर्क कम रहने से, साधुओं का दर्शन न होने से तथा अन्य धर्म के विचारकों एवं भिक्षुओं का सपर्क रहने से उसकी श्रद्धा मे विपरीतता आ गई थी*। इसी तरह भगवान पार्श्वनाथ के पास से श्रावक व्रत स्वीकार करने के बाद सोमल ब्राह्मण को साधुओं का संपर्क नही मिला और परिणाम स्वरूप वह भी पथभ्रष्ट हो गया था†। इसलिए साधुओं को किसी स्थान विशेष से बंधकर नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत उन्हें समभाव पूर्वक सभी क्षेत्रों को संभालते रहना चाहिए। इससे उनकी साधना भी शुद्धरूप से गतिशील रहती है और लोगों की श्रद्धा एवं चारित्र मे भी अभिवृद्धि होती है।

अब तृतीय अभिक्रान्त क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, तंजहा गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा तेसिं च णं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवइ, तं सद्दहमाणेहिं, पत्तियमाणेहिं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति तंजहा—आएसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सहाओ वा पवाणि वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुहाकम्मंताणि वा दब्भ-कम्मंताणि वा वद्धकं० वक्कयकं० इंगाल कम्मं० कट्ठ क०**

* ज्ञाता सूत्र, अध्या० १३।
† पुष्फिया सूत्र।

सुसाणक० सुरणागारगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणकम्मंताणि वा भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो ! अभिक्कंत किरिया यावि भवइ ३ ॥८०॥

छाया--इह खलु प्राचीनं वा ४ सन्ति एकका श्राद्धा भवन्ति, तद्यथा-गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा तेषां च आचारगोचरः न सुनिशान्तो भवति, तत् श्रद्दधानैः प्रतीयमानैः रोचमानैः बहवः श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकान् समुद्दिश्य तत्र २ अगारिभिः अगाराणि चेतितानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा आयतनानि वा देवकुलानि वा सभा. वा प्रपाः वा पण्य-गृहाणिवा पण्यशालाः वा यानगृहाणि वा यानशालाः वा सुधाकर्मान्तानि वा दर्भकर्मान्तानि वा वर्ध्रकर्मान्तानि वा वल्कजकर्मान्तानि वा अंगारकर्मान्तानि वा काष्ठकर्मान्तानि वा श्मशानकर्मान्तानि वा शून्यागारागिरि-कंदर शान्ति-शैलोपस्थानकर्मान्तानि वा भवनगृहाणि वा ये भयत्रातारः तथा-प्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा तैः अवपतद्भिः अवपतन्ति अयमायुष्मन् ? अभिक्रान्तक्रिया चापि भवति।

पदार्थ—इह—प्रज्ञापक की अपेक्षा से। खलु—वाक्यालंकार मे है। पाईणं—पूर्वादि दिशाओ में। सतेगइया—कई एक। सड्ढा भवंति—श्रद्धालु गृहस्थ होते है। तंजहा—यथा। गाहावई वा—गाथापति। जाव—यावत्। कम्मकरीओ वा—दासिया। ण—वाक्यालंकार मे है। तेसिं च—उन्होने। आयारगोयरे—साधु का आचार-विचार। नो सुनिसते—भली-भाति श्रवण नही किया। भवइ—है, किन्तु उपाश्रय आदि का दान देने से स्वर्गादि का श्रेष्ठ फल मिलता है यह सुन रखा है। तं—उसकी। सद्दहमाणेहिं—श्रद्धा करने से। पत्तियमाणेहिं—प्रतीति करने से। रोयमाणेहिं—रुचि करने से। बहवे—बहुत से। समण—शाक्यादि श्रमण। माहण—ब्राह्मण। अतिहि—अतिथि। किवण—कृपण। वणीमग—दरिद्र-भिखारी इनको। समुद्दिस्स—उद्देश्य करके। आगारीहिं—गृहस्थो ने। तत्थ तत्थ—जहा-तहा। आगाराइं—अपने और श्रमण आदि के लिए घर एव। चेइयाइं भवंति—उपाश्रय बनाए हुए है। तंजहा—

जैसे कि। आएसणाणि वा—लुहार आदि की शाला। आयतणाणि वा—धर्मशाला। देवकुलाणि वा—देवमदिर-देहरा। सहाओ वा—सभाभवन,। पवाणि वा—प्रपा—पानी पिलाने का स्थान-प्याऊ आदि। पणियगिहाणि वा—दुकान। पणियसालाओ वा—पण्यशाला—मालगोदाम आदि। जाणगिहाणि वा—रथ शाला-जहा रथ आदि ठहराए जाते हैं। जाणसाला वा—यान-शाला—जहां रथ आदि यान बनाए जाते हैं। सुहाकम्मताणि—चूने का कारखाना। दब्भकम्म-ताणि वा—जहा कुशा की वस्तुए बनाई जाती है। बद्धक०—जहां चमड़े की बाध बनाई जाती है। बब्भय क०—जहा छाल आदि तैयार की जाती है। इगाल कम्म—जहा कोयले बनाए जाते हैं। कट्ठ क०—जहा काठ आदि घडा जाता है। सुसाण क०—जहाँ श्मशान मे कूपादि बनाए जाते है। सुण्णागार—शून्यागार-शून्यगृह। गिरिकदर—पहाड के ऊपर बने हुए घर और गुफा आदि। सति—शान्ति कर्म के लिए बने हुए मन्दिर। सेलोवट्ठाण कम्मताणि वा—पर्वत-भवन, पाषाणमण्डप। भवणगिहाणि—तलघर इत्यादि। जे भयतारो—जो पूज्य साधु। तहप्पगाराइं—तथाप्रकार के। आएसणाणि वा जाव गिहाणि—लुहारशाला आदि को। तेहिं उवव माणेहिं—अन्य मत के भिक्षुओ या गृहस्थो ने भोग लिया है और उन स्थानो में। उवयंति—साधु ठहरते हैं तो। आउसो—हे आयुष्मन् शिष्य! अय—यह। अभिक्कतकिरिया—अभिक्रान्तक्रिया। भवइ—होती है अर्थात् इस प्रकार के स्थानो मे उतरने से साधु को कोई दोष नही लगता है।

**मूलार्थ**—हे आयुष्मन् शिष्य! इस ससार में पूर्वादि दिशाओं मे कई व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति से युक्त होते है। जैसे कि- गृहपति यावत् उनके दास-दासियां। उन्होने साधु का आचार और व्यवहार तो सम्यक्तया नही सुना है परन्तु यह सुन रखा है कि उन्हे उपाश्रय आदि का दान देने से स्वर्गादि का फल मिलता है और इस पर श्रद्धा, विश्वास एव अभिरुचि रखने के कारण उन्होने बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण, और भिखारी आदि का उद्देश्य करके तथा अपने कुटुम्ब का उद्देश्य रख कर अपने-अपने गांवों या शहरो मे उन गृहस्थो ने बडे-बड़े मकान बनाए है। जैसेकि लोहकार की शालायें, धर्मशालायें, देवकुल, सभाए, प्रपाए प्याउ, दुकानें, मालगोदाम, यानगृह, यानशालाये, चूने के कारखाने, कुशा के कारखाने, बर्ध्र के कारखाने, बल्कल के कारखाने, कोयले के कारखाने, काष्ठ के कारखाने, श्मशान भूमि में बने हुए मकान, शून्यगृह, पहाड़ के ऊपर बने हुए मकान पहाड की गुफा शान्तिगृह, पाषाण मण्डप,

भूमिघर-तहखाने इत्यादि और इन स्थानो मे श्रमण-ब्राह्मणादि अनेक बार ठहर चुके है। यदि ऐसे स्थानो मे जैन भिक्षु भी ठहरते है तो उसे अभिक्रान्त क्रिया कहते है अर्थात् साधु को ऐसे मकान में ठहरना कल्पता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु के आचार एव व्यवहार से अपरिचित श्रद्धा-निष्ठ, भद्रपरिणामों वाले गृहस्थों ने शाक्य आदि अन्यमत के भिक्षुओं के ठहरने के लिए या अपने व्यवसाय आदि क लिए कुछ मकान बनाए हैं और वे मकान अन्यमत के साधु-संन्यासियों एव गृहस्थों द्वारा अभिक्रान्त हो चुके हैं अर्थात् भोग लिए गए हैं तो साधु उसमें ठहर सकता है और उसकी इस वृत्ति को अभिक्रान्त क्रिया कहा गया है। अन्य भिक्षुओं एवं गृहस्थों द्वारा मकान के अभिक्रान्त होने की क्रिया के आधार पर ही इस क्रिया का नाम अभिक्रान्त क्रिया रखा गया है।

प्रस्तुत पाठ में अभिव्यक्त किए गए मकानों के नाम से उस युग में चलने वाले विविध व्यापारों का स्पष्ट परिचय मिलता है। और यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में देवी-देवताओं के मन्दिर, भिक्षुओं के लिए मठ, धर्मशालाएं एवं पहाड़ों पर विश्रामगृह तथा गुफाएं बनाने की परम्परा रही है। वर्तमान मे उपलब्ध अनेक विशाल गुफाओं से— जिनमें रहने के लिए प्रकोष्ठे भी बने है, उस युग की प्रवृत्तियों का स्पष्ट परिज्ञान होता है।

'सड्ढा' शब्द का वृत्तिकार ने 'श्रावका वा प्रकृति भद्रका:' अर्थात् भद्र प्रकृति के श्रावक' अर्थ किया है। परन्तु, मूल पाठ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे श्रद्धालु भक्त जो साध्वाचार से अपरिचित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वे श्रद्धालु व्यक्ति श्रावक नहीं हो सकते। क्योंकि श्रावक साध्वाचार से अपरिचित नहीं हो सकता, अत. वृत्तिकार का अर्थ मूलपाठ से संगत प्रतीत नहीं होता।

इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि साधु को निर्दोष एवं सीधे-सादे मकानों में ठहरना चाहिए। जिससे उनकी साधना में किसी तरह का दोष न लगे। इसी कारण आगम में मनोहर एवं सुसज्जित मकानों में तथा गृहस्थ के साथ ठहरने का निषेध किया गया है। जितना एकान्त, सादा एवं निर्दोष स्थान होगा जीवन में उतनी ही अधिक समाधि एवं शान्ति रहेगी। इसलिए साधक को बगीचों में, श्मशान एवं शून्य गृहों में

ठहरने का भी आदेश दिया गया है❀। और इस पाठ से भी स्पष्ट होता है कि उस युग में श्मशान, जंगल एवं गिरिकन्द्राओं में भी स्थान बने होते थे, जिनमें वानप्रस्थ संन्यासी निवास किया करते थे और ऐसे निर्दोष एवं शान्त वातावरण वाले स्थानों में जैन साधु भी ठहर जाते थे। और ऐसे स्थान उनकी आत्मसमाधि एवं चिन्तन में सहायक होते थे।

अब अनभिक्रान्त क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—इह खलु पाईणं वा जाव रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति तं० आएसणाणि वा जाव भवण-गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराणि आएसणाणि जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो! अण-भिक्कंतकिरिया यावि भवइ ॥८१॥**

छाया—इह खलु प्राचीनं वा यावत् रोचमानैः बहून् श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि कृपण-वनीपकान् समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि चेतितानि-भवन्ति, तद्यथा- आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा, ये भयत्रातारः तथा प्रकाराणि आदेशनानि यावद् गृहाणि वा तैः अनवपतद्भिः अवपतन्ति, अयमा-युष्मन्! अनभिक्रान्तक्रिया चापि भवति।

पदार्थ—इह—इस ससार में। खलु—निश्चय ही। पाईणं—पूर्वादि दिशाओं में जो श्रद्धालु गृहस्थ रहते हैं, साधु क्रिया को नही जानते हैं परन्तु बसती दान का स्वर्गफल उन्होंने सुना है और उस पर। जाव—यावत् श्रद्धा और। रोयमाणेहिं—रुचि करने से।

---

❀ इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइ निवारेउं, कामराग विवड्ढणे॥
सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ।
पइरिक्के परकडे वा, वासतत्थाभिरोयए॥
— (उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३५, ५-६।

वहवे—वहुत से। समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए—शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपको को। समुद्दिस्स—उद्देश्य करके। तत्थ तत्थ—जहां तहां। अगारीहिं—उन-गृहस्थो ने। अगाराइं—गृह। चेइयाइं—वड़े विशाल रूप में वनाये हैं। तं०—जैसा कि। आएसणाणि—लोहकार शाला। जाव—यावत्। भवणगिहाणि—तलघर आदि। जे—जो। भयंतारो—पूज्य मुनिराज। तहप्प०—तथाप्रकार के। आएसणाणि—लोहकार शाला। जाव—यावत्। गिहाणि—तलघरो में जोकि। तेहिं—उन गृहस्थो और शाक्यादि श्रमणो से। अणोवयमाणेहिं—उपयोग मे नहीं लिए गये हैं। उवयंति—ठहरते हैं तो। अयमाउसो—हे आयुष्मन् शिष्य! यह। अणभिक्कत किरिया यावि भवइ—अनभिक्रान्त क्रिया है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य! ससार में वहुत से श्रद्धालु गृहस्थ ऐसे हैं जो साधु के आचार विचार को नहीं जानते है, परन्तु वसती दान के स्वर्गादि फल को जानते हैं। अस्तु, उन लोगो ने उक्त स्वर्ग के फल पर श्रद्धा और अभिरुचि करते हुए शाक्यादि श्रमणो का उद्देश्य करके लोहकार शाला यावत् तलघर आदि वनाए हैं। यदि ये लोहकार शाला यावत् तलघर आदि स्थान, गृहस्थों ने तथा शाक्यादि श्रमणों ने अपने उपभोग में नही लिए है, अर्थात् वनने के वाद वे खाली ही पड़े रहे हैं। ऐसे स्थानो मे यदि जैन साधु ठहरते है तो उन्हें अनभिक्रान्त क्रिया लगती है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में अभिव्यक्त की गई वात को दुहराते हुए कहा गया है कि यदि किसी श्रद्धालु गृहस्थ द्वारा शाक्य आदि श्रमणों एवं अपने उपयोग के लिए वनाए गए स्थानों में वे अन्यमत के श्रमण एवं गृहस्थ ठहरे नहीं हैं, उन्होंने उस मकान को अपने उपभोग मे नहीं लिया है, तो जैन साधु को वहां नहीं ठहरना चाहिए। इसमें आरम्भ आदि के दोष की दृष्टि के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि यदि कालान्तर में उस मकान में कोई उपद्रव होगया या उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ तो लोगों में यह अपवाद फैल सकता है कि इसमें सवसे पहले जैनमुनि ठहरे थे। अत. इस तरह की भ्रान्ति न फैले इस दृष्टि से भी साधु को पुरुषान्तरकृत मकान में ही ठहरना चाहिए।

अब वर्ज्याभिधान क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

ठहरने का भी आदेश दिया गया है❀। और इस पाठ से भी स्पष्ट होता है कि उस युग में श्मशान, जंगल एवं गिरिकन्द्राओं में भी स्थान बने होते थे, जिनमें वानप्रस्थ संन्यासी निवास किया करते थे और ऐसे निर्दोष एवं शान्त वातावरण वाले स्थानों में जैन साधु भी ठहर जाते थे। और ऐसे स्थान उनकी आत्मसमाधि एवं चिन्तन में सहायक होते थे।

अब अनभिक्रान्त क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—इह खलु पाईणं वा जाव रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति तं० आएसणाणि वा जाव भवण-गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराणि आएसणाणि जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो ! अण-भिक्कंतकिरिया यावि भवइ ॥८१॥**

छाया—इह खलु प्राचीनं वा यावत् रोचमानैः बहून् श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि कृपण-वनीपकान् समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि चेतितानि-तद्यथा- आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा, ये भयत्रातारः तथा ण आदेशनानि यावद् गृहाणि वा तैः अनवपतद्भिः अवपतन्ति, अयमा- ! अनभिक्रान्तक्रिया चापि भवति।

पदार्थ—इह—इस संसार में। खलु—निश्चय ही। पाईणं—पूर्वादि दिशाओ में जो श्रद्धालु गृहस्थ रहते है, साधु क्रिया को नही जानते है परन्तु वसती दान का स्वर्गफल उन्होने सुना है और उस पर। जाव—यावत् श्रद्धा और। रोयमाणेहिं—रुचि करने से।

---

❀ इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइ निवारेउ, कामराग विवड्ढणे ॥
सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ।
पइरिक्के परकडे वा, वासंतत्थाभिरोयए ॥
— (उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३५, ५-६।

**बहवे** — बहुत से। **समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए** — शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और वनीपकों को। **समुद्दिस्स** — उद्देश्य करके। **तत्थ तत्थ** — जहां तहां। **अगारीहिं** — उन गृहस्थों ने। **अगाराइं** — गृह। **चेइयाइं** — बड़े विशाल रूप मे बनाये है। **तं०** — जैसा कि। **आएसणाणि** — लोहकार शाला। **जाव** — यावत्। **भवणगिहाणि** — तलघर आदि। **जे** — जो। **भयंतारो** — पूज्य मुनिराज। **तहप्प०** — तथाप्रकार के। **आएसणाणि** — लोहकार शाला। **जाव** — यावत्। **गिहाणि** — तलघरों में जोकि। **तेहिं** — उन गृहस्थों और शाक्यादि श्रमणों से। **अणोवयमाणेहिं** — उपयोग में नहीं लिए गये हैं। **उवयंति** — ठहरते है तो। **अयमाउसो** — हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। **अणभिक्कत किरिया यावि भवइ** — अनभिक्रान्त क्रिया है।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! संसार मे बहुत से श्रद्धालु गृहस्थ ऐसे है जो साधु के आचार विचार को नही जानते है, परन्तु बसती दान के स्वर्गादि फल को जानते है। अस्तु, उन लोगो ने उक्त स्वर्ग के फल पर श्रद्धा और अभिरुचि करते हुए शाक्यादि श्रमणो का उद्देश्य करके लोहकार शाला यावत् तलघर आदि बनाए है। यदि ये लोहकार शाला यावत् तलघर आदि स्थान, गृहस्थों ने तथा शाक्यादि श्रमणो ने अपने उपभोग में नही लिए है, अर्थात् बनने के बाद वे खाली ही पड़े रहे है। ऐसे स्थानों मे यदि जैन साधु ठहरते है तो उन्हे अनभिक्रान्त क्रिया लगती है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में अभिव्यक्त की गई बात को दुहराते हुए कहा गया है कि यदि किसी श्रद्धालु गृहस्थ द्वारा शाक्य आदि श्रमणों एवं अपने उपयोग के लिए बनाए गए स्थानों में वे अन्यमत के श्रमण एवं गृहस्थ ठहरे नहीं हैं, उन्होंने उस मकान को अपने उपभोग में नहीं लिया है, तो जैन साधु को वहां नहीं ठहरना चाहिए। इसमें आरम्भ आदि के दोष की दृष्टि के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि यदि कालान्तर में उस मकान मे कोई उपद्रव होगया या इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ तो लोगों मे यह अपवाद फैल सकता है कि इसमे सबसे पहले जैनमुनि ठहरे थे। अत इस तरह की भ्रान्ति न फैले इस दृष्टि से भी साधु को पुरुषान्तरकृत मकान मे ही ठहरना चाहिए।

अब वर्ज्याभिधान क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—इह खलु पाईणं वा ४ जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ- जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं भयंताराणं कप्पइ आहाकम्मिए उवस्सए वत्थए, से जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सयट्ठाए चेइयाइं भवंति, तं-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, सव्वाणि ताणि समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेइस्सामो, तं-आएसणाणि वा जाव०, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति, अयमाउसो! वज्जकिरिया यावि भवइ ॥८२॥

छाया—इह खलु प्राचीनं वा ४ यावत् कर्मकर्यो वा तेषां च एवमुक्तपूर्वं भवति-ये इमे भवंति श्रमणाः भगवन्तो यावत् उपरताः मैथुनाद् धर्मात्, नो खलु एतेषां भयत्रातॄणां कल्पते आधाकर्मिके उपाश्रये वसितुं, अथ यानि इमानि अस्माभिः आत्मनः स्वार्थाय चरितानि भवन्ति, तद्यथा— आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा सर्वाणि तानि श्रमणेभ्यो निसृजामः । अपि च वयं पश्चाद् आत्मनः स्वार्थाय करिष्यामः । तद्यथा आदेशनानि वा यावत्० एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषु वर्तन्ते अयमायुष्मन्! वर्ज्यक्रिया चापि भवति ।

पदार्थ—इह—इस संसार में । खलु—वाक्यालंकार में है । पाईणं ४—पूर्वादि दिशाओं में कई एक श्रद्धालु व्यक्ति होते हैं यथा- । जाव—यावत् । कम्मकरीओ—दासी आदि वे सब ।

एवं वुत्तपुव्वं भवति—वे परस्पर ऐसा कहते है। जे—जो। इमे—ये। समणा—श्रमण। भगवंतो—भगवान्। जाव—यावत्। मेहुणाओ धम्माओ—मैथुन धर्म से। उवरया—उपरत है। खलु—पूर्ववत्। एएसिं—इन। भयंताराणं—भगवन्तो को। आहाकम्मिए—आधाकर्मिक। उवस्सए—उपाश्रय मे। वत्थए—वसना। नो कप्पइ—नही कल्पता है। से—वह। जाणि—जो। इमाणि—ये। अम्हं—हमने। अप्पणो—अपने। सयट्ठाए—निजी प्रयोजन के लिए। चेइयाइ भवति—ये विशाल मकान बनाए हैं। त०—जैसेकि। आएसणाणि वा—लोहकारशाला। जाव—यावत्। गिहाणि—तलघर आदि। ताणि—वे। सव्वाणि—सब। समणाण—इन श्रमणो के लिए। निसिरामो—दे देते है। अवियाइं—अपि च। वय—हम। पच्छा—बाद मे। अप्पणो सयट्ठाए—अपने लिए और मकान। चेइस्सामो—बना लेंगे। त०—जैसे कि। आएसणाणि—लोहकार शाला आदि। जाव—यावत् तलघर आदि। एयप्पगारं—इस प्रकार के। निग्घोसं—निर्घोष-वचन को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—हृदय मे विचार कर। जे—जो। भयतारो—मुनिराज। तहप्पगा०—तथाप्रकार के। आएसणाणि—लोहकार शाला। जाव—यावत्। गिहाणि वा—तलघर आदि में। उवागच्छंति—आकर ठहरते है और। इयराइयरेंहि पाहुडेहि—छोटे-बडे दिए हुए घरो को। वट्टंति—वर्तते है—उपयोग मे लाते है। अयमाउसो—हे आयुष्मन् शिष्य! वज्ज किरिया यावि भवइ—यह वर्ज्य क्रिया होती है।

मूलार्थ—संसार मे पूर्वादि दिशाओ में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ यावत् दास दासी आदि व्यक्ति है जो साधु के आचार विचार को जानते हैं, फलतः परस्पर बातचीत करते हुए कहते है कि-ये पूजनीय जैन साधु मैथुन धर्म से सर्वथा उपरत है एवं सावद्य क्रियाओ से विरक्त है। अतः इन्हे आधाकर्मिक— आधाकर्म दोष से दूषित उपाश्रय में बसना नही कल्पता है। अस्तु, हमने अपने लिए जो लोहकार शाला आदि मकान बनाए है, वे सब इन श्रमणों को दे देते है। और हम अपने लिए दूसरे नए लोहकार शाला आदि मकान बना लेंगे। गृहस्थो के उक्त निर्घोष को सुनकर तथा समझ कर भी जो मुनि--साधु तथाप्रकार के छोटे-बड़े लोहकार शाला आदि, गृहस्थो द्वारा दिए गए स्थानो मे उतरते हैं तो हे आयुष्मन् शिष्य! उन्हें वर्ज्यक्रिया लगती है। अर्थात् जो साधु ऐसे स्थानो मे ठहरता हैं उसे वर्ज्यक्रिया का दोष लगता है।

मूलम्—इह खलु पाईणं वा ४ जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ- जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं भयंताराणं कप्पइ आहाकम्मिए उवस्सए वत्थए, से जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सयट्ठाए चेइयाइं भवंति, तं-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, सव्वाणि ताणि समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेइस्सामो, तं-आएसणाणि वा जाव०, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति, अयमाउसो! वज्जकिरिया यावि भवइ ॥८२॥

छाया—इह खलु प्राचीनं वा ४ यावत् कर्मकर्यो वा तेषां च एवमुक्तपूर्वं भवति-ये इमे भवंति श्रमणाः भगवन्तो यावत् उपरताः मैथुनाद् धर्मात्, नो खलु एतेषां भयत्रातॄणां कल्पते आधाकर्मिके उपाश्रये वसितुं, अथ यानि इमानि अस्माभिः आत्मनः स्वार्थाय चेतितानि भवन्ति, तद्यथा— आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा सर्वाणि तानि श्रमणेभ्यो निसृजामः । अपि च वय पश्चाद् आत्मनः स्वार्थाय करिष्यामः । तद्यथा आदेशनानि वा यावत्० एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषु वर्तन्ते अयमायुष्मन्! वर्ज्यक्रिया चापि भवति ।

पदार्थ—इह—इस संसार में। खलु—वाक्यालंकार में है। पाईणं ४—पूर्वादि दिशाओं में कई एक श्रद्धालु व्यक्ति होते हैं यथा-। जाव—यावत्। कम्मकरीओ—दासी आदि वे सब।

मूलम्—इह खलु पाईणं वा ४ जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ- जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं भयंताराणं कप्पइ आहाकम्मिए उवस्सए वत्थए, से जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सयट्ठाए चेइयाइं भवंति, तं-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, सव्वाणि ताणि समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेइस्सामो, तं-आएसणाणि वा जाव०, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति, अयमाउसो! वज्जकिरिया यावि भवइ ॥८२॥

छाया—इह खलु प्राचीनं वा ४ यावत् कर्मकर्यो वा तेषां च एवमुक्तपूर्वं भवति-ये इमे भवंति श्रमणाः भगवन्तो यावत् उपरताः मैथुनाद् धर्मात्, नो खलु एतेषां भयत्रातॄणां कल्पते आधाकर्मिके उपाश्रये वसितु, अथ यानि इमानि अस्माभिः आत्मनः स्वार्थाय चेतितानि भवन्ति, तद्यथा— आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा सर्वाणि तानि श्रमणेभ्यो निसृजामः । अपि च वय पश्चाद् आत्मनः स्वार्थाय करिष्याम । तद्यथा आदेशनानि वा यावत्० एतत् प्रकार निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषु वर्तन्ते अयमायुष्मन् ! वर्ज्यक्रिया चापि भवति ।

पदार्थ—इह—इस संसार में। खलु—वाक्यालंकार में है। पाईण ४—पूर्वादि दिशाओं में कई एक श्रद्धालु व्यक्ति होते हैं यथा-। जाव—यावत्। कम्मकरीओ—दासी आदि वे सब।

प्रगणय्य प्रगणय्य समुद्दिश्य अगारिभिः अगाराणि कृतानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावद् गृहाणि वा ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावद् गृहाणि वा उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषुः, अयमायुष्मन्, महावर्ज्यक्रिया चापि भवति ।

पदार्थ—इह—इस संसार में। खलु—वाक्यालकार सूचक अव्यय है। पाईण वा ४—पूर्वादि दिशाओ में। एगइया—कई एक। सड्ढा—श्रद्धा वाले गृहस्थ। भवंति—रहते है। तेसिं च ण—उन्होने। आयारगोयरे—आचार-विचार। जाव—यावत्। तं—उसके स्वर्गादि फल को। रोयमाणेहि—रुचि करने से। बहवे—बहुत से। समणमाहण—श्रमण और ब्राह्मण। जाव—यावत्। वणीमगे—भिखारी आदि को। पगणिय पगणिय—गिन-गिन कर और। समुद्दिस्स—उनको उद्देश्य करके। तत्थ तत्थ—जहां तहां। अगारिहिं—गृहस्थो ने। अगाराइ—कई मकान। चेइयाइ भवंति—बनाए है। तंजहा—जैसे कि। आएसणाणि वा—लोहकारशाला आदि। जाव—यावत्। गिहाणि वा—गृह-तलघर आदि। जे भयतारो—जो पूज्य मुनिराज। तहप्पगाराइ—तथाप्रकार के। आएसणाणि वा—लोहकार शाला आदि। जाव—यावत्। गिहाणि—गृहो मे। इयराइयरेहि—छोटे-बडे। पाहुडेहिं—प्राभृत स्वरूप दिए गए उपाश्रयो मे। उवागच्छंति—आते हे और रहते हैं। अयमाउसो—हे आयुष्मन् शिष्य! यह। महावज्जकिरिया यावि भवइ—महावर्ज्य क्रिया होती है।

मूलार्थ—इस ससार मे पूर्वादि दिशाओं में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ हैं जो साधु (जैन मुनि) के आचार विचार को सम्यक्तया नहीं जानते हैं, परन्तु साधु को बसती दान देने के स्वर्गादि फल को सम्यक्तया जानते है और उस पर श्रद्धा-विश्वास तथा अभिरुचि रखते हैं। उन गृहस्थो ने बहुत से श्रमण, ब्राह्मण यावत् भिखारियो को गिन गिन कर तथा उनका लक्ष्य करके लोहकार शाला आदि विशाल भवन बनाए हैं। जो पूज्य मुनिराज तथाप्रकार के छोटे बड़े और गृहस्थो द्वारा सहर्ष भेंट किए गए उक्त लोहकार शाला आदि गृहो में आकर ठहरते है ता हे आयुष्मन् शिष्य! यह उनके लिए महावर्ज्य क्रिया होती है, अर्थात् उन को यह क्रिया लगती है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि कुछ श्रद्धालु लोग साध्वाचार से अनभिज्ञ हैं,

परन्तु वे साधु को मकान का दान देने में स्वर्ग आदि की प्राप्ति के फल को जानते हैं और इस कारण उन्होंने श्रमण, भिक्षु आदि को लक्ष्य में रखकर उनके ठहरने के लिए मकान बनाए हैं। साधु को ऐसे मकान मे नहीं ठहरना चाहिए, यदि वह ऐसे मकानों में ठहरता है तो उसे महावर्ज्य दोप लगता है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि गृहस्थ ने शाक्य आदि श्रमणों के लिए मकान बनाया है और वे उस मकान में ठहर भी चुके हैं, तो फिर साधु उस मकान मे ठहरता है तो उसे महावर्ज्य क्रिया कैसे लगती है? इसका समाधान यह है कि श्रमण शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थ के लिए भी होता है। आगम में बताया गया है— १-निर्ग्रन्थ (जैन साधु), २-बौद्ध भिक्षु, ३-तापस, ४-गैरिक (संन्यासी) और ५-आजीवक (गौशालक मत के साधु) आदि ५ सम्प्रदायों के साधुओं के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग होता रहा है*। अत श्रमण शब्द से जैन साधु का ग्रहण किया गया है, क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं आदि के लिए भिक्षु शब्द का भी प्रयोग किया गया है। अत. जिस मकान को बनाने मे जैन साधु का लक्ष्य रखा गया हो उस मकान के पुरुषान्तर होने पर भी जैन साधु को उसमें नहीं ठहरना चाहिए। यदि वह उसमें ठहरता है तो उसे महावर्ज्य क्रिया (दोष) लगती है।

अब सावद्य क्रिया को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्--इह खलु पाइणं वा ४ संतेगइया जाव तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारिहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं—आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराणि आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं अयमाउसो! सावज्ज-**

---

* से किं त पासंडे नामे ? समणे य पडुरंगे भिक्खू, कावलिए अ तावसिए परिवायगे से त पासडनामे। —अनुयोगद्वार सूत्र।

वृत्ति— इह येन यत् पाषण्डमाश्रितं तस्य तन्नाम स्थाप्यमान पाषण्ड स्थापना नामाभिधीयते तत्र निग्गंथ, सक्क, तावस, गेरुक्य, आजीव पचहा समणा इति वचनात् निर्ग्रन्थादि पच पापण्डान्याश्रित्य श्रमण उच्यते एव नैयायिकादि पाषण्डमाश्रिता पाडुरगादयो भावनीया, नवर भिक्षुर्बुद्ध दर्शनाश्रित.। — आचार्य श्री मल्लधारी हेमचन्द्र।

किरिया यावि भवइ ॥८४॥

छाया— इह खलु प्राचीनं सन्त्येकका यावत् तत् श्रद्दधानैः तत् प्रतीयमानैः तद् रोचयमानैः बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकान् प्रगण्य प्रगण्य समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि कृतानि भवति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावद् भवनगृहाणि वा ये भयत्रातारः तथा प्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु, इयमायुष्मन्! सावद्यक्रिया चापि भवति।

पदार्थ—इह- संसार मे। खलु—निश्चय। पाईणं वा ४—पूर्वादि दिशाओ मे। सतेगइया—कई एक श्रद्धालु गृहस्थ ऐसे है, जिन्होने उपाश्रय के दान के फल को सुन रखा है। तं—उस फल के प्रति। सद्दहमाणेहिं—श्रद्धा करने से। तं पत्तियमाणेहिं—उस पर प्रतीति करने से। तं रोयमाणेहिं—उस पर रुचि करने से। बहवे—बहुत से। समणमाहणअतिहिकिवण वणीमगे—श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण और वनीपको को। पगणिय २—गिन गिनकर तथा उनको। समुद्दिस्स—उद्देश्य करके। अगारिहिं—गृहस्थो ने। तत्थ तत्थ—जहा-तहा। आगाराइ—मकान। चेइयाइ—बनाए। भवंति—है। तजहा—जैसे कि। आएसणाणि वा—लोहकार शाला। जाव—यावत्। भवणगिहाणि वा—तल घर आदि। जे—जो। भयतारो—पूज्य मुनिराज। तहप्पगाराणि—तथाप्रकार के। आएसणाणि वा—लोहकार शाला। जाव—यावत्। भवणगिहाणि—तलघर आदि उक्त। इयराइयरेहिं—छोटे-बडे। पाहुडेहिं—भेंट स्वरूप दिए हुए उपाश्रयो मे। उवागच्छति—उतरते है तो। इयमाउसो—हे आयुष्मन् शिष्य! यह। सावज्जकिरिया यावि भवइ—यह सावद्य क्रिया होती है।

मूलार्थ—इस ससार में पूर्वादि दिशाओ में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ है जो उपाश्रय दान के फल पर श्रद्धा करने से, प्रीति करने से और रुचि करने से बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियो का उद्देश्य रखकर लोहकार शालादि भवनो का निर्माण करते है अर्थात् उन्होंने बनाए हैं। जो मुनिराज तथाप्रकार के भेंटस्वरूप दिए गए छोटे बड़े भवनों में उतरते है, तो हे आयुष्मन् शिष्य! उनके लिए यह सावद्य क्रिया होती है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भी पूर्व सूत्र की बात को दुहराया गया है। इसमें यह बताया गया है कि यदि श्रमण, भिक्षु आदि को लक्ष्य मे रखकर किसी मकान में सावद्य क्रिया की गई हो तो साधु को उसमें नहीं ठहरना चाहिए। यदि कोई साधु उसमें ठहरता है तो उसे सावद्य क्रिया लगती है।

अब महासावद्य क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं एगं समण-जायं समुद्दिस्स तत्थ २ अगारिहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं०-आएसणाणि जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमा-रंभेणं जाव महया तसकायसमारंभेणं महया विरूवरूवेहिं पाव-कम्मकिच्चेहिं, तंजहा--छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहणओ सीओदए वा परट्ठवियपुव्वे भवइ, अगणिकाए वा उज्जालिय पुव्वे भवइ, जे भयंतारो तह० आएसणाणि वा० उवागच्छंति इय-राइयरेहिं पाहुड़ेहिं वट्टंति दुपक्खं ते कम्मं सेवंति अयमाउसो ! महासावज्ज किरिया यावि भवइ॥८५॥**

छाया—इह खलु प्रचीनं यावत् तद् रोचमानैः एक श्रमणजातं समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभि अगाराणिः कृतानि भवन्ति। तद्यथा—आदेशनानि यावद् गृहाणि वा महता पृथ्वीकाय समारम्भेन यावत् महता त्रसकाय समारम्भेन महद्भि विरूपरूपैः पापकर्म कृत्यैः, तद्यथा—छादनतो, लेपनतः संस्तारक द्वार-पिधापनतः शीतोदकं वा परिष्ठापितपूर्वं भवति। अग्निकायो वा उज्ज्वालित-पूर्वो भवति, ये भयत्रातार. तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा, उपागच्छन्ति, इतरे-तरेषु प्राभृतेषु द्विपक्ष ते कर्म सेवन्ते, इयमायुष्मन् ! महासावद्य क्रियाचापि भवति।

पदार्थ—खलु—वाक्यालकार मे है। इह—इस संसार में। पाईणं वा ४—पूर्वादि

दिशाओं में। जाव—यावत्। त—उपाश्रय प्रदान के स्वर्गादि फल को। रोयमाणेहिं—रुचि करने से। एगं समणजायं—किसी एक श्रमण को। समुद्दिस्स—उद्देश्य करके। तत्थ २—जहां-तहां। अगारीहिं—गृहस्थों ने। अगाराइं—भवन। चेइयाइं—बनाए हुए हैं। तं०। जैसे कि। आएसणाणि—लोहकार शाला। जाव—यावत्। गिहाणि वा—तलघर आदि। महया पुढविकाय समारम्भेणं—महान् पृथ्वीकाय के समारम्भ से। जाव—यावत्। महया तस-काय समारंभेणं—महान् त्रसकाय के समारम्भ से। महया विरूवरूवेहिं—नाना प्रकार के महान्। पावकम्मकिच्चेहिं—पापकर्मकृत्यों से। तजहा—जैसे कि साधु के लिए। छायणओ—मकान पर छत आदि डाली हुई है। लेवणओ—लीपी पोती हुई है। संथारदुवारपिहुणओ—संस्तारक-के स्थान को सम—बराबर बनाया है, दरवाजे बनाए हैं और। सीओदए वा परट्ठविय-पुव्वे भवइ—ठंडक करने के लिए शीतल जल का छिड़काव किया है, तथा। अगणिकाये वा उज्जालियपुव्वे भवइ—शीत निवारणार्थ अग्नि प्रज्वलित की है। जे भयतारो—जो मुनिराज तह०—तथा प्रकार के। आएसणाणि—लोहकार शाला आदि में। उवागच्छंति—आते हैं तथा। इयराइयरेहिं—साधु के लिए बने हुए छोटे-बड़े। पाहुडेहिं—भेंट स्वरूप दिए गए उपाश्रयों में जो ठहरते हैं। ते—वे। दुपक्खं—द्विपक्ष अर्थात् द्रव्य से साधु और भाव से गृहस्थ रूप। कम्मं—कर्म का। सेवंति—सेवन करते हैं। इयमाउसो—हे आयुष्मन् शिष्य ! यह। महासा-वज्ज किरिया यावि भवइ—महासावद्य क्रिया होती है।

मूलार्थ—इस ससार में पूर्वादि चारों दिशाओं में बहुत से श्रद्धालु व्यक्ति हैं, जिन्होंने साधु का आचार तो सम्यक्तया नहीं सुना, केवल उपाश्रय दान के स्वर्गादि फल को सुना है। वे साधु के लिए ६ काय का समारम्भ करके लोहकार शाला आदि स्थान-मकान बनाते हैं। यदि साधु उनमें ज्ञान होने पर भी ठहरता है तो वह द्रव्य से साधु और भाव से गृहस्थ है, अर्थात् साधु का वेष होने से साधु और षट्काय के आरम्भ की अनुमति आदि से युक्त होने के कारण भाव से गृहस्थ जैसा है। अत: हे शिष्य ! इस क्रिया को महासावद्य क्रिया कहते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो उपाश्रय-मकान साधु के उद्देश्य से बनाया गया है और साधु के उद्देश्य से ही उसको लीप-पोत कर साफ-सुथरा बनाया है और छप्पर आदि से आच्छादित किया है तथा दरवाजे आदि बनवाए हैं और गर्मी में ठण्डे पानी का छिड़काव करके मकान को शीतल एव शरद् ऋतु में आग जलाकर गर्म किया गया है

तो ऐसे मकान में साधु को नहीं ठहरना चाहिए। यदि साधु जानते हुए भी ऐसे मकान में ठहरता है तो उसे महासावद्य क्रिया लगती है। और ऐसे मकान मे ठहरने वाला केवल भेष से साधु है, भावों से नहीं। क्योंकि उसमे साधु के लिए ६ काय के जीवों का आरंभ समारम्भ हुआ है। इसलिए सूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है— 'दुपक्खं ते कम्मं सेवंति।' आचार्य शीलांक ने प्रस्तुत पद की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'ते द्विपक्ष कर्म सेवन्ते तद्यथा— प्रव्रज्यामाधार्कमिकवसत्यासेवद् गृहस्थत्वं च रागद्वेषं इर्यापथ साम्परायिकं च।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे सदोष मकान में ठहरने वाले साधु साधुत्व के महापथ से गिर जाते है, उनकी साधना शुद्ध नहीं रह पाती। अतः साधु को सदा निर्दोष एव निरवद्य मकान मे ठहरना चाहिए।

अब अल्प सावद्य क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—इह खलु पाईणं वा रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ २ अगारिहिं जाव उज्जालियपुव्वे भवइ, जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा० उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो! अप्पसावज्ज किरिया यावि भवइ ६। एवं खलु तस्स० ॥८६॥**

छाया—इह खलु प्राचीन वारोचमानै. आत्मन स्वार्थाय तत्र तत्र अगारिभिः यावत् उज्ज्वालितपूर्वं भवति, ये भयत्रातारः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा० उपागच्छन्ति इतरेतरेषु प्राभृतेषु एकपक्षं ते कर्म सेवंते। इयमायुष्मन्! अल्प सावद्यक्रिया चापि भवति। एवं खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यम्।

पदार्थ—इह—इस ससार मे। खलु—वाक्यालकार सूचक अव्यय है। पाईण वा—पूर्वादि दिशाओ मे किसी भद्र परिणामी गृहस्थ ने उपाश्रय दान का महत्व सुना है और उसपर। रोयमाणेहिं रुचि करने से। अप्पणो सयट्ठाए—अपने निज के प्रयोजन के लिए। तत्थ २—जहा-तहा। अगारिहिं गृहस्थो ने स्थान बनाए हुए हैं। जाव—यावत्। उज्जालिय पुव्व-भवइ—जिसमें अग्नि प्रज्वलित की गई हो। जे भयतारो—जो पूज्य मुनिराज। तहप्प०—तथाप्रकार के। आएसणाणि वा—लोहकार शाला आदि भवनो-स्थानो में। उवागच्छन्ति—आते हैं और। इयराइयरेहिं—छोटे-बडे। पाहुडेहिं—दिए गये उक्त स्थानो मे उतरते हैं।

# द्वितीय अध्ययन शय्यैषणा

## तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र में, शुद्ध वस्ती (मकान) का वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में अशुद्ध वस्ती का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से य नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे नो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं, तंजहा-छायणाओ लेवणाओ संथारदु वारपिहणाओ पिंडवाएसणाओ, से य भिक्खू चरियारए ठाणरए निसीहियारए सिज्जासंथारपिंडवाएसणारए, संति भिक्खुणो एवमक्खाइणो उज्जुया नियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा वियाहिया, संतेगइया पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा भवइ, एवं निक्खित्तपुव्वा भवइ, परिभाइय निक्खित्तपुव्वा भवइ, पुव्व भवइ, परिभुत्तपुव्वा भवइ, परिट्ठवियपुव्वा भवइ, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरेइ? हंता भवइ ॥८७॥

छाया—स च नो सुलभः प्रासुकः उञ्छः अथ एषणीयः, न च खलु शुद्धः एभिः प्राभृतैः, तद्यथा— छादनतः लेपनतः संस्तार-द्वार विधानत. पिंड-पातैषणातः ते च भिक्षवः चर्या ता स्थानरताः निषीधिकारताः शय्यासस्तार-पिंडपातैषणारताः सन्ति भिक्षवः एवमाख्यायिनः ऋजवः नियागप्रतिपन्नाः अमायां कुर्वाणाः व्याख्याताः सन्ति एकका प्राभृतिका उत्क्षिप्त पूर्वा भवति, एव निक्षिप्त पूर्वा भवति, परिभाजित पूर्वा भवति परिभुक्तपूर्वा भवति परि-स्थापितपूर्वा भवति एव व्याकुर्वन्क-थयन् सम्यग् व्याकरोति? हन्त भवति।

पदार्थ—से—वह भिक्षु किसी ग्रामदि मे भिक्षा के लिए गया तब किसी गृहस्थ ने उसे वहा ठहरने की विनती की कि भगवन् ! आप यहा पर ही कृपा करे। इस नगर मे अन्न पानी का संयोग सुख पूर्वक मिल सकता है, इसके उत्तर मे मुनि ने कहा भद्र ! प्रासुक आहार पानी का मिलना तो कठिन नही है, किन्तु जहा पर बैठकर शुद्ध निर्दोष आहार किया जाता है उस उपाश्रय का मिलना। नो सुलभे—सुलभ नही है। अब सूत्रकार उपाश्रय के विषय मे वर्णन करते है। फासुए—प्रासुक-आधाकर्मादि दोषो से रहित। उछे—छादनादि उत्तरगुणीय दोषो से रहित। अहेसणिज्जे—मूल एव उत्तर गुणीय दोषो से शून्य होने के कारण एषणीय। य—और। खलु—निश्चय ही। नो सुद्धे—उत्तर गुणो से जो शुद्ध नही है। इमेहिं—इन। पाहुडेहिं—पाप कर्मों के उपादान से बनाए गए है। तजहा—जैसे कि। छायणाओ—साधु के लिए आच्छादन करने से। लेवणओ—गोबर आदि का लेपन करने से। सथार दुवार पिहणओ—संस्तारक भूमि को सम करने और द्वार बन्द करने के लिए किवाड आदि बनाने से। पिडवाए-सणाओ—तथा पिडपानैषणा की दृष्टि से भी शुद्ध उपाश्रय का मिलना कठिन है अर्थात् जिसके उपाश्रय मे साधु ठहरता है वह गृहस्थ प्राय: आहार का आमंत्रण करता है। अतः साधु वह आहार लेता है तो उसे दोष लगता है, और नही लेता तो गृहस्थ के मन को ठेस लगती है। अत: यह कारण भी उपाश्रय की प्राप्ति में विशेषकर बाधक है। यदि उत्तरदोष से शुद्ध उपाश्रय मिल भी गया है तो फिर स्वाध्याय आदि की अनुकूलता से युक्त उपाश्रय का मिलना तो और भी कठिन है, अब सूत्रकार यही बतलाते है कि। य—फिर। से—वे। भिक्खू—भिक्षु-मुनिराज। चरियारए—नव कल्पी विहार की चर्या मे रत है। ठाणरए—तथा कायोत्सर्गादि करने में रत है। निसीहियारए—स्वाध्याय करने में रत है। सिज्जासंथार पिंडवाएसणारए—शय्या-वस्ती-सस्तार-ढाई हाथ प्रमाण शयन करने का स्थान अथवा रोगादि कारण से शय्या सस्तारक में रत है अर्थात् अगार एव धूम आदि दोषो से रहित आहार करते। संति—है। भिक्खुणो—कोई कोई भिक्षु। एवमक्खाइणो—इस प्रकार वसती के यथावस्थित गुण-दोषो के कहने वाले है। उज्जुया—सरल हैं। नियागपडिवन्ना—सयम एव मोक्ष मे प्रतिपन्न है। अमायं कुव्वमाणा—माया नही करने वाले। वियाहिया—कहे गए हैं।

अब सूत्रकार गृहस्थो द्वारा साधु को वस्ती दान देने सम्बन्धि छल करने के विषय मे बतलाते है। संति—कितने ही गृहस्थ ऐसे हैं जो साधु को उपाश्रय देने में छल करते हैं यथा—। पाहुड़िया—जो उपाश्रय साधु के उद्देश्य से बनाया गया है उसको। उक्खित्तपुव्वा भवइ—दिखाकर कहते हैं कि आप इस उपाश्रय में रहे क्योंकि यह उपाश्रय। निक्खित्त पुव्वा भवइ—हमने अपने लिए बनाया है तथा। परिभाइयपुव्वा भवइ—हमने पहले ही आपस के बटवारे में बाट लिया है। परिभुत्तपुव्व भवइ—वह हम लोगो द्वारा पहले ही भोगा जा चुका है। परिट्ठविपपुव्वा भवइ—हमने बहुत पहले से इसे छोड़ा हुआ है अत: आपके लिए निर्दोष

होने के कारण ग्राह्य है। गृहस्थ इस प्रकार कुछ भी छल बल करें परन्तु साधु उनके प्रपच को जानकर कदापि उक्त उपाश्रय में न रहे। यदि कोई गृहस्थ उपाश्रय के गुण दोषादि के विषय में पूछे तो साधु उसको शास्त्रानुसार उपाश्रय के गुण दोष बतला दे, अब शिष्य प्रश्न करता है कि—हे भगवन्! साधु उपाश्रय के गुणदोषो के सम्बन्ध में। एवं वियारेमाणे—इस प्रकार कहता हुआ। समियाए वियागरेइ? क्या सम्यक् कथन करता है? आचार्य उत्तर देते हैं। हता भवइ—हा, वह सम्यक् कथन करता है।

मूलार्थ—भिक्षा के लिए ग्राम मे गए हुए साधु को यदि कोई भद्र गृहस्थ यह कहे कि भगवन्! यहा आहार-पानी की सुलभता है, अतः आप यहा रहने की कृपा कर। इसके उत्तर मे साधु यह कहे कि यहा आहार-पानी आदि तो सब कुछ सुलभ है परन्तु निर्दोष उपाश्रय का मिलना दुर्लभ कठिन है। क्योकि साधु के लिए कही उपाश्रय मे छत डाली हुई होती है, कही लीपा-पोती की हुई होती है, कही सस्तारक के लिए ऊंची नीची भूमि को समतल किया गया होता है और कही द्वार बन्द करने के लिए दरवाजे आदि लगाए हुए होते है, इत्यादि दोषो के कारण शुद्ध निर्दोष उपाश्रय का मिलना कठिन है। और दूसरी यह बात भी है कि शय्यातर का आहार साधु को लेना नही कल्पता है। अतः यदि साधु उसका आहार लेते है तो उन्हें दोष लगता है और उनके नही लेने से बहुत से शय्यातर गृहस्थ रुष्ट हो जाते है। यदि कभी उक्त दोषो से रहित उपाश्रय मिल भी जाए, फिर भी साधु की आवश्यक क्रियाओ के योग्य उपाश्रय का मिलना कठिन है। क्योकि साधु विहारचर्या वाले भी है, कायोत्सर्ग करने वाले भी है, एकान्त स्वाध्याय करने वाले भी है, तथा शय्या-संस्तारक और पिंडपात की शुद्ध गवेषणा करने वाले भी है। अस्तु, उक्त क्रियाओ के लिये योग्य उपाश्रय मिलना और भी कठिन है। इस प्रकार कितने ही सरल-निष्कपट एव मोक्ष पथ के गामी भिक्षु उपाश्रय के दोष बतला देते हैं।

कुछ गृहस्थ मुनि के लिये ही मकान बनाते है, और फिर यथा अवसर आगन्तुक मुनि से छल युक्त वार्तालाप करते है। वे साधु से कहते हैं कि

'यह मकान हमने अपने लिये बनाया है, आपस में बांट लिया है, परिभोग में ले लिया है, परन्तु अब नापसद होने के कारण बहुत पहले से वैसे ही खाली छोड रखा है। अतः पूर्णतया निर्दोप होने के कारण आप इस उपाश्रय मे ठहर सकते हैं'। परन्तु विचक्षण मुनि इस प्रकार के छल मे न फसे, तथा सदोष उपाश्रय में ठहरने से सर्वथा इन्कार कर दे। गृहस्थो के पूछने पर जो मुनि इस प्रकार उपाश्रय के गुण-दोपो को सम्यक् प्रकार से वतला देता है, उसके सवन्ध मे शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! क्या वह सम्यक् कथन करता है? सूत्रकार उत्तर देतेहै कि हा, वह सम्यक् कथन करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु किसी गांव या शहर में भिक्षा के लिए गया, उस समय कोई श्रद्धानिष्ठ गृहस्थ उक्त मुनि से प्रार्थना करे कि हमारे गांव या शहर में आहार-पानी आदि की सुविधा है, अत आप इसी गाव में ठहरें। गृहस्थ के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना करने पर मुनि सरल एवं निष्कपट भाव से कहे कि आहार पानी की तो यहां सुलभता है, परन्तु ठहरने के लिए निर्दोप मकान का उपलब्ध होना कठिन है। मूल एवं उत्तर गुणों की दृष्टि से निर्दोप मकान सर्वत्र सुलभ नहीं होता। कहीं मकानों की कमी के कारण मूल से ही साधु के लिए मकान बनाया जाता है। कहीं साधु के उद्देश्य से नहीं बने हुए मकान पर साधु के लिए छत डाली जाती है, उसमें सफेदी करवाई जाती है, शय्या के लिए योग्य स्थान बनाया जाता है, दरवाजे तथा खिड़कियें लगाई जाती हैं। इस तरह मूल या उत्तर गुण मे दोप लगने की सभावना रहती है।

यदि कहीं सब तरह से निर्दोप मकान मिल जाए तो दूसरा प्रश्न यह सामने आएगा कि हम शय्यातर (मकान मालिक) के घर का आहार-पानी आदि ग्रहण नहीं करते। कभी वह भक्तिवश आहार आदि के लिए आग्रह करे और हमारे द्वारा इनकार करने पर क्रोधित होकर धर्म से या साधु-सन्तों से विमुख होकर उनका विरोध कर सकता है। वृत्तिकार ने भी यही भाव अभिव्यक्त किया है।

निर्दोप मकान एवं शय्यातर के अनुकूल मिलने के बाद तीसरी समस्या साधना की रह जाती है। कुछ साधु विहार चर्या वाले होते हैं, कुछ कायोत्सर्ग करने मे अनुरक्त रहते हैं, कुछ स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन में व्यस्त रहते हैं। अतः इन सब साधनाओं की दृष्टि से भी मकान अनुकूल होना आवश्यक है, अर्थात् साधना के लिए एकान्त एवं

होने के कारण ग्राह्य है। गृहस्थ इस प्रकार कुछ भी छल बल करें परन्तु साधु उनके प्रपच को जानकर कदापि उक्त उपाश्रय में न रहे। यदि कोई गृहस्थ उपाश्रय के गुण दोषादि के विषय में पूछे तो साधु उसको शास्त्रानुसार उपाश्रय के गुण दोष बतला दे, अब शिष्य प्रश्न करता है कि—हे भगवन्! साधु उपाश्रय के गुणदोषो के सम्बन्ध में। **एवं वियारेमाणे**—इस प्रकार कहता हुआ। **समियाए वियागरेइ?** क्या सम्यक् कथन करता है? आचार्य उत्तर देते है। **हंता भवइ**—हा, वह सम्यक् कथन करता है।

**मूलार्थ**—भिक्षा के लिए ग्राम मे गए हुए साधु को यदि कोई भद्र गृहस्थ यह कहे कि भगवन्! यहा आहार-पानी की सुलभता है, अतः आप यहा रहने की कृपा कर। इसके उत्तर मे साधु यह कहे कि यहां आहार-पानी आदि तो सब कुछ सुलभ है परन्तु निर्दोष उपाश्रय का मिलना दुर्लभ कठिन है। क्योकि साधु के लिए कही उपाश्रय मे छत डाली हुई होती है, कही लोपा-पोती की हुई होती है, कही सस्तारक के लिए ऊंची नीची भूमि को समतल किया गया होता है और कही द्वार बन्द करने के लिए दरवाजे आदि लगाए हुए होते है, इत्यादि दोषों के कारण शुद्ध निर्दोष उपाश्रय का मिलना कठिन है। और दूसरी यह बात भी है कि शय्यातर का आहार साधु को लेना नही कल्पता है। अतः यदि साधु उसका आहार लेते है तो उन्हें दोष लगता है और उनके नही लेने से बहुत से शय्यातर गृहस्थ रुष्ट हो जाते है। यदि कभी उक्त दोषो से रहित उपाश्रय मिल भी जाए, फिर भी साधु की आवश्यक क्रियाओ के योग्य उपाश्रय का मिलना कठिन है। क्योकि साधु विहारचर्या वाले भी है, कायोत्सर्ग करने वाले भी है, एकान्त स्वाध्याय करने वाले भी है, तथा शय्या-संस्तारक और पिंडपात की शुद्ध गवेषणा करने वाले भी है। अस्तु, उक्त क्रियाओ के लिये योग्य उपाश्रय मिलना और भी कठिन है। इस प्रकार कितने ही सरल-निष्कपट एव मोक्ष पथ के गामी भिक्षु उपाश्रय के दोष बतला देते हैं।

कुछ गृहस्थ मुनि के लिये ही मकान बनाते है, और फिर यथा अवसर आगन्तुक मुनि से छल युक्त वार्तालाप करते है। वे साधु से कहते हैं कि

'यह मकान हमने अपने लिये बनाया है, आपस में बाट लिया है, परिभोग में ले लिया है, परन्तु अब नापसद होने के कारण बहुत पहले से वैसे ही खाली छोड रखा है। अतः पूर्णतया निर्दोप होने के कारण आप इस उपाश्रय मे ठहर सकते हैं'। परन्तु विचक्षण मुनि इस प्रकार के छल मे न फसे, तथा सदोप उपाश्रय मे ठहरने से सर्वथा इन्कार कर दे। गृहस्थो के पूछने पर जो मुनि इस प्रकार उपाश्रय के गुण-दोपो को सम्यक् प्रकार से वतला देता है, उसके सवन्ध मे शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! क्या वह सम्यक् कथन करता है? सूत्रकार उत्तर देतेहै कि हा, वह सम्यक् कथन करता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वताया गया है कि साधु किसी गांव या शहर में भिक्षा के लिए गया, उस समय कोई श्रद्धानिष्ठ गृहस्थ उक्त मुनि से प्रार्थना करे कि हमारे गांव या शहर में आहार-पानी आदि की सुविधा है, अत आप इसी गांव में ठहरें। गृहस्थ के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना करने पर मुनि सरल एवं निष्कपट भाव से कहे कि आहार पानी की तो यहां सुलभता है, परन्तु ठहरने के लिए निर्दोप मकान का उपलब्ध होना कठिन है। मूल एवं उत्तर गुणों की दृष्टि से निर्दोप मकान सर्वत्र सुलभ नहीं होता। कहीं मकानों की कमी के कारण मूल से ही साधु के लिए मकान बनाया जाता है। कहीं साधु के उद्देश्य से नहीं बने हुए मकान पर साधु के लिए छत डाली जाती है, उसमें सफेदी करवाई जाती है, शय्या के लिए योग्य स्थान बनाया जाता है, दरवाजे तथा खिड़कियें लगाई जाती हैं। इस तरह मूल या उत्तर गुण मे दोप लगने की सभावना रहती है।

यदि कहीं सब तरह से निर्दोप मकान मिल जाए तो दूसरा प्रश्न यह सामने आएगा कि हम शय्यातर (मकान मालिक) के घर का आहार-पानी आदि ग्रहण नहीं करते। कभी वह भक्तिवश आहार आदि के लिए आग्रह करे और हमारे द्वारा इनकार करने पर कोपित होकर धर्म से या साधु-सन्तों से विमुख होकर उनका विरोध कर सकता है। वृत्तिकार ने भी यही भाव अभिव्यक्त किया है।

निर्दोप मकान एवं शय्यातर के अनुकूल मिलने के बाद तीसरी समस्या साधना की रह जाती है। कुछ साधु विहार चर्या वाले होते हैं, कुछ कायोत्सर्ग करने मे अनुरक्त रहते हैं, कुछ स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन मे व्यस्त रहते है। अत. इन सब साधनाओं की दृष्टि से भी मकान अनुकूल होना आवश्यक है, अर्थात् साधना के लिए एकान्त एवं

शान्त वातावरण का होना जरूरी है। इस तरह मुनि स्थान सम्बन्धी निर्दोषता एवं सदोषता को स्पष्ट रूप से बता दे और सभी दृष्टियों से शुद्ध एवं निर्दोष मकान की गवेषणा करने के पश्चात् उसमें ठहरे ।

साधु से मकान सम्बन्धी सभी गुण-दोष सुनने के बाद यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए बनाए गए मकान को भी शुद्ध बताए और छल-कपट के द्वारा उसकी सदोषता को छिपाने का प्रयत्न करे तो साधु को उसके धोखे मे नहीं आना चाहिए । और उसकी तरह स्वयं को भी छल-कपट का सहारा नहीं लेना चाहिए। साधु को सदा सरल एवं निष्कपट भाव ही रखना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ छल-कपट रखकर उपाश्रय के गुण-दोष जानना चाहे, तब भी साधु को बिना हिचकिचाहट के उपाश्रय सम्बन्धी सारी जानकारी करा देनी चाहिए। इसी से साधु की साधना सम्यक् रह सकती है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चरियाए' पद से विहार चर्या का 'ठाणए' से ध्यानस्थ होने का, 'निसिहियाए' से स्वाध्याय का, 'उज्जुय' से छल-कपट रहित, सरल स्वभाव वाला होने का एवं 'नियाग पडिवन्ना' से संयम में मोक्ष के ध्येय को सिद्ध करने वाला बताया गया है। और 'सतेगइया पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा भवइ' पद से यह स्पष्ट किया गया है कि साधु के उद्देश्य से बनाए गए उपाश्रय को निर्दोष बताना तथा 'एव परिभुत्तपुव्व भवइ, परिट्ठवियपुव्वा भवइ' आदि पदों से इस बात को बताया गया है कि कुछ श्रद्धालु भक्त रागवश सदोष मकान को भी छल-कपट से निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं साधु को उनकी बातों मे नहीं आना चाहिए।

यदि कभी परिस्थितिवश साधु को चरक आदि अन्य मत के भिक्षुओं के साथ ठहरना पडे, तो किस विधि से ठहरना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा-खुड्डियाओ खुड्डदुवारियाओ निययाओ संनिरुद्धाओ भवंति, तहप्पगा० उवस्सए राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा प० पुरा हत्थेण वा पच्छा पाएण वा, तओ संजयामेव निक्खमिज्ज वा २ । केवली बूया--आयाणमेयं, जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा छत्तए वा मत्तए वा दंडए वा लट्ठिया वा भिसिया वा नालिया**

वा चेलं वा चिलिमिली वा चम्मए वा चम्मकोसए वा चम्मछेयणए वा दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अणिकंपे चलाचले, भिक्खू य राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा २ पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा० हत्थं वा० लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ जाव ववरोविज्ज वा। अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठं जं तह० उवस्सए पुराहत्थेण निक्ख० वा पच्छा पाएणं तओ संजयामेव नि० पविसिज्ज वा ॥८८॥

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत् पुनरुपाश्रयं जानीयात्-क्षुद्रिकाः क्षुद्रद्वारा नीचाः संनिरुद्धा भवन्ति, तथाप्रकारे उपाश्रये रात्रौ वा विकाले वा निष्क्रममाणः वा प्रविशन् पुरो हस्तेन वा पश्चात् पादेन वा तत संयतमेव निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा, केवली ब्रूयाद आदानमेतत्, ये तत्र श्रमणाना ब्राह्मणानां वा छत्रको वा मात्रकं वा दण्डको वा यष्टिर्वा वृशिका वा नलिका वा चेल वा चिलिमिली वा चर्मको वा चर्मकोशको वा चर्मछेदनं वा दुर्बद्धः दुर्निक्षिप्तोऽनिष्कम्पः चलाचलः भिक्षुश्च रात्रौ वा विकाले वा निष्क्रममाणः प्रविशन् वा प्रस्खलेत् वा पतेद् वा स तत्र प्रस्खलन् वा पतन् वा हस्त वा लूषयेत् वा प्राणानि ४ यावद् व्यपरोपयेद् वा, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्ट यत्--तथाप्रकारे उपाश्रये पुरो हस्तेन वा निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा पश्चात् पादेन ततः संयतमेव निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा०—साधु या साध्वी। से ज—वह साधु जो आगे कहा जाता है। पुण—फिर। उवस्सय—उपाश्रय को। जाणिज्जा—जाने। खुड्डियाओ—छोटा उपाश्रय। खुड्डदुवारियाओ—लघु द्वार वाला उपाश्रय। नियआओ—नीचा है। सनिरुद्धाओ—जो चरक आदि अन्य मत के भिक्षुओं के। भवति—ठहरने से खाली नहीं है। तहप्पगा०—

ऐमे। **उवस्सए**—उपाश्रय में ठहरा हुआ साधु। **राओ वा**—रात्रि में। **वियाले वा**—विकाल मे। **निक्खममाणे वा**—भीतर से बाहर निकलता हुआ अथवा। **पविसमाणे वा**—बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ। **पुरा**—पहले। **हत्थेण वा**—हाथ से अर्थात् हाथ आगे करके भूमि को देखकर। **पच्छा**—पीछे। **पाएण वा**—ैर से गमन करे जिससे चरक आदि भिक्षुओ के उपकरण का तथा उनके किसी अवयव का उपघात न हो। **तओ**—तदनन्तर। **संजयामेव**—सयत-साधु यत्नपूर्वक। **निक्खमिज्ज वा**—निकले अथवा प्रवेश करे क्योंकि। **केवली**—केवली भगवान। **बूया**—कहते हैं कि। **आयाणमेय**—यह कर्म आने का मार्ग है, जैसे कि—। **जे**—यदि। **तत्थ**—वहा पर। **समणाण वा**—शाक्यादि श्रमणो के। **माहणाण वा**—ब्राह्मणो के। **छत्तए वा**—छत्र। **मत्तए वा**—भाजन विशेष। **दडए वा**—दड अथवा। **लट्ठिया**—लाठी। **भिसिया वा**—योग आसन विशेष। **नालिया वा**—अपने शरीर से चार अगुल लम्बी लाठी। **चेल वा**—वस्त्र। **चिलिमिली वा**—यवनिका-परदा अर्थात् मच्छर दानी। **चम्मए वा**—मृगचर्म। **चम्मकोसए वा**—चर्म कोष—मृगचर्म की थैली या झोली। **चम्मछेयणए वा**—चर्म छेदने का उपकरण इत्यादि उपकरण, जोकि। **दुब्बद्धे**—अच्छी तरह से नही बान्धा हुआ। **दुन्निक्खित्ते**—भली प्रकार से नही रखा हुआ तथा। **अणिकपे**—जो थोडा बहुत हिलता है। **चलाचले**—जो विशेष रूप से हिल रहा है, अत। **भिक्खू**—भिक्षु। **य**—फिर। **राओ वा**—रात्रि मे। **वियाले वा**—विकाल मे। **निक्खममाणे वा०**—भीतर से बाहर निकलता हुआ अथवा बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ। **पयलिज्ज वा २**—फिसल पडे या गिर पडे। **से**—भिक्षु के। **तत्थ**—वहा पर। **पयलमाणे वा २**—फिसलने या गिर पडने से उनके उपकरण आदि गिर पडें अथवा। **हत्थं वा०**—हाथ-पैर आदि। **लूसिज्ज वा**—टूट जावे या। **पाणाणि वा०**—क्षुद्र जीव-जन्तुओ की। **जाव**—यावत् विराधना और। **ववरोविज्ज वा**—नाश हो जाए। **अह**—इसलिए। **भिक्खूण**—भिक्षुओ को। **पुव्वोवइट्ठ**—तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश किया है। **जं**—जो कि। **तह०**—तथाप्रकार के। **उवस्सए**—उपाश्रय में। **पुरा**—पहले। **हत्थेण वा**—हाथ से देखभाल कर। **पच्छा पाएण वा**—पीछे पैर रखे। **तओ**—तदनन्तर। **संजयामेव**—सयत साधु यत्न पूर्वक। **नि०**—बाहर निकले। **पविसिज्ज वा**—अथवा भीतर प्रवेश करे।

**मूलार्थ**—वह साधु अथवा साध्वी फिर उपाश्रय को जाने, जैसे कि—जो उपाश्रय छोटा है अथवा छोटे द्वार वाला है, तथा नीचा है और चरक आदि भिक्षुओ से भरा हुआ है, इस प्रकार के उपाश्रय मे यदि साधु को ठहरना पडे तो वह रात्रि मे और विकाल मे, भीतर से बाहर निकलता हुआ या बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ, प्रथम हाथ से देखकर पीछे पैर

रखे। इस प्रकार साधु यत्नापूर्वक निकले या प्रवेश करे। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्धन का कारण है, क्योंकि वहां पर जो शाक्यादि श्रमणों तथा ब्राह्मणों के छत्र, अमत्र (भाजन विशेष) मात्रक, दंड, यष्टी, योगासन, नलिका (दण्ड विशेष) वस्त्र, यमनिका (मच्छर-दानी) मृगचर्म, मृगचर्मकोष, चर्मछदन–उपकरण विशेष-जोकि अच्छी तरह से बन्धे हुए और ढंग से रखे हुए नही है, कुछ हिलते है और कुछ अधिक चंचल हैं उनको आघात पहुचने का डर है, क्योंकि रात्रि मे और विकाल मे अन्दर से बाहर और बाहर से अन्दर निकलता या प्रवेश करता हुआ साधु यदि फिसल पड़े या गिर पड़े तो वे उपकरण टूट जाएगे, अथवा उस भिक्षु के फिसलने या गिर पड़ने से उसके हाथ-पैर आदि के टूटने का भी भय है और उसके गिरने से वहां पर रहे हुए अन्य क्षुद्र जीवों के विनाश का भी भय है, इसलिए तीर्थकरादि आप्त पुरुषों ने पहले ही साधुओं को यह उपदेश दिया है कि इस प्रकार के उपाश्रय में पहले हाथ से टटोल कर फिर पैर रखना चाहिए और यत्नापूर्वक बाहर से भीतर एवं भीतर से बाहर गमनागमन करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि अपनी आत्मा एवं संयम की विराधना से बचने के लिए साधु को रात्रि एवं विकाल के समय आवश्यक कार्य से उपाश्रय के बाहर जाते एवं पुनः उपाश्रय में प्रविष्ट होते समय विवेक एवं यत्नापूर्वक गमनागमन करना चाहिए। यदि किसी उपाश्रय के द्वार छोटे हों या उपाश्रय छोटा हो और उसमें कुछ गृहस्थ रहते भी हों या अन्य मत के भिक्षु ठहरे हुए हों तो साधु को रात के समय बाहर आते-जाते समय पहले हाथ से टटोल कर फिर पैर रखना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से उसके कहीं चोट नहीं लगेगी और न किसी से टक्कर खाकर गिरने या फिसलने का ही भय रहेगा। यदि वह अपने हाथ से टटोल कर सावधानी से नहीं चलेगा तो संभव है दरवाजा छोटा होने के कारण उसके सिर आदि में चोट लग जाए या वह फिसल पड़े या किसी भिक्षु की उपधि पर पैर पड़ जाने से वह टूट जाए और इससे उसके मन को संक्लेश हो और परस्पर कलह भी हो जाए। इस तरह समस्त दोषों से बचने के लिए साधु को विवेक एवं यत्नापूर्वक गमनागमन करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से उस युग के साधु समाज में प्रचलित उपधियों का एवं उस युग की विभिन्न साधना पद्धतियों का परिचय मिलता है और साथ मे गृहस्थ की उदारता का भी परिचय मिलता है कि वह विना किसी भेद भाव से सभी संप्रदाय के भिक्षुओं को विश्राम करने के लिए मकान दे देता था। उसके द्वार सभी के लिए खुले थे।

साधु को स्थान की याचना किस तरह करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

**मूलम्—से आगंतारेसु वा अणुवीय उवस्सयं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे, जे तत्थ समहिट्ठाए ते उवस्सयं अणुन्नविज्जा कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिन्नायं वसिस्सामो जाव आउसंतो! जाव आउसंतस्स उवस्सए जाव साहम्मियाइं ततो उवस्सयं गिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो ॥८६॥**

छाया—स आगन्तारेषु वा अनुविचिन्त्य उपाश्रयं याचेत, यस्तत्र ईश्वरः, यस्तत्र समधिष्ठाता तानुपाश्रयं अनुज्ञापयेत् कामं खलु आयुष्मन्! यथा-लंदं यथापरिज्ञातं वत्स्यामः यावद् आयुष्मन्तः! यावत् आयुष्मत उपाश्रयं यावत् साधर्मिकाः ततः उपाश्रयं ग्रहीष्यामः, ततः परं विहरिष्यामः।

**पदार्थ—से**—वह भिक्षु। **आगंतारेसु वा**—धर्मशाला आदि में प्रवेश करके और। **अणुवीय**—विचार करके-यह उपाश्रय कैसा है और इसका स्वामी कौन है, फिर। **उवस्सयं**—उपाश्रय की। **जाइज्जा**—याचना करे, जैसे कि। **जे**—जो। **तत्थ**—वहा पर। **ईसरे** उस उपाश्रय का स्वामी है और। **जे**—जो। **तत्थ**—वहा पर। **समहिट्ठाए**—जिनके अधिकार मे दिया हुआ है। **ते**—उनको। **अणुन्नविज्जा**—अनुज्ञापन करे अर्थात् उनसे आज्ञा मागे और कहे। **काम खलु आउसो**—हे आयुष्मन्! निश्चय ही आपकी इच्छानुसार। **अहालदं**—जितना काल आप कहे। **अहा परिन्नायं**—जितना भाग इस उपाश्रय का आप देना चाहें उतने ही भाग मे हम। **वसिस्सामो**—रहेगे, तब मुनि के प्रति गृहस्थ बोले। **जाव**—यावत्। **आउसतो**—हे पूज्य! आप कितना समय यहा ठहरेंगे? तब मुनि ने उसके प्रति कहा कि हे आयुष्मन्-गृहस्थ! हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे तो विना कारण एक मास तक रह सकते है, और वर्षा ऋतु मे चार मास तक। **जाव**—यावत्। **आउसंतस्स**—आयुष्मान् के। **उवस्सए**—उपाश्रय मे रहेंगे। तब गृहस्थ ने कहा

कि आयुष्मन् श्रमण ! एतावत् इतने समय के लिए यह उपाश्रय और इसका इतना भाग आप को नही दिया जा सकता। तब मुनि उस गृहस्थ के प्रति कहे कि आयुष्मन्-गृहस्थ ! जितने समय के लिए आपकी आज्ञा हो तथा जितना भाग इस उपाश्रय का आप देना चाहे हम उस में आपकी आज्ञा से उतना समय रहकर फिर विहार कर देगे। तब उस गृहस्थ ने मुनि के प्रति कहा कि आप कितने साधु हैं ? इसके उत्तर में मुनि बोला कि हे सद्गृहस्थ ! हमारा साधु वर्ग समुद्र के समान है जिसका कोई प्रमाण नही। कुछ साधु अपने पठन पाठन आदि कार्य के लिए आते है, और अपना कार्य करके चले जाते है अतः। **जाव**—यावन्मात्र। **साहम्मियाइं**—साधर्मी साधु आवेगे। **ताव**—जितने काल तक आप कहेगे उतने काल पर्यन्त। **उवस्सय**—उपाश्रय को। **गिण्हिस्सामो**—ग्रहण करेगे। **तेणपरं** तत्पश्चात्। **विहरिस्सामो**—विहार कर जावेंगे अर्थात् आपकी आज्ञानुसार रहकर फिर चले जावेगे।

**मूलार्थ**—वह साधु धर्मशालाओ आदि मे प्रवेश करने के अनन्तर यह विचार करे कि यह उपाश्रय किसका है और यह किसके अधिकार में है ? तदनन्तर उपाश्रय की याचना करे। [इस सूत्र का विषय कुछ क्लिष्ट हैं इसलिए प्रश्नोत्तर के रूप मे लिखा जाता है]

मुनि—आयुष्मन् गृहस्थ ! यदि आप आज्ञा दे तो आपकी इच्छानुकूल जितने समय पर्यन्त और जितने भूमि भाग में आप रहने की आज्ञा देंगे, उतने ही समय और उतने ही भूमि भाग मे हम रहेंगे।

गृहस्थ—आयुष्मन् मुनिराज ! आप कितने समय तक रहेगे ?

मुनि—आयुष्मन् सद्गृहस्थ ! किसी कारण विशेष के बिना हम ग्रीष्म और हेमन्त ऋतु मे एक मास और वर्षा ऋतु मे चार मास पर्यन्त रह सकते है।

गृहस्थ— इतने समय के लिए आप को यह उपाश्रय नही दिया जा सकता।

मुनि—यदि इतने समय तक की आज्ञा नही दे सकते तो कोई बात नहीं आप जितने समय के लिए कहेगे उतने समय तक यहा ठहर कर फिर हम विहार कर जावेंगे।

गृहस्थ—आप कितने साधु है ?

मुनि—साधु तो समुद्र के समान अनगिनत हैं। क्योंकि अपने पठन पाठन आदि कार्य के लिए कई मुनि आते है, और अपना कार्य करके चले जाते है। किन्तु जो यहा पर आवेंगे वे सब आपकी आज्ञानुसार रह कर विहार कर जावेंगे। इस प्रकार मुनि को गृहस्थ के पास उपाश्रय की याचना करनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय की याचना करने की विधि का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु को सबसे पहले यह जानना चाहिए कि यह मकान किसके अधिकार में है अथवा किस का है? मकान मालिक का परिज्ञान करने के बाद उससे उस मकान में ठहरने की आज्ञा मागनी चाहिए। यदि वह पूछे कि आप कितने समय तक ठहरेंगे तो मुनि उससे कहे कि हम वर्षावास में ४ महीने और शेष काल में एक महीने से ज्यादा विना किसी विशेष कारण के एक स्थान में नही ठहरते हैं। यदि वह एक महीने के लिए मकान देने को तैयार न हो तो वह जितने दिन ठहरने की आज्ञा दे उतने दिन उस मकान में ठहरे। उसकी आज्ञा की अवधि पूरी होने के बाद उसकी पुनः आज्ञा लिए विना साधु को उस मकान मे नहीं ठहरना चाहिए। गृहस्थ ने जितने समय के लिए जितने भू-भाग को उपभोग में लेने की आज्ञा दी हो उतने समय तक उतने ही क्षेत्र को अपने काम में ले। यदि कोई गृहस्थ साधुओं की संख्या के विषय मे पूछे तो मुनि को निश्चित संख्या मे नहीं बंधना चाहिए। क्योंकि, कई बार स्वाध्याय आदि के लिए स्थान की अनुकूलता देखकर आस-पास के क्षेत्र में स्थित साधु भी स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए आ जाते हैं और वापिस चले भी जाते हैं। इस तरह सन्तों की संख्या कम-ज्यादा भी होती रहती है। इसलिए इस सम्बन्ध में उसे इतना ही कहना चाहिए कि साधुओं की संख्या असीम है, उसे नियमित रूप से नहीं बताया जा सकता, परन्तु आपने जितने समय के लिए आज्ञा दी है उससे ज्यादा समय आपकी आज्ञा लिए विना कोई भी साधु नही ठहरेगा।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अहालंद-यथालद' पद का अर्द्धमागधी कोष में निम्न अर्थ किया है— 'जितने समय के लिए कहा गया हो उतने समय तक ठहरे।' पानी से भीगा हुआ हाथ जितनी देर में सूखे उतने समय को जघन्य यथालन्द काल कहते हैं और पांच दिन की अवधि को उत्कृष्ट यथालन्द काल कहते हैं तथा इन दोनों के बीच के समय को मध्यम यथालन्द काल कहते हैं❀।

❀ अर्द्धमागधी कोष, पृष्ठ ४५७।

इस तरह उपाश्रय की आज्ञा लेने के बाद साधु को किस तरह रहना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा जस्सुवस्सए संवसिज्जा तस्स पुव्वामेव नामगुत्तं जाणिज्जा। तओ पच्छा तस्स गिहे निमंतेमाणस्स वा अनिमंतेमाणस्स वा असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहेज्जा ॥९०॥

छाया—स भिक्षुर्वा यस्योपाश्रये संवसेत् तस्य पूर्वमेव नामगोत्रं जानीयात्, ततः पश्चात् तस्यगृहे निमंत्रयतः वा अनिमंत्रयतः वा अशन वा ४ अप्रासुकं यावन्न प्रतिगृण्हीयात्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। जस्सुवस्सए—जिसके उपाश्रय मे। संवसिज्जा—ठहरे। तस्स—उसके। नामगुत्तं—नाम और गोत्र को। पुव्वामेव—पहले ही। जाणिज्जा—जाने। तओपच्छा—तत्पश्चात्। तस्सगिहे—उसके घर में। निमंतेमाणस्स—निमन्त्रित करने पर अथवा। अनिमतेमाणस्स—अनिमन्त्रित करने पर। असण वा०—अशनादि चतुर्विध आहार को। अफासुयं—अप्रासुक। जाव—यावत् अनेषणीय जानकर। नो पडिगाहेजा—ग्रहण न करे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी जिस गृहस्थ के उपाश्रय-स्थान में ठहरे, उसका नाम और गोत्र पहले ही जानले। तत्पश्चात् उसके घर मे निमन्त्रित करने या न करने पर भी अर्थात् बुलाने या न बुलाने पर भी उसके घर का अशनादि चतुर्विध आहार ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि मकान में ठहरने के पश्चात् शय्यातर के नाम एवं गोत्र तथा उसके मकान आदि का परिचय करना चाहिए। आगमिक परिभाषा में मकान मालिक को शय्यातर कहते है। शय्या का अर्थ है— मकान और तर का अर्थ है— तैरने वाला, अर्थात् शय्यान्तर का अर्थ हुआ— साधु को मकान का दान देकर ससार-समुद्र से तैरने वाला। शय्यातर के नाम आदि का परिचय करने का यह तात्पर्य

है कि उसके घर को अच्छी तरह पहचान सके। क्योंकि, भगवान ने शय्यातर के घर का आहार-पानी लेने का निषेध किया है। इसका कारण यह रहा है कि अन्य सम्प्रदायों में यह परम्परा थी कि जो किसी अन्य मत के साधु को ठहरने के लिए स्थान देता था उसे ही उसके आहार-पानी आदि का सारा प्रबन्ध करना पड़ता था। इस तरह वह भिक्षु उसके लिए बोझ रूप बन जाता था। इस कारण कई व्यक्ति निर्दोष मकान होते हुए भी देने से इन्कार कर देते थे। परन्तु, जैन साधु का जीवन किसी भी व्यक्ति पर बोझ रूप नहीं रहा है। इसी कारण भगवान ने साधुओं को यह आदेश दिया है कि जिस समय से शय्यातर के मकान में ठहरें तब से लेकर जब तक उस मकान में रहें तब तक शय्यातर के घर का आहार-पानी आदि ग्रहण न करें अर्थात् मकान का दान देने वाले पर दूसरा किसी तरह का बोझ नहीं डाले। इसलिए शय्यातर के नाम आदि का परिचय करना जरूरी है, जिससे आहारादि के लिए उसके घर को छोड़ा जा सके।

उपाश्रय की योग्यता एवं अयोग्यता के विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्---से भिक्खू वा० से जं० ससागारियं सागणियं सउदयं, नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए जावऽणुचिंताए तहप्पगारे उवस्सए नो ठा० ॥६१॥**

**छाया—स भिक्षुर्वा० स यत्० ससागारिकं साग्निकं सोदकं न प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय यावदनुचिंतया, तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं०।**

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। से जं—वह फिर उपाश्रय को जाने यथा। ससागारियं—गृहस्थो से युक्त। सागणियं—अग्नि से युक्त। सउदयं—जल से युक्त उपाश्रय। पन्नस्स—प्रज्ञावान के लिए। नो निक्खमणपवेसाए—निकलने और प्रवेश करने योग्य नहीं है। जाव—यावत्। अणुचिन्ताए—अनुचिन्तन अर्थात् धर्मानुयोग के चिन्तन करने योग्य भी नहीं है। तहप्पगारे—साधु तथाप्रकार के। उवस्सए—उपाश्रय में। नो ठाणं—न ठहरे।

मूलार्थ—जो उपाश्रय गृहस्थो से, अग्नि से और जल से युक्त हो, उसमे प्रज्ञावान् साधु या साध्वो को निष्क्रमण और प्रवेश नहीं करना चाहिए तथा

वह उपाश्रय धर्मचिन्तन के लिए भी उपयुक्त नहीं है। अतः साधु को उसमे कायोत्सर्गादि क्रियाए नही करनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसे उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए जिसमें गृहस्थों का, विशेष करके साधुओं के स्थान में बहनो का एवं साध्वियो के स्थान मे पुरुषों का आवागमन रहता हो और जिन स्थानों में अग्नि एवं पानी रहता हो*। क्योंकि इन सब कारणों से साधु के मन में विकृति आ सकती है। इसलिए साधु को इन सब बातों से रहित स्थान मे ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं —

**मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० गाहावइकुलस्स मज्झं-मज्झेणं गंतुं पंथए पडिबद्धं वा नो पन्नस्स जाव चिंताए, तह-उ० नो ठा० ॥६२॥**

**छाया—स भिक्षुर्वा० स यत्० गृहपतिकुलस्य मध्यमध्येन गन्तुं पंथाः प्रतिबद्धं वा नो प्राज्ञस्य यावच्चिंतया तथाप्रकारे उपाश्रये न स्था०।**

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। से जं०—वह जो फिर उपाश्रय को जाने, जिस उपाश्रय का मार्ग गाहावइकुलस्स—गृहपति के घर के। मज्झं-मज्झेण—मध्य मे होकर। गंतु—जाने का। पथाए—मार्ग है। वा—अथवा। पडिबद्धं—प्रतिबद्ध है अर्थात् उसके अनेक द्वार है तथा वहा पर स्त्री आदि विशेष रूप से आती-बैठती हैं तो। पन्नस्स—प्रज्ञावान साधु को। जाव चिंताए—यावत् पाच प्रकार का स्वाध्याय करना। नो—नहीं कल्पता है और। तहप्पगारे—तथाप्रकार के। उ०—उपाश्रय मे। नो ठाणं०—स्थानादि-कायोत्सर्गादि करना योग्य नहीं है।

मूलार्थ—जिस उपाश्रय मे जाने के लिए गृहपति के कुल से-गृहस्थ

---

* इस संबन्ध मे विशेष जानकारी करने की जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को बृहत्कल्प सूत्र का १, २ उद्देशक और निशीथ सूत्र का ८वा उद्देशक देखना चाहिए।

के घर से होकर जाना पडता हो, और जिसके अनेक द्वार हो ऐसे उपाश्रय मे बुद्धिमान साधु को स्वाध्याय और कायोत्सर्ग--ध्यान नही करना चाहिए अर्थात् ऐसे उपाश्रय मे वह न ठहरे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि जिस उपाश्रय मे जाने का मार्ग गृहस्थ के घर मे से होकर जाता हो तो साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि, बार-बार गृहस्थ के घर मे से आते-जाते स्त्रियों को देखकर साधु के मन में विकार जागृत हो सकता है तथा साधु के बार-बार आवागमन करने से गृहस्थ के कार्य में भी विघ्न पड़ सकता है या बहिनों के मन में सकोच या अन्य भावना उत्पन्न हो सकती है। इसी कारण आगम मे ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है, परन्तु साध्वियों के लिए ऐसे स्थान में ठहरने का निषेध नहीं किया है❀।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० से जं०, इह खलु गाहावई वा० कम्मकरीओ वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा जाव उद्दवंति वा नो पन्नस्स० सेवं नच्चा तहप्पगारे उ० नो ठा० ॥९३॥

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं पुण० इह खलु गाहावई वा कम्मकरीओ वा अन्नमन्नस्स गायं तिल्लेण वा नव० घ० वसाए वा अब्भंगेति वा मक्खेंति वा नो पराणस्स जाव तहप्प० उव० नो ठा० ॥९४॥

मूलम्— से भिक्खू वा० से जं पुण०-इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अन्नमन्नस्स गायं सिणाणेण वा क०

❀ नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतु वत्थए। कप्पइ निग्गंथीणं गाहावइकुलस्स मज्झमज्झेण गंतु वत्थए। —बृहत्कल्प सूत्र, १, ३३, ३४।

लु०चु० प० आघंसंति वा पघंसंति वा उव्वलंति वा उव्वट्टिंति वा नो पन्नस्स ॥६५॥

मूलम्–से भिक्खू० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा, इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरी वा अरणमरणस्स गायं सीओ-दग० उसिणो० उच्छो० पहोयंति वा सिंचंति वा सिणायंति वा नो पन्नस्स जाव नो ठाणं० ॥६६॥

छाया—स भिक्षुर्वा ० स यत् ० इह खलु गृहपतिर्वा० कर्मकर्यो वा अन्योऽन्यं आक्रोशन्ति वा यावत् उपद्रवन्ति वा नो प्राज्ञस्य० तदेवं ज्ञात्वा तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं० ।

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः० इह खलु गृहपतिः वा० कर्मकर्यो वा अन्योऽन्यस्य गात्र तैलेन वा नवनीतेन वा घृतेन वा वसया वा अभ्यंगयन्ति वा मृक्षयन्ति वा नो प्राज्ञस्य यावत् तथाप्रकारे उपाश्रये नो स्थानं० ।

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः इह खलु गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा अन्योऽन्यस्य गात्रं स्नानेन वा कर्केण वा लोध्रेण वा चूर्णेन वा पद्मेन० आ-घर्षयन्ति वा प्रघर्षयन्ति उद्वलयन्ति वा उद्वर्तयन्ति वा नो प्राज्ञस्य० ।

छाया—स भिक्षुः० स यत् पुनरुपाश्रयं जानीयात्, इह खलु गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा अन्योन्यस्य गात्रं शीतोदक० उष्णो० उच्छोल० प्रधावयन्ति वा सिंचन्ति वा स्नपयन्ति वा नो प्राज्ञस्य यावत् नो स्थानम्० ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु या साध्वी । से जं०—फिर वह जो उपाश्रय को जाने जैसे कि । इह खलु—निश्चय ही इस संसार में । गाहावई—गृहपति । जाव—यावत् । कम्मकरीओ वा—गृहपति की दासियें । अन्नमन्न—परस्पर । अक्कोसति वा—आक्रोश करती हैं । जाव—यावत् । उद्दवति वा—उपद्रव करती हैं अतः वहां । पन्नस्स—बुद्धिमान साधु

को स्वाध्याय आदि नही करना चाहिए तथा। सेवं नच्चा—वह साधु इस प्रकार जानकर। तहप्पगारे—तथाप्रकार के। उ०—उपाश्रय मे। नो ठा०—कायोत्सर्गादि न करे।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। से जं०—फिर जो उपाश्रय को जाने जैसे कि। इह खलु—निश्चय ही इस संसार मे। गाहावई वा—गृहपति। जाव—यावत्। कम्मकरीओ वा—गृहपति की दासियें। अन्नमन्नस्स—परस्पर एक-दूसरे के। गायं—शरीर को। तिल्लेण वा—तेल से अथवा। नव०—नवनीत-मक्खन से। घ०—घी से। वसाए वा—वसा से। अब्भगेंति वा—मर्दन करते या करती है। मक्खेंति वा—तेल आदि लगाती हैं तो। नो पण्णस्स—प्रज्ञावान साधु को वहा पर स्वाध्याय आदि नही करना चाहिए। जाव—यावत्। तहप्प०—तथाप्रकार के। उव०—उपाश्रय में। नो ठा०—स्थानादि नही करना चाहिए।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। से जं पुण—वह जो फिर उपाश्रय को जाने। इह खलु—निश्चय ही इस संसार में। गाहावई वा—गृहपति। जाव—यावत्। कम्मकरीओ वा—उसकी दासियें। अन्नमन्नस्स—परस्पर एक-दूसरे के। गायं—शरीर को। सिणाणेण वा—पानी से। क०—कर्क-सुगन्धित द्रव्य से। लु०—लोध्र से। चु०—चूर्ण से—प०—पद्म से-पद्म द्रव्य से। अघंसंति वा—साफ करती हैं। पघंसंति वा—प्रघर्षित करती हैं। उव्वलंति वा—तेल आदि से मर्दन करती है। उव्वट्टिंति वा—उद्वर्तन करती है-उवटन करती हैं। नो पन्नस्स—अत. प्रज्ञावान साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में स्वाध्याय और ध्यानादि नही करना चाहिए।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। से ज पुण—फिर वह। उवस्सयं—उपाश्रय को जाने। इह खलु—निश्चय ही इस ससार में। गाहावई वा—गृहपति। जाव—यावत्। कम्मकरीओ वा—गृहपति की दासिये। अण्णमण्णस्स—परस्पर एक-दूसरे के। गायं—शरीर को। सीओदग०—शीतल जल से। उसिणो०—उष्ण जल से। उच्छो०—अभिसिक्त करती है, छीटे देती हैं। पहोयंति—धोती है। सिंचंति—जल से सिंचन करती हैं। सिणायंति वा—स्नान करती है तो। नो पन्नस्स जाव नो ठाणं०—प्रज्ञावान् साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि नही करना चाहिए।

मूलार्थ—साधु और साध्वी गृहस्थ के उपाश्रय को जाने, जैसेकि जिस उपाश्रय-बसती मे, गृहपति और उसकी स्त्री यावत् दास दासिएं परस्पर एक दूसरे को आक्रोशती-कोसती है, मारती और पीटती यावत् उपद्रव करती है। तथा परस्पर एक दूसरी के शरीर को तैल से, मक्खन से, घी से और वसा से मर्दन करती है और एक दूसरे के शरीर को पानी

से, कर्क से, लोध्र से, चूर्ण से और पद्मद्रव्य से साफ करती है मैल उतारती है तथा उबटन करती है और एक दूसरे के शरीर को शीतल जल से, उष्ण जल से छींटे देती है, धोती है, जल से सींचन करती है और स्नान कराती है, प्रज्ञावान् साधु को इस प्रकार के उपाश्रय मे न ठहरना चाहिए और न कायोत्सर्गादि क्रियाए करनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत चार सूत्रों में यह बताया गया है कि जिस वस्ती में स्त्रिएं परस्पर लड़ती-झगड़ती हों, मार-पीट करती हों, या एक दूसरी के शरीर पर तेल आदि स्निग्ध पदार्थों की मालिश करती हों, मैल उतारती हों, या परस्पर पानी उछालती हों, छींटे मारती हों या इसी तरह की अन्य क्रीड़ाएं करती हों तो मुनि को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। ये चारों सूत्र स्त्रियों से सम्बन्धित हैं, अत. ऐसे स्थानों में साधुओं को ठहरने के लिए निषेध किया गया है, क्योंकि, इससे उनके मन में विकार जागृत हो सकता है। परन्तु, साध्विए ऐसे स्थान में ठहर सकती हैं। यदि किसी वस्ती में उपरोक्त क्रियाएं पुरुष करते हों तो वहां साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए। छेद सूत्रों में भी बताया गया है कि जिस मकान में स्त्रिएं रहती हों उस मकान मे साधु को तथा जिस मकान में पुरुष रहते हों उस मकान में साध्वियों को ठहरना नही कल्पता*।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा निगिणा ठिया निगिणा उल्लीणा मेहुणधम्मं विन्नविंति रहस्सियं वा मंतं मंतंति नो पन्नस्स जाव नो ठाणं वा ३

* नो कप्पइ निग्गथाणं इत्थी सागारिए उवस्सए वत्थए।
कप्पइ निग्गंथाण पुरिस सागारिए उवस्सए वत्थए।
नो कप्पइ निग्गथीण पुरिस सागारिए उवस्सए वत्थए।
कप्पइ निग्गंथीणं इत्थीसागारिए उवस्सए वत्थए।
नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिवद्धए सेज्जाए वत्थए।
कप्पइ निग्गथीणं पडिवद्धए सेज्जाए वत्थए।

—वृहत्कल्प सूत्र, १, २७—३२।

चेइज्जा ॥९७॥

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत्० इह खलु गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा नग्नाः स्थिताः नग्नाः उपलीनाः मैथुनधर्मं विज्ञपयन्ति रहस्यं वा मंत्रं मंत्रयन्ते न प्राज्ञस्य यावन्न स्थान वा ३ चेतयेत् ।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा०—साधु अथवा साध्वी। से ज०—यदि उपाश्रय के सम्बन्ध में जाने कि। खलु—वाक्यालकार मे है। इह—इस ससार मे। गाहावई वा—गृहपति। जाव—यावत्। कम्मकरीओ वा—उसकी दासियें। नगिणा ठिया—नग्न हो कर खडी है। नगिणा उल्लीणा—नग्न प्रच्छन्न। मेहुण धम्म—मैथुन धर्म विषयक। रहस्सिय—किंचित् रहस्य को। विन्नविंति—परस्पर-आपस मे कह रही है अथवा। मत मंतंति—अकार्य के लिए परस्पर गुप्त मन्त्रणा, गुप्त विचार करती है इसलिए। नो पन्नस्स जाव—प्रज्ञावान साधु को इस प्रकार के उपाश्रय मे निष्क्रमण और प्रवेश नही करना चाहिए तथा। नो ठाण वा ३ चेइज्जा—कायोत्सर्गादि भी नही करना चाहिए।

मूलार्थ—जिस उपाश्रय-वस्ती मे गृहपति यावत् उसकी स्त्रियं और दासिएं आदि नग्न अवस्था मे खड़ी है, और नग्न होकर मैथुनधर्म विषय परस्पर वार्तालाप करती है, अथवा कोई रहस्यमय अकार्य के लिए गुप्तमत्रणा—गुप्त विचार करती है तो बुद्धिमान साधु को ऐसे उपाश्रय मे नहो ठहरना चाहिए और उसमे कायोत्सर्गादि भी नही करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिस मकान में स्त्री-पुरुष नग्न होकर आमोद-प्रमोद में व्यस्त हों, विषय-भोग सम्बन्धी वार्तालाप करते हों, रात्रि में मैथुन सेवन के लिए परस्पर प्रार्थना करते हों या किसी रहस्यमय कार्य के लिए गुप्त मन्त्रणा कर रहे हों, तो विवेक सम्पन्न साधु को ऐसे स्थान मे नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि इससे साधु के स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन में विघ्न पड़ेगा और उसके मन में भी विकार भावना जागृत हो सकती है। इसलिए साधु को सदा ऐसे स्थानों से बचकर ही रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि जब मानव मन में विषय-वासना की आग प्रज्वलित होती है तो उस समय वह अपना सारा विवेक भूल जाता है। कभी-कभी तो वह मानवीय सभ्यता को त्याग कर पशुता के स्तर पर भी पहुंच जाता है। उस समय उसे

ठहरने का निषेध क्यों किया? इसका समाधान यह है कि चित्र केवल विकृति के ही साधन नहीं हैं, उनका और रूप मे भी प्रभाव पड़ता है। यदि केवल विकार उत्पन्न होने की दृष्टि से ही निषेध किया जाता तो यह उल्लेख अवश्य किया जाता कि साधु को स्त्री के चित्रों मे चित्रित उपाश्रय मे तथा साध्वी को पुरुषों के चित्र युक्त उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र मे तो केवल स्त्री-पुरुष के चित्र ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी एवं नदी, पर्वत, जंगल आदि के प्राकृतिक चित्रों से युक्त उपाश्रय मे भी ठहरने का निषेध किया है। जबकि पशु-पक्षी एवं प्रकृति सम्बन्धी चित्रों को देखकर विकार भाव जागृत नहीं होते हैं। फिर भी इसका निषेध किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि उपाश्रय में चित्रित चित्र चाहे स्त्री-पुरुष के हों या अन्य किन्हीं प्राणियों एवं प्राकृतिक दृश्यो के हों, साधु उन्हे देखने में व्यस्त हो जाएगा और उसका स्वाध्याय एव ध्यान का समय चक्षुइन्द्रिय के पोषण में लग जाएगा। इस तरह उसकी ज्ञान और ध्यान की साधना मे विघ्न पड़ेगा और यदि उन चित्रों मे आसक्ति उत्पन्न हो गई तो मन में विकृत भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं। अस्तु ज्ञान-दर्शन की साधना के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए साधु को ऐसे स्थानों मे ठहरने का निषेध किया गया है। छेद सूत्रों में भी ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है*।

मकान में ठहरने के बाद तख्त आदि की आवश्यकता होती है, अतः साधु को कैसा तख्त ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० अभिकंखिज्जा संथारग एसित्तए, से जं० संथारगं जाणिज्जा सअंड जाव ससंताणयं, तहप्पगारं संथारं लाभे संते नो पडि० १। से भिक्खू वा से जं० अप्पंडं जाव संताणगरुयं तहप्पगारं नो प० २। से भिक्खू वा० अप्पंडं लहुयं अपाडिहारियं तह० नो प० ३। से भिक्खू वा० अप्पंडं जाव अप्प-संताणगं लहुयं पाडिहारियं नो अहाबद्धं, तहप्पगारं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ४। से भिक्खू वा २ से जं पुण संथारगं जा-**

* बृहत्कल्प सूत्र, १, २१।

नो पडिगाहिज्जा – ग्रहण न करे ।

पदार्थ-से – वह । भिक्खू वा – साधु या साध्वी । से जं पुण – फिर जो । सथारग – सस्तारक है उसे । जाणिज्जा – जाने । अप्पंड – जो अडो से रहित है । जाव – यावत् । संताणग – जाला आदि से रहित है । लहुअं – लघु है । पाडिहारियं – गृहस्थ देकर फिर पीछे लेना स्वीकार करता है और । अहाबद्ध – उसके बन्धन भी दृढ हैं । तहप्पगारं – इस प्रकार का । सथारग – सस्तारक । लाभे सते – मिलने पर । पडिगाहिज्जा – ग्रहण करले ।

मूलार्थ—जो साधु या साध्वी फलक आदि सस्तारक को गवेषणा करनी चाहे तो वह सस्तारक के सम्बध मे यह जाने कि जो सस्तारक अण्डो से यावत् मकडी आदि के जालो से युक्त है, ऐसे सस्तारक को मिलने पर भी ग्रहण न करे ।

मूलार्थ – इसी प्रकार जो संस्तारक अण्डो और जाले आदि से तो रहित है, किन्तु भारी है, ऐसे सस्तारक को भी मिलने पर ग्रहण न करे ।

मूलार्थ – जो संस्तारक अण्डो आदि से रहित एवं लघु भी है किन्तु गृहस्थ उसे देकर फिर वापिस लेना नही चाहता है, तो ऐसा सस्तारक भी मिलने पर स्वीकार न करे ।

मूलार्थ – इसी तरह जो सस्तारक अण्डादि से रहित है, लघु है और गृहस्थ ने उसे वापिस लेना भी स्वीकार कर लिया है परन्तु उसके बन्धन शिथिल है तो ऐसा सस्तारक भी स्वीकार न करे ।

मूलार्थ – जो सस्तारक अण्डो आदि से रहित है, लघु है, गृहस्थ ने वापिस लेना भी स्वीकार कर लिया है और उसके बन्धन भी सुदृढ है, तो ऐसे सस्तारक को मिलने पर साधु ग्रहण कर ले ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे सस्तारक–तख्त, पट्टा आदि के ग्रहण करने की विधि बताई गई है । इसमे बताया गया है कि जो तख्त अण्डे एव जीव-जन्तुओं से युक्त हो, भारी हो, जिसे गृहस्थ ने वापिस लेने से इन्कार कर दिया हो तथा जिसके बन्धन शिथिल (ढीले) हो, वह

तख्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। या चारों या इनमें से कोई भी एक कारण उपस्थित हो तो साधु-साध्वी को वैसा तख्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु, जो तख्त इन चारों कारणों से रहित हो वही तख्त साधु ग्रहण कर सकता है।

इसका कारण यह है कि अण्डे आदि से युक्त तख्त ग्रहण करने से जीवों की हिंसा होगी, अतः संयम की विराधना होगी। और भारी तख्त उठाकर लाने से शरीर को सक्लेश होगा, कभी अधिक बोझ के कारण रास्ते में पैर के इधर-उधर पड़ने से पैर आदि में चोट भी आ सकती है, इस तरह आत्म विराधना होगी। यदि गृहस्थ उस तख्त को वापिस नहीं लेता है तो फिर साधु के सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह उसे कहां रखे। क्योंकि उसे उठाकर तो वह विहार कर नहीं सकता और एक व्यक्ति के यहां से ली हुई वस्तु दूसरे के यहां रख भी नहीं सकता, और यदि वह उसे यों ही त्याग देता है तो उसे परित्याग करने का दोष लगता है। और शिथिल बन्धन वाला तख्त लेने से उसे पलिमंथ दोष लगेगा। क्योंकि यदि उसकी कोई कील निकल गई या वह कहीं से टूट गया तो, साधु क्या करेगा। अतः साधु को इन सब दोषों से मुक्त तख्त ही ग्रहण करना चाहिए।

अस्तु जो तख्त अण्डे, जाले आदि से रहित हो, वजन में हल्का हो*, साधु की आवश्यकता पूरी होने पर गृहस्थ उसे वापिस लेने के लिए कह चुका हो और जिसके बंधन मजबूत हों, वही तख्त साधु-साध्वी को ग्रहण करना चाहिए।

सस्तारक ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम—अह भिक्खू जाणिज्जा इमाइं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा २ उद्दिसिय २ संथारगं जाइज्जा, तंजहा—इक्कडं वा, कढिणं वा, जंतुयं वा, परगं वा, मोरगं वा, तणगं वा, सोरगं वा, कुसं वा, कुच्चगं वा, पिप्पलगं वा,**

* व्यवहार भाष्य में बताया गया है कि जिस तख्त को साधु सहज ही अर्थात् बिना किसी भेद के साथ एक ही हाथ से (बिना दूसरे हाथ में बदलते हुए) ला सके, ऐसा तख्त ग्रहण करना चाहिए।

पलालगं वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा--आउसो त्ति वा भ० दाहि-सि मे इत्तो अन्नयरं संथारगं ? तह० संथारगं सयं वा णं जाइज्जा, परो वा देज्जा, फासुयं एसणिज्जं जाव पडि०, पढमा पडिमा ॥१००॥

छाया—इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य-अथ भिक्षुः जानीयात् आभिः चतसृभिः प्रतिमाभिः संस्तारकमेषितुं तत्र खलु इयं प्रथमा प्रतिमा-स भिक्षुः वा भिक्षु २ उद्दिश्य २ संस्तारकं याचेत्, तद्यथा—इक्कडं वा, कठिनं वा, जन्तुकं वा, परकं वा, मयूरकं वा, तृणकं वा, सोरकं वा, कुश वा, कुर्चक वा, पिप्पलक वा, पलालक वा, स पूर्वमेव आलोचयेत्-आयुष्मन्! इति वा भगिनि ! (इति वा) दास्यसि मे इतोऽन्यतरं संस्तारकं ? तथाप्रकारं संस्तारकं स्वयं वा याचयेत् परो वा दद्यात् प्रासुकमेषणीयं यावत् प्रतिगृह्णीयात्, प्रथमा प्रतिमा।

पदार्थ—इच्चेयाइं—ये सब पूर्वोक्त। आयतण इं—वस्ती और संस्तारक के दोषो का स्थान है। उवाइक्कम—इसे अतिक्रम करके अर्थात् तद्गत दोषो को दूर करके। अह भिक्खू—अथ साधु। जाणिज्जा—यह जाने। इमाइ—इन। चउहिं—चार। पडिमाहिं—प्रतिमाओ-प्रतिज्ञाओ से साधु को। संथारग—संस्तारक को। एसित्तए—गवेषणा करनी चाहिए। खलु—वाक्यालंकार मे है। तत्थ—इन चार प्रतिमाओ-प्रतिज्ञाओ मे से। इमा—यह। पढमा—पहली। पडिमा—प्रतिमा-प्रतिज्ञा है अर्थात् अभिग्रह विशेष है। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। उद्दिसियं २—नाम ले ले कर। संथारग—संस्तारक की। जाइज्जा—याचना करे। तंजहा—जैसे कि। इक्कड वा—तृण विशेष से निर्मित। कढिण वा—वास की त्वचा से निर्मित। जंतुय वा—तृण से निष्पन्न। परगं वा—परक- जिसमे पुष्पादि गून्थे जाते है, वह तृण। मोरगं वा—मयूर-पिच्छ से निर्मित। तणग वा-तृण विशेष। सोरग वा—कोमल तृण विशेष से निर्मित। कुसं वा—दूर्वा आदि से निष्पन्न। कुच्चग वा—कूर्चक-जिसमे कूर्चक बनाए जाते हैं उसका बना हुआ। पिप्पलगं वा—पीपल के काष्ठ विशेष से निर्मित और। पलग वा—शाली आदि के घास से बना हुआ संस्तारक। से—वह साधु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—देखे और कहे कि! आउसोत्ति वा—हे आयुष्मन्! गृहस्थ! भ०—हे भगिनि! मे—मुझको। इत्तो—इन संस्तारको मे से। अन्नयर—कोई एक। संथारगं—संस्तारक। दाहिसि—दोगी? तह०—तथाप्रकार के। संथारग—संस्तारक की। सयं वा णं—स्वयं—अपने आप। जाइज्जा—याचना करे। वा-

पहली प्रतिमा (अभिग्रह) है कि साधु यह निश्चय करके गवेषणा करे कि मुझे संस्तारक के लिए अमुक तरह का तृण ग्रहण करना है। इस तरह साधु किसी भी एक प्रकार के तृण का नाम निश्चित करके उसकी याचना करता है और यदि कोई गृहस्थ उसे उस तरह के तृण का आमंत्रण करे तब भी वह उसे ग्रहण कर सकता है। यह प्रथम प्रतिमा हुई।

अब दूसरी एवं तीसरी प्रतिमा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— अहावरा दुच्चा पडिमा—से भिक्खू वा० पेहाए संथारगं जाइज्जा, तंजहा--गाहावइं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा--आउ०? भइ०? दाहिसि मे? जाव-पडिगाहिज्जा, दुच्चा पडिमा।**

**अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा० जस्सुवस्सए संवसिज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए, तंजहा--इक्कड़े इ वा जाव पलाले इ वा तस्स लाभे संवसिज्जा, तस्सालाभे उक्कुडुए वा नेसज्जिए वा विहरिज्जा, तच्चा पडिमा ॥१०१॥**

छाया—अथापरा द्वितीया प्रतिमा, स भिक्षुर्वा० प्रेक्ष्य संस्तारकं याचेत् तद्यथा—गृहपतिं वा कर्मकरीं वा स पूर्वमेव आलोचयेद् आयुष्मन्! भगिनि! दास्यसि मे? यावत् प्रतिगृह्णीयाद्, द्वितीया प्रतिमा।

अथापरा तृतीया प्रतिमा स भिक्षुर्वा० यस्योपाश्रये संवसेद् ये तत्र यथासमन्वागताः तद्यथा-इक्कड इति वा यावत् पलाल इति वा तस्य लाभे संवसेन् तस्यालाभे उत्कुटुको वा निषण्णो वा विहरेत्, तृतीया प्रतिमा।

पदार्थ—अहावरा—अथ अन्य। दुच्चा पडिमा—दूसरी प्रतिमा के सम्बन्ध में कहते हैं। से भिक्खू वा०—अभिग्रह करने वाला साधु या साध्वी। संथारगं—संस्तारक को। पेहाए—देख कर। जाइज्जा—याचना करे। तंजहा—जैसेकि। गाहावइं वा—गृहपति को अथवा। कम्मकरिं वा—दासी को। से—वह भिक्षु-साधु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—देखे और उनके प्रति

कहे। आउ० !—हे आयुष्मन् ! गृहपते ! अथवा। भइ०—हे भगिनि ! मे—मुझे। दाहिसि—यह संस्तारक दोगी ? जाव—यावत्। पडिगाहिज्जा—उसके देने पर उसे ग्रहण करे। दुच्चा-पडिमा यह दूसरी प्रतिमा है।

पदार्थ—अहावरा—अथ अन्य। तच्चा पडिमा—तीसरी प्रतिमा के सम्बन्ध मे कहते हैं जैसे कि। से भिक्खू वा०—साधु या साध्वी। जस्सुवस्सए-जिसके उपाश्रय में। संवसिज्जा—निवास करे। जे—जो। तत्थ—वहा पर अर्थात् उस उपाश्रय में। अहासमन्नागए-यावन्ममात्र उस उपाश्रय मे संस्तारक है—जैसे कि। इक्कडेइ वा—इक्कड तृण विशेष। जाव—यावत्। पलालेइ वा—पलाल आदि से निर्मित संस्तारक है। तस्सलाभे—अत: उसके मिलने पर। संवसिज्जा—वह वहां पर निवास करे अर्थात् उसके ऊपर शयनादि क्रिया करे। तस्सालाभे—उसके न मिलने पर अर्थात् उपाश्रय में उक्त प्रकार के तृण आदि के संस्तारको के न मिलने पर। उक्कुडुए वा—वह उत्कुटुक आसन। नेसज्जिए वा—पद्म आसन आदि के द्वारा। विहरिज्जा—विचरे अर्थात् रात्रि व्यतीत करे। तच्चा पडिमा—यह तीसरी प्रतिमा है।

मूलार्थ—द्वितीया प्रतिमा यह है कि साधु या साध्वी गृहपति आदि के परिवार में रखे हुए संस्तारक को देखकर उस को याचना करे—यथा-हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से अमुक संस्तारक दोगी ? तब यदि निर्दोष और प्रासुक संस्तारक मिले तो उसे लेकर वे संयम साधना में संलग्न रहे।

मूलार्थ— तृतीया प्रतिमा यह है कि साधु जिस उपाश्रय में रहना चाहता है यदि उसी उपाश्रय में संस्तारक विद्यमान हो तो गृह-स्वामी की आज्ञा लेकर संस्तारक को स्वीकार करके विचरे, यदि उपाश्रय में संस्तारक विद्यमान नही है तो वह उत्कुटुक आसन, पद्मासन आदि आसनों के द्वारा रात्रि व्यतीत करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि गृहस्थ के घर में जो तृण आदि रखे हुए हैं, उन्हें देखकर साधु उसकी याचना करे और यदि वह प्रासुक एवं निर्दोष हों तो वह उन्हें ग्रहण करे। यह दूसरी प्रेक्ष्य प्रतिमा है। तीसरी प्रतिमा को स्वीकार करने वाला मुनि जिस उपाश्रय में ठहरना चाहता है उसी उपाश्रय में स्थित प्रासुक एवं निर्दोष तृण ही ग्रहण कर सकता है। यदि उपाश्रय में तृण आदि नहीं हैं तो वह उत्कुटुक या पद्मासन आदि

आसनों से ध्यानस्थ होकर रात व्यतीत करे, परन्तु अन्य स्थान से लाकर तृण आदि न बिछाए। ये दोनों आसन कायोत्सर्ग से ही सम्बद्ध हैं। अतः इनका उल्लेख कायोत्सर्ग के लिए किया गया है। क्योंकि, कायोत्सर्ग का प्रमुख साधन आसन ही होता है। अत प्रस्तुत उभय आसनों का उल्लेख करने का उद्देश्य यही है कि यदि तृतीया प्रतिमाधारी मुनि को उपाश्रय में संस्तारक प्राप्त न हो तो वह अपना समय ध्यान एवं चिन्तन-मनन में व्यतीत करे।

अब चतुर्थ प्रतिमा का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा अहासंथडमेव संथारगं जाइज्जा, तंजहा—पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संते संवसिज्जा, तस्सालाभे उक्कुडुए वा २ विहरिज्जा, चउत्था पडिमा ४ ॥१०२॥**

छाया—अथापरा चतुर्थी प्रतिमा—स भिक्षुर्वा यथासंस्तृतमेव संस्तारक याचेत् तद्यथा पृथ्वीशिलां वा काष्ठशिलां वा यथासंस्तृतमेव तस्य लाभेसति सम्वसेत् तस्यालाभे उत्कुटुको वा २ विहरेत्, चतुर्थी प्रतिमा।

पदार्थ—अहावरा – अथ अन्य। चउत्था पडिमा – चतुर्थी प्रतिमा के सम्बन्ध में कहते हैं, जैसे कि। से भिक्खू वा – वह साधु या साध्वी। अहासंथडमेव – जिस उपाश्रय में रहना चाहता है उस उपाश्रय में बिछाए हुए। संथारगं – संस्तारक की। जाइज्जा – याचना करे। तंजहा – जैसे कि। पुढविसिलं वा – पृथ्वी की शिला अथवा। कट्ठसिलं वा – काष्ठ की शिला-फलक आदि अथवा। अहासंथडमेव – जो तृणादि पहले से बिछाए हुए हैं। तस्स लाभे संते – उसके मिलने पर। संवसिज्जा – वह वहां निवास करे। तस्स अलाभे – और उसके न मिलने पर। उक्कुडुए वा – वह उत्कुटुक आसन वा पद्म आसन दि के द्वारा रात्रि व्यतीत करता हुआ। विहरिज्जा विचरे-समय बिताए। चउत्था पडिमा – यह चौथी प्रतिमा है।

मूलार्थ—चतुर्थी प्रतिमा में यह अभिग्रह होता है कि—उपाश्रय में संस्तारक पहले से ही बिछा हुआ हो, या पत्थर की शिला या काष्ठ का तख्त बिछा हुआ हो तो वह उस पर शयन कर सकता है। यदि वहां कोई

भी संस्तारक बिछा हुआ न मिले तो पूर्व कथित आसनो के द्वारा रात्रि व्यतीत करे यह चौथी प्रतिमा है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में चतुर्थी प्रतिमा के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि उक्त प्रतिमा को स्वीकार करने वाला मुनि जिस उपाश्रय में ठहरे उस उपाश्रय में प्रासुक एवं निर्दोष तृण आदि पहले से बिछे हुए हों या पत्थर की शिला या लकड़ी का तख्त बिछा हुआ हो तो वह उस पर शयन कर सकता है, अन्यथा तृतीय प्रतिमा में उल्लिखित आसनों के द्वारा रात्रि को आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए व्यतीत करता है, परन्तु स्वयं संस्तारक बिछाकर शयन नहीं कर सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि अन्तिम की दोनों प्रतिमाएं ध्यान एवं स्वाध्याय आदि की दृष्टि से रखी गई हैं। वृत्तिकार का भी यही मन्तव्य है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कट्ठ-सिल' पद का तात्पर्य काष्ठ के तख्त से ही है।

संस्तारक सम्बन्धी प्रतिमाओं के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—इच्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे तं चेव जाव अन्नोऽन्नसमाहिए एवं च णं विहरंति ॥१०३॥**

छाया—इत्येतासां चतसृणा प्रतिमानामन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानः तच्चैव यावद् अन्योऽन्यसमाधिना एव च विहरन्ति।

पदार्थ—इच्चेयाण—इन। चउण्ह—चार। पडिमाणं—प्रतिमाओ मे से। अन्नयरं पडिमं—किसी एक प्रतिमा को। पडिवज्जमाणे—ग्रहण करता हुआ अन्य प्रतिमाधारी साधु की हीलना न करे किन्तु। तचेव—शेष वर्णन पिण्डैषणा की तरह जानना। जाव—यावत्। अन्नोऽन्न समाहिए—परस्पर समाधि के द्वारा बुद्धिमान साधु। एव—इस प्रकार से। विहरति—विचरते है। च णं—पूर्ववत्।

मूलार्थ—इन चार प्रतिमाओं मे से किसी एक प्रतिमा को धारण करके विचरने वाला साधु, अन्य प्रतिमाधारी साधुओं की अवहेलना-

निन्दा न करे। किन्तु, सब साधु जिनेन्द्र देव की आज्ञा मे विचरते है ऐसा समझ कर परस्पर समाधिपूर्वक विचरण करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वताया गया है कि भगवान की आज्ञा के अनुरूप आचरण करने वाले सभी साधु समाधियुक्त एवं मोक्ष मार्ग के आराधक होने से वन्दनीय एवं पूजनीय हैं। अत. उक्त चारों प्रतिमाओं मे से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाले मुनि को अन्य मुनियों को अपने से तुच्छ समझकर गर्व नहीं करना चाहिए। क्योंकि, त्याग चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ही ग्रहण किया जाता है। अत. प्रत्येक चारित्रनिष्ठ मुनि का सम्मान करना चाहिए और अपने अहंकार का त्याग करके सबके साथ प्रेम-स्नेह रखना चाहिए।

गृहस्थ से ग्रहण किए गए सस्तारक को वापिस लौटाने की विधि का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा अभिकंखिज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअंडं जाव ससंताणयं तहप्प० संथारगं नो पच्चप्पिणिज्जा ॥१०४॥

छाया—स भिक्षुर्वा० अभिकांक्षेत् सस्तारक प्रत्यर्पयितुं स यत् पुनः संस्तारकं जानीयात् साण्ड यावत् ससन्तानक तथाप्रकार सस्तारकं न प्रत्यर्पयेत्।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। सथारगं—सस्तारक को। पच्चप्पिणित्तए—गृहस्थ को पीछे देना। अभिकंखिज्जा—चाहे तब। से—वह भिक्षु। जं पुण—जो फिर। सथारगं—संस्तारक को। जाणिज्जा—जाने कि। सअड—जो सस्तारक अण्डो से युक्त। जाव—यावत्। ससंताणयं—मकड़ी आदि के जालो से युक्त है। तहप्पगारं—उस प्रकार के। सथारगं—सस्तारक को। नो पच्चप्पिणिज्जा—गृहस्थ को प्रत्यर्पण न करे अर्थात् गृहस्थ को वापिस न देवे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी यदि प्रतिहारिक संस्तारक, गृहस्थ को वापिस देना चाहे तो वह संस्तारक अण्डों यावत् मकडी के जाले आदि से

युक्त नही होना चाहिए। यदि वह इन से युक्त है तो वह उसे गृहस्थ को वापिस न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को अपनी नेश्राय में स्थित प्रत्येक वस्तु की प्रतिलेखना करते रहना चाहिए। चाहे वह वस्तु गृहस्थ को वापिस लौटाने की भी क्यों न हो, फिर भी जब तक साधु के पास है, तब तक प्रतिदिन नियत समय पर उसका प्रतिलेखन करना चाहिए। जिससे उस में जीव-जन्तु की उत्पत्ति न हो। और उसे वापिस लौटाते समय भी प्रतिलेखन करके लौटानी चाहिए। यदि कभी संस्तारक पर किसी पक्षी ने अंडे दे दिए हों या मकड़ी ने जाले बना लिए हों तो वह संस्तारक गृहस्थ को वापिस नहीं देना चाहिए। क्योंकि, गृहस्थ उसे शुद्ध बनाने का प्रयत्न करेगा और परिणामस्वरूप उन जीवों की घात हो जाएगी। इस तरह साधु के प्रथम महाव्रत में दोष लगेगा, अतः उन जीवों की रक्षा के लिए ऐसे संस्तारक को वापिस नहीं लौटाना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू० अभिकंखिज्जा सं० से जं० अप्पंडं० तहप्पगारं संथारगं पडिलेहिय २ प० २ आयाविय २ विहुणिय २ तओ संजयामेव पच्चप्पिणिज्जा ॥१०५॥

छाया—स भिक्षुः० अभिकांक्षेत् सं० स यत् अल्पांडं० तथाप्रकारं संस्तारकं प्रतिलिख्य २ प्र० २ आताप्य २ विधूय २ ततः संयतमेव प्रत्यर्पयेत्।

पदार्थ—से भिक्खू०—वह साधु या साध्वी। संथारगं—संस्तारक को गृहस्थ के प्रति अर्पण करना। अभिकंखिज्जा—चाहे तो। से—वह साधु। जं—जो संस्तारक। अप्पंडं—अंडादि से रहित हो। तहप्पगारं—तथाप्रकार के संस्तारक को। पडिलेहिय २—दृष्टि से प्रतिलेखन करके। पमिज्जिय २—रजोहरण आदि से प्रमार्जित करके। आयाविय २—सूर्य की आतापना देकर और। विहुणिय २—यत्नापूर्वक झाड़कर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—यत्नापूर्वक। पच्चप्पिणिज्जा—गृहस्थ को वापिस लौटाए।

मूलार्थ—अण्डे एवं मकड़ी के जाले आदि से रहित जिस संस्तारक को

साधु-साध्वी वापिस लौटाना चाहे,तो वह उसका प्रतिलेखन करके, रजोहरण से प्रमार्जित करके, सूर्य की धूप मे सुखा कर एव यत्ना पूर्वक झाड़ कर फिर गृहस्थ को लौटावे ।

हिन्दी विवेचन

इस सूत्र में बताया गया है कि साधु को गृहस्थ के घर से लाए हुए सस्तारक को वापिस लौटाते समय उसकी शुद्धता का पूरा ख्याल रखना चाहिए । प्रतिदिन उसकी प्रतिलेखना करनी चाहिए जिससे उस पर जीव-जन्तु पैदा न हों, और वापिस लौटाते समय भी उसे अच्छी तरह से देख लेना चाहिए और रजोहरण से प्रमार्जन कर लेना चाहिए जिससे उस पर कूड़ा-कर्कट भी न जमा रहे । इतना ही नहीं, फिर उसे सूर्य की धूप में रखकर और भली-भाति झाड़-पोंछकर लौटाना चाहिए। इससे साधु जीवन की व्यवहारिकता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। यदि वह उस संस्तारक को बिना साफ किए ही दे आएगा, तो गृहस्थ उसे साफ करके रखेगा और यह भी स्पष्ट है कि वह सफाई करते समय साधु जितना विवेक नहीं रख सकेगा, अतः साधु को ऐसी स्थिति ही नहीं आने देनी चाहिए कि उसके द्वारा उपभोग किए गए संस्तारक को साफ करने के लिए कोई अयत्नापूर्वक प्रयत्न करे। दूसरे मे साफ की हुई वस्तु को देखकर गृहस्थ के मन मे फिर से किसी साधु को देने की भावना सहज ही जागृत होगी और अस्वच्छ रूप में प्राप्त करके उसके मन में कुछ रोष भी आ सकता है। अत. गृहस्थ के यहा से लाए हुए संस्तारक आदि को यत्नापूर्वक साफ करके ही लौटाना चाहिए।

साधु को वस्ती में किस तरह निवास करना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा पुव्वामेव पन्नस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा, केवली बूया —आयाणमेयं, अपडिलेहियाए उच्चार-पासवण भूमीए, से भिक्खू वा० राओ वा वियाले वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेमाणे पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा २ हत्थं वा पायं वा जाव लूसेज्ज वा पाणाणि वा ४

ववरोविज्जा, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पन्नस्स उ० भूमिं पडिलेहिज्जा ॥१०६॥

छाया—स भिक्षुर्वा० समानो वा वसन् वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् वा पूर्वमेव प्राज्ञस्य उच्चारप्रस्रवण भूमिं प्रतिलेखयेत् । केवली ब्रूयात्-आदानमेतत् अप्रतिलिखितायां उच्चारप्रस्रवणभूमौ, स भिक्षुः वा० रात्रौ वा विकाले वा उच्चारप्रस्रवणं—परिष्टापयन् प्रस्खलेद् वा सः तत्र प्रस्खलन् वा० हस्तं वा पादं वा यावत् लूषयेत् प्राणान् वा ४ व्यपरोपयेत्, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् पूर्वमेव प्राज्ञस्य उच्चारप्रस्रवण भूमिं प्रतिलेखयेत्।

पदार्थ— से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी । समाणे वा—जघादि वल से क्षीण होने के कारण किसी एक स्थान मे रहता हुआ । वसमाणे वा—वस्ती में मास कल्पादि करके निवास करता हुआ । गामाणुगाम दूइज्जमाणे वा—ग्रामानुग्राम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करता हुआ जहा पर जाकर रहे वहा पर । पुव्वामेव—पहले ही । पन्नस्स—प्रज्ञावान् साधु को योग्य है कि वह । उच्चार पासवण भूमिं—उच्चार—मल-मूत्र त्यागने की भूमि को । पडिलेहिज्जा—अपनी दृष्टि से भली-भांति अवलोकन करे, क्योंकि । केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं । आयाणमेयं—कि यह कर्म वन्धन का कारण है । क्योंकि । अपडिलेहियाए—विना प्रतिलेखन की हुई । उच्चारपासवणभूमिए—मल-मूत्र परित्याग करने की भूमि में । से भिक्खू—वह भिक्षु कदाचित् । राओ वा—रात्रि मे । वियाले वा—विकाल मे । उच्चार पासवण—मल-मूत्र को परिट्ठवेमाणे—परठता हुआ । पयलिज्ज वा २—फिसल जाए या गिर पड़े तो । तत्थ—वहा पर । पयलमाणे वा २—उसके फिसलने एव गिरने से । से—उसके । हत्थं वा—हाथ । पायं वा—या पैर । जाव—यावत् अन्य कोई शरीर का अंग ही । लूसेज्ज वा—टूट जाएगा या । पाणाणि वा—अन्य किसी त्रस प्राणी का । ववरोविज्ज वा—विनाश हो जाएगा । अह भिक्खूणं—इस लिए साधु को । पु०—तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि । ज—जो । पन्नस्स—प्रज्ञावान् साधु को चाहिए कि वह । पुव्वामेव—पहले ही । उ० भूमि—मल-मूत्र त्यागने की भूमि का । पडिलेहिज्जा—सम्यक्तया अवलोकन करे ।

मूलार्थ—जो साधु या साध्वी जघादि वल से क्षीण होने के कारण एक स्थान में स्थित हो, या उपाश्रय मे मास कल्पादि से रहता हो या ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उपाश्रय में आकर रहे तो उस बुद्धिमान साधु

वाएण वा तओ संजयामेव पडिलेहिय २ पमिज्जिय २ तओ संजयामेव बहुफासुयं सिज्जासंथारगं संथरिज्जा ॥१०८॥

छाया—स भिक्षुर्वा २ अभिकांक्षेत् शय्यासंस्तारकभूमिं प्रतिलेखयितु नान्यत्र आचार्येण वा उपाध्यायेन वा यावत् गणावच्छेदकेन वा बालेन वा वृद्धेन वा शैक्षेण वा ग्लानेन वा आदेशेन वा अन्तेन वा मध्येन वा समेन वा विषमेण वा प्रवातेन वा निर्वातेन वा ततः संयतमेव प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयतमेव बहुप्रासुकं शय्यासंस्तारकं संस्तरेत् ।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। सिज्जासंथारगं भूमिं—शय्या संस्तारक की भूमि का। पडिलेहित्तए—प्रतिलेखन करना। अभिकंखेज्जा—चाहे। नन्नत्थ—इतना विशेष है कि। आयरिएण वा—आचार्य। उ०—उपाध्याय। जाव—यावत्। गणावच्छेएण वा—गणावच्छेदक अथवा। बालेण वा—बालक साधु। बुड्ढेण वा—वृद्ध साधु। सेहेण वा—नव दीक्षित साधु। गिलाणेण वा—रोगी या। आएसेण वा—मेहमान, साधु ने शयन करने के लिए जो भूमि स्वीकार कर रखी है उसको छोड़कर उपाश्रय के। अंतेण वा—अन्दर या। मज्झेण वा—मध्य स्थान में। समेण वा—सम स्थान में। विसमेण वा—विषम स्थान में। पवाएण वा—अत्यन्त वायु युक्त स्थान में। निवाएण वा—वायु रहित स्थान में। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—यतना पूर्वक। पडिलेहिय २—भूमि की प्रतिलेखना करके, पमिज्जिय २—और प्रमार्जना करके। तओ—तत् पश्चात्। संजयामेव—यत्ना पूर्वक। बहुफासुयं—अत्यन्त प्रासुक। सिज्जा संथारगं—शय्या संस्तारक को। संथरिज्जा—बिछाये।

मूलार्थ—साधु या साध्वी यदि शय्या संस्तारक भूमि की प्रतिलेखना करनी चाहे तो आचार्य, उपाध्याय यावत् गणावच्छेदक, बाल, वृद्ध, नव दीक्षित, रोगी और मेहमान रूप से आए साधु के द्वारा स्वीकार की हुई भूमि को छोड़कर उपाश्रय के अन्दर, मध्यस्थान में या सम और विषम स्थान में या वायु युक्त और वायु रहित स्थान में भूमि की प्रतिलेखना, और प्रमार्जना करके तदनन्तर अत्यन्त प्रासुक शय्या-संस्तारक को बिछाए ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में शयन करने की विधि का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि साधु को आसन बिछाते समय यह देखना चाहिए कि आचार्य, उपाध्याय आदि ने कहां आसन लगाया है। उन्होंने जिस स्थान पर आसन किया हो उस स्थान को छोड़कर शेष अवशिष्ट भाग में सम-विषम, हवादार या बिना हवा वाली जैसी भी भूमि हो उसका प्रतिलेखन करके वहां पर आसन करले। इसका तात्पर्य यह है कि वह आचार्य आदि की सुविधा का ध्यान अवश्य रखे। इसके लिए वह विषम एवं बिना हवादार भूमि पर आसन अवश्य करले, परन्तु, उसके लिए किसी के स्थान का परिवर्तन न करे और न परिवर्तन करने के लिए संघर्ष करे। इससे साधु समाज के पारस्परिक प्रेम-स्नेह का भाव अभिव्यक्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सिज्जा संथारग' का अर्थ है शय्या या आसन करने का उपकरण*।

साधु को संस्तारक पर कैसे बैठना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० बहु० संथरित्ता अभिकंखिज्जा—बहुफासुए सिज्जासंथारए दुरुहित्तए॥ से भिक्खू० बहु० दुरूहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय २ तओ संजयामेव बहु० दुरूहित्ता तओ संजयामेव बहु० सइज्जा॥१०८॥**

छाया—स भिक्षुः वा० बहु० संस्तीर्य अभिकांक्षेत् बहुप्रासुके शय्यासंस्तारके दूरोहितुं, स भिक्षु० बहु० दूरोहन् पूर्वमेव सशीर्षोपरिकं कायं पादौ च प्रमृज्य २ ततः संयतमेव बहु० दूरुह्य ततः संयतमेव बहु० शयीत।

पदार्थ—से भिक्खू वा० वह साधु या साध्वी। बहु०—बहु प्रासुक शय्या संस्तारक को। संथरित्ता—बिछा करके। बहुफासुए—बहु प्रासुक। सिज्जासंथारए—शय्या संस्तारक पर। दुरुहित्तए—बैठना। अभिकंखिज्जा—चाहे तो—अब सूत्रकार बैठने के विषय में कहते हैं।

* अर्द्धमागधी कोष, पृष्ठ ७४२।

**से भिक्खू०** — वह साधु या साध्वी । **बहु०** — बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर । **दुरुहमाणे** — बैठता हुआ । **पुव्वामेव** — बैठने से पहले ही । **ससीसोवरिय कायं** — शीर्ष-सिर के ऊपर का भाग और सर्व शरीर, तथा । **पाए** — पैर पर्यन्त । **पमज्जिय २** — सारे शरीर को प्रमार्जित करके । **तओ** — तदनन्तर । **संजयामेव** — साधु या साध्वी यत्ना पूर्वक । **बहु०** बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर बैठे । **दुरूहिता** — बैठकर । **तओ** — तदनन्तर । **संजयामेव** — सयत—साधु या साध्वी । **बहु०** — बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर यतना पूर्वक । **सइज्जा** — शय्यन करे ।

मूलार्थ—साधु या साध्वी प्रासुक शय्यासस्तारक पर जब बैठकर शयन करना चाहे तब पहले सिर से लेकर पैरो तक शरीर को प्रमार्जित करके फिर यतना पूर्वक उस पर शयन करे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु संस्तारक को यत्ना पूर्वक बिछाने के बाद उस पर शयन करने से पहले अपने शरीर का सिर से लेकर पैरों तक प्रमार्जन कर ले । क्योंकि,यदि शरीर पर कोई क्षुद्र जन्तु चढ़ गया हो या बैठ गया हो तो उसकी हिंसा न हो जाए और शरीर पर लगी हुई धूल से वस्त्र भी मैले न हों । अस्तु, संयम की साधना को शुद्ध बनाए रखने के लिए साधु को शरीर का प्रमार्जन करके ही शयन करना चाहिए ।

शयन किस तरह करना चाहिए, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० बहु० सयमाणे नो अन्नमन्नस्स हत्थेण हत्थं, पाएण पायं, कायेण कायं आसाइज्जा,से अनासायमाणे तओ संजयामेव बहु०सइज्जा ॥ से भिक्खू वा० उस्सासमाणे वा, नीसासमाणे वा, कासमाणे वा, छीयमाणे वा, जंभायमाणे वा, उड्डोए वा, वायनिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा, पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ता तओ संजयामेव ऊससिज्जा वा जाव वायनिसग्गं वा करेज्जा ॥१०६॥**

छाया—स भिक्षु र्वा० बहु० शयानः न अन्योऽन्यस्य हस्तेन हस्तं, पादेन पादं, कायेन काय आशातयेत् स अनाशातयन् ततः संयतमेव बहु० शयीत। सभिक्षुः वा० उच्छ्वसन् वा निश्श्वसन् वा कासमान वा क्षुतंकुर्वाणः वा जृम्भमाणो वा उद्गिरन् वा वातनिसर्गं कुर्वन् वा पूर्वमेव वा आस्यं वा पोष्यं वा पाणिना परिपिधाय ततः सयतमेव उच्छ्वसेत् वा यावत् वातनिसर्गं वा कुर्यात्।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। बहु०—बहु प्रासुक शय्या संस्तारक पर। सयमाणे—शयन करता हुआ। अन्नमन्नस्स—परस्पर-एक साधु दूसरे साधु के प्रति। हत्थेण हत्थ—अपने हाथ से दूसरे के हाथ को। पाएण—पैर से दूसरे के। पायं—पैर को। कायेण काय—शरीर से दूसरे के शरीर को। नो आसाइज्जा—आशातना न करे। से—वह साधु। अणासायमाणे—आशातना न करता हुआ। तओ—तदनन्तर। सजयामेव—यत्ना पूर्वक। बहु०—प्रासुक शय्या सस्तारक पर। सइज्जा—शयन करे।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी। उस्सासमाणे वा—उच्छ्वास लेता हुआ, अथवा। नीसासमाणे वा—निश्वास लेता हुआ इसी प्रकार। कासमाणे वा—खासता हुआ। छीयमाणे वा—छींकता हुआ। जंभायमाणे वा—उबासी लेता हुआ। उड्डोए वा—डकार लेता हुआ अथवा। वायनिसग्गं वा करेमाणे—अपान वायु को छोडता हुआ। पुव्वामेव—पहले ही। आसयं वा पोसयं वा—मुख को, या गुदा को। पाणिणा—हाथ से। परिपेहित्ता—ढाप कर। तओ—तत् पश्चात्। संजयामेव—यत्ना पूर्वक। उससिज्ज वा—उच्छ्वास ले। जाव—यावत्। वायनिसग्गं वा—अपान वायु का निस्सरण। करेज्जा—करे अर्थात् अधो द्वार से वायु को छोड़े।

मूलार्थ—साधु या साध्वी शयन करते हुए परस्पर-एक दूसरे को अपने हाथ से दूसरे के हाथ को, पैर से दूसरे के पैर को और शरीर से दूसरे के शरीर को आशातना न करें। अर्थात् इनका एक दूसरे से स्पर्श न हो। किन्तु आशातना न करते हुए ही शयन करे।

मूलार्थ—इसके अतिरिक्त साधु या साध्वी उच्छ्वास अथवा निश्वास लेता हुआ खासता हुआ, छींकता हुआ, उबासी लेता हुआ अथवा अपान वायु को छोड़ता हुआ पहले ही मुख या गुदा को हाथ से ढापकर उच्छ्वास ले या अपान वायु का परित्याग करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को शयन करते समय अपने हाथ-पैर से एक-दूसरे साधु की अशातना नहीं करनी चाहिए। अपने शरीर एवं हाथ-पैर का दूसरे के शरीर आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिए। क्योंकि, ऐसी प्रवृत्ति से शारीरिक कुचेष्टा एव अविनय प्रकट होता है, और मनोवृत्ति की चञ्चलता एवं मोहनीय कर्म की उदीरणा के कारण मोहनीय कर्म का उदय भी हो सकता है। अतः साधु को शयन करते समय किसी भी साधु के शरीर को हाथ एवं पैर आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिए।

यदि साधु को श्वासोच्छ्वास, छींक आदि के आने पर जो मुंह एव गुदा स्थान पर हाथ रखने का कहा गया है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि उससे वायुकायिक जीवों की हिंसा न हो। प्रस्तुत प्रसंग में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि यह वर्णन सामान्य रूप से चलने वाले श्वासोच्छ्वास के लिए नहीं, अपितु विशेष प्रकार के श्वासोच्छ्वास के लिए है। आगम में लिखा है कि फूंक आदि मारने से वायु काय की हिंसा होती है, इसलिए साधु को इस तरह से यत्ना करने का आदेश दिया गया है*।

कुछ लोगों का कहना है कि भाषा के पुद्गल चार स्पर्श वाले होते है अत. वे आठ स्पर्श वाले वायुकाय की हिंसा कैसे कर सकते हैं? इसका समाधान यह है कि भाषा-वर्गणा के पुद्गल उत्पन्न होते समय चार स्पर्श वाले होते हैं, परन्तु भाषा के रूप मे व्यक्त होते समय आठ स्पर्श वाले हो जाते है। इसी कारण शरीर से उत्पन्न होने वाली अचित्त वायुकाय को आठ स्पर्श युक्त माना गया है और वह ५ प्रकार की मानी गई है†। अत. मुंह से निकलने वाली वायु से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।

यहां एक प्रश्न पैदा हो सकता है कि जब साधु-साध्वी मुख पर मुखवस्त्रिका लगाते हैं, तब फिर श्वासोच्छ्वास से होने वाली वायुकायिक जीवों की हिंसा को रोकने के लिए मुह पर हाथ रखने की क्या आवश्यकता है? हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि यहा सामान्य रूप से चलने वाले श्वासोच्छ्वास के समय मुंह पर हाथ रखने का विधान नहीं किया है। यह विधान विशेष परिस्थिति के लिए है— जैसे उबासी, डकार एव छींक आदि के समय जोर से निकलने वाली वायु का वेग मुखवस्त्रिका से नहीं रुक सकता है, ऐसे समय पर मुंह पर हाथ रखने का आदेश दिया गया है और मुख के साथ नाक का भी

* प्रश्न व्याकरण सूत्र, अ० १, दशवैकालिक सूत्र, अ० ४।

† पचविहा अचित्ता वाउकाइया प० तं० अक्कंते, धंते, पीलिए, सरीराणुगए, समुच्छिमे।

—स्थानाग सूत्र, ५।

ग्रहण किया गया है। जैसे मुख से निकलने वाली वायु के वेग को रोकने के लिए मुख पर हाथ रखने को कहा है, उसी तरह अपान वायु के वेग को रोकने के लिए गुदा स्थान पर भी हाथ रखने का आदेश दिया है। इससे यह मानना पड़ेगा कि उस समय साधु चोलपट्टक (धोती के स्थान में पहनने का वस्त्र) भी नहीं रखते थे। परन्तु, ऐसी बात नहीं है। आगम में चोलपट्टक एवं मुखवस्त्रिका दोनों का विधान मिलता है। अतः इन प्रसंगों पर उक्त स्थानों पर हाथ रखने का उद्देश्य केवल वायुकायिक जीवों की रक्षा करना ही है।

अब सामान्य रूप से शय्या का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० समा वेगया सिज्जा भविज्जा विसमा वेगया सि० पवाया वे० निवाया वे० ससरक्खा वे० अप्पससरक्खा वे० सदंसमसगा वे० अप्पदंसमसगा० सपरिसाड़ा वे० अपरिसाड़ा वे० सउवसग्गा वे० निरुवसग्गा वे० तहप्पगाराहिं सिज्जाहिं संविज्जमाणाहिं पग्गहियतरागं विहारं विहरिज्जा नो किंचिवि गिलाइज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जए त्तिबेमि ॥११०॥

छाया—स भिक्षुर्वा० समा वा एकदा शय्या भवेत् विषमा वा एकदा शय्या० प्रवाता वा० निर्वाता वा० सरजस्का वा० अल्परजस्का वा० सदंशमशका वा० अल्पदंशमशका वा० सपरिशाटा वा० अपरिशाटा वा० सोपसर्गा वा० निरुपसर्गा वा० तथाप्रकाराभिः शय्याभिः संविद्यमानाभिः प्रगृहीततरं विहारं विहरेत् न किञ्चिदपि ग्लायेत् एवं खलु० यत् सर्वार्थैः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—उस। भिक्खू वा०—साधु या साध्वी को। वेगया—किसी समय।

**समासिज्जा**—सम शय्या । **भविज्जा**—मिलती है । **वेगया**—अथवा किसी समय । **विसमा सि०**—विषम शय्या मिलती है । **वे०**—कभी । **पवाया**—वायु युक्त शय्या मिलती है । **निवाया वे०**—कभी वायु रहित शय्या मिलती है । **ससरक्खा वे**—कभी रज से युक्त शय्या मिलती है तो । **अप्पससरक्खा वे०**—कभी रज से रहित शय्या प्राप्त होती है । **वेगया**—किसी समय । **सदंसमसगा**—डांस मच्छर युक्त शय्या, उपलब्ध होती है। **अप्पदंसमसगा**-किसी समय दंशमशकादि से रहित शय्या मिलती है । **सपरिसाड़ा वे०**—अथवा किसी समय सर्वप्रकार से गिरी हुई शय्या मिलती है । **अपरिसाड़ा०**—या दृढ़ बनी हुई तथा जनाकीर्ण शय्या मिलती है । **सउवसग्गा वे०**—अथवा किसी समय उपसर्गादि युक्त शय्या मिलती है । **निरुवसग्गा वे०**—या कभी उपसर्ग रहित शय्या प्राप्त होती है । **तहप्पगारांहि**—तथा प्रकार की **सिज्जाहिं**—शय्याओं की । **विज्जमाणांहि**—उपस्थिति में । **पग्गहियतरागं**—उन्हें ग्रहण करके । **विहार विहरिज्जा**—विहार करता हुआ विचरे । **नो किंचिवि गिलाइज्जा**—किन्तु किंचिन्मात्र भी खेद को प्राप्त न हो । **एवं खलु**—इस प्रकार निश्चय ही वह साधु या साध्वी साधु के सम्पूर्ण आचार से निष्पन्न होता है । **जं**—जो । **सव्वट्ठेहिं**—ज्ञान दर्शन और चारित्र से । **सया**—सदा । **सहिए**—युक्त हो कर विचरने का । **जए**—यत्न करे । **त्तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं ।

**मूलार्थ**—संयम शील साधु या साध्वी को किसी समय सम या विषम शय्या मिले, हवादार या कम हवा वाला स्थान प्राप्त हो, इसी प्रकार धूलियुक्त या धूलिरहित, अथवा डांस मच्छर युक्त या उसके बिना की शय्या मिले, इसी भांति सर्वथा गिरी हुई, जीर्ण-शीर्ण अथवा सुदृढ़ शय्या मिले या उपसर्ग युक्त या उपसर्ग रहित शय्या मिले, इन सब प्रकार की शय्याओं के प्राप्त होने पर वह उनमे समभाव से निवास करे । किन्तु मानसिक दुःख एव खेद का बिल्कुल अनुभव न करे । यही भिक्षु का सम्पूर्ण भिक्षु भाव है । जो कि सर्व प्रकार से ज्ञान दर्शन और चारित्र से युक्त होकर तथा सदा समाहित होकर विचरने का यत्न करे । इस प्रकार मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को हर परिस्थिति में समभाव रखना चाहिए । चाहे उसे सम शय्या मिले या विषम मिले, सर्दी-गर्मी के अनुकूल स्थान मिले या प्रतिकूल मिले, डांस-मच्छर एवं धूल आदि से युक्त स्थान मिले या इनसे रहित मिले । कहने

का तात्पर्य यह है कि अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों अवस्थाओं में उसे समभाव रखना चाहिए। अनुकूल स्थान मिलने पर उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए और प्रतिकूल मिलने पर द्वेष नहीं करना चाहिए। साधु को राग-द्वेष से ऊपर उठकर विचरना चाहिए। वस्तुतः यही साधुता है और इस पथ पर गतिशील साधक ही अपनी साधना में सफल होकर साध्य को प्राप्त कर सकता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

पार करना चाहिए। द्वितीय उद्देशक में यह अभिव्यक्त किया गया है कि नौका से नदी पार करते समय यदि नाविक छल-कपट से बर्ताव करे तो उस समय साधु को क्या करना चाहिए। और तृतीय उद्देशक में गति करते समय अहिंसा, सत्य आदि की रक्षा कैसे करनी चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक में वर्षावास कल्प समाप्त होते ही विहार करने का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—अब्भुवगए खलु वासावासे अभिपवुट्ठे बहवे पाणा, अभिसंभूया बहवे बीया अहुणाभिन्ना अंतरा से मग्गा बहुपाणा, बहुबीया जाव ससंताणगा अणभिक्कंता पंथा नो विन्नाया मग्गा सेवं नच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा, तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥१११॥**

छाया—अभ्युपगते खलु वर्षावासे अभिप्रवृष्टे बहवः प्राणिनः अभिसंभूताः बहूनि बीजानि अधुना भिन्नानि अन्तराले तस्य मार्गाः बहुप्राणिनः बहुबीजा यावत् संसन्तानकाः अनभिक्रान्ताः पन्थानः नो विज्ञाता मार्गाः स एवं ज्ञात्वा न ग्रामानुग्रामं यायात् ततः संयतमेव वर्षावासम् उपलीयेत।

पदार्थ—खलु—वाक्यालंकार में है। वासावासे—वर्षाकाल के सामने। अब्भुवगए—आजाने पर। अभिपवुट्ठे—वर्षा ऋतु अर्थात् आषाढ चतुर्मास के पहले ही वर्षा के हो जाने से बहवे पाणा—बहुत से द्वीन्द्रिय आदि जीव। अभिसंभूया—उत्पन्न हो गए है और। बहवे बीया—बहुत से बीज। अहुणाभिन्ना—अंकुरित हो गए हैं अर्थात् बरसात के कारण उत्पन्न हुए अंकुरों से पृथ्वी हरी भरी हो गई है। अन्तरामग्गा—मार्ग के मध्य मे। से—उस भिक्षु को विहार करना कठिन हो गया है, क्योंकि मार्ग मे। बहुपाणा—बहुत से प्राणी और। बहुबीया—बहुत से बीज। जाव—यावत्। ससंताणगा—बहुत से जाले उत्पन्न हो गए हैं तथा वर्षा के कारण। अणभिक्कंतापंथा—जनता के गमनागमन के अभाव से मार्ग अवरुद्ध हो गया है तथा रास्ते मे हरियाली के उत्पन्न हो जाने से। नो विन्नाया मग्गा—मार्ग एवं उन्मार्ग का पता नहीं लगता है। सेवं—वह साधु इस प्रकार। नच्चा—जानकर। गामाणुगाम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर। नो दूइज्जिज्जा—विहार न करे किन्तु। संजयामेव—संयत-साधु। तओ—तदनन्तर। वासावास—वही वर्षाकाल। उवल्लिइज्जा—करे।

मूलार्थ—वर्षाकाल मे वर्षा होजाने से मार्ग में बहुत से प्राणी उत्पन्न हो जाते है तथा बीज अंकुरित हो जाते है, पृथिवी घास आदि से हरी हो जाती है। मार्ग मे बहुत से प्राणी, बहुत से बीज तथा जाले आदि की उत्पत्ति हो जाती है, एवं वर्षा के कारण मार्ग अवरुद्ध हो जाने से मार्ग और उन्मार्ग का पता नही लगता। ऐसी परिस्थिति मे साधु को एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विहार नही करना चाहिए। किन्तु वर्षाकाल के समय एक स्थान पर ही स्थित रहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु वर्षा काल पर्यन्त भ्रमण न करे किन्तु एक ही स्थान पर ठहरे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को वर्षा काल में विहार करने का निषेध किया गया है। एक वर्ष में तीन चातुर्मास होते हैं—१-ग्रीष्म, २-वर्षा और ३-हेमन्त। इनमें वर्षाकाल मे ही साधु को एक स्थान में स्थित होने का आदेश दिया गया है क्योंकि वर्षाकाल में पृथ्वी शस्य-श्यामला हो जाती है, क्षुद्र जन्तुओं की उत्पत्ति बढ़ जाती है और हरियाली एवं पानी की अधिकता के कारण मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। अतः उस समय विहार करने से अनेक जीवों की विराधना होना संभव है। इस कारण साधु को वर्षाकाल में विहार नहीं करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि आषाढ़ पूर्णिमा के बाद कार्तिक पूर्णिमा तक विहार नहीं करना चाहिए। यदि कभी आषाढ़ी पूर्णिमा से पूर्व ही वर्षा प्रारम्भ हो जाए और चारों तरफ हरियाली छा जाए तो साधु को उसी समय से एक स्थान पर स्थित हो जाना चाहिए और वर्षावास के लिए आवश्यक वस्त्र आदि ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि, वर्षावास में वस्त्र आदि ग्रहण करना नहीं कल्पता, इसलिए साधु उनका वर्षावास के पूर्व ही संग्रह कर ले।

वर्षावास का प्रारम्भ चन्द्रमास से माना गया है। अत. वह श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है और कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को समाप्त होता है। शाकटायन ने भी आषाढ़, कार्तिक एवं फाल्गुन की पूर्णिमा को चातुर्मास की पूर्णिमा स्वीकार किया है। उसने भी वर्ष मे तीन चातुर्मासी को

मान्य किया है*।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि साधु को वर्षाकाल में विहार नहीं करना चाहिए। परन्तु, वर्षावास के लिए साधु को किन बातों का विशेष ख्याल रखना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भिक्खू वा० सेज्जं गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव राय० नो महई विहारभूमी नो महई वियारभूमी नो सुलभे पीढफलगसिज्जासंथारगे नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे जत्थ बहवे समण० वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य अच्चाइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणे जाव चिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा नो वासावासं उवल्लिइज्जा॥

**मूलम्**—से भि० से जं० गामं वा जाव राय० इमंसि खलु गामंसि वा जाव महई विहारभूमी महई वियार० सुलभे जत्थ-पीढ ४ सुलभे फा० नो जत्थ बहवे समण० उवागमिस्संति वा अप्पाइन्ना वित्ती जाव रायहाणिं वा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥११२॥

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत्० ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा अस्मिन् खलु ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा न महती विहारभूमिः, न महती विचार-

---

* चातुर्मासान्नाम्नि, ॥ ३,१, १२१ ॥

अणिति वर्तते। चतुर्मास शब्दात् तत्र भवे अण् भवति प्रत्ययान्ते नाम्नि। चतुर्षुमासेषु भवा चातुर्मासी, पौर्णमासी—आषाढी, कार्तिकी, फाल्गुनी चोच्यते। अन्यत्र चातुर्मासः द्लुब् द्विगोरिति द्लुक्।

—शाकटायन व्याकरण।

भूमिः न सुलभानि पीठफलकशय्यासंस्तारकानि न सुलभः प्रासुकः उञ्छः अर्थैषणीयः यत्र वहवः श्रमण० वनीपकाः उपागताः, उपागमिष्यन्ति च अत्याकीर्णा वृत्तिः नो प्राज्ञस्य निष्क्रमण यावत् चिन्ता, तदेवं ज्ञात्वा तथाप्रकारे ग्रामे वा नगरे वा यावद् राजधान्या वा न वर्षावासं उपलीयेत। स भिक्षु० स यत्० ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा अस्मिन् खलु ग्रामे वा यावत् महती विहार-भूमिः, महती विचारभूमिः सुलभानि यत्र पीठ० ४ सुलभः प्रासुकः० न यत्र वहवः श्रमण० उपागमिष्यन्ति वा अल्पाकीर्णा वृत्तिः यावत् राजधान्यां वा ततः संयतमेव वर्षावासं उपलीयेत।

पदार्थ—से भिक्ख वा—वह साधु या साध्वी। सेज्जं—यदि वह यह जाने। गामं वा—ग्राम को अथवा नगर। जाव—यावत्। रायहाणि वा—राजधानी को। खलु—वाक्यालंकार में। इमंसि—इस। गामंसि—ग्राम। जाव—यावत्। राय०—राजधानी मे। विहार—भूमी—स्वाध्याय करने के लिए। नो महई—विशाल स्थान नही है। वियार भूमि—और नगर से वाहर मल मूत्रादिक त्याग करने की भूमि भी। न महई—विशाल नही है। पीढ़—और पीठ। फलग—पाटिया। सिज्जा—शय्या और। संथारगे—तृणादि के सस्तारक भी। नो सुलभे—सुलभ नहीं है और। फासुए—उसे जो प्रामुक। उंछे—थोडा २ आहार ग्रहण करना है। अहेसणिज्ज—उम निर्दोष आहार का मिलना भी। नो सुलभे—सुलभ नही है और। जत्थ—जहां पर। वहवे—वहुत। समण०—शाक्यादि श्रमण। जाव—यावत्। वणीमगा—वनीपक रक भिखारी आदि। उवागया—आए हुए है। य—या। उवागमिस्सति—आवेगे। अच्चाइन्नाविति—अत्यन्ताकीर्ण वृत्ति अर्थात् भिक्षा जाते समय तथा स्वाध्याय, ध्यान और बाहर गमन करते समय वे लोग अधिक सख्या मे वार-वार मिलते रहते हैं। पन्नस्स-जिस से प्रज्ञावान साधु। नो निक्खमणे जाव चिंताए—न तो सुख पूर्वक निकल सकता है, और न प्रवेश ही कर सकता है तथा वह पांच प्रकार का स्वाध्याय भी नही कर सकता है। सेव नच्चा—अतः वह साधु इस प्रकार जानकर। तहप्पगारं गामं वा—तथाप्रकार के ग्राम मे। नगरं वा—नगर मे। जाव—यावत्। रायहाणि वा—राजधानी में। वासवासं—वर्षाकाल अर्थात् चतुर्मास। नो उवल्लिइज्जा—न करे।

पदार्थ—से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। से जं—यदि वह यह जाने कि। गाम वा जाव राय० वा—ग्राम, नगर यावत् राजधानी को। खलु—वाक्यालंकार मे है। इमंसि गामंसि—इस ग्राम मे। जाव—यावत् राजधानी मे। महई विहारभूमी—स्वाध्याय के लिए विशाल

भूमि है और। महई वियार—मलमूत्रादि के त्यागने की भूमि भी विशाल है। जत्थ—जहा पर। पीढ ४—पीठ,फलक,शय्या और संस्तारक की प्राप्ति। सुलभे फा०--सुलभ है प्रासुक तथा एषणीय आहार का मिलना भी। सुलभे—सुलभ है।। जत्थ—जहा पर। वहवे—वहुत से। समण०—शाक्यादि भिक्षुगण। नो उवागमिस्सति—भी आए हुए नही है और न आयेंगे। अप्पाइन्ना-वित्ती—मार्ग में भीड भी नही हैं अर्थात् भिक्षा आदि के समय जाते आते वे मिलते भी नही है। जाव - यावत् स्वाध्याय आदि भी ठीक हो सकता है। इस प्रकार के ग्राम, नगर यावत्। रायहाणि वा—राजधानी में। तओ—तत् पश्चात्। संजयामेव—सयत-संयम शील साधु। वासावास—वर्षाकाल। उवल्लिइज्जा—रहे।

मूलार्थ—वर्षा वास करने वाले साधु या साध्वी को ग्राम नगर, यावत् राजधानी की स्थिति को भली-भांति जानना चाहिए। जिस ग्राम, नगर यावत् राजधानी में एकान्त स्वाध्याय करने के लिए कोई विशाल भूमि न हो, नगर से बाहर मल-मूत्रादि के त्यागने की भी कोई विशाल भूमि न हो, और पीठ-फलक-शय्या-सस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ न हो, एव प्रासुक और निर्दोष आहार का मिलना भी सुलभ न हो और बहुत से शाक्यादि भिक्षु यावत् भिखारी लोग आए हुए हो जिस से ग्रामादि मे भीड़-भाड बहुत हो और साधु साध्वी को सुखपूर्वक स्थान से निकलना और प्रवेश करना कठिन हो तथा स्वाध्याय आदि भी न हो सकता हो तो ऐसे ग्रामादि मे साधु वर्षाकाल व्यतीत न करे।

मूलार्थ—जिस ग्राम या नगरादि मे विहार और विचार के लिए अर्थात् स्वाध्याय और मल-मूत्रादि का त्याग करने के लिए विशाल भूमि हो, पीठ-फलकादि की सुलभता हो, निर्दोष आहार पानी भी पर्याप्त मिलता हो और शाक्यादि भिक्षु या भिखारी लोग भी आए हुए न हो एव उनकी अधिक भीड-भाड भी न हो तो ऐसे गाव या शहर आदि मे साधु साध्वी वर्षाकाल व्यतीत कर सकता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे वर्षावास के क्षेत्र को चुनते समय ५ बातों का विशेष ख्याल रखने का आदेश दिया गया है—१-स्वाध्याय एवं चिन्तन मनन के लिए विशाल भूमि,

मग्गे बहुपाणा जाव ससंताणगा नो जत्थ बहवे जाव उवागमिस्संति, सेवं नच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ अह पुणेवं जाणिज्जा चत्तारि मासा० कप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गे अप्पंडा जाव असंताणगा बहवे जत्थ समणा० उवागमिस्संति, सेवं नच्चा तओ संजयामेव० दूइज्जिज्ज ॥११३॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात् चत्वारो मासा वर्षावासाना व्यतिक्रान्ताः हेमन्तानां च पंचदशरात्रकल्पे पर्युषिते अन्तरा ते मार्गाः बहु प्राणिनो यावत् ससन्तानकाः न यत्र बहवः यावद् उपागमिष्यन्ति स एव ज्ञात्वा न ग्रामानुग्रामं यायात् । अथ पुनरेव जानीयात् चत्वारो मासा० कल्पे पर्युषिते अन्तरा ते मार्गाः अल्पांडाः यावत् असंतानकाः बहवः यत्र श्रमण० उपागमिष्यंति स एवं ज्ञात्वा ततः सयतमेव० यायात् ।

पदार्थ—अह—अथ । पुण—फिर । एवं—इस प्रकार । जाणिज्जा—जाने । वासावासाण—वर्षाकाल के । चत्तारि मासा—चार मास । वीइक्कताण—अतिक्रान्त हो जाने पर अर्थात् कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के पश्चात् मार्गशीर्ष प्रतिपदा को साधु को विहार कर देना चाहिए । यह उत्सर्ग मार्ग है । अब सूत्रकार अपवाद मार्ग के विषय मे कहते हैं । य—और । हेमताण—यदि वर्षा फिर हो जावे तो हेमन्तकाल के । पंचदसरायकप्पे—पचदशरात्र कल्प मे अर्थात् मर्यादा में । परिवुसिए—रहे । अतरा से मग्गे—उस मार्ग के मध्य में । बहुपाणा—बहुत प्राणी । जाव—यावत् । ससंताणगा—जालो से युक्त मार्ग हो रहा हो और । जत्थ—जहा पर । बहवे—बहुत से श्रमण आदि । जाव—यावत् । नो उवागमिस्संति—मार्ग के ठीक न होने के कारण वे नही आयेगे । सेव नच्चा—वह साधु इस प्रकार जान कर । गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम । नो दूइज्जिज्जा—विहार न करे, एक ग्राम से दूसरे ग्राम न जावे । अह—अथ । पुण—फिर यदि । एव—इस प्रकार । जाणिज्जा—जाने कि । चत्तारिमासा कप्पे परिवुसिए—वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो गए हैं, तदनन्तर हेमन्त काल के भी पचदशरात्र १५ दिवस व्यतीत हो गए हैं । अतरा से मग्गे—मार्ग के मध्य मे । अप्पडा—अण्डादि से रहित । जाव—यावत् । असताणगा—जाला आदि से रहित मार्ग हो गया है । जत्थ—जहा पर । बहवे—बहुत से । समण०—शाक्यादि श्रमण आगये है तथा । उवागमिस्संति—और भी आजायेंगे । सेव

मे विहार करना नही कल्पता परन्तु हेमन्त और ग्रीष्म काल में विहार करना कल्पता है*। आचाराग सूत्र में भी एक स्थल पर कहा है कि यदि साधु मास या वर्षावास कल्प के बाद उसी स्थान पर ठहरता है तो उसे कालातिक्रम दोष लगता है†। और श्रमण भगवान महावीर ने भी कार्तिक चातुर्मासी (पूर्णिमा) के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को विहार कर दिया था‡। इससे स्पष्ट होता है कि वर्षा आदि विशिष्ट कारणों के उपस्थित हुए बिना साधु को वर्षा काल के पश्चात् उसी स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए।

वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि यदि वृष्टि आदि न हो तो उत्सर्ग मार्ग मे साधु को वर्षावास के समाप्त होने पर चातुर्मासी के तप का पारणा अन्य स्थान पर जाकर करना चाहिए। परन्तु आगम मे ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए यह कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। आगम में वर्षावास के पश्चात् बिना कारण रात को ठहरना नहीं कल्पता अर्थात् जिस स्थान में वर्षावास किया हो साधु को वहा मार्गशीर्ष कृष्णा की प्रतिपदा की रात को नहीं ठहरना चाहिए।

विहार के समय साधु को मार्ग की यत्ना कैसे करनी चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायाए पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पादं रीइज्जा साहट्टु पायं रीइज्जा वितिरिच्छं वा कट्टु पायं रीइज्जा, सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा॥**

**से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाणाणि वा**

* नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा वासावासासु चारए।
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा हेमन्त गिम्हासु चारए।
— बृहत्कल्प सूत्र, १, ३६-३७।

† श्री आचाराग सूत्र, २, २, २।

‡ श्री भगवती सूत्र, शतक १५।

सामने चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ चले और मार्ग में त्रस प्राणियों को देखकर पैर के अग्रभाग को उठाकर चले। यदि दोनो ओर जीव हो तो पैरो को संकोच कर या तिर्यक् टेढा पैर रखकर चले। यह विधि अन्यमार्ग के अभाव मे कही गई है। यदि अन्य साफ मार्ग हो तो उस मार्ग से चलने का प्रयत्न करे, किन्तु जीव युक्त सरल (सीधे) मार्ग पर न चले। यदि मार्ग मे प्राणी बीज, हरी, जल और मिट्टी आदि अचित्त न हुए हो तो साधु को अन्य मार्ग के होने पर उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। यदि अन्य मार्ग न हो तो उस मार्ग से यत्नापूर्वक जाना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को विहार करते समय अपनी दृष्टि गन्तव्य मार्ग पर रखनी चाहिए। अपने सामने की साढ़े तीन हाथ भूमि को देखकर चलना चाहिए। उस समय अपने मन, वचन एवं काय योग को भी इधर-उधर नहीं लगाना चाहिए। यहां तक कि साधु को चलते समय स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन भी नहीं करना चाहिए। उस समय उसका ध्यान विवेक पूर्वक चलने की ओर होना चाहिए और रास्ते मे आने वाले क्षुद्र जन्तुओं एवं हरित काय की रक्षा करते हुए गति करनी चाहिए। यदि रास्ते मे बीज, हरियाली एव क्षुद्र जन्तु अधिक हों और उस गांव को दूसरा रास्ता जाता हो – चाहे वह कुछ लम्बा भी पड़ता हो, परन्तु जीवों से रहित हो, तो मुनि को वह जीव-जन्तुओं से युक्त सीधा रास्ता छोड़कर उस निर्दोष मार्ग से जाना चाहिए। यदि दूसरा मार्ग न हो तो यत्नापूर्वक पैरों को संकोच कर या टेढ़े मेढ़े पैर रखकर या अगूठे आदि के बल पर उस रास्ते को तय करे अर्थात् उस मार्ग को विवेकपूर्वक पार करे जिससे जीवों को किसी तरह की पीडा एवं कष्ट न पहुचे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से विरूव-रूवाणि पच्चंतिगाणि दस्सुगायणाणि मिलक्खूणि अणायरियाणि दुस्सन्नप्पाणि दुप्पन्नवणिज्जाणि, अकालपडिबोहीणि अकाल-परिभोईणि सइ लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जाणवएहिं नो

विहारवडियाए पवज्जिज्जा गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, ते णं वाला अयं तेणे अयं उवचरए अयं ततो आगए त्तिकट्टु तं भिक्खुं अक्कोसिज्ज वा जाव उद्दविज्ज वा वत्थं प० कं० पाय० अच्छिंदिज्ज वा भिंदिज्ज वा अवहरिज्ज वा परिट्ठविज्ज वा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगाराइं विरू० पच्चंतियाणि दस्सुगा० जाव विहारवत्तियाए नो पविज्जिज्ज वा गमणाए तओ संजया गा० दू० ॥११५॥

छाया—स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले स विरूपरूपाणि प्रात्यन्तिकानि दस्युकायतनानि म्लेच्छानि अनार्याणि दुःसज्ञाप्यानि दुष्प्रज्ञाप्यानि अकालप्रतिबोधीनि अकालभोजीनि सति लाढे विहाराय संस्तरमाणेषु जनपदेषु न विहारप्रतिज्ञया प्रतिपद्येत गमनाय। केवली ब्रूयात् आदानमेतत् ते बालाः अयंस्तेनः अयमुपचारकः अयं ततः आगतः इति कृत्वा तं भिक्षुं आक्रोशेयुः वा यावत् उपद्रवेयुः वा वस्त्रं वा पतद्ग्रहं (पात्रं) वा कंबलं वा पादप्रोञ्छनं वा आच्छिन्द्युः वा भिन्द्युः वा अपहरेयुः वा परिष्ठापयेयुः वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथाप्रकाराणि विरूपरूपाणि प्रात्यन्तिकानि दस्युकायतनानि यावत् विहारप्रत्ययाय न प्रतिपद्येत वा गमनाय ततः संयतः ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ—से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। गामा०—ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे—विहार करता हुआ। अन्तरा से—जिस मार्ग के मध्य में। विरूवरूवाणि—नाना प्रकार के। पच्चंतियाणि—देश की सीमा में रहने वाले। दस्सुगायणाणि—चोरों के स्थान हों। मिलक्खूणि—म्लेच्छों के स्थान हों। अणायरियाणि—अनार्यों के स्थान हों। दुस्सन्नप्पाणि—जिन्हें आर्य देश की भाषा आदि कठिनाई से समझाई जा सकती है और। दुप्पन्नवणिज्जाणि—जिन्हें कष्ट पूर्वक उपदेश दिया जा सकता है अर्थात् कष्टपूर्वक उपदेश देने पर भी जो धर्म मार्ग में नहीं आते। अकालपडिबोहीणि—

अकाल में जागने वाले और अकाल में ही मृगया-शिकार के लिए उठकर जाने वाले। **अकाल परिभोईणि**—अकाल में भोजन करने वाले। **सइ लाढे विहाराए**—अन्य अच्छे आर्य देश के। **सथरमाणेहिं**—विद्यमान होने पर तथा। **जाणवएहिं**—अच्छे अन्य भद्र देश के विद्यमान होने पर। **विहार वडियाए**—ऐसे देश मे विचरने की प्रतिज्ञा से--विहार करने का। **नो पवज्जिज्जा गमणाए**—मन में विचार न करे अर्थात् ऐसे देशो मे विहार करने के लिए कभी सकल्प न करे। **केवली बूया**—केवली भगवान कहते है। **आयाणमेय**—यह कर्म के आने का कारण है अर्थात् वहा जाने पर कर्म का वन्ध होता है यथा। **ते**—वे। **ण**—वाक्यालकार मे है। **वाला**—वाल-अज्ञानी साधु को देखकर साधु के प्रति कहते हैं। **अयं**—यह। **तेणे**—चोर है। **अयं**—यह व्यक्ति। **उवचरए**—उपचर अर्थात् गुप्तचर (जासूस) है। **अय**—यह। **ततो**—वहा से-हमारे शत्रु के गाव से। **आगए**—आया है अर्थात् हमारा भेद लेने को आया है। **त्तिकट्टु**—ऐसा कहकर। **तं भिक्खु**—उस भिक्षु को। **अक्कोसिज्ज वा**—कठोर वचन वोलेगे। **जाव**—यावत्। **उद्दविज्ज वा**—मारणातिक उपसर्ग देंगे, या मारेंगे या साधु के। **वत्थं वा**—वस्त्र। **प०**—पात्र। **क०**—कम्वल। **पाय०**—पादप्रोञ्छन तथा रजोहरण या पैर पूछने के वस्त्र आदि का। **अच्छिदिज्ज**—छेदन करेंगे। **वा**—अथवा। **भिंदिज्ज**—भेदन करेंगे या। **अवहरिज्ज वा**—उनका अपहरण करेगे अर्थात् छीन ले। **परिट्ठविज्ज वा**—या उस मुनि के उपकरणो को तोड-फोड कर फैंक दे। **अह भिक्खूण**—अतः भिक्षुओ को। **पु०**—तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि। **ज**—जो। **तहप्पगाराइ**—तथा प्रकार के। **विरूव०**—नानाविध। **पच्चतियाणि**—देश की सीमा मे होने वाले। **दस्सुगा०**—चोरो के स्थान में। **जाव** यावत्। **विहारवत्तियाए**—विहार करने के लिए। **नो पवज्जिज्ज वा गमणाए**—मन मे विचार भी न करे। **तओ**—तदनन्तर उक्त स्थानो को छोडता हुआ। **सजया**—सयमशील साधु। **गा० दू०**—ग्रामानुग्राम-एक गाव से दूसरे गाव को विहार करे।

**मूलार्थ**—साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विचरता हुआ जिस मार्ग मे नाना प्रकार के देशकी सीमा मे रहने वाले चोरो के, म्लेच्छो के और अनार्यो के स्थान हो तथा जिनको कठिनता पूर्वक समझाया जा सकता है या जिन्हे आर्य धर्म बडी कठिनता से प्राप्त हो सकता है ऐसे अकाल (कुसमय) मे जागने वाले, अकाल (कुसमय) मे खाने वाले मनुष्य रहते हो, तो अन्य आर्य क्षेत्र के होते हुए ऐसे क्षेत्रो मे विहार करने को-कभी मन मे भी सकल्प न करे। क्योकि केवली भगवान कहते है कि वहां जाना कर्म-वन्धन का कारण है। वे अनार्य लोग साधु को देखकर कहते है कि यह चोर

है, यह गुप्तचर है, यह हमारे शत्रु के गांव से आया है, इत्यादि बातें कह कर वे उस भिक्षु को कठोर वचन बोलेंगे उपद्रव करेंगे और उस साधु के वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद प्रोंछन आदि का छेदन भेदन या अपहरण करेंगे या उन्हें तोड़फोड़कर दूर फैंक देंगे क्योंकि ऐसे स्थानों में यह सब संभव हो सकता है। इसलिए भिक्षुओं को तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि साधु इस प्रकार के प्रदेशों में विहार करने का संकल्प भी न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसे प्रान्तों में विचरना चाहिए जहां आर्य एवं धर्म-निष्ठ भद्र लोग रहते हों। परन्तु, सीमान्त पर जो अनार्य देश हैं, जहां पर चोर-डाकू, भील, अनार्य एवं म्लेच्छ लोग रहते हों उन देशों में नहीं जाना चाहिए। क्योंकि, ये लोग दुर्लभ बोधि होते हैं अर्थात् धर्म एवं आर्यत्व को जल्दी ग्रहण नहीं कर पाते। ये कुसमय में जागृत रहते हैं अर्थात् जिस समय सभ्य एवं सज्जन लोग शयन करते हैं, उस समय उनका धन लूटने के लिए ये लोग जागते रहते हैं और कुसमय में ही भोजन करते हैं तथा उन्हें भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक नहीं होता है। यदि ऐसे अनार्य व्यक्तियों के निवास स्थानों की ओर साधु चला जाए तो वे उसे चोर, गुप्तचर आदि समझकर कष्ट देंगे, मारेंगे-पीटेंगे तथा उसके उपकरण एवं वस्त्र आदि छीन लेंगे या तोड़-फोड़कर दूर फैंक देंगे। इसलिए मुनि को ऐसे प्रदेशों की ओर विहार नहीं करना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान युग की तरह उस समय भी एक-दूसरे देश की सीमाओं पर तथा अपने राज्य की आन्तरिक स्थिति का तथा चोर-डाकुओं के गुप्त स्थानों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी।

प्रस्तुत सूत्र में ऐसे स्थानों पर जाने का निषेध साधु के लिए ही किया गया है, न कि सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक के लिए। सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक अनुकूल साधनों के प्राप्त होने पर वहां जाकर उन्हें संस्कारित एवं सभ्य बनाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू० दूइज्जमाणे अंतरा से अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दो रज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि सइ लाढे विहाराए संथ० जण० नो विहारवडियाए०,

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिस राज्य में राजा न हो या जिस राज्य में या गणतन्त्र में अशान्ति हो, कलह हो, राज्य प्रबन्ध ठीक न हो, राजा और प्रजा में संघर्ष चल रहा हो, एक ही प्रदेश के दो राजा या दो राजकुमार शासक हों और दोनों में संघर्ष चल रहा हो तो ऐसे देश में साधु को नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उसे किसी देश का गुप्तचर आदि समझकर वे उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकते हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में भारत मे गणराज्य की व्यवस्था भी थी। काशी और कौशल में मल्ल और लिच्छवी जाति के क्षत्रियों का गणराज्य था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय भी भारत कई प्रान्तों (देशों) में विभक्त था, जिनमे अलग-अलग राजाओं का शासन था और एक दूसरे देश के राजा सीमाओं आदि के लिए परस्पर संघर्ष भी करते रहते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा गा० दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा तिआहेण वा चउआहेण वा पंचाहेण वा पाउणिज्ज वा नो पाउणिज्ज वा तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सइ लाढे जाव गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणएसु वा बीएसु वा हरि० उद० मट्टियाए वा अविद्धत्थाए, अह भिक्खू जं तह० अणेगाह० जाव नो पव० तओ सं० गा० दू० ॥११७॥

छाया—स भिक्षुर्वा ग्रामानुग्रामं गच्छन्, अन्तराले तस्य विहं स्यात्, स यत् पुनः विहं जानीयात् एकाहेन वा द्व्यहेन वा त्र्यहेन वा चतुरहेण वा पचाहेन वा प्रापणीयं वा नो प्रापणीयं वा तथाप्रकारं विहं अनेकाह गमनीयं सति लाढे यावद् गमनाय, केवली ब्रूयात् आदानमेतत् अन्तराले तस्य वर्षा स्यात् प्राणेषु वा पनकेषु वा बीजेषु वा हरितेषु उदकेषु वा मृत्तिकायां वा अविध्वस्तायां,

एगओ भोयण भंडगं करिज्जा २ ससीसोवरियं कायं पाए पमिज्जिज्जा सागारं भत्तं पच्चक्खाइज्जा, एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा तओ सं० नावं दुरूहिज्जा ॥११८॥

छाया—स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छेत्० अन्तराले तस्य नौ-सन्तार्यमुदकं स्यात्, स यत् पुनः नावं जानीयात् असंयतश्च भिक्षुप्रतिज्ञया क्रीणीयात् पामिमीत वा नावा वा नावं परिणामं कृत्वा स्थलाद् वा नावं जले अवगाहेत, जलाद् वा नावं स्थले उत्कर्षयेत्, पूर्णां वा नावं उत्सिंचेत् सन्नां वा नावं उत्प्लावयेत् तथाप्रकारां नावं ऊर्ध्वगामिनीं वा अधोगामिनीं वा तिर्यग्-गामिनीं वा परं योजनमर्यादया अर्द्धयोजनमर्यादया अल्पतरो वा भूयस्तरो वा नो दुरूहेत् गमनाय, स भिक्षुर्वा० पूर्वमेव तिर्यक् संपातिमां नावं जानीयात् ज्ञात्वा सः तामादाय एकान्तमपक्रमेत् अपक्रम्य भण्डगं प्रतिलेखयेत् प्रतिलिख्य एकतः भोजन भण्डकं कुर्यात् कृत्वा सशीर्षोपरिकं कायं पादं प्रमृज्यात्, सागारं भक्तं प्रत्याख्यायात् एकं पादं जले कृत्वा एकं पादं स्थले कृत्वा ततःसंयतः नावं दूरोहेत् ।

पदार्थ—से भि०वा०—वह साधु या साध्वी । गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम । दुइज्जि-ज्जा—विहार करते हुए । अंतरा से—उस मार्ग के मध्य में । नावा संतारिमे उदए सिया—नौका द्वारा तैरने योग्य जल हो तो, इस प्रकार के जल से पार होने के लिए । से जं—वह साधु जो । पुण—फिर । नावं जाणिज्जा—नौका के सम्बन्ध में जाने कि । अ—यदि । असंजए—गृहस्थ । भिक्खु पडियाए—भिक्षु के लिए । किणिज्ज वा—नौका खरीद ले या । पामिच्चेज्ज वा—नौका को उधार लेकर साधु को पार उतारे या । नावाए नावं परिणामं कट्टु—एक नौका से दूसरी नौका का परिवर्तन करके साधु को पार उतारे या । थलाओ वा नावं जलसि ओगा-हिज्जा—स्थल भूमि पर स्थित नौका को साधु के लिए स्थल से जल मे लाए । वा—या । जलाओ वा नावं थलसि उक्कसिज्जा—जल से स्थल मे लाए । वा—या । पुण्णं नावं उस्सिंचिज्जा—जल से भरी हुई नौका को साधु के लिए खाली करे या । सन्नं वा नावं उप्पीलाविज्जा—कीचड मे डूबी हुई नौका को निकालकर चलने के लिए तैयार करे । तहप्पगार—तथा प्रकार की नौका । उड्ढगामिणीं—चाहे जल के ऊपर चलने वाली हो अर्थात् पानी के स्रोत के सामने चलने वाली

हो या। अहेगा०—जल के नीचे चलने वाली हो। तिरियगामि०—तिर्यक् चलने वाली हो। परं जोयण मेराए—उत्कृष्ट योजन की मर्यादा से (एक घण्टे मे ८ मील की चाल से) चलने वाली हो। अद्ध जोयण मेराए—या अर्द्धयोजन की मर्यादा से चलने वाली। अप्पतरे वा—ऐसी नौका पर थोडे काल या। भुज्जतरेवा—बहुत काल के लिए। गमणाए—नदी से पार जाने के लिए। नो दुरूहिज्जा—सवार न हो।

से भिक्खू वा०—वह साधु अथवा साध्वी। पुव्वामेव—पहले ही। तिरिच्छ संपाइम—तिर्यक् जल मे चलने वाली। नावं जाणिज्जा—नौका के सम्बन्ध मे जाने। जाणित्ता—और जानकर। से—वह भिक्षु। तमायाए—उस गृहस्थ की आज्ञा लेकर। एगंतमवक्कमिज्जा—एकान्त स्थान में चला जाए और वहा जाकर। भंडग पडिलेहिज्जा २—भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करे और प्रतिलेखन करके। एगओ भोयण भंडगं करिज्जा २—फिर भंडोपकरण को एकत्रित करके ससीसोवरियं काय—सिर से लेकर शरीर को और। पाए-पैरो को। पमज्जिज्जा—प्रमार्जित करे, उसके पश्चात्। सागारं भत्तं पच्चक्खाइज्जा—आगार पूर्वक अन्न पानी का त्याग करे अर्थात् यदि में सकुशल पार हो गया तो आहार पानी करूंगा अन्यथा जीवन पर्यन्त के लिए मेरे आहार पानी का त्याग है, इस प्रकार आगार सहित प्रत्याख्यान करे। एग पाय जले किच्चा—एक पैर जल मे रखे और। एग पाय थले किच्चा—एक पैर स्थल मे रखे। तओ—तदनन्तर। सं०—वह साधु। नाव दुरूहिज्जा—नौका पर चढे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ यदि मार्ग मे नौका द्वारा तैरने योग्य जल हो तो नौका से नदी पार करे। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि यदि गृहस्थ साधु के निमित्त मूल्य देता हो या नौका उधार लेकर या परस्पर परिवर्तन करके या नौका को स्थल से जल मे या जल से स्थल में लाता हो, या जल से परिपूर्ण नौका को जल से खाली करके या कीचड़ मे फंसी हुई को बाहर निकाल कर और उसे तैयार कर के साधु को उस पर चढने को प्रार्थना करे, तो इस प्रकार की ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी या तिर्यग् गामिनी नौका, जोकि उत्कृष्ट एक योजन क्षेत्र प्रमाण मे, चलने वाली है या अर्द्ध योजन प्रमाण में चलने वाली है, ऐसी नौका पर थोड़े या बहुत समय तक गमन करने के लिए साधु सवार न हो अर्थात् ऐसी नौका पर बैठ कर नदी को पार न करे। किन्तु, पहले से ही तिर्यग् चलने वाली नौका को जानकर, गृहस्थ की आज्ञा लेकर फिर एकान्त

स्थान में चला जाए और वहा जाकर भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करके उसे एकत्रित करे, तदनन्तर सिर से पैर तक सारे शरीर को प्रमार्जित करके अगार सहित भक्त पान का परित्याग करता हुआ एक पाव जल मे और एक स्थल में रखकर उस नौका पर यत्नापूर्वक चढे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि विहार करते हुए यदि मार्ग मे नदी आ जाए और उसे बिना नौका के पार करना कठिन हो तो साधु अपनी मर्यादा का परिपालन करते हुए विवेक एव यत्नापूर्वक नौका का उपयोग कर सकता है। यदि मुनि को नदी के किनारे खड़ा देखकर कोई गृहस्थ उसे पार पहुंचाने के लिए नाविक को पैसा देता हो या उससे नौका उधार लेता हो या उससे नाव का परिवर्तन करता हो, तो साधु को उस नाव पर नही बैठना चाहिए। इसी तरह यदि कोई नाविक साधु को नदी से पार करने के लिए अपनी नौका को जल में से स्थल पर लाता हो या स्थल पर से जल में ले जाता हो या कर्दम में फंसी हुई नाव को निकाल कर लाता हो, तो साधु उस नौका पर भी सवार न हो, भले ही वह नाव एक योजन गामिनी हो या इससे भी अधिक तेज गति से चलने वाली क्यों न हो। जिस नौका के लिए गृहस्थ को पैसा देना पड़े या जिसमे साधु के लिए नए रूप से आरम्भ करना पड़े साधु उस नाव मे न बैठे। परन्तु, जो नाव पहले से ही पानी में हो, तो उस नाव से पार होने के लिए वह नाविक से याचना करे और उसके स्वीकार करने पर एकान्त स्थान मे जाकर अपने भण्डोपकरणों को एकत्रित करे और अपने शरीर का सिर से लेकर पैर तक प्रमार्जन करे। उसके पश्चात् सागारिक संथारा करके विवेक पूर्वक एक पैर पानी में और एक पैर स्थल पर रखकर यत्ना से नौका पर चढ़े।

प्रस्तुत सूत्र में ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी और तिर्यग् गामिनी नौकाओं का उल्लेख किया गया है। और इसमे ऊर्ध्व और अधोगामिनी नौकाओं में बैठने का निषेध किया गया है। कारणवश केवल तिर्यग् गामिनी नौका पर सवार होने का ही आदेश दिया गया है। निशीथ सूत्र मे भी ऊर्ध्व और अधोगामिनी नौकाओं पर सवार होने वाले को प्रायश्चित का अधिकारी बताया गया है*। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय आकाश में उडने एवं पानी के भीतर चलने वाली नौकाएं भी होती थीं। ऊर्ध्वगामी नौका से वर्तमान युग के हवाई जहाज जैसे यान का होना सिद्ध होता है और अधोगामी

* जे भिक्खू उड्ढ गामिणी वा णावं अहो गामिणि वा णाव दुरुहति दुरुहुतं वा साइज्जइ।
—निशीथसूत्र, १८, १७।

नौका से पनडुब्बी का होना भी प्रमाणित होता है। वृत्तिकार ने उक्त तीनों तरह की नौकाओं का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने इन्हें स्रोत के सामने और स्रोत के अनुरूप और जल के मध्य में गतिशील नौकाएं बताया है। परन्तु यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि आकाश एवं जल के भीतर चलने वाली नौकाओं के निषेध का तात्पर्य तो स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। परन्तु, स्रोत के सामने एवं जल के मध्य में चलने वाली नौका पर सवार नहीं होने का तात्पर्य समझ में नहीं आता। इससे निष्कर्ष यह निकला कि साधु तिर्यग्गामिनी (पानी के ऊपर गति करने वाली) नौका पर सवार हो सकता है*।

प्रस्तुत सूत्र में एक या अर्ध योजन (८ या ४ मील) तक पानी में रहने वाली नौका पर सवार होने का निषेध किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इतनी या इससे अधिक दूरी का मार्ग नौका के द्वारा तय करना नहीं कल्पता।

नौका में सवार होने के पूर्व जो सागारी अनशन करने का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि यदि मैं कुशलता पूर्वक किनारे पहुंच जाऊं तो मेरे आहार-पानी का त्याग नहीं है। परन्तु, कभी प्रसंगवश बीच में कोई दुर्घटना हो जाए तो मेरे आहार-पानी आदि का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग है।

एक पैर पानी में तथा दूसरा पैर स्थल पर रखने का विधान अप्कायिक जीवों की दया के लिए किया गया है और यहां स्थल का अर्थ पानी के ऊपर का आकाश-प्रदेश है, न कि पृथ्वी। इसका तात्पर्य यह है कि साधु को पानी को मथते हुए-आलोडित करते हुए नहीं चलना चाहिए, परन्तु विवेक पूर्वक धीरे से एक पैर पानी में और दूसरा

---

* यह अपवाद मार्ग है। यदि दूसरा साफ मार्ग हो—जिसमें नदी नहीं पड़ती हो तो साधु को उस मार्ग से जाना चाहिए। यदि अन्य मार्ग न हो और नदी में पानी की अधिकता हो तो मुनि नौका द्वारा उसे पार कर सकता है और यह अपवाद मार्ग उत्सर्ग मार्ग की भांति संयम में सहायक एवं निर्दोष माना गया है। क्योंकि, आगम में इसके लिए कहीं भी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है। वर्तमान में नदी पार करने पर जो प्रायश्चित लेने की परम्परा है, वह नौका पर सवार होने या नदी पार करने का प्रायश्चित नहीं है। परन्तु, उसके लेने का उद्देश्य यह है कि आगम में जिस विधि से नदी पार करने एवं नौका में सवार होने का उल्लेख किया गया है, उस विधि का यथार्थ पालन नहीं होता है। अतः प्रमादवश जो आगम की विधि का उल्लंघन होता है, उसका प्रायश्चित लिया जाता है, न कि अपवाद मार्ग में नौका में सवार होने का। क्योंकि, अपवाद भी उत्सर्ग की तरह का सन्मार्ग है, यदि आगम में उल्लिखित विधि के अनुरूप समभाव से उसका सेवन किया जाए।

— लेखक

पैर पानी के ऊपर आकाश मे रखना चाहिए, इसी विधि से नौका तक पहुंच कर विवेक के साथ नौका पर सवार होना चाहिए।

नौका से सम्बन्धित विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० नावं दुरूहमाणे नो नावाओ पुरओ दुरूहिज्जा नो नावाओ मग्गओ दुरूहिज्जा नो नावाओ मज्झओ दुरूहिज्जा नो वाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिस्सिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्झाइज्जा। से णं परो नावागओ नावागयं वइज्जा—आउसंतो! समणा एयं ता तुमं नावं उक्कसाहिज्जा वा वुक्कसाहि वा खिवाहि वा रज्जूयाए वा गहाय आकासाहि, नो से तं परिन्नं परिजाणिज्जा तुसिणीओ उवेहिज्जा। से णं परो नावागओ नावाग० वइ०—आउसं० नो संचाएसि तुमं नावं उक्कसित्तए वा ३ रज्जूयाए वा गहाय आकसित्तए वा आहर एयं नावाए रज्जूयं सयं चेव णं वयं नावं उक्कसिस्सामो वा जाव रज्जूए वा गहाय आकसिस्सामो, नो से तं प० तुसि०। से णं प० आउसं० एयं ता तुमं नावं आलित्तेण वा पीढएण वा वंसेण वा वलएण वा अवलुएण वा वाहेहि, नो से तं प० तुसि०। से णं परो० एयं ता तुमं नावाए उदयं हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहेण वा नावा उस्सिंचणेण वा उस्सिंचाहि, नो से तं० से णं परो०

समणा ! एयं तुमं नावाए उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण वा बाहुणा वा उरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा उस्सिंचणेण वा चेलेण वा मट्टियाए वा कुसपत्तएण वा कुविंदएण वा पिहेहि, नो से त० ॥ से भिक्खू वा २ नावाए उत्तिंगेण उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरिं नावं कज्जलावेमाणिं पेहाए नो परं उवसंकमित्तु एवं बूया—आउसंतो गाहावइ एयं ते नावाए उदयं उत्तिंगेण आसवइ उवरुवरिं नावा वा कज्जलावेइ, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा अप्पुस्सुए अबहिल्लेसे एगंतगएण अप्पाणं विउसेज्जा समाहीए, तओ सं० नावा संतारिमे व्यउदए आहारियं रीइज्जा, एयं खलु सया जइज्जासि त्तिबेमि ॥११६॥

छाया—स भिक्षुर्वा० नावं दूरोहन् न नावः पुरतो दूरोहेत्—(आरोहेत्) न नावः मार्गतः दूरोहेत्-आरोहेत् नो नावः मध्यतः आरुहेन्न बाहुभ्यां प्रगृह्य २ अङ्गुल्या उद्दिश्य २ अवनम्य २ उवनम्य २ निध्यायेत् । सपरः नौगतः नौगतं वदेद् आयुष्मन्तः श्रमणाः ! एता तावत् त्व नावमुत्कर्षस्व, व्युत्कर्षस्व, क्षिपस्व वा रज्वा वा गृहीत्वा आकर्षस्व ? न स तां परिज्ञां परिजानीयात् तूष्णीकः उपेक्षेत । स परो नौगतो नौगत वदेद्-आयुष्मन्तः श्रमणाः ! न शक्नोषि त्व नावमुत्कर्षयितु वा ३ रज्ज्वा वा गृहीत्वा आकर्षयितु वा आहर एतां नावः रज्जूका स्वयं चैव वय नाव उत्कर्षिष्यामः वा यावद् रज्ज्वा गृहीत्वा आकर्षिष्यामः, न स ता परिज्ञा परिजानीयात् तूष्णीक उपेक्षेत । स परः आयुष्मन्तः श्रमणाः ! एतां त्व नावमालिप्तेन वा

पीठकेन वा वंशेन वा वलकेन वा अवलुकेन वा वह, न स तां परिज्ञां परिजानीयात् तूष्णीकः उपेक्षेत। स परः एतां तावत् त्वं नावि उदकं हस्तेन वा पादेन वा अमत्रेण वा पतद्ग्रहेण वा नावुत्सिञ्चनेन वा उत्सिञ्चस्व? न स तां। स परः० श्रमणाः! एतां त्वं नावः रन्ध्रं हस्तेन वा पादेन वा बाहुना वा उरुणा वा उदरेण वा शीर्षेण वा कायेन वा उत्सिचनेन वा चेलेन वा मृत्तिकया वा कुशपत्रेण वा कुविन्दकेन वा पिधेहि न स ता। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा नावः रन्ध्रोदकमाश्रवमाणं प्रेक्ष्य उपर्युपरि नावं प्लाव्यमानां प्रेक्ष्य न परं उपसंक्रमितुमेवं ब्रूयात् आयुष्मन्! गृहपते! एतत् ते नावि उदकं रन्ध्रेण आस्रवति, उपर्युपरि नौ वा प्लवते, एतत् प्रकारं मनो वा वाचं वा न पुरतः कृत्वा विहरेत्। अल्पोत्सुकः अबहिर्लेश्यः एकान्तगतेनआत्मानं व्युत्सृजेत् समाधिना, ततः संयतः नौ सन्तार्यं चोदकं यथाऽऽर्यं रीयेत—गच्छेत् एता खलु सदा यायात् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—स भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। नावं—नौका पर। दुरूहमाणे—चढ़ता हुआ। नावाओ—नौका के। पुरओ—आगे। नो दुरूहिज्जा—न बैठे। नावाओ—नौका के। मज्झओ—मध्य मे। नो दुरुहिज्जा—नबैठे। नावाओ—नौका के। मग्गओ—पीछे। नो दुरूहिज्जा—न बैठे। बाहओ—नौका की दोनों ओर की बाहों को। पगिज्झिय २—पकड कर २। अंगुलियाए—अंगुली को। उद्दिसिय २—उद्देश्य करके। ओगमिय-अंगुली ऊंची करके और। उन्नमिय २—विशेष ऊंची करके। नो निज्झाइज्जा—पानी को न देखे। ण—वाक्यालंकार मे है। से—वह नाविक। परो-अन्य। नावा गओ—नावा मे बैठा हुआ। नावागय—नौका में सवार साधु के प्रति यदि। वइज्जा—कहे कि। आउसंतो समणा—हे आयुष्मन् श्रमण! ता—पहले। एय—इस। नाव—नौका को। तुमं—तू। उक्कसाहिज्जा—अमुक दिशा की ओर खींच ले अथवा। वुक्कसाहि वा—विशेष रूप से खींच ले। खिवाहि वा—अथवा अमुक वस्तु को नौका मे रखकर इसे चला ले या। रज्जूयाए वा गहाय—रस्सी को पकड कर खींच ले। से—वह भिक्षु। त—उस नाविक के। परिन्नं—इस प्रकार के वचन को। नो परिजाणिज्जा—स्वीकार न करे। किन्तु। तुसिणीओ—मौन रूप मे। उवेहिज्जा—स्थित रहे अर्थात् उसको हां या ना कुछ भी न कहे। णं—वाक्यालंकार में है।

पदार्थ—से-वह। परो—अन्य। नावागओ—नौका में बैठा हुआ नाविक। नावाग०—नौका में स्थित साधु के प्रति। वइ०—कहे कि। आउस०—हे आयुष्मन् श्रमण! यदि। तुमं—तू। नावं—नौका को। उक्कसित्तए वा—खैंचने के लिए। नो सचाएसि—समर्थ नहीं है तो

फिर। रज्जूयाए वा—रस्सी को। गहाय—पकड कर। आकसित्तए वा—यह रस्सी। आहर-मुझे दे दे। एय—इस। नावाए—नौका को। रज्जूय—रज्जू से। सय—मै स्वय अपने आप। च—फिर। एव—निश्चय ही। णं—वाक्यालंकार मे है। वयं—हम लोग। नाव—नौका को। उक्कसिस्सामो—दृढ कर लेंगे। जाव—यावत्। रज्जूए—रज्जू को। गहाय—ग्रहण करके। आकसिस्सामो—रज्जू बान्ध कर विशेष रूप से दृढ करेगे। से—वह भिक्षु। त—उस नाविक के। प०—इस वचन को भी। नो परिजाणिज्जा—स्वीकार न करे किन्तु। तुसि०—मौन भाव में रहे अर्थात् चुप रहे।

पदार्थ—से—वह गृहस्थ। णं—वाक्यालकार मे है। प०—पर-अन्य नाव मे बैठा हुआ नाविक साधु के प्रति कहता है कि। आउस—हे आयुष्मन् श्रमण! ता—पहले। तुमं—तू। एयं—इस। नाव—नाव को। आलित्तेण वा—नौका के चलाने वाले चप्पू से या। पीढएण वा—पीठ से या। वसेण वा—वास से अथवा। वलएण वा—वल्ली से-नौका के उपकरण विशेष से या। अवलुएण वा—नौका को चलाने का वास विशेष, उसमे। वाहेहि—नौका का आगे चला। से—वह भिक्षु। त—उस नाविक के। प०—इस वचन को भी। नो परिजाणिज्जा—स्वीकार न करे किन्तु। तुसि०—मौन भाव से चुप रहे। णं—वाक्यलंकारमे है।

पदार्थ—से—वह। परो०—अन्य नाव मे बैठा हुआ नाविक, नावागत साधु के प्रति कहने लगा कि हे आयुष्मन् श्रमण! ता—पहले। तुमं—तू। एयं—इस। नावाए—नौका मे। उदयं—भरे हुए पानी को। हत्थेण वा—हाथ से। पाएण वा—अथवा पैर से या। मणत्तेण वा—पात्र से। पडिग्गहेण वा—या बर्तन से या। नावा उस्सिचणेण वा—नौका मे रखे हुए पानी उलीचने के पात्र से। उस्सिचाहि—इस पानी को नौका से बाहर निकाल। नो से तं-वह साधु उस नाविक के उन वचनो को भी स्वीकार न करे किन्तु मौन धारण करके बैठा रहे। ण—वाक्यालकार में है।

पदार्थ—से—वह। परो—अन्य नावा मे बैठा हुआ नावागत साधु के प्रति कहने लगा। समणा!—हे आयुष्मन् श्रमण! तुमं—तू। एय—इस। नावाए—नौका के। उत्तिगं—छिद्र को। हत्थेण वा—हाथ से। पाएण वा—पैर से। बाहुणा वा—बाहु-भुजा से। उरुणा वा—जघादि से। उदरेण वा—पेट से। सीसेण वा—सिर से। काएण वा—शरीर से। उस्सिचणेण वा—उत्सिचन—नौका से जल निकालने के पात्र विशेष से या। चेलेणवा—वस्त्र से। मट्टियाए वा—मिट्टी से या। कुसपत्तेण वा—कुशापत्र से। कुविंदएण वा—कुविन्द नामक तृण विशेष से। पिहेहि—बन्द कर दे। नो से त०—वह साधु उस नाविक के इस वचन को भी स्वीकार न करे किन्तु मौनावलम्बन करके बैठा रहे।

पदार्थ—से भिक्खू वा०—वह साधु अथवा साध्वी। नावाए—नौका के। उत्तिंगेण—

छिद्र के द्वारा। उदय —पानी को। आसवमाणं—आता हुआ। पेहाए—देखकर। उवरुवरिं—बहुत से जल से। नाव—नौका को। कज्जलावेमाणि—भरी हुई। पेहाए—देखकर। पर—अन्य गृहस्थ के। उवसकमित्त—पास जाकर। नो एयं बूया—इस प्रकार न कहे कि। आउसंतो गाहावइ'—हे आयुष्मन् गृहपते! एयते—तुम्हारी इस। नावाए—नौका में। उत्तिगेण—छिद्र के द्वारा। उदयं—जल। आसवइ—आ रहा है। उवरुवरिं—ऊपर २ बहुत जल से। नावा वा—नौका। कज्जलावेइ—भर रही है। एयप्पगारं—इस प्रकार के। मण वा वाय वा—मन अथवा वचन को। पुरओ कट्टु—आगे करके अर्थात् प्रधान रखकर। नो विहरिज्जा—विहरण न करे किन्तु। अप्पुस्सुए—शरीर तथा उपकरणादि पर ममत्व न रखता हुआ, और। अबहिल्लेसे—जिस की संयम से बाहर लेश्या नहीं है तथा। एगतगएण—एकान्त गत अर्थात् राग द्वेष से रहित होकर। अप्पाण—आत्मा को-आत्मगत ममत्व भाव को। विउसेज्जा—छोड कर और। समाहीए—ज्ञानदर्शन तथा चारित्र में समाहित होकर रहे। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—यतत साधु। नावासंतारिमे—नौका से तरने योग्य। उदए—जल में। आहारियं—जिस प्रकार अनन्त तीर्थंकरों ने ईर्या का वर्णन किया है उसी प्रकार। रीइज्जा—चले। एवं खलु—निश्चय ही यह। सया—सदा ही। जइज्जासि—यतना शील बने। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—साधु या साध्वी नौका पर चढते हुए नौका के आगे, पीछे और मध्य में न बैठे। और नौका के बाजु को पकड़ कर या अंगुली द्वारा उद्देश्य (स्पर्श) करके तथा अंगुली ऊची करके जल को न देखे। यदि नाविक साधु के प्रति कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण! तू इस नौका को खीच या अमुक वस्तु को नौका मे रखकर और रज्जू को पकड़कर नौका को अच्छी तरह से बान्ध दे। या रज्जू के द्वारा जोर से कस दे। इस प्रकार के नाविक के वचनो को साधु स्वीकार न करे किन्तु मौन वृत्ति को धारण कर अवस्थित रहे।

यदि नाविक फिर कहे कि आयुष्मन् श्रमण! यदि तू इस प्रकार नहीं कर सकता तो मुझे रज्जू लाकर दे। हम स्वय नौका को दृढ बन्धनो से बान्ध लेंगे और उसे चलायेंगे फिर भी साधु चुप रहे।

यदि नाविक कहे कि आयुष्मन् श्रमण! तू इस नौका को चप्पू से,

पीठ से, बांस से, बलक और अबलुक से आगे कर दे। नाविक के इस वचन को भी स्वीकार न करता हुआ साधु मौन रहे।

फिर नाविक बोले कि आयुष्मन् श्रमण ! तू नाव में भरे हुए जल को हाथ से, पांव से, भाजन से, पात्र से और उत्सिंचन से बाहर निकाल दे। नाविक के इस कथन को भी अस्वीकार करता हुआ साधु मौन रहें। यदि फिर नाविक कहे कि— आयुष्मन् श्रमण ! तू नावा के इस छिद्र को हाथ से, पैर से, भुजाओं से, जंघा से, उदर से, सिर से और शरीर से, नौका से जल निकालने वाले उपकरणों से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुश पत्र और कुबिंद से रोक दे —बन्द कर दे। साधु नाविक के उक्त कथन को भी अस्वीकार कर मौन धारण करके बैठा रहे।

साधु या साध्वी नौका में छिद्र के द्वारा जल भरता हुआ देखकर एवं नौका को भरती हुई देखकर, नाविक के पास जाकर ऐसे न कहे कि हे आयुष्मन् गृहपते ! तुम्हारी यह नौका छिद्र द्वारा जल से भर रही है और छिद्र से जल आ रहा है। इस प्रकार के मन और वचन को उस ओर न लगाता हुआ विचरे। वह शरीर एवं उपकरणादि पर मूर्छा न करता हुआ, लेश्या को संयम में रखे तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में समाहित होकर आत्मा को राग और द्वेष से रहित करने का प्रयत्न करे। और नौका के द्वारा तैरने योग्य जल को पार करने के बाद जिस प्रकार तीर्थंकरो ने जल के विषय में ईर्या समिति का वर्णन किया है—उसी प्रकार उसका पालन करे। यही साधु का समग्र आचार है अर्थात् इसी में उसका साधु भाव है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि नाविक साधु को नौका के बांधने एवं खोलने तथा चलाने आदि का कोई भी कार्य करने के लिए कहे तो साधु को उसके वचनों को स्वीकार नहीं करना चाहिए। परन्तु, मौन रहकर आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना

चाहिए। इसी तरह नौका में पानी भर रहा हो तो साधु को उसकी सूचना भी नहीं देनी चाहिए। इन सूत्रों से कुछ पाठकों के मन में यह सन्देह हो सकता है कि यह सूत्र दया-निष्ठ साधु की अहिंसा एवं दया भावना का परिपोषक नहीं है। परन्तु, यदि इस सूत्र पर गहराई से सोचा-विचारा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रस्तुत सूत्र साधु के अहिंसा महाव्रत का परिपोषक है। क्योंकि, साधु ६ काय का संरक्षक है, यदि वह नाव को खींचने, बांधने एवं चलाने आदि का प्रयत्न करेगा तो उसमें अनेक त्रस एव स्थावर कायिक जीवों की हिंसा होगी और नौका में छिद्र आदि का कथन करने से एकाएक लोगों के मन मे भय की भावना का संचार होगा। जिससे उनमे भाग दौड़ मच जाना सम्भव है और परिणाम स्वरूप नाव खतरनाक स्थिति में पहुच सकती है। इसलिए साधु को इन सब झंझटों से दूर रहकर अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। इसमे उन अन्य व्यक्तियों के साथ साधु स्वयं भी तो उसी नौका में सवार है। यदि नौका में किसी तरह की गड़बड़ होती है तो उसमें साधु का जीवन भी तो खतरे मे पड़ता है। फिर भी साधु अपने लिए किसी तरह का प्रयत्न नही करता। क्योंकि, जिस प्रवृत्ति मे अन्य जीवों की हिंसा हो वैसी प्रवृत्ति करना साधु को नहीं कल्पता। प्रस्तुत सूत्र मे साधुत्व की उत्कृष्ट साधना को लक्ष्य में रखकर यह आदेश दिया है कि वह मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होने पर भी नाव में होने वाली किसी तरह की सावद्य प्रवृत्ति में भाग नही ले परन्तु मौन भाव से आत्म-चिन्तन मे लगा रहे।

यदि कोई साधारण साधु कभी परिस्थितिवश व्यावहारिक दृष्टि को सामने रखकर नौका को संकट से बचाने के लिए कोई प्रयत्न करे तो उसे भगवान द्वारा दी गई आज्ञा के उल्लघन का प्रायश्चित लेना चाहिए। निशीथ सूत्र में नौका सम्बन्धी कार्य करने का जो प्रायश्चित बताया गया है वह— जो लोगों के प्रति मुनि की दया भावना है, उनकी रक्षा की दृष्टि है, उसका नहीं है वह प्रायश्चित केवल मर्यादा भग का है। क्योंकि, उक्त प्रवृत्ति में प्रमादवश हिंसा का होना भी सम्भव है, इसलिए उक्त दोष का निवारण करने के लिए ही प्रायश्चित का विधान किया गया है। और उक्त क्रियाओं के करने का लघु चौमासिक प्रायश्चित बताया गया है*।

कुछ प्रतियों में प्रस्तुत सूत्र का अन्तिम अंश इस प्रकार भी मिलता है— 'एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गिय ज सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जएज्जासि।" परन्तु, इससे अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

---

* निशीथ सूत्र, उद्देशक १८, सूत्र १ से १८ और ८४।

प्रस्तुत सूत्र में साधु की विशिष्ट साधना एवं उत्कृष्ट अध्यवसायों का उल्लेख किया गया है। नौका में आरूढ़ हुआ साधु अपने विचार एवं चिन्तन को इधर उधर न लगाकर आत्म चिन्तन मे ही लगाए रहता है और ६ काय की रक्षा के लिए अपने जीवन का व्यामोह भी नहीं रखता है। इसलिए नौका में पानी भरने की स्थिति में भी जबकि उसका अपना जीवन भी संकट में पड़ा हो, आध्यात्मिक विचारणा में व्यस्त रहना उसकी विराट् साधना का प्रतीक है, इससे उसके आत्म-चिन्तन की स्थिरता का स्पष्ट परिचय मिलता है। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में दिया गया आदेश साधुत्व की विशुद्ध साधना के अनुकूल ही प्रतीत होता है।

'त्तिवेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

# तृतीय अध्ययन-ईर्येषणा

## द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक के अन्तिम दो सूत्रों में नौका से नदी पार करने का उल्लेख किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में यह अभिव्यक्त किया गया है कि नौका पर सवार होने के पहले और बाद में साधु को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से णं परो णावा० आउसंतो समणा ! एयं ता तुमं छत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा गिरहाहि, एयाणि तुमं विरूव-रूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा पज्जेहि, नो से तं० ॥१२०॥**

छाया—स परः नाविगतः नाविगतं वदेत् आयुष्मन् श्रमण ! एतत् तावत् त्वं छत्रकं वा यावत् चर्मछेदनकं वा गृहाण एतानि त्वं विरूपरूपाणि शस्त्रजातानि धारय ? एतं तावत् त्वं दारकं वा पायय, न स तां परिज्ञां परिजानीयात्, तूष्णीकः उपेक्षेत ।

पदार्थ—ण—वाक्यालंकार में है। से—वह। परो णावा०—यदि नाविक नौका मे बैठे हुए मुनि को इस प्रकार। वदेज्जा—कहे। आउसतो समणा—हे आयुष्मन् श्रमण ! । ता—पहले। तुमं—तू। एय—मेरे इस। छत्तगं वा—छत्र। जाव—यावत्। चम्मछेयणगं वा—चर्म छेदिका-चमडे को काटने के शस्त्र विशेष को। गिण्हाहि—ग्रहण कर और फिर। तुम—तू। एयाणि—ये। विरूवरूवाणि—नाना प्रकार के जो। सत्थजायाणि—शस्त्र-आयुध विशेष हैं इनको। धारेहि—धारण कर, तथा। ता—पहले। तुमं—तू। एयं—इस। दारगं—बालक को। पज्जेहि—पानी आदि पिला दे। से—वह साधु। तं—उस नाविक-गृहस्थ के इस। परिन्नं—वचन को। नो परिजाणिज्जा—स्वीकार न करे किन्तु। तुसिणीओ—मौन धारण करके। उवेहेज्जा—बैठा रहे।

मूलार्थ—यदि नाविक नाव पर सवार मुनि को यह कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! पहने तू मेरा छत्र यावत् चर्मछेदन करने के शस्त्र को ग्रहण कर। इन विविध शस्त्रो को धारण कर और इस बालक को पानी पिला दे। वह साधु उसके उक्त वचन को स्वीकार न करे, किन्तु मौन धारण करके बैठा रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि यदि नाविक साधु को छत्र, शस्त्र आदि धारण करने के लिए कहे या अपने बालक को पानी पिलाने के लिए कहे तो साधु उसकी बात को स्वीकार न करे, किन्तु मौन भाव से आत्म चिन्तन में संलग्न रहे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाविक मुनि जीवन से सर्वथा अपरिचित होने के कारण उसे ऐसे आदेश देता है। यदि वह साधु के त्याग निष्ठ जीवन से परिचित हो तो वह साधु के साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता। अतः उसके भाषण करने के ढंग से उसकी अनभिज्ञता प्रकट होती है और साधु के मौन रहकर उसके आदेश को अस्वीकार करने के पीछे एकमात्र प्राणी जगत की रक्षा एवं संयम साधना को विशुद्ध रखने का भाव स्पष्ट होता है। क्योंकि, यदि साधु छत्र, शस्त्र आदि धारण करेगा तथा नाविक के बच्चों को पानी पिलाएगा या उसके ऐसे ही अन्य कार्य करेगा तो उसमे त्रस एवं स्थावर अनेक जीवों की हिंसा होगी और परिणाम स्वरूप उसकी संयम साधना भी टूट जाएगी। अतः साधु को नाविक के आदेशानुसार कार्य नहीं करना चाहिए, परन्तु मौन भाव से उसे अस्वीकार करके अपनी आध्यात्मिक साधना में व्यस्त रहना चाहिए।

नाविक का कार्य न करने पर यदि कोई नाविक क्रुद्ध होकर साधु के साथ दुष्टता का व्यवहार करे, उसे उठाकर नदी की धारा मे फैंक दे तो उस समय साधु को क्या करना चाहिए ? इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से णं परो नावागए नावागयं वएज्जा—आउसंतो ! एस णं समणे नावाए भंडभारिए भवइ, से णं बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिविज्जा, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढिज्ज वा निवे-

ढिज्ज वा उप्फेसं वा करिज्जा, अह० अभिक्कंतकूरकम्मा खलु बाला बाहाहिं गहाय ना० पक्खिविज्जा से पुव्वामेव वइज्जा—आउसंतो ! गाहावई मा मेत्तो बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिवह, सयं चेव णं अहं नावाओ उदगंसि ओगाहिस्सामि, से णेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं ग० पक्खिविज्जा तं नो सुमणे सिया, नो दुम्मणे सिया, नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा नो तेसिं बालाणं घायए वहाए समुट्ठिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ सं० उदगंसि पविज्जा ॥१२१॥

छाया—स परो नौगतः नौगतं वदेत्-आयुष्मन् ! एष श्रमणः नावि भाण्डभारोभवति, तदेनं बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपत एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य स च चीवरधारी स्यात्, क्षिप्रमेव चीवराणि उद्वेष्टयेद् वा निर्वेष्टयेद् वा, उप्फेसं-शिरोवेष्टनं वा कुर्यात्, अथ पुनरेवं जानीयाद् अभिक्रान्तक्रूरकर्माणः खलु बालाः बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपेयुः स पूर्वमेव वदेत्-आयुष्मन् गृहपते ! मा मा, इतो बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपत ! स्वयं चैव अहं नावः उदके अवगाहिष्ये तम् एवं वदन्तं परः सहसा बलेन बाहुभ्यां गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपेत् तदा न सुमनाः स्यान्न दुर्मनाः स्यान्न ४ ॥ [illegible] मनः निगच्छेन् तेषां बालानां घाताय वधाय समुत्तिष्ठेद् अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना ततः संयतमेव उदके प्लवेत् ।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार मे है। से—वह। परो नावागए—नौका पर सवार नाविक। नावागयं—और नौका पर चढ़े हुए अन्य गृहस्थ को। वएज्जा—इस प्रकार कहे। ण—वाक्यालंकार मे है। आउसंतो—हे आयुष्मन् गृहस्थ! एस—यह। समणे—साधु। नावाए—नौका मे बैठा हुआ साधु। भण्डभारिए भवइ—चेष्टारहित भाण्डोपकरण की भांति

भार रूप हैं। णं—प्राग्वत् । से—इसको । बाहाए—भुजाओ से। गहाय—पकडकर । नावाओ—नाव से बाहर। उदगंसि—जल मे। पक्खिविज्जा—फैंक दो-गिरा दो। एयप्पगार—इस प्रकार के। निग्घोस—निर्घोष शब्द को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—दिल मे विचार कर। य—फिर। से—वह साधु। चीवरधारी सिया—यदि वस्त्रधारी हो तो। खिप्पामेव—जल्दी ही। चीवराणि—वस्त्रो को। उव्वेढिज्जा—पृथक् कर दे। वा—अथवा। निवेढिज्जा वा—एकत्र कर उन्हें भली-भान्ति वान्ध ले या। उप्फेस वा करिज्जा—सिर पर लपेट ले। अह पुणेव जाणिज्जा—और फिर इस प्रकार जाने। खलु—निश्चयार्थक है। अभिकंत कूर कम्मा—अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाला। बाला—ये अज्ञानी जीव। बाहाहिं गहाय—मुझे भुजाओ से पकड कर। नावाओ—नौका से बाहर। उदगंसि—जल मे। पक्खिविज्जा—गिरावेंगे। से—वह साधु। पुव्वामेव—उससे पूर्व ही उनके प्रति इस प्रकार। वइज्जा—कहे। आउसंतो गाहावई—आयुष्मन् गृहस्थो! मेत्तो—मुझे इस नौका से। बाहाए गहाय—भुजाओ से पकड़ कर। नावाओ—नौका से बाहर। उदगंसि—जल में। मा पक्खिवह—मत फैंको। च—फिर। एव—निश्चय। ण—वाक्यालकार मे है। अहं—मैं। सय—स्वयं ही। नावाओ—तुम्हारी नौका से। उदगंसि—जल में। ओगाहिस्सामि—उतर जाऊगा। से—उस साधु के। णं—प्राग्वत्। एव—इस प्रकार। वयत—बोलते हुए यदि। परो—अन्य गृहस्थ। सहसा—साहस पूर्वक शीघ्र ही। बलसा—बल पूर्वक। बाहाहिं गहाय—उसे भुजाओ से पकड कर। पक्खिविज्जा—जल मे फैंक दे। त—तो वह साधु। सुमणे—श्रेष्ठ मन वाला। नो सिया—न हो तथा। दुम्मणे—दुष्ट मन वाला भी। नो सिया—न होवे और। नो उच्चावय मणं नियंछिज्जा—अपने मन को ऊचा नीचा भी न करे तथा। तेसिं बालाणं—उन बाल अज्ञानी जीवो का। घायाए—घात करने के लिए। वहाए—वध करने के लिए भी। नो समुट्ठिज्जा—उद्यत न हो अर्थात् उनके विनाश का उद्योग न करे किन्तु। अप्पुस्सुए—राग-द्वेष से रहित होकर। जाव—यावत्। समाहीए—समाधि से संयम मे विचरे। तओ—तदनन्तर। सं—साधु। उदगंसि—जल मे। पविज्जा—शाति पूर्वक प्रविष्ट हो जाए, तात्पर्य यह है कि जल में बहता हुआ मन में उन गृहस्थादि के प्रति किसी प्रकार का राग द्वेष न रखे।

मूलार्थ—यदि नाविक नौका पर बैठे हुए किसी अन्य गृहस्थ को इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! यह साधु जड़ वस्तुओ की तरह नौका पर केवल भार भूत ही है। यह न कुछ सुनता है और ना कोई काम ही करता है। अतः इसको भुजा से पकड़ कर इसे नौका से बाहर जल मे फैंक दो। इसप्रकार के शब्दो को सुनकर और उन्हें हृदय मे धारण करके

वह मुनि यदि वस्त्रधारी है तो शीघ्र ही वस्त्रों को फैलाकर, फिर उन्हें अपने सिर पर लेपट कर विचार करे कि ये, अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले अज्ञानी लोग मुझे भुजाओं से पकड़कर नौका से बाहर जल में फैंकना चाहते हैं। ऐसा विचार कर वह उनके द्वारा फैंके जाने के पूर्व ही उन गृहस्थों को सम्बोधित करके कहे कि आयुष्मन् गृहस्थो ! आप लोग मुझे भुजाओं से पकड़ कर जबरदस्ती नौका से बाहर जल में मत फैंको। मैं स्वयं ही इस नौका को छोड़ कर जलमें प्रविष्ट हो जाऊंगा । साधु के ऐसे कहने पर भी यदि कोई अज्ञानी जीव शीघ्र ही बलपूर्वक साधु की भुजाओं को पकड़ कर उसे नौका से बाहर जल मे फैंकदे, तो जल में गिरा हुआ साधु मन मे हर्ष-शोक न करे। वह मनमें किसी तरह का संकल्प-विकल्प भी न करे और उनकी घात-प्रतिघात करने का तथा उनसे प्रतिशोध लेने का विचार भी न करे इस तरह वह मुनि राग द्वेष से रहित होकर समाधिपूर्वक जल में प्रवेश कर जाए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को हर परिस्थिति में समभाव बनाए रखने का आदेश दिया गया है। साधुता का आदर्श ही यह है कि वह दुःखों की तपती हुई दोपहरी में भी समभाव की सरस धारा को न सूखने दे। अपने आदेश का पालन होते हुए न देखकर यदि कोई नाविक उसे नदी की धारा में फैंकने की योजना बनाए और साधु उसे सुन ले तो उस समय साधु उस पर क्रोध न करे और न उसका अनिष्ट करने का प्रयत्न करे, प्रत्युत वह उससे मधुर शब्दों में कहे कि तुम मुझे फैंकने का कष्ट क्यों करते हो। यदि मैं तुम्हें बोझ रूप प्रतीत होता हूँ और तुम मुझे तुरन्त ही नौका से हटाना चाहते हो तो लो मैं स्वयं ही सरिता की धारा में उतर जाता हूं। उसके इतना कहने पर भी यदि कोई अज्ञानी नाविक उसका हाथ पकड़कर उसे जल में फैंक दे, तो साधु उस समय शांत भाव से अपने भौतिक देह का त्याग कर दे। परन्तु, उस समय उन व्यक्तियों पर मन से भी क्रोध न करे और न उनसे प्रतिशोध लेने का ही सोचे और उन्हें किसी तरह का अभिशाप भी न दे और न दुर्वचन ही कहे।

प्रस्तुत सूत्र में साधुता के आदर्श एवं उज्ज्वल स्वरूप का एक चित्र उपस्थित

किया गया है। साधु की इस विराट् साधना का यथार्थ रूप तो अनुभव गम्य ही है, शब्दों के द्वारा उस स्वरूप को प्रकट करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। आत्मा के इस विशुद्ध आचरण के सामने दुनिया की सारी शक्तियां निस्तेज हो जाती हैं इसके प्रखर प्रकाश के सामने सहस्र-सहस्र सूर्यों का प्रकाश भी धूमिल सा प्रतीत होता है। आत्मा की यही महान् शक्ति है जिसकी साधना करके मानव आत्मा से परमात्मा बनता है, साधक से सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

इस सूत्र में सचेलक साधु को ही निर्देश करके यह आदेश दिया गया है। क्योंकि, जिनकल्पी मुनि मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण ही रखते हैं, परन्तु, यहां पर वस्त्रों को फैलाकर फिर उन्हें समेटने का आदेश दिया गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि यह पाठ स्थविर कल्पी मुनि को लक्ष्य करके कहा गया है। परन्तु, सूत्रकार ने प्रस्तुत प्रकरण में वस्त्र की तरह पात्र का स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं किया, यह विद्वानों के लिए विचारणीय है।

यदि कोई नाविक साधु को जल में फैंक दे तो उस समय उसे क्या करना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाइज्जा, से अणासायणाए अणासायमाणे तओ सं० उदगंसि पविज्जा ॥ से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो उम्मुग्गनिमुग्गियं करिज्जा, मामेयं उदगं कन्नेसु वा अच्छीसु वा नक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जिज्जा, तओ० संजयामेव उदगंसि पविज्जा ॥ से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे दुब्बलियं पाउणिज्जा, खिप्पामेव उवहिं विगिंचिज्ज वा विसोहिज्ज वा, नो चेव णं साइज्जिज्जा, अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससि-

# णिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठिज्जा ॥ से भिक्खू वा० उदउल्लं वा २ कायं नो आमज्जिज्जा वा णो पमज्जिज्जा वा संलिहिज्जा वा निल्लिहिज्जा वा उव्वलिज्जा वा उव्वट्टिज्जा वा आयाविज्ज वा पया०, अह पु० विगओदओ मे काए छिन्न-सिणेहे काए तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा पयाविज्ज वा तओ सं० गामा० दूइज्जिज्जा ॥१२२॥

छाया—स भिक्षुर्वा० उदके प्लवमानः नो हस्तेन हस्तं पादेन पाद कायेन काय आसादयेत्, स अनासादनया अनासादमानः ततः संयतमेव उदके प्लवेत। स भिक्षुर्वा० उदके प्लवमान नो उन्मज्जनानिमज्जने कुर्यात् मा मे एतद् उदकं कर्णयोः वा अक्ष्णो. वा नासिकयो: वा मुखे वा पर्यापद्येत, ततः संयतमेव उदके प्लवेत। स भिक्षुर्वा उदके प्लवमानः दौर्बल्यं प्राप्नुयात्। क्षिप्रमेव उपधिं विगिंचेद—त्यजेत् वा विशोधयेत् वा नो चैवंसादयेत्। अथ पुनरेवं जानीयात् पारगः स्याद् उदकात् तीर प्राप्तुं ततः संयतमेव उदकार्द्रेण सस्निग्धेन वा कायेन उदकतीरे तिष्ठेत्। स भिक्षुर्वा० उदकार्द्रं वा २ काय नो आमार्जयेद् वा प्रमार्जयेद् वा संलिखेद् वा निलिखेद् वा उद्वलेद् वा उद्वेष्टयेद् वा आतापयेद् वा प्रतापयेद् वा, अथ पुनरेवं जानीयात् विगतोदको मे कायः छिन्नस्नेहः कायः तथाप्रकार कायं आमर्जयेद् वा प्रतापयेद् वा ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। उदगंसि—जल मे। पवमाणे—बहता हुआ। हत्थेण हत्थ—हाथ से हाथ को। पाएण पाय—पैर से पैर को। काएण काय—शरीर से शरीर को। नो आसाइज्जा—स्पर्श न करे। से—वह भिक्षु। अणासायणाए—हस्तादि का परस्पर स्पर्श न करने से फिर। अणासायमाणे—स्पर्श न करता हुआ। तओ—तदनन्तर। स०—साधु। उदगसि—जल मे। पविज्जा—बहे या तरे किन्तु अप्कायिक जीवो

की रक्षा के लिए काया के द्वारा किंचिन्मात्र भी पुरुषार्थ न करे । से भिक्खू वा — वह साधु या साध्वी । उदगंसि — जल मे । पवमाणे — बहता हुआ । उम्मुग्गनिमुग्गिय — नीचे से ऊपर आने जाने अर्थात् डुबकिएं लगाने का यत्न । नो करिज्जा — न करे । मे — मेरे । एयं — यह । उदगं — जल । कन्नेसु वा — कानों में । अच्छीसु वा — आखो में । नक्कंसि वा — नासिका मे । मुहंसि वा — अथवा मुख में । मापरियावज्जिज्जा — मत प्रवेश करे , इस प्रकार की भावना भी न करे । तओ — तदनन्तर । संजयामेव — साधु । उदगंसि — जल में । पविज्जा — बहता जाए । से भिक्खू वा — वह साधु या साध्वी । उदगंसि — जल में । पवमाणे — बहता हुआ । दुब्बलियं — दुर्बलता अर्थात् कष्ट को । पाउणिज्जा — प्राप्त करे तो । खिप्पामेव — शीघ्र ही । उवहिं — उपधि वस्त्रादि का । विगिंचिज्ज वा — त्याग कर दे या । विसोहिज्ज वा — थोडे से उपकरणो का त्याग कर दे । च — पुनः । एव — निश्चय । ण — वाक्यालकार मे है । नो साइज्जा — उपधि पर ममत्व न करे । अह— अथ । पुण— फिर । एव— इस प्रकार । जाणिज्जा— जाने कि यदि वह उपधि युक्त ही । पारए सिया— किनारे पर पहुंचने मे समर्थ है । उदगाओ— पानी से । तीरं— तीर को । पाउणित्तए— प्राप्त करने के समर्थ है । तओ— तो तीर पर पहुचकर । संजयामेव— सयम पूर्वक । उदउल्लेण वा— जल से भीगे हुए शरीर से अर्थात् जब तक शरीर से जल बिन्दु टपक रहे हैं या । ससिणिद्धेण वा— जल से उसका शरीर स्निग्ध है । काएण वा— या जब तक शरीर भीगा हुआ है तब तक । उदगतीरे— नदी के किनारे पर ही । चिट्ठिज्जा— ठहरे । से भिक्खू वा०— वह साधु या साध्वी । उदउल्लं वा— जलार्द्र-जब तक जल बिन्दु टपक रहे हो । कायं— तब तक उस भीगे हुए शरीर को । नो आमज्जिज्जा— हाथ से स्पर्श न करे । नो पमज्जिज्जा — प्रमार्जित न करे तथा । संलिहिज्जा— पूंछे नही । निलिहिज्ज वा— बार २ पोछे नही, और । उव्वलिज्ज वा— हाथ से मले नही तथा । उव्वट्टिज्जा वा— उबटन की भाति शरीर को मल कर मैल को उतारे नही । आयाविज्ज वा पया०— सूर्य के थोडे या अधिक आताप से शरीर को सुखाए भी नही । अह पु०— फिर इस प्रकार जाने कि । विगओदओ— मेरा शरीर जल बिन्दुओ से रहित और । छिन्न सिणेहे— स्नेह से रहित हो गया है अर्थात् अब गीला नही रहा है । मे काए— मेरे शरीर से न तो जल बिन्दु टपक रहे हैं और न वह गीला ही है । तहप्पगारं— तथा प्रकार के । कायं— शरीर को । आमज्जिज्ज वा— हाथ से स्पर्श करे । जाव— यावत् । पयाविज्ज वा— धूप मे आतापना दे । तओ— तदनन्तर । संजयामेव— संयमशील साधु । गामा०— ग्रामानुग्राम । दूइज्जिज्जा— विचरे ।

मूलार्थ— साधु वा साध्वी जलमे बहते समय अप्काय के जीवों की रक्षा के लिए अपने एक हाथ से दूसरे हाथ का एव एक पैर से दूसरे पैर का और शरीर के अन्य अवयवों का भी स्पर्श न करे । इस तरह वह परस्पर

शरीर एव उसके वस्त्र आदि सूख न जाए। परन्तु, वह अपने भीगे हुए वस्त्रों को निचोड़ कर धूप में सुखाने का तथा अपने शरीर को वस्त्र से पोंछकर या धूप में खड़ा होकर सुखाने का प्रयत्न भी नहीं करे। जब उसका शरीर स्वभाविक रूप से सूख जाए तब वह वहा से गाव की ओर विहार करे।

इस सम्बन्ध में वृत्तिकार का कहना है कि यदि वहा चोर आदि का भय हो तो वह अपने हाथों को लम्बा फैलाकर गीला शरीर भी सुखाकर गाव की ओर जा सकता है। परन्तु, आगम मे इस अपवाद का उल्लेख नहीं मिलने से यह जरा विचारणीय एवं चिन्तनीय है।

प्रस्तुत पाठ में नदी पार करके किनारे पर आने के पश्चात् उसे ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु वृत्तिकार ने इसका उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि यदि आगम मे बताई गई विधि से प्रवृत्ति न की गई हो तो उसकी शुद्धि के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। अन्यथा प्रतिक्रमण की कोई आवश्यकता नही रह जाती है।

आगम में मास में दो या तीन बार महानदी का उल्लंघन करने का निषेध किया गया है* तथा उसका प्रायश्चित भी बताया गया है†। इससे स्पष्ट होता है कि मास में एक बार महानदी पार करने का निषेध नहीं है, न उसे सबल दोष ही माना गया है और न उसके लिए प्रायश्चित का ही विधान‡ किया गया है। आगम मे यह भी बताया गया है कि यदि कोई साध्वी जल में गिर गई हो तो साधु उसे पकडकर निकाल ले*। आगम मे यह भी बताया गया है एक समय मे समुद्र के जल में† दो एवं नदी के जल में ३ जीव सिद्ध हो सकते हैं। इससे सूर्य के उजेले की तरह यह साफ हो जाता है कि आत्मा की शुद्धि एव अशुद्धि भावों पर आधारित है। दुर्भाव पूर्वक की गई द्रव्य हिंसा ही पापकर्म के बन्ध का कारण हो सकती है। आगम में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि विवेक एवं यतना पूर्वक चलते समय यदि साधु के पैर के नीचे आकर कुक्कट आदि कोई जीव मर जाए तब भी साधु को ईर्यापथिक क्रिया अथवा पुण्य कर्म का बन्ध होता है, सांप्रायिकी

---

* बृहत्कल्प सूत्र, उ० ४।

† निशीथ सूत्र, उ० १२।

‡ समवायाग सूत्र, २१।

* स्थानाग सूत्र, स्थान ५, उ० २।

† उत्तराध्ययन सूत्र, ३६, ५०-५४।

क्रिया का बंध नहीं होता‡। अस्तु वीतराग भगवान की आज्ञा के अनुसार विवेक पूर्वक नदी पार करने का कोई प्रायश्चित नहीं बताया गया है और न उसके लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण का ही उल्लेख किया गया है क्योंकि प्रायश्चित विवेक पूर्वक, सावधानी से काय करने का नहीं होता, वह तो असावधानी एवं आज्ञा के उल्लंघन करने का होता है।

साधु-साध्वी को रास्ते में किस तरह चलना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो परेहिं सद्धिं परिजविय २ गामा० दूइ० ,तओ० सं० गामा० दूइ-ज्जिज्जा ॥१२३॥**

छाया—स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्राम गच्छन् न परैः सार्द्धं परिजल्प्य २ ग्रामानुग्राम गच्छेत् ततः संयतमेव ग्रामानुग्राम गच्छेत्।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा—साधु अथवा साध्वी। गामाणुगामं—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को। दूइज्जमाणे—जाता हुआ। परेहिं—गृहस्थों के। सद्धिं—साथ। परिजविय २—बहुत बोलता हुआ। नो दूइ०—न जाए। तओ सं०—तदनन्तर साधु यत्नापूर्वक। गामा० दूइ०—ग्रामानुग्राम विहार करे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गृहस्थों के साथ वार्तालाप करता हुआ गमन न करे। किन्तु ईर्यासमिति का यथाविधि पालन करता हुआ ग्रामानुग्राम विहार करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु या साध्वी को विहार करते समय या चलते समय अपने साथ के अन्य साधु से या गृहस्थ से बातें नहीं करनी चाहिएं। क्योंकि, बातें करने से मार्ग में आने वाले जीव जन्तुओं को बचाया नहीं जा सकेगा तथा मार्ग का सम्यक्तया अवलोकन भी नहीं हो सकेगा। आगम में यहां तक कहा गया है कि साधु को चलते समय पांचों तरह का स्वाध्याय— १ वाचना, २ पृच्छना, ३ परिवर्तना,

‡ भगवती सूत्र, १८, ८।

४ अनुप्रेक्षा और ५ धर्मकथा का स्वाध्याय भी नहीं करना चाहिए*। इस तरह अपने योगों को सब ओर से हटाकर ईर्यासमिति का पालन करना चाहिए।

जिस नदी मे जघा प्रमाण पानी हो उस नदी को साधु किस तरह पार करे, इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० गामा० दू० अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिज्जा २ एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा तओ सं० उदगंसि आहारियं रीएज्जा ॥ से भिक्खू वा० आहारिय रीयमाणे नो हत्थेण हत्थं जाव आणासायमाणे तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्ज। से भिक्खू वा० जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे नो सायावड़ियाए नो परिदाहवडियाए मइ महालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा, तओ संजयामेव जंधा संतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओसंजयामेव उदउल्लेण वा २ काएण दगतीरए चिट्ठिज्जा ॥ से भि० उदउल्लं वा काय ससि० कायं नो आमज्जिज्ज वा नो० अह पु० विगओदए मे काए छिन्नसिणेहे तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा० पयाविज्ज वा तओ सं० गामा० दूइ० ॥१२४॥

---

* उत्तराध्ययन सूत्र, २४, ८।

छाया—स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य जघासंतार्यमुदकं स्यात्, सः पूर्वमेव सशीर्षोपरिकं काय पादं च प्रमृज्य २ एकं पादं जले कृत्वा-एकं पादं स्थले कृत्वा ततः संयतमेव उदके यथाऽऽर्यं रीयेत। स भिक्षुः० यथार्य रीयमाणो (गच्छन्) न हस्तेन हस्तं यावद् अनासादयन् ततः संयतमेव जंघासन्तार्यमुदकं यथार्यं रीयेत। स भिक्षुर्वा० जंघासन्तार्यमुदकं यथार्यं रीयमाणो न साताप्रतिपत्त्या नो परिदाह प्रतिपत्त्या महति महालये उदके कायं व्युत्सृजेत्, ततः संयतमेव जघासंतार्यमुदकं यथार्यं रीयेत. अथ पुनरेव जानीयात् पारगः स्यादुदकात् तीरं प्राप्तुं, ततः संयतमेव उदकार्द्रेण वा २ कायेन दकतीरके तिष्ठेत्। स भिक्षुर्वा० उदकार्द्रं वा कायं सस्निग्धं वा कायं न आमृज्यात् वा न। अथ पुनरेवं जानीयात् विगतोदकः मे कायःछिन्नस्नेहः तथाप्रकारं कायं आमृज्याद् वा० प्रतापयेद् वा ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ—से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। गामा० दू०—ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ। से—उसके। अंतरा—मार्ग में। जघा संतारिमे—जघा से तैरने-पार करने योग्य। उदगे—पानी। सिया—हो तो। से—वह भिक्षु। पुव्वामेव—पहले ही। ससीसोवरियं कायं—अपने शरीर को मस्तक। य—से लेकर। पाए—पैरों तक। पमज्जिज्ज वा—प्रमार्जित करे और प्रमार्जित करके। एगं पायं—एक पैर को। जले किच्चा—जल में रखकर। एगं पायं—दूसरे पैर को। थले किच्चा—स्थल में-जल से बाहर रखकर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—संयम-पूर्वक। उदगंसि—जल में। अहारियं—जिस प्रकार तीर्थंकरों ने ईर्यासमिति विषयक कथन किया है उसी प्रकार। रीइज्जा—गमन करे। से भि०—वह साधु या साध्वी। अहारियं—जघा प्रमाण जल में ईर्यासमिति पूर्वक। रीयमाणे—चलता हुआ। नो हत्थेण हत्थं जाव—हाथ से हाथ यावत् शरीर के अवयवों का स्पर्श न करे और। अणासायमाणे—हाथ आदि का स्पर्श न करता हुआ। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—यत्नापूर्वक। जघा संतारिमे उदए—जघा द्वारा तैरने-पार करने योग्य पानी में। अहारियं—जैसे तीर्थंकरादि ने ईर्यासमिति का वर्णन किया है उसी प्रकार। रीइज्जा—उसमें गमन करे। से भिक्खू वा०—वह साधु अथवा साध्वी। जघातारिमे—जंघाप्रमाण-जघा द्वारा तरने योग्य। उदय—जल में। अहारियं—यथाह—ईर्यासमिति पूर्वक। रीयमाणे—चलता हुआ साधु। सायावडियाए—साता के लिए। परिदाह वडियाए—दाह शांति के लिए। महइ महालयंसि—बड़े विस्तृत और गहरे। उदगंसि—

पानी में। काय—शरीर को। नो विउसिज्जा—प्रविष्ट न करे, अर्थात् साता के लिए गहरे जल मे प्रवेश न करे। तम्रो—तदनन्तर। सजयामेव—यत्नापूर्वक। जंघासतारिमे उदए—जघा-प्रमाण जल मे। अहारियं—यथार्ह—ईर्यासमिति पूर्वक। रीएज्जा—चले गमन करे। अह पुण एव जाणिज्जा—अथ पुन. इस प्रकार जाने, यथा। पारएसिया—मैं उपधि के साथ पार हो सकता हू। तव उपधि का परित्याग न करे और। उदगाओ—जल मे से। तीरं—तीर को। पाउणित्तए—प्राप्त करे। तम्रो—तदनन्तर। संजयामेव—सयम पूर्वक। उदउल्लेण वा २ कायेण—जब तक शरीर पर से जल विन्दु गिरते हैं और शरीर गीला है तब तक। दगतीरए चिट्ठिज्जा—पानी के किनारे पर ही खडा रहे। से भि०—वह साधु या साध्वी। उदउल्ल वा कायं—जलार्द्र काय को, अर्थात् जिससे जल विन्दु टपक रहे हो तथा। ससिकायं—जल से भीगे हुए शरीर को। नो आमज्जिज्ज वा—स्पर्श न करे। जाव—यावत्। नो०—आतापित न करे, धूप में न बैठे। अह पु०—अथ फिर यदि इस प्रकार जाने कि। मे—मेरा। काय—शरीर। विगम्रोदए—विगतोदक—सचित्त जल से रहित हो गया है तथा। छिन्न सिणेहे—किंचिन्मात्र भी आर्द्र-गीला नही रहा। तहप्पगार—तथा प्रकार के। काय—शरीर को। आमज्जिज्ज वा—हाथ से स्पर्श यावत् पोछे और। पयाविज्ज वा—सूर्य का आताप दे अर्थात् जल को अचित्त हुआ जानकर शरीर आदि को पोछे सुखावे। तम्रो—तदनन्तर। स०—यत्नापूर्वक। गामा०—ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा—विहार करे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यदि मार्ग मे जंघा प्रमाण जल पड़ता हो तो उसे पार करने के लिए साधु सिर से लेकर पैर तक शरीर की प्रतिलेखना करके एक पैर जल मे और एक पैर स्थल मे रखकर, जैसे भगवान ने ईर्यासमिति का वर्णन किया है उस के अनुसार उस पानी के स्रोत को पार करना चाहिए। उस नदी मे चलते समय मुनि को हाथो और पैरो का परस्पर स्पर्श नही करना चाहिए। और शारीरिक शान्ति के लिए या दाह उपशान्त करने के लिए गहरे और विस्तार वाले जल मे भी प्रवेश नही करना चाहिए और उसे यह अनुभव होने लगे कि मैं उपधि अर्थात् उपकरणादि के साथ जल से पार नही हो सकता तो उपकरणादि को छोड़ दे, और यदि यह जाने कि मै उपकरणादि के साथ पार हो सकता हू तब उपकरण सहित पार हो जाए। परन्तु, पार पहुचने के पश्चात् जब तक उसके शरीर से जल बिन्दु टपकते रहे

और जब तक शरीर गीला रहे तब तक जल के किनारे पर ही खडा रहे और तब तक अपने शरीर को हाथ से स्पर्श भी न करे यावत् आतापना भी न देवे। जब तक शरीर बिलकुल सूख न जाए अर्थात् उसको यह निश्चय हो जाए कि मेरा शरीर पूर्णतया सूख गया है, तब शरीर को प्रमार्जना करके ईर्यासमिति पुर्वक ग्रामानुग्राम विचरने का प्रयत्न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि विहार करते समय रास्ते में नदी आ जाए और उसमे जंघा प्रमाण पानी हो और उसके अतिरिक्त अन्य मार्ग न हो तो मुनि उसे प र करके जा सकता है। इसके लिए पहले वह सिर से पैर तक अपने शरीर का प्रमार्जन करे। इस प्रसंग में वृत्तिकार का कहना है कि मुख से नीचे के भाग का रजोहरण से और उससे ऊपर के भाग का मुखवस्त्रिका से प्रमार्जन करे। परन्तु, मुखवस्त्रिका से प्रमार्जन की बात आगम अनुकूल प्रतीत नहीं होती। क्योंकि, मुखवस्त्रिका का प्रयोग भाषा की सावद्यता को रोकने एवं वायुकायिक जीवों की रक्षा की दृष्टि से किया जाता है न कि मुंह आदि पोंछने के लिए। शरीर आदि का प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण एवं प्रमार्जनिका रखने का विधान है। और प्रमार्जनिका शरीर के प्रमार्जन के लिए ही रखी गई है। अतः यहां रजोहरण एव प्रमार्जनिका से शरीर का प्रमार्जन करना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

इस तरह शरीर का प्रमार्जन करके विवेक पूर्वक नौका पर सवार होने के प्रकरण मे बताई गई विधि के अनुसार साधु एक पैर जल में और दूसरा पैर स्थल (पानी के ऊपर के आकाश प्रदेश) पर रखकर गति करे। परन्तु, भैंसे की तरह पानी को रौंदता हुआ न चले और मन में यह भी कल्पना न करे कि मैं पानी में उतर तो गया हूँ अब कुछ गहराई में डुबकी लगाकर शरीर की दाह को शान्त कर लू। उसे चाहिए कि वह अपने हाथ-पैरों को भी परस्पर स्पर्श न करता हुआ, अप्कायिक जीवों को विशेष पीड़ा न पहुचाता हुआ नदी को पार करे। यदि नदी पार करते समय उसे अपने उपकरण बोझ रूप प्रतीत होते हों और उन्हें लेकर नदी से पार होना कठिन प्रतीत होता हो, तो वह उन्हें वहीं छोड़ दे। यदि उपकरण लेकर पार होने में कठिनता का अनुभव न होता हो तो उन्हें लेकर पार हो जाए। परन्तु, नदी के किनारे पर पहुंचने के पश्चात् जब तक शरीर एवं वस्त्रों से पानी टपकता हो या वे गीले हों तब तक वह वहीं खड़ा रहे उस समय वह अपने हाथ से शरीर का स्पर्श न करे और न वस्त्रों को ही निचोड़े। उनके सूख जाने पर अपने शरीर का प्रतिलेखन करके विहार करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त जंघा का अर्थ साथल पर्यन्त पानी नहीं, परन्तु गोडे से नीचे के भाग तक पानी समझना चाहिए। क्योंकि, यदि साथल या कमर तक पानी होगा तो ऐसी स्थिति में पैरों को उठाकर आकाश में रखना कठिन होगा। और कोष में भी इसका अर्थ गोडे से नीचे का भाग ही किया है*। वृत्तिकार ने भी इसी बात को पुष्ट किया है। अतः जानु का अर्थ जंघा या गोडे तक पानी का होना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

नदी पार करने के पश्चात् साधु को किस प्रकार चलना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे नो मट्टियागएहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय २, विकुज्जिय २, विफालिय २ उम्मग्गेण हरियवहाए, गच्छिज्जा जमेयं पाएहिं मट्टियं खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु. माइट्ठाणं संफासे नो एवं करिज्जा से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहिज्जा तओ० सं० गामा० ॥ से भिक्खू वा २ गामानुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणी वा फ० पा० तो० अ० अग्गल पासगाणि वा गड्डाओ वा दरीओ वा सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा नो उज्जु० केवली० से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा २ से तत्थ पयलमाणे वा २ रुक्खाणि गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय २ उत्तरिज्जा, जे तत्थ पाडिपहिया उवागच्छंति ते पाणी जाइज्जा २, तओ सं० अवलंबिय २ उत्तरिज्जा तओ सं० गामा दू०

* जंघा (स्त्री०) जांघ, जानु के नीचे का भाग। प्राकृ० श० म० पृ० ४२८।

से भिक्खू वा० गा० दूइज्जमाणे अंतरा से जवसाणि वा सगडाणि वा रहाणि वा सचक्काणि वा परचक्काणि वा से णं वा विरूवरूवं संनिरुद्धं पेहाए सइ परक्कमे सं० नो उ०, से णं परो सेणागओ वइज्जा आउसंतो ! एस णं समणे सेणाए अभिनिवारियं करेइ, से णं वाहाए गहाय आगसह, से णं परो वाहाहिं गहाय आगसिज्जा, तं नो सुमणे सिया जाव समाहिए तओ सं० गामा० दू० ॥१२५॥

छाया—स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् न मृत्तिकागतैः पादैः हरितानि छित्वा २ विकुब्ज्य २ विपाट्य २ उन्मार्गेण हरितवधाय गच्छेत्। यदेनां पादाभ्यां मृत्तिकां क्षिप्रमेव हरितानि अपहरन्तु, मातृस्थानं संस्पृशेत् न एवं कुर्यात् स पूर्वमेव अल्पहरितं मार्गं प्रतिलेखयेत् ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्। स भिक्षुर्वा० वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य वप्राणि वा परिखा वा प्राकाराणि वा तोरणानि वा अर्गलानि वा अर्गलपाशका वा गर्ता वा दर्यो वा सति परक्रमे संयतमेव परिक्रामेन्न ऋजुकं गच्छेत्, केवली ब्रूयाद् आदानमेतत्, स तत्र पराक्रममाणः प्रस्खलेद् वा २ स तत्र प्रसखलन् वा २ वृक्षान् वा गुच्छानि वा गुल्मानि वा लताः वा तृणानि वा गहनानि वा हरितानि वा अवलम्ब्य २ उत्तरेत् ये तत्र प्रातिपथिका उपागच्छन्ति तेभ्यः पाणिं याचेत् याचित्वा ततः संयतमेव अवलम्ब्य २ उत्तरेत् ततः संयतमेव ग्रामाग्रामं गच्छेत्। स भिक्षुर्वा वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य यवसानि वा शकटानि वा रथा वा स्वचक्राणि वा परचक्राणि वा स वा विरूबरूपं सनिरुद्धं प्रेक्ष्य सति परक्रमे संयतमेव पराक्रमेत न ऋजुकं गच्छेत् स परः सेनागतः वदेत; आयुष्मन्! एष श्रमणः सेनायाः अभिनिवारिकां

**करोति एन बाहुना गृहीत्वा आकर्षेत स परः बाहुभ्यां गृहीत्वा आकर्षेत् तन्न सुमनाः स्यात्, यावत् समाधिना, संयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेद ।**

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा—साधु या साध्वी । गामा०—ग्रामानुग्राम । दूइज्जमाणे—जाते हुए । मट्टियाहिं—मिट्टी या कीचड से भरे हुए । पाएहिं—पैरों की मिट्टी या कीचड उतारने के लिए। हरियाणि—हरी वनस्पति को । छिंदिय २—छेद २ कर । विकुज्जिय २—या हरे पत्ते एकत्रित करके । विफालिय २—हरित वनस्पति को छील कर मिट्टी को न उतारे तथा मिट्टी को उतारने के लिए। हरिय वहाए—हरित काय के वध के लिए। उम्मग्गेण—उन्मार्ग से । नो गच्छेज्जा—गमन न करे। जमेयं—जैसे यह । पाएहिं—पैरों की । मट्टियं—मिट्टी को । खिप्पामेव—शीघ्र ही । हरियाणि—हरितकाय । अवहरंतु—अपहरण करे, अर्थात् हरित काय के स्पर्श से स्वयमेव मिट्टी उत्तर जावेगी, यदि इस प्रकार के भाव लाकर वह हरियाली पर चलता है, तो । माइट्ठाण संफासे—मातृस्थान-कपट का सेवन करता है अत. । एव—इस प्रकार । नो करिज्जा—न करे किन्तु । से—वह भिक्षु । पुव्वामेव—पहले ही । अप्पहरियं—हरितकाय से रहित । मग्ग—मार्ग का । पडिलेहिज्जा—प्रतिलेखन करे । तओ—तदनन्तर । स०—यत्नापूर्वक । गामा०—ग्रामानुग्राम । दू०—विहार करे । से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी । गामाणुगाम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को । दूइज्जमाणे—जाता हुआ । से—उसके । अतरा—मार्ग मे यदि । वप्पाणि वा—खेत की क्यारियें या । क०—कोट की खाई या । प०—प्रकोट । तो०—तोरण-द्वार या । अ०—अर्गला-कपाट निरोधक कीली । अग्गल पासगाणि वा—अर्गला पाशक । गड्डाओ वा—गर्त खड्डे अथवा । दरीओ—पर्वत की गुफायें आ जाए तो । सइ परक्कमे—अन्य मार्ग के होने पर वह उस मार्ग से । संजयामेव—यत्नापूर्वक । परिक्कमिज्जा—गमन करे । नो उज्जू०—किन्तु सीधा न जावे अर्थात् अन्य मार्ग के सद्भाव मे उक्त विषम मार्ग से गमन न करे । केवली०—केवली भगवान कहते है कि यह कर्म बन्धन का कारण है । से—वह साधु । तत्थ—उस निषिद्ध माग में । परक्कममाणे—चलता हुआ कदाचित् । पयलिज्ज वा २—फिसलकर गिर पडे, अथवा । से—वह भिक्षु । तत्थ—उस स्थान पर । पयलमाणे वा—फिसलता एव गिरता हुआ । रुक्खाणि वा—वृक्षो को अथवा । गुच्छाणि वा—गुच्छो को । गुम्माणि वा—अथवा गुल्मों को । लयाओ—लताओ को । वल्लीओ वा—वल्लियो अथवा । तिणाणि—तृणो को । गहणाणि वा—अथवा आकीर्ण वनस्पति को । अवलंबिय अवलंबिय—पकड २ कर । उत्तरिज्जा—उतरे अथवा । से तत्थ—जो वहा पर । पडिपहिया—प्रति पथिक प्रतिपान्थ । उवागच्छति—आते हैं । ते—उनसे । पाणीजाइज्जा२—हाथ मांग २ कर, जैसे कि हे आयुष्मन् ! तू मुझे अपना हाथ दे जिसे पकडकर मैं उतर सकू । तओ—तदनन्तर । संजयामेव—यत्नापूर्वक । अवलंबिय २—उसका सामने से आने वाले पथि

का हाथ पकड २ कर। उत्तरिज्जा—उतरे इन दोषो को देखता हुआ साधु विषम मार्ग को छोड़कर। तओ—तदनन्तर। सं—यत्नायुक्त साधु। गा०—ग्रामानुग्राम। दु०—विहार करे। से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी। गामा० दूइज्जमाणे—ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ। से—उसके। अतरा—मार्ग में अर्थात् मार्ग के मध्य में। जवसाणि वा—यव और गोधूमादि धान या। सगड़ाणि वा—शकट आदि गड्डा-गड्डी आदि। रहाणि वा—अथवा रथ अथवा। सचक्काणि—स्वचक्र-स्वकीय राज्य सेना। पर चक्काणि वा—पर चक्र पर राजा की सेना। सेणं वा—सेना को। विरूवरूवं—नाना प्रकार के। संनिरुद्धं—एकत्र मिले हुए संघ को। पेहाए—देखकर। सइपरक्कमे—जाने योग्य अन्य मार्ग के सद्भाव मे। संजयामेव—यत्नापूर्वक। परक्कमिज्जा—उसी मार्ग मे जाने का प्रयत्न करे किन्तु। नो० उ०—सरल-सीधे मार्ग से न जावे कारण कि उधर से जाने पर अनेक प्रकार के कष्टो की सम्भावना है यथा—जब साधु सेना युक्त मार्ग मे प्रयाण करेगा तब। णं—वाक्यालकार में है। से—वह। परो—सेनापति आदि साधु को देखकर। सेणागओ—सेना मे रहने वाला पुरुष किसी से। वइज्जा—कहे कि। आउसंतो—हे आयुष्मन् सद् गृहस्थ! एसणं—यह। समणे—श्रमण साधु। सेणाए—सेना का। अभिनिवारियं—गुप्तचरी (जासूसी)। करेइ—करता है अर्थात् यह श्रमण हमारी सेना का भेद लेता फिरता है। णं—वाक्यालकार मे है। से—इसकी। बाहाए—भुजाओ को। गहाय—पकड कर। आगसह—आकर्षित करो अर्थात् आगे पीछे खेंचो। णं—पूर्ववत्। से—वह। परो—अन्य आज्ञा पाने वाला व्यक्ति उस साधु को। भुजाहि—भुजाओ से। गहाय—पकडकर। आगसिज्जा—खींच कर आगे-पीछे करे। तं—तो वह साधु। नो सुमणेसिया—न तो प्रसन्न हो और न रुष्ट हो किन्तु। जाव—यावत्। समाहिए—समभाव से विचरे। तओ—तदनन्तर। सं—संयत-साधु। गामा०—ग्रामानुग्राम। दुइ०—विहार करे।

मूलार्थ—साधु अथवा साध्वी ग्रामानुग्राम विचरते हुए मिट्टी और कीचड से भरे हुए पैरो को, हरितकाय का छेदन कर, तथा हरे पत्तों को एकत्रित कर उनसे मसलता हुआ मिट्टी को न उतारे, और न हरितकाय का वध करता हुआ उन्मार्ग से गमन करे। जैसे कि-ये मिट्टी और कीचड़ से भरे हुए पैर हरी पर चलने से हरितकाय के स्पर्श से स्वतः ही मिट्टी रहित हो जाएगे, ऐसा करने पर साधु को मातृस्थान (कपट) का स्पर्श होता है। अतः साधु को इस प्रकार नही करना चाहिए। किन्तु, पहले ही हरी से रहित मार्ग को देखकर यत्नपूर्वक गमन करना चाहिए। और यदि मार्ग के मध्य में खेतो के क्यारे हो, खाई हो, कोट

हो, तोरण हो, अर्गला और अर्गलापाश हो, गर्त हो तथा गुफाएं हो, तो अन्य मार्ग के होते हुए इस प्रकार के विषम मार्ग से गमन न करे। केवली भगवान कहते है कि यह मार्ग दोप युक्त होने से कर्म बन्धन का कारण है। जैसे कि-पैर आदि के फिसलने तथा गिर पडने से शरीर के किसी अग-प्रत्यंग को आघात पहुचने के साथ साथ जो वृक्ष, गुच्छ-गुल्म और लतायें एव तृण आदि हरित काय को पकड़ कर चलना या उतरना है और वहां पर जो पथिक आते है उनसे हाथ मागकर अर्थात् हाथ के सहारे की याचना करके और उसे पकड़ कर उतरना है, ये सब दोष युक्त है, इसलिए उक्त सदोष मार्ग को छोडकर अन्य निर्दोष मार्ग से एक ग्राम से दूसरे ग्राम को ओर प्रस्थान करे। तथा यदि मार्ग में यव और गोधूम आदि धान्य, शकट, रथ, स्वकोय राजा की या पर राजा की सेना चल रही हो, तब नाना प्रकार की सेना के समुदाय को देखकर, यदि अन्य गन्तव्य मार्ग हो तो उसी मार्ग से जाए किन्तु कष्टोत्पादक इस सदोष मार्ग से जाने का प्रयत्न न करे। इस मार्ग से जाने मे कष्टोत्पत्ति की सम्भावना है। जैसे कि जब उस मार्ग से साधु जाएगा तो सम्भव है उसे देखकर कोई सैनिक किसी दूसरे सैनिक को कहे कि आयुष्मन्! यह श्रमण हमारी सेना का भेद लेने आया है। अतः इसे भुजाओ से पकड़ कर खैंचो अर्थात् आगे-पीछे करो, और तदनुसार वह सैनिक साधु को पकड़ कर खैंचे, परन्तु साधु को उस समय उस पर न प्रसन्न और न रुष्ट होना चाहिए, किन्तु उसे समभाव एवं समाधि पूर्वक एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को तीन बातों को ध्यान में रखने का आदेश दिया है—१ नदी पार करके किनारे पर पहुचने के बाद वह अपने पैरों मे लगा हुआ कीचड़ हरित काय (हरी वनस्पति—घास आदि) से साफ न करे और न इस भावना से हरियाली पर चले कि इस पर चलने से मेरे पैर स्वतः ही साफ हो जाएंगे, २ यदि अन्य

मार्ग हो तो जिस मार्ग में खेत की क्यारियां, खड्डे, गुफाएं आदि पड़ती हों उस विषम मार्ग से भी न जाए, क्योंकि पैर फिसल जाने से वह गिर पड़ेगा और परिणाम स्वरूप शरीर में चोट आएगी या कभी बचाव के लिए वृक्ष आदि को पकड़ना पड़ेगा, इससे वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा होगी और ३ जिस मार्ग पर सेना का पड़ाव हो या सैनिक घूम रहे हों तो अन्य मार्ग के होते हुए उस मार्ग से भी न जाए। क्योंकि वे साधु को गुप्तचर समझकर उसे परेशान कर सकते हैं एव कष्ट भी दे सकते हैं। कभी अन्य मार्ग न होने पर जिस मार्ग पर सेना का पड़ाव हो उस मार्ग से जाते हुए साधु को यदि कोई सैनिक पकड़ कर कष्ट देने लगे तो उस समय उसे उस पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। ऐसे विकट समय मे भी उसे समभाव पूर्वक उस वेदना को सहन करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु को अपने पैरों मे लगी हुई मिट्टी को साफ करने के लिए वनस्पति काय की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जैसे अपवाद मार्ग मे मास में एक बार महानदी पार करने का आदेश दिया गया है, वैसे वृक्ष पर चढ़ने एव हरित-काय को कुचलते हुए चलने का आदेश नहीं दिया गया है, अपितु उसका निषेध किया गया है और वृक्ष पर चढ़ने वाले को प्रायश्चित का अधिकारी बताया है*।

इस तरह साधु को वनस्पति काय की हिंसा न करते हुए एवं विषम मार्ग तथा सेना से युक्त रास्ते का त्याग करके सम मार्ग से विहार करना चाहिए। जिससे स्व एव पर की विराधना न हो।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडि-वहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा-आउ० समणा! केवइए एस गामे जाव रायहाणी वा? केवईया इत्थ आसा हत्थी गामपिंडोलगा मणुस्सा परिवसंति? से**

बहुभत्ते बहुउदए बहुजणे बहुजवसे से अप्पभत्ते अप्पुदए अप्पजणे अप्पजवसे ? एयप्पगाराणि पसिणाणि पुच्छिज्जा, एयप्प० पुट्ठो वा अपुट्ठो वा नो वागरिज्जा.एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं० ॥१२६॥

छाया—स भिक्षुर्वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्रतिपथिकाः एव वदेयुः आयुष्मन् श्रमण ! कियान् एष ग्रामः ? वा यावत् राजधानी वा कियन्तः अत्र अश्वाः हस्तिन ग्रामपिण्डा वलका मनुष्याः परिवसन्ति ? स बहुभक्त बहूयदकः बहुजनो स ( अथ ) अल्पभक्तः अल्पोदकः अल्पजनः अल्पयवसः ? एतत्प्रकारान् प्रश्नान् पृच्छेत् एतत् प्रकारान् प्रश्नान् पृष्टो वा अपृष्टो वा नो व्याकुर्यात् । एवं खलु यत्० सर्वार्थैः० । इति ब्रवीमि ।

पदार्थ–से भिक्खू वा —वह साधु या साध्वी । गामाणुगाम —ग्रामानुग्राम । दुइज्जमाणे —विहार करता हुआ । अतरा से —उसके मार्ग मे । पाडिवहिया —सम्मुख-सामने आने वाले पथिक । मुसाफिर —यदि । उवागच्छिज्जा —आ जावे और । ण —वाक्यालकार मे । ते —वे पथिक । एव वइज्जा —इस प्रकार कहे । आउ०समणा —आयुष्मन् श्रमण ! । केवइया —कितने प्रमाण मे । एस —यह । गामे वा —ग्राम है । जाव —यावत् । रायहाणी वा —राजधानी है ? और । केवईया —कितने । इत्थ —यहा पर । आसा —अश्व-घोड़े । हत्थी —हाथी हैं, तथा यहा पर कितने । गामपिण्डोलगा —ग्राम याचक ग्राम में भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करने वाले भिखारी लोग हैं, तथा यहा पर कितने । मणुस्सा —मनुष्य । परिवसति —निवास करते हैं तथा । से —इस ग्राम आदि में क्या । बहुभत्ते —आहारादि खाद्य पदार्थ प्रचुर हैं ? बहु उदय —यहा पानी पर्याप्त है ? बहुजणे —बहुत लोग वसते है । बहुजवसे —बहुत धान्यादि है ? से —अथवा । अप्पभत्ते —आहार । अप्पुदए —पानी आदि थोडा है । अप्पजणे —लोग भी कम है और । अप्पजवसे —अल्प धान्यादि है ? एयप्पगाराणि —इस प्रकार के । पसिणाणि —प्रश्नो को यदि । पुच्छिज्जा —पूछे तब साधु । एयप्प० —इस प्रकार के प्रश्नो का । पुट्ठो वा —पूछने पर या । अपुट्ठो वा —न पूछने पर भी । नो वागरिज्जा —उत्तर न दे । एवं —इस प्रकार । खलु —निश्चय ही । तस्स —उस । भिक्खूस्स —साधु या साध्वी का । सामग्गिय —समग्र-सम्पूर्ण आचार

है। ज—जो। सव्वट्ठेहिं —ज्ञान, दर्शन और चारित्र से तथा। समइए—समिति मे। सहिए—युक्त हुआ। सया सदा। जएज्जयासि—यत्न करे। त्तिवेमि इस प्रकार मैं कहता हू।

**मूलार्थ**—साधु अथवा साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उसके मार्ग में यदि कोई सामने से और पथिक आजाए और साधु से पूछे कि—आयुष्मन् श्रमण ! यह ग्राम यावत् राजधानी कैसी है ? यहा पर कितने घोडे, हाथी और ग्राम याचक है, तथा कितने मनुष्य निवास करते है ? क्या इस ग्राम यावत् राजधानी में अन्न, पानी, मनुष्य एवं धान्य बहुत है या थोड़ा है ? ऐसे प्रश्नों को पूछने पर साधु जवाब न देवे और उसके बिना पूछे भी ऐसी बातें न करे। परन्तु, वह मौन भाव से विहार करता रहे और सदा सयम साधना में सलग्न रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि विहार करते समय रास्ते में यदि कोई पथिक मुनि से पूछे कि—जिस गांव या शहर से तुम आ रहे हो उसमें कितने हाथी-घोड़े हैं, कितना अन्न है, कितने मनुष्य हैं अर्थात वह गांव धन—धान्य से सम्पन्न है या अभाव ग्रस्त है ? तो मुनि को इसका कोई उत्तर नहीं देना चाहिए। क्योंकि, इस चर्चा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और न यह चर्चा आत्म विकास में ही सहायक है। यह तो एक तरह की विकथा है, जो आध्यात्मिक प्रगति में बाधक मानी गई है। इसलिए साधु को उस समय मौन रहना चाहिए। यदि पूछने वाला कोई आध्यात्मिक साधक हो और उससे आध्यात्मिक विचारों के प्रसार होने की सम्भावना हो तो साधु के लिए उक्त प्रश्नों का उत्तर देने का निषेध नहीं है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह प्रतिबन्ध इस लिए लगाया गया है कि केवल व्यर्थ की बातों मे साधक का समय नष्ट न हो।

कुछ हस्त लिखित प्रतियों में "अप्पज्झवसे" पद के आगे यह पाठ मिलता है— "एयप्पगाराणि पसिणाणि पुट्ठो वा अपुट्ठो वा नो आइक्खेज्जा एयप्पगाराणि पसिणाणि नो पुच्छेज्जा।" और उपाध्याय पार्श्वचन्द्र एव राजकोट से प्रकाशित आचाराङ्ग सूत्र (मूल एवं भाषान्तर) मे यह पाठ उपलब्ध होता है— "एयप्पगाराणि पसिणाणि पुट्ठो नो आइक्खेज्जा एयप्पगाराणि पसिणाणि नो पुच्छेज्जा।" इन उभय पाठोंमे केवल शब्दों के हेर-फेर है, परन्तु इनके अर्थ मे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

प्रस्तुत सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में हाथी-घोड़ों का अधिक उपयोग होता था और उन्हीं के आधार पर गांव के वैभव का अनुमान लगाया जाता था। इस कारण प्रश्नों की पंक्ति में सब से पहले उनका उल्लेख किया गया है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'त्तिबेमि' पद भी मिलता है, जिसकी व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

## तृतीय अध्ययन-ईर्येषणा

### तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के अन्तिम सूत्रों में जो गमन विधि का उल्लेख किया गया है, उसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा जाव दरीओ वा जाव कूडागाराणि वा पासायाणि वा नूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वयगि० रुक्खं वा चेइयकडं थूभं वा चेइयकडं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्झाइज्जा, तओ सं० गामा० ॥ से भिक्खू वा गामा० दू० माणे अंतरा से कच्छाणि वा दवियाणि वा नूमाणि वा वलयाणि वा गहणाणि वा गहणविदुग्गाणि वा वणाणि वा वणवि० पव्वयाणि वा पव्वयवि० अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा नईओ वा वावीओ वा पुक्खरिणीओ वा दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय २ जाव निज्झाइज्जा, केवली०, जे तत्थ मिगा वा पसू वा पंखी वा सरीसिवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा, खहचरा वा सत्ता ते उत्तसिज्ज वा

वित्तसिज्ज वा वाडं वा सरणं वा कंखिज्जा, वारित्ति मे अयं समणे, अह भिक्खूणं पु० जं नो बाहाओ पगिज्झिय २ निज्झाइज्जा, तओ संजयामेव आयरिउवज्झायएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥१२७॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तराले तस्य वप्राणि वा यावत्, दर्यो वा यावत् कूटागाराणि वा प्रासादा वा नूमगृहाणि (भूमीगृहाणि)वा वृक्षगृहाणि वा पर्वतगृहाणि वा वृक्ष वा चैत्यकृत,स्तूपं वा चैत्यकृतं आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा नो बाहू प्रगृह्य २ अंगुल्या उद्दिश्य २ अवनम्य २ उन्नम्य २ निध्यायेत्। ततः सयतमेव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्राम गच्छन् अन्तराले तस्य कच्छा वा, द्रविकानि वा निम्नानि वा बलानि वा गहनानि वा गहनविदुर्गाणि वा वनानि वा वनवि० वा पर्वता वा पर्वतवि० वा अवटा वा तडागा वा ह्रदा वा नद्यो वा वाप्यो वा पुष्करिण्यो वा दीर्घिका वा गुञ्जालिका वा सरासि वा सरःपक्तय वा सरःसरःपंक्तयः वा नो बाहु प्रगृह्य २ यावत् निध्यायेत, केवली ब्रूयात् आदानमेतत्। ये तत्र मृगा वा पशवो वा पक्षिणो वा सरिसृपा वा सिंहा वा जलचरा वा स्थलचरा वा खेचरा वा सत्त्वास्ते उत्त्रसेयुः वा वित्रसेयुः वा वाट वा शरण वा कांक्षेयुः वारयतीति मे अयं श्रमणः अथ भिक्षूणा पूर्वोपदिष्ट यत् नो बाहू प्रगह्य २ निध्यायेत् तत संयतमेव आचार्योपाध्यायैः सार्द्धं ग्रामानुग्रामं गच्छेत्।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। गामा०—ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे—विहार करता हुआ। अतरा—मध्य में। से—उसके अर्थात् उसके मार्ग मे यदि। वप्पाणि वा—खेत की क्यारियें। जाव—यावत्। दरीओ वा—पर्वत की गुफाये। जाव—यावत्। कूडागाराणि—पर्वत के ऊपर के घर अथवा। पासायाणि—प्रासाद—महल। नूमगिहाणि वा—भूमि घर-तहखाने आदि। रुक्ख गिहाणि वा—वृक्ष के आश्रित घर अथवा वृक्ष के ऊपर

का निवास स्थान। पव्वयाणि—पर्वत की गुफा आदि। रुक्ख वा—वृक्ष अथवा। चेइयकड—वृक्ष के नीचे का व्यन्तर स्थान। थूभवा—व्यन्तर का स्तूप। चेइयकड—चैत्यकृत अर्थात् व्यन्तर-आदि के आकार युक्त स्तूप। आएसणाणि वा—लोहकार शाला आदि। जाव—यावत्। भवणगिहाणि वा—भवन गृह आदि आजाए तो वह इनको। बाहाओ—भुजाओ को। पगिज्झिय २—उठा उठा कर। अगुलियाए—अगुलियो को। उद्दिसिय २—फैला-फैला कर। ओणमिय २—शरीर को नीचा करके। उन्नमिय २—शरीर को ऊचा करके। नो निज्झाइज्जा—न देखे। तओ—तदनन्तर। स०—साधु। गामा०—ग्रामानुग्राम विहार करे। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। गामा०—ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे—विहार करता हुआ। अतरा—मध्य मे। से—वह। कच्छाणि वा—नदी के समीपवर्ति निम्नप्रदेश तथा खर-बूजे आदि के खेत, या। दवियाणि वा—जगल मे घास आदि के लिए राजा के द्वारा रोकी हुई भूमि। नूमाणि वा—खड्ड आदि। वलयाणि वा—अथवा नदी आदि से वेष्टित भूमि भाग। गहणाणि वा—जल से रहित प्रदेश अरण्यक्षेत्र तथा। गहण विदुग्गाणि वा—अरण्य मे विषम स्थान। वणाणि वा—अथवा वन। वण विदुग्गाणि वा—वन मे विषम स्थान। पव्वयाणि वा—पर्वत। पव्वय विदुग्गाणि वा—पर्वत मे विषम स्थान। अगडाणि वा—अथवा कूप। तलागाणि वा—तालाव अथवा। दहाणि वा—झील। नईओ वा—नदियें अथवा। वावीओ वा—कमल रहित वावडी। पुक्खरिणिओ वा—पुष्करणी-कमल युक्त वावडी। दीहियाओ वा—दीर्घिका—लम्बी बावड़ी जिसमे जनता जल-क्रीडा करती है। गुञ्जालियायो वा—अथवा दीर्घ गम्भीर और कुटिल जलाशय। सराणि वा—अथवा बिना खोदा हुआ तालाव। सर पंतियाणि वा—परस्पर मिले हुए वहुत से सरोवर। सर सरपंतियाणि वा—वहुत से सरोवरो की पंक्तियें आदि रास्ते में हो तो वह साधु। वाहाओ—भुजाओ को। पगिज्झिय २—ऊची कर के। जाव—यावत्। नो निज्झाइज्जा—उन्हे न देखे क्योकि। केवली०—केवली भगवान कहते हैं कि ये कर्म बन्धन के कारण है जैसेकि। जे—जो। तत्थ—वहा पर। मिगावा—मृग-हरिण हैं। पसू वा—पशु अर्थात् अन्य पशु है। पक्खी वा—पक्षी है। सरीसिवा—अथवा साप हैं। सीहा वा—सिह-शेर हैं अथवा। जलचरा—जलचर जीव हैं। थलचरा वा—स्थलचर जीव है। खहचरा वा—खेचर-आकाश में विचरने वाले जीव है, इस प्रकार के जो। सत्ता—सत्व-जीव हैं वे साधु की उक्त चेष्टा को देखकर। उत्तसिज्ज वा—त्रास को प्राप्त होगे। वित्तसिज्ज वा—वित्रास-विशेष रूप से त्रास पाएगे। वाड़ं वा सरणं वा—आश्रय को। कंखिज्जा—चाहेगे अथवा। मे—मुझे। अयं समणे—यह श्रमण। वारित्ति—हटाता है इस प्रकार जान कर भागेगे। अह—इसलिए। भिक्खूणं—भिक्षुओ को। पुव्वोवदिट्ठा—तीर्थंकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि। जं—साधु इस प्रकार के स्थानों को। वाहाओ—भुजाओ को। पगिज्झिय—ऊपर उठाकर के। नो निज्झाइज्जा—न देखे।

वाले दर्शनीय स्थलों को अपने हाथ को ऊपर उठाकर या अंगुलियों को फैलाकर या कुछ ऊंचा होकर या झुक कर नहीं देखना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि इससे वह अपने गन्तव्य स्थान पर कुछ देर से पहुंचेगा, जिससे उसकी स्वाध्याय एवं ध्यान साधना में अन्तराय पड़ेगी और किसी सुन्दर स्थल को देखकर सके मन में विकार भाव भी जाग सकता है और उसे इस तरह झुककर या ऊपर उठकर ध्यान से देखते हुए देखकर किसी के मन में साधु के प्रति सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है। यदि संयोग से उस दिन या उस समय के आसपास उक्त स्थान में आग लग जाए या चोरी हो जाए तो उसके अधिकारी साधु पर इसका दोषारोपण भी कर सकते हैं। अतः इन सब दोषों से बचने के लिए साधु को मार्ग में पड़ने वाले दर्शनीय स्थलों की ओर अपना ध्यान न लगाकर यत्नापूर्वक अपना रास्ता तय करना चाहिए।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सूत्रकार ने दर्शनीय स्थलों को इस तरह से देखने के लिए इन्कार किया है, जिससे किसी के मन में साधु के प्रति सन्देह उत्पन्न होता हो या उसके मन में विकारी भाव जागृत होता हो। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि साधु उस तरफ से निकलते हुए आंखों को मूंद कर चले। साधु अपनी गति से चलता है और आंखों के सामने आने वाले दृश्य उसके सामने आएं तो वह आंखें बन्द नहीं करेगा, परन्तु उस तरफ विशेष गौर से न देखता हुआ स्वाभाविक गति से अपना रास्ता तय करेगा।

प्रस्तुत सूत्र में दर्शनीय स्थानों के प्रसंग में—व्यन्तर आदि देव मन्दिर का वर्णन किया गया है, परन्तु जिन मन्दिर का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय जिन मन्दिर नहीं थे। यदि उस समय जिन मन्दिर की परम्परा होती तो सूत्रकार उसका भी अवश्य उल्लेख करते।

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय के राजा गांव या शहर के बाहर जङ्गल में गायों एवं घोड़े आदि पशुओं के चरने के लिए कुछ गोचर भूमि या चरागाह छोड़ते थे, जिन पर किसी तरह का कर नहीं लिया जाता था। इससे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उस समय पशु रक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके अतिरिक्त खेत, जलाशय, गुफाओं आदि का उल्लेख करके उस युग की वास्तु कला एवं संस्कृति पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

यदि साधु को आचार्य एवं उपाध्याय आदि के साथ विहार करना हो तो उन्हें किस तरह चलना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ आयरिउवज्झा० गामा० नो आयरियउवज्झायस्स हत्थेण वा हत्थं जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आयरिउ० सद्धिं जाव दूईज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा आय० सद्धिं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं० पा० एवं वइज्जा—आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? कओ वा एह ? कहिं वा गच्छिहिह ? जे तत्थ आयरिए वा उवज्झाए वा से भासिज्ज वा वियागरिज्ज वा, आयरिउवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं करिज्जा, तओ सं० अहाराइणिए वा दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा अहाराइणियं गामा० दू० नो राइणियस्स हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे तओ सं० अहाराइणियं गामा० दू० ॥ से भिक्खू वा २ अहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवगच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा— आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? जे तत्थ सव्वराइणिए से भासिज्ज वा वागरिज्ज वा, राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं भासिज्जा, तओ संजयामेव अहाराइणियाए गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥१२८॥

छाया—भिक्षुर्वा० आचार्योपाध्यायैः सार्द्धं ग्रामानुग्रामं गच्छन् न

आचार्योपाध्यायस्य हस्तेन वा हस्त यावत् अनासादमान: ततः संयतमेव आचार्योपाध्यायैः सार्द्धं यावत् गच्छेत् । म भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आचार्योपाध्यायैः सार्द्ध गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिका उपागच्छेयु: ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः आयुष्मन्तः श्रमणा: ! के यूयम् ? कुतो वा आगच्छथ ? कुत्र वा गमिष्यथ ? यः तत्र आचार्यो वा उपाध्यायो वा स भाषेत वा व्यागृणीयाद् वा आचार्योपाध्यायस्य भाषमाणस्य व्यागृणतः वा नो अंतरा-मध्ये भाषां कुर्यात्, ततः सयतमेव यथा रात्निकैः सार्द्ध गच्छेत् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथारात्निकं ग्रामानुग्रामं गच्छन् न रात्निकस्य हस्तेन हस्तं-यावत् अनासादमानः ततः संयतमेव यथारात्निकं ग्रामानुग्रामं गच्छेत् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथा रात्निकं ग्रामानुग्राम गच्छन् अन्तराले तस्य प्रातिपथिका उपागच्छेयु:, ते प्रातिपथकिाः एव वदेयुः आयुष्मन्तः श्रमणाः ! के यूयं ? यस्तत्र सर्वे रात्निकः स भाषेत व्यागृणीयात् वा रात्निकस्य भाषमाणस्य वा व्यागृणतः वा न अन्तराले भाषां भाषेत ततः संयतमेव यथा रात्निकैः सार्द्ध ग्रामानुग्राम गच्छेत् ।

पदार्थ—से भिक्खू वा०—वह साधु अथवा साध्वी । आयरिउवज्झाएहिं—आचार्य और उपाध्याय के । सद्धि—साथ । गामा०—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को । दूइज्जमाणे—विहार करता हुआ । आयरिउवज्झायस्स—आचार्य और उपाध्याय के । हत्थेण हत्थं—हाथ से हाथ । जाव नो०—यावत् स्पर्श न करे अर्थात् हाथ से हाथ पकड कर न चले । जाव—यावत् । अणासायमाणे—आशातना न करता हुआ । तओ—तदनन्तर । संजयामेव—यत्नापूर्वक । आयरिय उवज्झाएहिं—आचार्य और उपाध्याय के । सद्धि—साथ । जाव—यावत् । दूइज्जिज्जा—गमन करे-विहार करे ।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी । आय०—आचार्य और उपाध्याय के । सद्धि—साथ । दूइज्जमाणे—गमन करते हुए । अंतरा से—उसके मार्ग मे यदि कोई । पाडिवहिया—पथिक । उवागच्छिज्जा—सामने आ जाए । णं—और । ते—वह । पाडिवहिया—पथिक । एवं—साधु को इस प्रकार । वइज्जा—कहे । आउसंतो समणा—आयुष्मन् श्रमण ! के तुब्भे—आप कौन है ? कओ वा एह—कहां से आ रहे हो ? कहिं वा गच्छिहिह—कहा पर जाएंगे, तो । तत्थ—वहा पर । जे—जो । आयरिए—आचार्य । वा—या । उवज्झाए वा—

उपाध्याय है तो। से - वह। भासिज्जा - उसे उत्तर दें या। वियागरिज्जा - विशेष प्रकार से उत्तर दे तव। आयरिय उवज्झायस्स - आचार्य अथवा उपाध्याय के। भासमाणस्स - उत्तर देते हुए या। वियागरेमाणस्स - विशिष्ट उत्तर देते हुए वह साधु। अतरा - वीच में। नो भासं करिज्जा - किसी प्रकार का उत्तर प्रत्युत्तर न करे अर्थात् वीच में न बोले। तओ - तदनन्तर। सं - साधु। अहाराइणिए वा - यथा रत्नाधिक के साथ। दूइज्जिज्जा - गमन करे।

पदार्थ - से भिक्खू वा - वह साधु या साध्वी। अहाराइणिय - रत्नाधिक के साथ। गामा० - ग्रामानुग्राम। दू० - विहार करता हुआ। राइणियस्स - रत्नाधिक के। हत्थेण - हाथ से। हत्थं - हाथ को। नो - स्पर्श न करे। जाव - यावत्। अणासायमाणे - आशातना न करता हुआ। तओ - तदनन्तर। सं० - साधु। अहाराइणियं - रत्नाधिक के साथ। गामा० - ग्रामानुग्राम। दू० - विहार करे। से भिक्खू वा - वह साधु अथवा साध्वी। अहाराईणिय - रत्नाधिक के साथ। गामाणुगामं - एक ग्राम से दूसरे ग्राम के प्रति। दूइज्जमाणे - विहार करते हुए। अतरा से - उसके मार्ग मे यदि कोई। पाडिवहिया - पथिक (मुसाफिर) सामने से। उवागच्छिज्जा - आ जाए। ण - और। ते - वे। पाडिवहिया - पाथ, उस साधु को। एव वइज्जा - इस प्रकार कहे। आउसंतो समणा - आयुष्मन् श्रमणो! के तुब्भे - आप कौन हैं? तो। जे - जो। तत्थ - वहा पर। सव्वराईणिए - सर्वरत्नाधिक है अर्थात् जिसका दीक्षा पर्याय सब से अधिक है। से - वह। भासिज्ज वा - उत्तर दे। वागरिज्ज वा - अथवा विशेष रूप से संभाष करे। राईणियस्स - उस ज्येष्ठ साधु के। भासमाणस्स - भाषण करते या। वियागरेमाणस्स - विशेष रूप से उत्तर देते समय। अतरा - उसके वीच में। नो भास भासिज्जा - संभाषण न करे अर्थात् वीच में न वोले। तओ - तदनन्तर। संजयामेव - संयत-साधु। अहाराइणियाए - रत्नाधिक के साथ। गामाणुगामं - ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा - विहार करे।

मूलार्थ - साधु अथवा साध्वी आचार्य और उपाध्याय के साथ विहार करता हुआ, आचार्य और उपाध्याय के हाथ से अपने हाथ का स्पर्श न करे, और आशातना न करता हुआ ईर्यासमिति पूर्वक उनके साथ विहार करे। उनके साथ विहार करते हुए मार्ग मे यदि कोई व्यक्ति मिले और वह इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् श्रमण! आप कौन है? कहां से आये हैं? और कहां जाएगे? तो आचार्य या उपाध्याय जो भी साथ में है वे उसे सामान्य अथवा विशेष रूप से उत्तर देवें। परन्तु, साधु को उनके वीच में नही बोलना चाहिए। किन्तु, ईर्यासमिति का

ध्यान रखता हुआ उनके साथ विहार चर्या मे प्रवृत्त रहे। और यदि कभी साधु रत्नाधिक (अपने से दीक्षा में बड़े साधु) के साथ विहार करता हो तो उस रत्नाधिक के हाथ से अपने हाथ का स्पर्श न करे और यदि मार्ग में कोई पथिक सामने मिले और पूछे कि आयुष्मन् श्रमणो ! तुम कौन हो ? तो वहा पर जो सबसे बड़ा साधु हो वह उत्तर देवे उसके सभाषण में अर्थात् उत्तर देने के समय उसके बीच मे कोई साधु न बोले किन्तु यत्नापूर्वक रत्नाधिक के साथ विहार में प्रवृत्त रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु आचार्य, उपाध्याय एवं रत्नाधिक (अपने से दीक्षा में बड़े साधु) के साथ विहार करते समय अपने हाथ से उनके हाथ का स्पर्श करता हुआ न चले और यदि रास्ते मे कोई व्यक्ति मिले और वह पूछे कि आप कौन हैं ? कहां से आ रहे हैं ? और कहा जाएंगे ? आदि प्रश्नों का उत्तर साथ में चलने वाले आचार्य, उपाध्याय या बड़े साधु दें, परन्तु छोटे साधु को न तो उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए और न बीच में ही बोलना चाहिए। क्योंकि आचार्य आदि के हाथ एवं अन्य अङ्गोपांग का अपने हाथ आदि से स्पर्श करने से तथा वे किसी के प्रश्नों का उत्तर दे रहे हों उस समय उनके बीच में बोलने से उनकी अशातना होगी और वह साधु भी असभ्य सा प्रतीत होगा। अत उनकी विनय एवं शिष्टता का ध्यान रखते हुए साधु को विवेक पूर्वक चलना चाहिए।

यदि कभी आचार्य, उपाध्याय या बड़े साधु छोटे साधु को प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कहे तो वह उस व्यक्ति को उत्तर दे सकता है और इसी तरह यदि आचार्य आदि के शरीर में कोई वेदना हो गई हो या चलते समय उन्हें उसके हाथ के सहारे की आवश्यकता हो तो वह उस स्थिति में उनके हाथ आदि का स्पर्श भी कर सकता है। अस्तु, यहां जो निषेध किया गया है, वह बिना किसी कारण से एवं उनकी आज्ञा के बिना उनके हाथ आदि का स्पर्श करने एवं उनके बीच में बोलने के लिए किया गया है

प्रस्तुत सूत्र में आचार्य आदि के साथ विहार करने के प्रसंग में जो साधु-साध्वी का उल्लेख किया है, वह सूत्र शैली के अनुसार किया गया है। परन्तु, साधु-साध्वी एक साथ विहार नहीं करते हैं, अतः आचार्य आदि के साथ साधुओं का ही विहार होता है, साध्वियों का नहीं। उनका विहार आचार्या (प्रवर्तिनी) आदि के साथ होता है। साधु

और साध्वी दोनों के नियमों में समानता होने के कारण दोनों का एक साथ उल्लेख कर दिया गया है। अत जहा साधुओं का प्रसग हो वहा आचार्य आदि का और जहां साध्वियों का प्रसंग हो वहां प्रवर्तिनी आदि का प्रसंग समझना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पा० एवं वइज्जा—आउ० स०! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह, तं० मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खिं वा सिरीसिवं वा जलयरं वा से आइक्खह दंसेह, तं नो आइक्खिज्जा नो दंसिज्जा, नो तस्स तं परिन्नं परिजाणिज्जा, तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा नो जाणंति वइज्जा, तओ सं० गामा० दू० ॥ से भिक्खू वा० गा० दू० अंतरा से पाडि० उवा०, तेणं पा० एवं वइज्जा-आउ० स०! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह, उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलानि वा तया पत्ता-पुप्फा फला बीया हरिया उदगं वा संनिहियं अगणिं वा संनिखित्तं से आइक्खह जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडि० उवा०, ते णं पाडि० एवं आउ० स० अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह जवसाणि वा जाव से णं वा विरूवरूवं संनिविट्ठं से आइक्खह, जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा पा० जाव आउ० स०

तथैव यावत्, दूयेत।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। दूइज्जमाणे—विहार करते हुए। अंतरा से—उसके मार्ग मे। पाडिवहिया—पथिक लोग सामने से। उवागच्छिज्जा—आजाए। णं—और। ते—वे साधु को। एवं—इस प्रकार। वइज्जा—कहें कि। आउसंतो समणा?—आयुष्मन् श्रमण। अवियाइ—क्या आपने। इत्तो पडिवहे—इस मार्ग मे आते हुए किसी को। पासह—देखा है। तं०—जैसे कि। मणुस्स वा—मनुष्य को। गोणं वा—बैल को। महिसं वा—महिष को। पसुं वा—पशु को। पक्खि वा—पक्षी को। सिरीसिवं वा—सर्प को अथवा। जलयर वा—जलचर को। से—उसको। आइक्खह—कहो और। दंसेह—दिखलाओ, इस प्रकार के प्रश्न किये जाने पर साधु। तं—उसे। नो आइक्खिज्जा—न तो कुछ कहे और। नो दंसिज्जा—न दिखलावे। तस्स—उसके। तं परिन्नं—इस कथन को। नो परिजाणिज्जा—स्वीकार न करे किन्तु। तुसिणीए उवहेज्जा—मौन वृत्ति मे रहे अर्थात् चुप रहे। जाणं वा—अथवा जानता हुआ भी। जाणंति—मैं जानता हू इस प्रकार। नो वइज्जा—न कहे अर्थात्। चुप रहे। तओ—तदनन्तर। सं—यतना पूर्वक। गामा०—ग्रामानुग्राम। दू०—विहार करे।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। गा०—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को। दू०—गमन करता हुआ। अंतरा से—उसके मार्ग मे यदि। पाडि०—पथिक लोग। उवा—सामने आजाएं। ण—और। ते—वे। पा०—पथिक लोग। एवं वइज्जा—इस प्रकार कहें। आउ० स०—आयुष्मन् श्रमण! अवियाइ—अपिच-क्या आपने। इत्तो—इस। पडिवहे—मार्ग मे इनको। पासह—देखा है? जैसे कि। उदग पसूयाणि—उदकप्रसूत-जलसे उत्पन्न हुए। कदाणि—कन्द। मूलाणि वा—अथवा मूल। तया—त्वचा—वृक्ष की छाल। पत्ता—पत्र। पुप्फा—पुष्प-फूल। फला—फल। बीया—बीज। हरिया—हरित काय। उदगं—उदक-पानी। वा—अथवा। सनिहियं—सनिहित पानी के स्थान तडाग आदि। अगणि सनिखित्तं—अप्रज्वलित हुई अग्नि। ते—उसको। आइक्खह—कहो। जाव—यावत्। दूइज्जिज्जा—विहार करे। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। गामा०—ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे—विहार करता हुआ। से—उसके। अन्तरा—मार्ग मे यदि। पाडि०—पथिक लोग। उवा०—आजावें। ण—और। ते—वे। पाडि०—पथिक लोग। एव०—इस पकार कहे। आउ० स०—आयुष्मन् श्रमण। अवियाइ—क्या आप ने। इत्तो पडिवहे—इस मार्ग मे। पासह—देखा है जैसे कि। जवसाणि वा—यव, गोधूमादि धान्य को। जाव—यावत्। से ण वा—राजा की सेना को। विरूवरूव—नाना प्रकार के। सनिविट्ठ—उतरे हुए राजा के कटक-सेना को। से—उसे। आइक्खह—कहो-बतलाओ। जाव—यावत्। दूइज्जिज्जा—ग्रामानुग्राम विहार करे। से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी। गामा० दुइज्जमाणे—एक ग्राम से, दूसरे ग्राम को

जाते हुए। अंतरा—मार्ग में। पा०—पथिक लोग। जाव—यावत् आजावें और साधु के प्रति कहें कि। आउ० स०—आयुष्मन् श्रमण। केवइए—कितनीक दूर। इत्तो—यहां से। गामे वा—ग्राम है। जाव—यावत्। रायहाणिं वा—राजधानी है। से—उसे। आइक्खह—कहो। जाव—यावत्। दू०—मौनवृत्ति से विहार करे। से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी। गामाणुगामं—एक ग्राम से दूसरे ग्राम के प्रति। दूइज्जमाणे—विहार करते हुए। से—उसके। अंतरा—मार्ग में यदि। पाडिवहिया—पथिक आजावें और पूछे कि। आउसंतो समणा—आयुष्मन् श्रमण। केवइए—कितनी दूर। इत्तो—यहां से। गामस्स वा—ग्राम का अथवा। नगरस्स वा—नगर का। जाव—यावत्। रायहाणि वा—राजधानी का। मग्गो—मार्ग है। से—उसे। आइक्खह—कहो अर्थात् बतलाओ? शेष। तहेव—उसी प्रकार। जाव—यावत्। दूइज्जिज्जा—मौन वृत्ति से विहार करे।

मूलार्थ—संयमशील साधु अथवा साध्वी को विहार करते हुए यदि मार्ग के मध्य में सामने से कोई पथिक मिले और वे साधु से कहें कि आयुष्मन् श्रमण! क्या आपने मार्ग में मनुष्य को, मृग को, महिष को, पशु को, पक्षी को, सर्प को और जलचर को जाते हुए देखा है? यदि देखा हो तो बतलाओ वे किस ओर गए हे? साधु इन प्रश्नों का कोई उत्तर न दे और मौन भाव से रहे, तथा उसके उक्त वचन को स्वीकार न करे, तथा जानता हुआ भी यह न कहे कि मैं जानता हूं। और ग्रामानुग्राम विचरते हुए साधु को मार्ग में वे पथिक यह पूछें कि आयुष्मन् श्रमण! क्या आपने इस मार्ग में जल से उत्पन्न होने वाले कन्दमूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल, बीज, हरित, एवं जलके स्थान और अप्रज्वलित हुई अग्नि को देखा है तो बताओ कहां देखा हे? इसके उत्तर में भी साधु कुछ न कहे अर्थात् चुप रहे। तथा ईर्या समिति पूर्वक विहार चर्या में प्रवृत्त रहे और यदि यह पूछें कि इस मार्ग में धान्य और राजाओं की सेना कहां पर है? तो इस प्रश्न के उत्तर मे भी मौन रहे। यदि वे पूछें कि आयुष्मन् श्रमण! यहा से ग्राम यावत् राजधानी कितनी दूर है? तथा यहां से ग्राम नगर यावत् राजधानी का मार्ग कितना शेष रहा है? इन का भी उत्तर न दे तथा जानता हुआ भी मैं जानता हू ऐसे न कहे, किन्तु मौन

धारण करके ईर्यासमिति पूर्वक अपना रास्ता तय करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि विहार करते समय कोई पथिक पूछे कि हे मुनि ! आपने इधर से किसी मृग, गाय आदि पशु-पक्षी या मनुष्य आदि को जाते हुए देखा है ? इसी तरह जलचर एव वनस्पतिकाय या अग्नि आदि के सम्बन्ध में भी पूछे और कहे कि यदि आपने इन्हें देखा है तो बताइए वे कहां हैं या किस ओर गए हैं ? उसके ऐसा पूछने पर साधु को मौन रहना चाहिए। क्योंकि, यदि साधु उसे उनका सही पता बता देता है तो उसके द्वारा उन प्राणियों की हिंसा होना सम्भव है। अतः पूर्ण अहिंसक साधु को प्राणीमात्र के हित की भावना को ध्यान में रखते हुए उस समय मौन रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'जाण वा नो जाणति वइज्जा' के अर्थ में दो विचार-धाराएं हमारे सामने हैं। परन्तु, इस बात में सभी विचारक एकमत हैं कि साधु को ऐसी भाषा का बिल्कुल प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे अनेक प्राणियों की हिंसा होती हो। इस दया की भावना को ध्यान मे रखते हुए वृत्तिकार उक्त पदों का यह अर्थ करते हैं— साधु जानते हुए भी यह कहे कि मैं नही जानता। स्व० आचार्य श्री जवाहर लाल जी महाराज ने भी सद्धर्म मण्डन में इसी अर्थ का समर्थन किया है। इसमे साधु की भावना असत्य बोलने की नही, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करके जीवों की रक्षा करने की भावना है। परन्तु, फिर भी इस भाषा में कुछ असत्य का अश रह ही जाता है, अतः यह विचारणीय है कि साधु ऐसी भाषा का प्रयोग कैसे कर सकता है।

यह भी तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'वा' शब्द अपि (भी) के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है और 'नो' शब्द 'वइज्जा' क्रिया से संबद्ध है। इस तरह इसका अर्थ हुआ कि साधु जानते हुए भी यह नहीं कहे कि मैं जानता हूँ। मोरबी से प्रकाशित आचाराङ्ग सूत्र के गुजराती अनुवाद में भी यही अर्थ किया गया है कि 'खरु जाणता छतां जाणु छुं एम न बोलवु'*। उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने भी आचाराङ्ग की बालावबोध टीका मे उपरोक्त अर्थ को ही स्वीकार किया है।

आगमों मे प्राय. 'नो' शब्द का क्रिया के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है— 'न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा' अर्थात् कहीं पर भी स्नेह न करे†। इस सूत्र मे 'न' का क्रिया के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। इसके अतिरिक्त

* आचाराङ्ग सूत्र (गुजराती अनुवाद) पृष्ठ २७०।

† उत्तराध्ययन सूत्र, ८, १८।

आगम में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें 'नो' शब्द को क्रिया के साथ ही सम्बद्ध माना है❀। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में 'नो' शब्द को 'वइज्जा' क्रिया से सम्बद्ध मानना ही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। यदि इस तरह से 'नो' शब्द को क्रिया के साथ जोड़कर अर्थ नहीं करेंगे तो फिर मौन रखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा। फिर तो साधु सीधा ही यह कहकर आगे बढ़ जाएगा कि मैं नहीं जानता। परन्तु, आगम में जो मौन रखने को कहा गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को जानते हुए भी यह नहीं कहना चाहिए कि मैं नहीं जानता। साधु को जीवों की हिंसा एवं असत्य भाषा दोनों से बचना चाहिए।

आगम में कहा गया है कि जिस भाषा के प्रयोग से जीवों की हिंसा होती हो वैसी सत्य भाषा भी साधु को नहीं बोलनी चाहिए†। और यह भी बताया गया है कि साधु को सत्य एवं व्यवहार भाषा बोलनी चाहिए और मिश्र एवं असत्य भाषा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए‡। साधु दूसरे महाव्रत में असत्य भाषण का सर्वथा त्याग करता है❀। और आगम में उसे अणु मात्र (स्वल्प) झूठ बोलने का भी निषेध किया गया

---

❀ णेरइयाणं भंते! जीवाओ किं चलियं कम्मं बंधंति, अचलियं कम्मं बन्धन्ति?
गोयमा! णो चलियं कम्मं बन्धन्ति, अचलियं कम्मं बन्धन्ति।

यहां पर 'णो' शब्द का बन्धति क्रिया के साथ सम्बन्ध है।

णेरइयाणं भंते जीवाओ किं चलियं कम्मं उदीरंति, अचलियं कम्मं उदीरन्ति?
गोयमा! णो चलियं कम्मं उदीरंति, अचलियं कम्मं उदीरंति।

यहां पर "उदीरंति" क्रिया के साथ 'नो' पद का सम्बन्ध है।

सा भंते! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभय कडा कज्जइ?
गोयमा! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभयकडा कज्जइ।
—भगवती सूत्र, शत, १-उद्दे० १

† तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओ वघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥ —दशवैकालिक सूत्र ७, ११

‡ चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं।
दुण्हं विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो॥ —दशवैकालिक सूत्र ७, १,

❀ अहावरे दुच्चे भन्ते! महव्वये मुसावायाओ वेरमणं।
सव्वं भंते मुसावायं पच्चक्खामि। —दशवैकालिक सूत्र ४

है†। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे प्रसंगों पर मौन रहना चाहिए। चाहे उस पर कितना भी कष्ट क्यों न आए, फिर भी जानते हुए भी उसे यह नहीं कहना चाहिए कि मै जानता हूं और झूठ भी नहीं बोलना चाहिए।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू॰ गा॰ दू॰ अंतरा से गोणं वियालं पडिवहे पेहाए जाव चित्तचिल्लडं वियालं प॰ पेहाए नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा नो मग्गाओ उम्मग्गं संकमिज्जा नो गहणं वा वणं वा दुग्गं वा अणुपविसिज्जा नो रुक्खंसि दूरुहिज्जा नो महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा नो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्थं वा कंखिज्जा अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा॥ से भिक्खू॰ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा, इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवगरणपडियाए संपिंडिया गच्छिज्जा, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छिज्जा जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥१३०॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमान अन्तराले तस्य गा व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य यावत् चित्रकं व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य न तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत्, न मार्गतः उन्मार्गं संक्रामेत्, न गहनं वा बनं वा दुर्गं वा

† एय च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए। —दशवैकालिक सूत्र ५, ५१।

अनुप्रविशेत् न वृक्षं आरोहेत् न महति महालये उदके काय व्युत्सृजेत्, न वाट वा शरणं वा सेनां वा सार्थं वा कांक्षेत् अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना, ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्राम दूयमानः अन्तराले तस्य विहं स्यात् स यत् पुनः विहं जानीयात् अस्मिन् खलु विहे बहवः आमोषकाः उपकरणप्रतिज्ञया संपिण्डिताः आगच्छेयुः न तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत्, यावत् समाधिना, ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत-गच्छेत् ।

पदार्थ—से भिक्खू०—वह साधु या साध्वी। गा० दू०—ग्रामानुग्राम विहार करते हुए। से—उसके। अन्तरा—मार्ग के मध्य मे आए हुए। गोण—वृषभ को। वियाल—सर्प को। पडिवहे—रास्ते मे देखकर। जाव—यावत्। चित्तचिल्लड—चीते को, चीते के बच्चे को। वियालं—क्रूर सर्प को। प०—मार्ग मे। पेहाए—देखकर। तेसिं—उनसे। भीओ—डरता हुआ। उम्मग्गेणं—उन्मार्ग से। नो गच्छिज्जा—गमन न करे। और। मग्गाओ—मार्ग से। उम्मग्गं—उन्मार्ग को। नो संकमिज्जा—संक्रमण न करे। गहणं वा—गहन-वृक्ष समूह से युक्त स्थान। वन वा—वन। दुग्गं वा—विषम स्थान इनमें। नो पविसिज्जा—प्रवेश न करे और। रुक्खंसि—वृक्ष पर। नो दुरुहिज्जा—न चढे। महइमहालयंसि—अति विस्तृत गहरे जल मे। कायं—शरीर को। नो विउसिज्जा—तिरोहित न करे। वाडं वा—बाड का। सरणं—शरण। सेनं वा—सेना का अथवा। सत्थं वा—किसी अन्य साथियो का आश्रय। नो कंखिज्जा—न चाहे। अप्पुस्सुए—राग-द्वेष से रहित होकर। जाव—यावत्। समाहीए—समाधि युक्त होकर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—सयम शील साधु। गामाणुगाम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को। दूइज्जिज्जा—विहार करे। से भिक्खू०—वह साधु अथवा साध्वी। गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे—विहार करता हुआ। अंतरा से—उसके मार्ग मे। विह सिया—अटवी हो तो। से—वह साधु। जं—जो। पुण—फिर। विह—अटवी को। जाणिज्जा—जाने। खलु—निश्चयार्थक है। इमंसि—इस। विहंसि—अटवी में। बहवे—बहुत से। आमोसगा—चोर। उवगरणपडियाए—साधु के उपकरण को लेने के लिए। संपिडिया—एकत्र होकर यदि सामने। गच्छिज्जा—आ जाएं तो। तेसिं—उनसे। भीओ—डर कर। उम्मग्गेण—उन्मार्ग से। नो गच्छिज्जा—गमन न करे। जाव—यावत्। समाहीए—समाधियुक्त होकर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—यत्नापूर्वक। गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम। दूइज्जिज्जा—विहार करे।

मूलार्थ—सयमशील साधु अथवा साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते

हुए मार्ग मे यदि मदोन्मत्त वृषभ-बैल या विषैले साप या चीते आदि हिंसक जीवो का साक्षात्कार हो तो उसे देखकर साधु को भयभीत नही होना चाहिए तथा उनसे डरकर उन्मार्ग मे गमन नही करना चाहिए और मार्ग से उन्मार्ग का सक्रमण भी नही करना चाहिए। और गहन वन एव विषम स्थान में भी साधु प्रवेश न करे, एवं न विस्तृत और गहरे जल मे ही प्रवेश करे और न वृक्ष पर ही चढे। इसी प्रकार वह सेना और अन्य साथियों का आश्रय भी न ढूढे, किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर यावत् समाधिपूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

यदि साधु या साध्वी को विहार करते हुए मार्ग मे अटवी आ जाए तो साधु उसको जानले, जैसे कि अटवी मे चोर होते है और वे साधु के उपकरण लेने के लिए इकट्ठे होकर आते है, यदि अटवी में चोर एकत्रित हो कर आएं तो साधु उनसे भयभीत न हो तथा उनसे डरकर उन्मार्ग की ओर न जाए किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर यावत् समाधिपूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करने मे प्रवृत्त रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु की निर्भयता के सर्वोत्कृष्ट रूप का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि यदि साधु को रास्ते में उन्मत्त बैल, शेर आदि हिंसक जन्तु मिल जाएं या कभी मार्ग भूल जाने के कारण भयंकर अटवी में गए हुए साधु को चोर, डाकू आदि मिल जाए तो मुनि को उनसे भयभीत होकर इधर-उधर उन्मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, न वृक्ष पर चढ़ना चाहिए और न विस्तृत एवं गहरे पानी में प्रवेश करना चाहिए, परन्तु राग-द्वेष से रहित होकर अपने मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रसंग साधु की साधुता की उत्कृष्ट साधना का परिचायक है। वह अभय का देवता न किसी को भय देता है और न किसी से भयभीत होता है। क्योंकि, प्राणी जगत को अभयदान देने वाला साधक कभी भय ग्रस्त नहीं होता। भय उसी प्राणी के मन मे पनपता है, जो दूसरों को भय देता है या जिसकी साधना मे, अहिंसा में अभी पूर्णता नहीं आई है। क्योंकि भय एवं अहिंसा का परस्पर विरोध है। मानव जीवन में

जितना-जितना अहिंसा का विकास होता है उतना ही भय का ह्रास होता है और जब जीवन में पूर्ण अहिंसा साकार रूप मे प्रकट हो जाती है तो भय का भी पूर्णत: नाश हो जाता है। अस्तु अहिंसा निर्भयता की निशानी है।

यह वर्णन पूर्ण अहिंसक साधक को ध्यान में रखकर किया गया है। सामान्यत. सभी साधु हिंसा के त्यागी होते हैं, फिर भी सबकी साधना के स्तर में कुछ अन्तर रहता है। सब के जीवन का समान रूप से विकास नहीं होता। इसी अपेक्षा से वृत्तिकार ने प्रस्तुत सूत्र को जिनकल्पी मुनि की साधना के लिए बताया है। क्योंकि स्थविर कल्पी मुनि को यदि कभी समाधि भग होती हो तो हिंसक जीवों से युक्त मार्ग का त्याग करके अन्य मार्ग से भी आ-जा सकता है। आगम में भी लिखा है कि यदि मार्ग में हिंसक जन्तु बैठे हों या घूम-फिर रहे हों तो मुनि को वह मार्ग छोड़ देना चाहिए❋।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत सूत्र जो जिनकल्पी मुनि से सम्बद्ध बताया है। हिंसक जन्तुओं से भयभीत न होने के प्रसंग मे तो यह युक्ति संगत प्रतीत होता है। परन्तु, अटवी में चोरों द्वारा उपकरण छीनने के प्रसंग में जिनकल्पी की कल्पना कैसे घटित होगी? क्योंकि उनके पास वस्त्र एवं पात्र आदि तो होते ही नहीं, अत. उनके लूटने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होगा। इसका समाधान यह है कि आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वृत्तिकार ने एक, दो और तीन चादर रखने वाले जिनकल्पी मुनि का भी वर्णन किया है, उन्होंने कुछ जिनकल्पी मुनियों के उत्कृष्ट १२ उपकरण स्वीकार किए हैं। अत: इस दृष्टि से इस साधना को जिनकल्पी मुनि की साधना मानना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—से भिक्खू वा० गा० दू० अन्तरा से आमोसगा-संपिंडिया गच्छिज्जा, ते णं आ० एवं वइज्जा आउ० स०! आहर एयं वत्थं वा ४ देहि निक्खिवाहि, तं नो दिज्जा निक्खि-विज्जा, नो वंदिय २ जाइज्जा, नो अञ्जलिं कट्टु जाइज्जा,**

❋ साण सूइय गाविं, दित्त गोण हय गयं।
सडिब्भ कलह जुद्ध दूरओ परिवज्जए॥
— दशवैकालिक सूत्र, ५, १२।

नो कलुणावडियाए जाइज्जा, धम्मियाए जायणाए जाइज्जा, तुसिणीयभावेण वा उवेहिज्जा ते णं आमोसगा सयं करणिज्जंतिकट्टु अक्कोसंति वा जाव उद्दविंति वा वत्थं वा ४ अच्छिदिज्ज वा जाव परिट्ठविज्ज वा, तं नो गामसंसारियं कुज्जा, नो रायसंसारियं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो ! गाहावई ! एए खलु आमोसगा उवगरणवडियाए सयं करणिज्जंतिकट्टु अक्कोसंति वा जाव परिट्ठवंति वा, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामा० दू० । एयं खलु० सया जइ० ॥१३१॥ त्तिबेमि ॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमानः अन्तराले तस्य आमोषकाः सपिण्डिताः आगच्छेयुः ते आमोषकाः एवं वदेयुः—आयुष्मन् श्रमण ! आहर एतद् वस्त्रं वा ४ देहि निक्षिप ? तद् नो दद्यात् निक्षिपेत् न वन्दित्वा २ याचेत न अञ्जलिं कृत्वा याचेत, न करुणप्रतिज्ञया याचेत, धार्मिकया याचनया याचेत तूष्णीकभावेन वा उपेक्षत ते आमोषकाः स्वयकरणीयमिति कृत्वा, आक्रोशन्ति वा यावत् अपद्रावयन्ति वा, वस्त्र वा आछिन्द्युः तद् यावत् परिष्ठापयेयु र्वा तद् न ग्रामसंसारणीयं कुर्यात्, न राजसंसारणीयं कुर्यात्, न पर उपसंक्रम्य ब्रूयात्—आयुष्मन् गृहपते ! एते खलु आमोषकाः उपकरणप्रतिज्ञया स्वयकरणीयमितिकृत्वा आक्रोशन्ति वा यावत् परिष्ठापयन्ति वा एतत् प्रकारं मानसं वा वाचं वा न पुरतः कृत्वा विहरेत् । अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना ततः संयतमेव ग्रामानुग्रामं दूयेत । एतत् खलु भिक्षोः सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा जयेत् । इति ब्रवीमि । समाप्तमीर्याख्य तृतीयमध्ययनम् ।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। गा०—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करता हुआ। अतरा—मार्ग में। से—उसके सामने। आमोसगा—चोर। संपिण्डिया—एकत्रित होकर। आगच्छिज्जा—आ जाएं। ण—पूर्ववत्। ते—वे। आमोसगा—चोर। एवं वइज्जा—इस प्रकार कहे। आउ० स—आयुष्मन् श्रमण! आहर—लाओ। एयं वत्थं वा० ४—यह वस्त्रादि। देहि—हमें दे दो, और। निक्खिवाहि—यहां पर रख दो। तब वह साधु। तं—उसे। नो दिज्जा—न देवे किन्तु उन्हे भूमि पर। निक्खिविज्जा—रख दे, परन्तु। वंदियं २—उन चोरो की स्तुति करके। नो जाइज्जा—उन वस्त्रादि की याचना न करे, तथा। अंजलिं कट्टु—हाथ जोड कर। नो जाइज्जा—याचना न करे तथा। कलुण वडियाए—दीन वचन बोलकर। नो जाइज्जा—याचना न करे किन्तु। धम्मियाए—धार्मिक। जायणाए—याचना से अर्थात् धर्म कथन पूर्वक। जाइज्जा—याचना करे अथवा। तुसिणीय भावेण वा—मौन भाव से अवस्थित रहे। णं—वाक्यालंकार में है। ते—वे। आमोसगा—चोर। सयं करणिज्जंति कट्टु—चोर का कर्तव्य जानकर यदि इस प्रकार करें यथा। अक्कोसंति वा—साधु को आक्रोसते है। जाव—यावत्। उद्दविंति—जीवन से रहित कर देते है। वा—अथवा। वत्थं वा—वस्त्रादि को। अच्छिदिज्जा—छीन लेते है। वा—अथवा। जाव—यावत् छीने हुओं को। परिट्ठविज्जा—वहां पर ही फेंक देते हैं। तो भी साधु। तं—इस बात को। गाम संसारियं—गांव मे जाकर लोगो से। नो कुज्जा—न कहे और। नो रायसंसारियं कुज्जा—राजा आदि के पास जाकर भी न कहे तथा। नो परं उवसकमित्तु बूया—न अन्य गृहस्थो के पास जाकर कहे कि। आउसंतो गाहावई—आयुष्मन् सद् गृहस्थो! एए खलु आमोसगा—निश्चय ही इन चोरो ने। उवगरण वडियाए—मेरे उपकरण ले लिए। सयंकरणिज्जंति कट्टु—उन्होने अपना कर्तव्य समझ कर मुझे। अक्कोसंति—कठोर वचन कहे। जाव—यावत्। परिट्ठवंति—मेरे उपकरण आदि फेंक दिए। एयप्पगार—इस प्रकार का। मण वा—मन। वायं वा—अथवा वचन को। पुरओ कट्टु—आगे करके। नो विहरिज्जा—न विचरे किन्तु। अप्पुस्सुए—राग-द्वेष से रहित। जाव—यावत्। समाहीए—समाधि युक्त होकर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—यत्नापूर्वक। गामा०—ग्रामानुग्राम। दुइ०—विहार करे। एयं खलु०—निश्चय ही यह उस साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है। सया जइ०—जो कि सर्व अर्थों से युक्त और समितियो से समित हो सदा यत्नशील रहे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

दे, परन्तु उन्हें वापिस प्राप्त करने के लिए मुनि उनकी स्तुति करके, हाथ जोड कर या दीन वचन कह कर उन वस्त्रादि की याचना च करे अर्थात् उन्हें वापिस देने को न कहे। तथा यदि मागना हो तो उन्हें धर्म का मार्ग समझाकर मांगे अथवा मौन रहे। वे चोर अपने चोर के कर्तव्य को जान-कर साधु को मारें-पीटें या उसका वध करने का प्रयत्न करें और उसके वस्त्रादि को छीन ले,फाड डालें या फैंक दें तो भी वह भिक्षु ग्राम में जाकर लोगो से न कहे और न राजा से हो कहे एवं किसी अन्य गृहस्थ के पास जाकर भी यह न कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! इन चोरों ने मेरे उपकरणादि को छीनने के लिए मुझे मारा है और उपकरणादि को दूर फैंक दिया है। ऐसे विचारो को साधु मन मे भी न लाए और न वचन से उन्हें अभिव्यक्त करे। किन्तु राग-द्वेष से रहित हो कर समभाव से समाधि मे रहकर ग्रामानुग्राम विचरे। यही उसका यथार्थ साधुत्व-साधु भाव है । इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भी पहले सूत्र की तरह साधु की निर्भयता एव सहिष्णुता पर प्रकाश डाला गया है। इसमें वताया गया है कि विहार करते समय यदि रास्ते में कोई चोर मिल जाए और वह मुनि से कहे कि तू अपने उपकरण हमें दे दे या जमीन पर रख दे । तो मुनि शान्त भाव से अपने वस्त्र पात्र आदि जमीन पर रख दे । परन्तु, वह उन्हें वापिस प्राप्त करने के लिए उन चोरों की स्तुति न करे, न उनके सामने दीन वचन ही वोले। यदि बोलना उचित समझे तो उन्हें धर्म का मार्ग दिखाकर उन्हें पथ भ्रष्ट होने से बचाए, अन्यथा मौन रहे। इसके अतिरिक्त यदि कोई चोर साधु से वस्त्र आदि प्राप्त करने के लिए उसे मारे-पीटे या उसका वध करने का प्रयत्न भी करे और उसके सभी उपकरण भी छीन ले या उन्हें तोड़-फोड़ कर दूर फैंक दे, तब भी मुनि उस पर राग-द्वेष न करता हुआ समभाव से गांव में आ जाए। गांव में आकर भी वह यह वात किसी भी गृहस्थ, अधिकारी या राजा आदि से न कहे। और न इस सम्बन्ध में किसी तरह का मानसिक चिन्तन ही करे। वह मन, वचन और काया से उस से (चोर से) किसी भी तरह का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न न करे।

इस सूत्र में साधुता के महान् उज्ज्वल रूप को चित्रित किया गया है। अपना अपकार करने वाले व्यक्ति का कभी बुरा नहीं चाहना एवं उसे कष्ट मे डालने का प्रयत्न नहीं करना, यह आत्मा की महानता को प्रकट करता है। यह आत्मा के विकास की उत्कृष्ट श्रेणी है जहां पर पहुंच कर मानव अपने वधिक के प्रति भी द्वेष भाव नहीं रखता। वह मारने एवं पूजा करने वाले दोनों पर समभाव रखता है, दोनों को मित्र समझता है और दोनों का हित चाहता है। यही श्रेणी आत्मा से परमात्मा पद को प्राप्त करने की या साधक से सिद्ध बनने की श्रेणी है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

# चतुर्थ अध्ययन—भाषैषणा

## प्रथम उद्देशक

तृतीय अध्ययन में ईर्यासमिति का वर्णन किया गया है। अतः संयम पथ पर गतिशील मुनि को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए, यह प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है। यह अध्ययन दो उद्देशों में विभक्त है। पहले उद्देशे में वचन, विभक्ति आदि का वर्णन किया गया है और दूसरे उद्देशे में ऐसी भाषा का प्रयोग करने का निषेध किया गया है, जिससे अपने या दूसरे के मन में क्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति होती हो। इस तरह साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ इमाइं वयायाराइं सुच्चा निसम्म इमाइं अणायाराइं अणारियपुव्वाइं जाणिज्जा जे कोहा वा वायं विउंजंति जे माणा वा० जे मायाए वा० जे लोभा वा वायं विउंजंति जाणओ वा फरुसं वयंति अजाणओ वा फ० सव्वं चेयं सावज्जं वज्जिज्जा विवेगमायाए, धुवं चेयं जाणिज्जा अधुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा ४ लभिय नो लभिय भुंजिय नो भुंजिय अदुवा आगओ अदुवा नो आगओ अदुवा एइ अदुवा नो एइ अदुवा एहिइ अदुवा नो एहिइ, इत्थवि आगए इत्थवि नो आगए इत्थवि एति इत्थवि नो एति इत्थवि एहिति इत्थवि नो एहिति ॥ अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, तंजहा—एगवयणं १ दुवयणं २ बहुव० ३ इत्थि०

४ पुरि० ५ नपुंसग वयणं ६ अज्झत्थ व० ७ उवणीयवयणं ८ अवणीय वयणं ६ उवणीय अवणीय व० १० अवणीय उवणीय व० ११ तीय व० १२ पडुप्पन्न व० १३ अणागय व० १४ पच्चक्ख वयणं १५ परुक्ख व० १६ से एगवयणं वइस्सामीति एगवयणं वइज्जा जाव परुक्ख वयणं वइस्सामीति परुक्ख वयणं वइज्जा. इत्थी वेस पुरिसो वेस, नपुंसगं वेस एयं वा चेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, इच्चेयाइं आययाणाइं उवातिकम्म ॥ अह भिक्खू जाणिज्जा चत्तारि भासज्जायाइं, तंजहा-सच्चमेगं पढमं भासज्जायं १ बीयं मोसं २ तईयं सच्चामोसं ३ जं नेव सच्चं नेव मोसं नेव सच्चामोस असच्चामोसं नाम तं चउत्थं भासज्जायं ४ ॥ से बेमि जे अईया जे य पडुप्पन्ना जे अणागया अरहंता भगवंतो सव्वे ते एयाणि चेव चत्तारि भासज्जायाइं भासिंसु वा भासंति वा भासिस्संति वा पन्नविंसु वा ३, सव्वाइं च णं एयाइं अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि, रसमंताणि फासमंताणि चओवचइयाइ, विप्परिणामधम्माइं भवंतीति अक्खायाइं ।१३२।

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा इमान् वागाचारान् श्रुत्वा निशम्य इमान् अनाचारान् अनाचीर्ण पूर्वान् जानीयात् ये क्रोधाद् वा वाचं विप्रयुञ्जन्ति, येमानाद् वा वाचं विप्रयुञ्जन्ति, ये मायया वाचं विप्रयुञ्जन्ति ये लोभाद् वा

वाचं विप्रयुजन्ति जानाना वा परुष वदन्ति अजानाना वा परुषं वदन्ति सर्वं चैतत् सावद्यं वर्जयेत् विवेकमादाय, ध्रुवं चैतत् जानीयात् अध्रुवं चैतत् जानीयात् ॥ अशन वा ४ लब्ध्वा, नो लब्ध्वा भुक्त्वा नो भुक्त्वा अथवा आगतः अथवा नो आगतः, अथवा एति, अथवा नो एति अथवा एष्यति अथवा न एष्यति, अत्रापि आगतः अत्रापि नो आगतः, अत्रापि एति अत्रापि नो एति अत्रापि एष्यति अत्रापि नो एष्यति। अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी समित्या- (समतया वा) संयतः भाषां भाषेत। -तद्यथा— एकवचनं (१) द्विवचन (२) बहुवचनं (३) स्त्रीवचनम् (४) पुरुषवचनम् (५) नपुंसकवचनम् (६) अध्यात्म वचनम् (७) उपनीतवचनम् (८) अपनीतवचनम् (९) उपनीतापनीतवचनम् (१०) अपनीतोपनीतवचनम् (११) अतीतवचनम् (१२) प्रत्युत्पन्नवचनम् (१३) अनागतवचनम् (१४) प्रत्यक्षवचनम् (१५) परोक्षवचनम्, (१६) स एक वचन वदिष्यामीति एकवचनम्, वदेत् यावत् परोक्षवचनं वदिष्यामीति परोक्षवचनं वदेत्, स्त्री वा एषा, पुरुषो वा एषः नपुंसक वा एतत्, एतद् वा चैतद् अन्यद् वा चैतत्, अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी समित्या संयतः भाषा भाषेत, इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य। अथ भिक्षुः जानीयात् चत्वारि भाषाजातानि तद्यथा- सत्यमेक प्रथम भाषाजातम् (१) द्वितीया मृषा (२) तृतीया सत्यामृषा (३) या नैव सत्या नैव मृषा नैव सत्यामृषा असत्यामृषा नाम तत् चतुर्थ भाषाजातम् (४) अथ ब्रवीमि ये अतीता ये प्रत्युत्पन्ना ये,अनागताः अर्हन्तो भगवन्तः सर्वेते एतानि चैवचत्वारि भाषाजातानि अभाषन्त वा भाषन्ते वा भाषिष्यन्ते वा व्यजिज्ञपन् वा ३ सर्वाणि च एतानि अचित्तानि, वर्णवन्ति, गन्धवन्ति, रसवन्ति, स्पर्शवन्ति चयोपचयिकानि विपरिणामधर्माणि भवन्तीति आख्यातानि।

पदार्थ — से—वह। भिक्खू वा २—साधु या साध्वी। इमाइं—इन कहे जाने वाले। वयायाराइं—वाणी के आचार को। सुच्चा—सुन कर। निसम्म—विचार कर। इमाइं—इन कहे जाने वाले। अणायाराइं—अनाचारों को। अणारियपुव्वाइं—पूर्व साधुओं ने जिनका आचरण नहीं किया उनके सम्बन्ध में। जाणिज्जा—जाने-जैसे कि—। जे—जो। कोहावा— क्रोध से। वायं—वचन का। विउजंति—प्रयोग करते हैं। जे माणा वा०—जो मानपूर्वक वचन

बोलते हैं तथा। जे माथाए वा०—जो माया-छलपूर्वक बोलते हैं। जे लोभा वा—जो लोभ के वशीभूत होकर। वायं विउजति - वचन का प्रयोग करते हैं। वा—अथवा। जाणओवा फरुस वयंति—जान कर कठोर वचन बोलते हैं, अर्थात् किसी के दोष को जानते हुए उसे उद्घाटन करने के लिए कठोर भाषा का प्रयोग करते हैं। वा—अथवा। अजाणओ—नहीं जानते हुए। फ० – कठोर वचन बोलते हैं। सव्वं चेय—यह सब। सावज्जं—सावद्य-हिंसा-पाप युक्त वचन हैं अतः। विवेग मायाए—विवेक को ग्रहण करके अर्थात् विवेक युक्त होकर। वज्जिज्जा—साधु इन सावद्य वचनों को छोड़ दे अर्थात् सावद्य भाषा न बोले, तथा। धुवं चेय जाणिज्जा—यह पदार्थ ध्रुव है-निश्चित है ऐसा जाने। च—और। अधुव चेयं जाणिज्जा—यह पदार्थ अध्रुव अनिश्चित है ऐसा जाने। असण वा ४—यह साधु अशनादि चतुर्विध आहार। लभिय—लेकर आएगा या। नो लभिय—लेकर नहीं आएगा। भुंजिय—कोई साधु आहार के लिए गया हो और किसी कारणवश यदि उसे विलम्ब हो गया हो तो अन्य साधु यह न कहे कि वह रास्ते में ही आहार करके आएगा या। नो भुंजिय—बिना आहार किए ही आएगा। अदुवा—अथवा। आगओ—राजा आदि पीछे आए थे। अदुवा—अथवा। नो आगओ—नहीं आए थे। अदुवा—अथवा। एइ - राजा आदि आता है। अदुवा—अथवा। नो एइ—नहीं आ रहा है। अदुवा—अथवा। एहिइ—आएगा। अदुवा—अथवा। नो एहिइ—नहीं आएगा इस प्रकार की निश्चित भाषा न बोले। अब क्षेत्र के विषय में कहते हैं—। इत्थवि—अमुक व्यक्ति यहां पर ही। आगए—आया था। इत्थवि—यहां पर। नो आगए—नहीं आया था। इत्थवि—यहां पर। एइ—आता है। इत्थवि—यहां पर। नो एति—नहीं आता है। इत्थवि—यहां पर ही। एहिति—आएगा। इत्थवि नो एहिति—यहां पर नहीं आएगा, इस प्रकार की निश्चय रूप भाषा न बोले किन्तु। अणुवीइ—विचार कर। निट्ठाभासी—निश्चय पूर्वक बोलने वाला अर्थात् निश्चय किए जाने पर बोलने वाला। समियाए—भाषा समिति से युक्त। संजए—साधु। भासं भासिज्जा—भाषा को बोले। तंजहा—जैसे कि। एगवयणं १—एक वचन। दुवयण २—द्विवचन। बहु० व० ३—बहुवचन। इत्थि० ४—स्त्री वचन। पुरि० ५—पुरुष वचन। नपुंसग वयणं ६—नपुंसक वचन। अज्झत्थ व० ७—अध्यात्म वचन। उवणीय वयण ८—उपनीत-प्रशंसाकारी वचन। अवणीय वयण ९ – अपनीत-निन्दाकारी वचन। उवणीय अवणीय व० १०—प्रशंसा और निन्दा युक्त वचन। अवणीय उवणीय व० ११—निन्दा और प्रशंसायुक्त वचन। तीय व० १२—अतीत काल का वचन। पडुप्पन्न व० १३—वर्तमान काल का वचन। अणागय व० १४—अनागत काल का वचन। पच्चक्ख वयणं १५—प्रत्यक्ष वचन। परोक्ख व० १६—और परोक्ष वचन आदि को जान कर। से—वह-साधु। एगवयण—एक वचन। वइस्सामीति—बोलूंगा। ऐसा विचार करके। एगवयण—एक वचन। वइज्जा—बोले। जाव—

यावत्। परुक्ख वयणं—परोक्ष वचन। वइस्सामीति—बोलूंगा ऐसा विचार करके। परुक्ख-वयणं—परोक्ष वचन। वइज्जा—बोले। इत्थि वेस—यह स्त्री है। पुरिसो वेस—यह पुरुष है। नपुंसग वेस—यह नपुंसक है। एय वा—यह स्त्री ही है अथवा। च—और। एय—यह। अन्नं वा—और कोई है। च—पुनः। एय—यह। अणुवीइ—विचार कर। निट्ठा-भासी—निश्चित एकान्त भाषा बोलने वाला। सजए—साधु। समियाए—भाषा समिति युक्त। भास—भाषा को। भासिज्जा—बोले। इच्चेयाइ—ये पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले। आययणाइ—भाषा के दोष स्थानों को। उवातिकम्म— अति क्रम करके-उल्लंघन करके भाषण करे। अह भिक्खू - अथ भिक्षु। चत्तारि—चार प्रकार की। भासज्जाइ—भाषाओ को। जाणिज्जा—जानने का यत्न करे। तजहा—जैसे कि। सच्चमेग पढ़म भासज्जाय—पहली सत्य भाषा है। बीय मोस—दूसरी मृषा भाषा है। तईयं सच्चा मोस—तीसरी सत्य-मृषा अर्थात् मिश्र भाषा है। जं—जो भाषा। नेव—न। सच्च—सत्य है। नेव मोस—न मृषा है, तथा। नेव—न। सच्चामोसं—सत्य और मृषा हैं। तं—उसका। चउत्थं नाम—चौथी। असच्चामोसं—असत्यामृषा अर्थात् व्यवहार। भासज्जायं—भाषा है। से बेमि—यह जो कुछ मैं कह रहा हूं यह सब। जे—जो। अईया—अतीत काल मे। जे य—और जो। पडुप्पन्ना—वर्तमान काल में तथा। जे—जो। अणागया— अनागत-भविष्यत् काल में। अरहता भगवन्तो—अरिहन्त भगवान हो चुके हैं, हैं या होगे। ते सव्वे—वे सब। एयाणि चेव चत्तारि भासज्जाइ—यही चार प्रकार की भाषाए। भासिसु—बोलते थे। भासति—बोलते है और भासिस्सति वा—बोलेंगे, तथा इन्ही भाषाओ की। पन्नविसु वा ३—उन्होने प्ररूपणा की, प्ररूपणा करते हैं और करेंगे। सव्वाइ च ण एयाइ—ये सभी प्रकार की भाषाएं। अचित्ताइ—अचित्त हैं। वण्ण मंताणि—वर्ण युक्त। गन्ध मंताणि—गन्ध युक्त। रस मंताणि—रस युक्त और। फास मंताणि—स्पर्श युक्त है, अर्थात् सभी प्रकार के भाषा द्रव्य वर्ण गन्ध, रस और स्पर्श युक्त हैं। चओवचयाइ—उपचय और अपचय वाले अर्थात् मिलने और बिछुडने वाले हैं तथा ये। विप्परिणाम धम्माइं—विविध प्रकार के परिणाम-धर्म वाले। भवंतीति—होते है ऐसा। अक्खायाइ—तीर्थंकरो ने कहा है।

मूलार्थ—संयमशील साधु और साध्वी वचन के आचार को सुन कर और हृदय में धारण करके वचन अनाचार को (जिनका पूर्व के मुनियो ने आचरण नही किया) जानने का प्रयत्न करे। जो मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ से वचन बोलते हैं अर्थात् इनके वशीभूत, होकर भाषण करते हैं, तथा जो किसी के दोष को जानते हुए अथवा न जानते

हुए भी उसके मर्म को उदघाटन करने के लिए कठोर वचन बोलते हैं ऐसी भाषा सावद्य है अतः विवेकशील साधु इसे छोड़ दे । और वह निश्चयात्मक भाषा भी न बोले, जैसेकि—कल अवश्य ही वर्षा होगी, अथवा नही होगी । यदि कोई साधु आहार के लिए गया हो, तब अन्य साधु उसके लिए ऐसा न कहे कि वह साधु अशनादि चतुर्विध आहार अवश्य लेकर आएगा, अथवा विना लिये ही आएगा । और यदि किसी साधु को भिक्षार्थ गये हुए किसी कारण से कुछ विलम्ब होगया हो, तो संयमशील साधु अन्य साधुओं के प्रति इस प्रकार भी न कहे कि वह साधु-जोकि भिक्षा के लिए गया हुआ है, वहां पर भोजन करके आएगा अथवा आहार किए बिना ही आएगा। इस तरह भूत काल की किसी बात का जब तक निश्चय न हो जाए तब तक निश्चयात्मक वचन न बोले तथा—राजा अवश्य आया था, अथवा (वर्तमनकाल में) आता है अथवा [भविष्यत् काल मे] अवश्य आएगा, अथवा तीनों काल में न आया था, न आता है और न आएगा, इसप्रकार के निश्चयात्मक वचन भी न बोले । जिसप्रकार कालके विषय में कहा गया है उसी प्रकार क्षेत्रके विषक में भी समझना चाहिए। यथा पीछे अमुक व्यक्ति अमुक नगरादि में आया था, अथवा नही आया था, इसी प्रकार अमुक व्यक्ति आता है या नही आता है, और अमुकव्यक्ति अमुक नगरादि में आएगा अथवा नहीं आएगा । तात्पर्य्य कि जिस विषय में वस्तु तत्त्व का पूर्णतया निश्चय न हो उसके विषय में निश्चात्मक वचन साधु को नहीं बोलना चाहिये। अतः विचार पूर्वक निश्चय करके भाषा समिति से समित हुआ साधु, भाषा का व्यवहार करे अर्थात् भापा समिति का ध्यान रखता हुआ सयत भाषा में बोले । एक वचन, द्विवचन और वहुवचन, तथा स्त्रीलिंग वचन, पुरुष लिग वचन और नपुंसक लिंग वचन, एवं अध्यात्म वचन प्रशंसा युक्त वचन, निन्दायुक्त वचन निन्दा और प्रशंसा युक्त वचन,

भूतकाल सम्बन्धि वचन, वर्तमानकाल सम्बन्धि वचन और भविष्यत काल सम्बन्धि वचन, तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष वचन आदि को भली भांति जानकर बोले । यदि उसे एक वचन बोलना हो तो वह एक वचन बोले यावत् परोक्ष वचन पर्यन्त जिस वचन को बोलना हो उसी को बोले। तथा स्त्रीवेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद अथवा स्त्रीपुरुष और नपुंसक वेद या जब तक निश्चय न हो, तब तक निश्चयात्मक वचन न बोले, जैसेकि—यह स्त्री ही है इत्यादि २ अतः विचार पूर्वक भाषा समिति से युक्त हुआ साधु भाषा के दोषों को त्याग कर सभाषण करे।

साधु को भाषा के चारो भेदो को भी जानना चाहिये, सत्य भाषा २ मृषा-असत्य भाषा, ३ मिश्र भाषा और ४ असत्यामृषा- जो न सत्य है, न असत्य और न सत्यासत्य किन्तु असत्यामृषा या व्यवहार भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। जो कुछ मैं कहता हू— भूतकाल में जो अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और वर्तमान काल मे जो तीर्थंकर हैं, तथा भविष्यित् काल मे जो तीर्थंकर होगे, उन सब ने इसी प्रकार से चार तरह की भाषा का वर्णन किया हे, करते है और करेंगे। तथा ये सब भाषा के पुद्गल अचित्त है, तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले हैं, तथा उपचय और अपचय अर्थात् मिलने और विछुडने वाले एवं विविध प्रकार के परिणामों को धारण करने वाले होते हैं। ऐसा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तीर्थंकर देवो ने प्रतिपादन किया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को भाषा शास्त्र का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे व्याकरण का भली-भांति बोध होना चाहिए। जिससे वह बोलते समय विभक्ति, लिंग एवं वचन आदि की गलती न कर सके। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को जीवन में आध्यात्मिक ज्ञान के साथ व्यवहारिक शिक्षा का भी महत्त्व है। साधक को जिस भाषा में अपने विचार अभिव्यक्त करने है, उसे उस भाषा का

परिज्ञान होना जरूरी है। यदि उसे उस भाषा का ठीक तरह से बोध नहीं है तो वह बोलते समय अनेक गलतिएं कर सकता है और कभी-कभी उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा उसके अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ को भी प्रकट कर सकती है। इसलिए साधक को भाषा का इतना ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिससे वह अपने भावों को स्पष्ट एवं शुद्ध रूप से अभिव्यक्त कर सके।

भाषा के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि साधु-साध्वी को निश्चयात्मक एवं संदिग्ध भाषा नहीं बोलनी चाहिए। इसका कारण यह है कि कभी परिस्थितिवश वह कार्य उसी रूप में नहीं हुआ तो साधु के दूसरे महाव्रत में दोष लगेगा। इसी तरह जिस बात के विषय में निश्चित ज्ञान नहीं है उसे प्रकट करने से भी दूसरे महाव्रत में दोष लगता है। अतः साधु को बोलते समय पूर्णतया विवेक एव सावधानी रखनी चाहिए।

तीसरी बात यह है कि मनुष्य क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों के वश भी झूठ बोलता है। जिस समय मनुष्य के मन में क्रोध की आग धधकती है उस समय वह यह भूल जाता है कि मुझे क्या बोलना चाहिए और क्या नहीं बोलना चाहिए। इसी तरह जब मनुष्य के जीवन में अभिमान, माया एवं लोभ का अन्धड़ चलता है तो उस समय भी भाषा के दोष एवं गुणों का सही ज्ञान नहीं रख सकता और उन मनोविकारों के वश वह असत्य भाषा का भी प्रयोग कर देता है। इसलिए साधु को सदा इन कषायों से ऊपर उठकर बोलना चाहिए। यदि कभी इनका उदय हो रहा हो तो साधु को उस समय मौन रहना चाहिए। उसे पहले उदयमान कषायों को उपशान्त करके फिर बोलना चाहिए।

भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में यहां कुछ बताना अनुचित एवं अप्रासंगिक नहीं होगा। साधारणतया मुंह द्वारा बोले जाने वाले शब्दों के समूह को भाषा कहते हैं। जैन आगमों में शब्द को पुद्गल माना गया हैं। कुछ भारतीय दर्शन शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि आकाश अरूपी है, अतः उसका गुण भी अरूपी ही होगा। परन्तु, शब्द रूपी है, इस लिए वह अरूपी आकाश का गुण नहीं हो सकता। और आज वैज्ञानिक साधनों ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, प्रत्युत स्वयं एक मूर्त पदार्थ है। वह पुद्गल के द्वारा रोका जाता है, ग्रहण किया जाता है और स्थानान्तर में भी भेजा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, प्रत्युत भाषा वर्गणा के पुद्गलों का समूह है। अतः भाषा वर्गणा के पुद्गल अचित्त एवं वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त हैं तथा परिवर्तनशील हैं।

व्यक्ति द्वारा बोली जाने वाली भाषा चार प्रकार की मानी गई है— १ सत्य भाषा, २ असत्य भाषा, ३ मिश्र भाषा (जिसमे सत्य और असत्य की मिलावट हो) और ४ असत्याऽमृषा (जिस भाषा में न झूठ है और न सत्य है, जिसे व्यवहार भाषा कहते हैं)। इसमें साधु पहली और चौथी अर्थात् सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग कर सकता है। परन्तु, उसे दूसरी और तीसरी अर्थात् असत्य एवं मिश्र भाषा का प्रयोग करना नहीं कल्पता।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को भाषा के दोषों का परित्याग करके विवेक-पूर्वक बोलना चाहिए। भाषा के दोषों से वचने के लिए सूत्रकार ने १६ प्रकार के वचनों का उल्लेख किया है। इसमें प्रयुक्त द्विवचन संस्कृत व्याकरण के अनुसार रखा गया है। क्योंकि प्राकृत में एक वचन और बहुवचन ही होता है। द्विवचन का प्रयोग संस्कृत में होता है। अत. उक्त भाषा को ध्यान में रखकर ही सूत्रकार ने द्विवचन शब्द का उल्लेख किया हो ऐसा प्रतीत होता है। ये वचनों के १६ प्रकार इस प्रकार से हैं—

१ एक वचन— (संस्कृत भाषा में)—वृक्ष., घटः, पट. इत्यादि।
(प्राकृत भाषा में)—वच्छो-रुक्खो, घड़ो, पड़ो इत्यादि।

२ द्विवचन— वृक्षौ, घटौ, पटौ इत्यादि, प्राकृत में द्विवचन होता ही नहीं।

३ बहुवचन— वृक्षाः, घटाः, पटाः इत्यादि।
(प्राकृत में)— वच्छा, रुक्खा, घड़ा, पड़ा इत्यादि।

४ स्त्री लिंग वचन—(सं०) कन्या, वीणा, राजधानी इत्यादि। (प्रा०) कन्ना, वीणा, रायहाणी इत्यादि।

५ पुरुष वचन— (सं०) घटः, पटः, कृष्ण, साधुः इत्यादि।
(प्राकृत०) घड़ो, पड़ो, कण्हो, साहू इत्यादि।

६ नपुंसक लिंग व०— पत्रम्, ज्ञानम्, चारित्रम्, दर्शनम् इत्यादि।
पत्तं, नाणं, चरित्तं, दंसणं इत्यादि।

७ अध्यात्म वचन—जिस वचन के बोलने का चित्त में निश्चय किया गया हो; फिर उसको छिपाने के लिए अन्य वचन के बोलने का विचार होने पर भी अकस्मात् वही वचन मुख से निकले उसे अध्यात्म वचन कहते हैं। जैसे कि— कोई वणिक् रूई के व्यापार के लिए किसी अन्य ग्राम या नगर में गया, उसने अपने मन में निश्चय किया कि मैं किसी अन्य व्यक्ति के पास रूई का नाम नहीं लूंगा। परन्तु जब वह तृषातुर होकर किसी कूप पर पानी पीने के लिए गया तब उसने वहां पानी भरने वालों से कहा कि मुझे शीघ्र ही रूई पिलाओ! इसी का नाम अध्यात्म वचन है। वृत्तिकार भी यही

कडुयं निट्ठुरं फरुसं अगहयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परिया-वणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा, जा य भासा सच्चा सुहुमा जा य भासा असच्चामोसा तहप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभूओवघाइयं अभिकंख भासं भासिज्जा ॥१३३॥

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः जानीयात् पूर्वं भाषा अभाषा भाष्यमाणा भाषा भाषा भाषासमयव्यतिक्रान्ता च भाषिता भाषा अभाषा।

स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः जानीयात् या च भाषा सत्या १ या च भाषा मृषा २ या च भाषा सत्यामृषा ३ या च भाषा असत्याऽमृषा ४ तथाप्रकारां भाषां सावद्यां सक्रियां कर्कशां कटुकां निष्ठुरां परुषां, आश्रवकरीं छेदनकरीं भेदनकरीं परितापनकरीं, अपद्रावणकरीं भूतोपघातिकां अभिकांक्ष्य नो भाषेत, स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुनः जानीयात् या च भाषा सत्या सूक्ष्मा या च भाषा असत्याऽमृषा तथाप्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभूतोपघातिकाम् अभिकांक्ष्य भाषां भाषेत।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। से—वह। जं—जो। पुण—फिर। जाणिज्जा—जाने। पुव्विं भासा—भाषण करने से पूर्व जो भाषा द्रव्य वर्गणा के पुद्गल एकत्र हुए है वे भाषा के योग्य होने पर भी। अभासा—अभाषा-भाषा नहीं है किन्तु। भासिज्जमाणी भासा—भाषण करते हुए ही वह। भासा—भाषा होती है। च—फिर। णं—वाक्यालंकार मे है। भासा समयवीइक्कंता—भाषा समय से व्यतिक्रान्त हुई। भासिया भासा—भाषण के पश्चात् वह भाषा। अभासा—अभाषा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि भूत और भविष्यत् काल को छोडकर केवल वर्तमान काल में बोली जाने वाली भाषावर्गणा के पुद्गलो को ही भाषा कह सकते हैं। अब भाषण करने के योग्य तथा अयोग्य भाषा के विषय मे कहते हैं। से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। से जं पुण जाणिज्जा—फिर इस प्रकार जाने। जा य भासा—और जो भाषा। सच्चा—सत्य है। जा य भासा—तथा जो भाषा। मोसा—मृषा-असत्य है। जा य भासा—और जो भाषा। सच्चामोसा—सत्यासत्य अर्थात् मिश्र है। जा,य-

भासा—एवं जो भाषा। असच्चाऽमोसा—असत्याऽमृषा अर्थात् व्यवहार भाषा है। तहप्पगारं—तथा प्रकार की। भास—भाषा जो कि। सावज्ज—सावद्य-पाप जनक है तथा। कक्कसं—कर्कश-कठोर है। सकिरियं—क्रिया युक्त है। कडुयं—कटुक है-चित्त को उद्वेग करने वाली है। निट्ठुरं—निष्ठुर है। फरुसं—दूसरे के मर्म को प्रकाश करने वाली है तथा। अण्हयकरिं—कर्मों का आस्रवण करने वाली है। छेयणकरिं—जीवों का छेदन करने वाली है। भेयणकरिं—भेदन करने वाली है। परियावणकरिं—परिताप देने वाली है एवं। उद्दवणकरिं—उपद्रव करने वाली है और। भूओवघाइयं-भूतोपघातिनी है-जीवों का विनाश करने वाली है। अभिकख—मन में विचार कर इस प्रकार की सत्य भाषा भी। नो भासिज्जा—न बोले, अर्थात् जिस भाषा से पर प्राणी का अहित होता हो तथा उसे कष्ट पहुंचता हो तो ऐसी भाषा यदि सत्य भी हो तो भी साधु न बोले। तथा। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। से—वह। ज—जो। पुण—फिर। जाणिज्जा—वह जाने कि। जा य भासा—जो भाषा। सच्चा—सत्य है-यथार्थ है। सुहुमा—सूक्ष्म विचार परिपूर्ण। जा य-और जो भाषा। असच्चामोसा-असत्याऽमृषा अर्थात् व्यवहार भाषा है। तहप्पगारं—तथा प्रकार की। असावज्ज—असावद्य-पापरहित। जाव—यावत्। अभूओवघाइय—अभूतोपघातिनी—जीवों का विनाश करने वाली नहीं है। अभिकंख—विचार कर। भासं भासिज्जा—भाषा को बोले-संभाषण करे।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी को भाषा के विषय में यह जानना चाहिए कि भाषावर्गणा के एकत्रित हुए पुद्गल बोलने से पहले अभाषा और भाषण करते समय भाषा कहलाते हैं, और भाषण करने के पश्चात् वह बोली हुई भाषा अभाषा हो जाती है। साधु या साध्वी को भाषा के इन भेदों को भी जानना चाहिए कि-जो सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा और व्यवहार भाषा है, उन में असत्य और मिश्र भाषा का व्यवहार साधु साध्वी के लिए सर्वथा वर्जित है, केवल सत्य और व्यवहार भाषा ही उनके लिये आचरणीय है,। उसमें भी यदि कभी सत्य भाषा भी सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर और कर्मों का आस्रवण करने वाली, तथा छेदन, भेदन, परिताप और उपद्रव करने वाली एवं जीवों का घात करने वाली हो तो विचारशील साधु ऐसी सत्य भाषा का भी प्रयोग न करे, किन्तु संयमशील साधु या साध्वी उसी सत्य और व्यवहार भाषा—जो कि पापरहित यावत् जीवोपघातक नहीं है—का ही विवेक

पूर्वक व्यवहार करे। अर्थात् वह निर्दोष भाषा बोले।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भाषा के सम्बन्ध में दो बातें बताई गई हैं— १ भाषा की अनित्यता और २-कौन सी भाषा बोलने के योग्य या अयोग्य है। इसमे बताया गया है कि भाषा वर्गणा के पुद्गल जब तक वाणी द्वारा मुखरित नहीं होते, तब तक उन्हें भाषा नहीं कहा जाता। और बोले जाने के बाद भी उन पुद्गलों की भाषा संज्ञा नहीं रह जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि जब तक उनका वाणी के द्वारा प्रयोग होता है तब तक भाषा वर्गणा के उन पुद्गलों को भाषा कहते हैं। अतः तात्वादि व्यापार से वाणी के रूप में व्यवहृत होने से पहले और बाद में वे पुद्गल भाषा के नाम से जाने पहचाने नहीं जाते। जैसे चाक आदि के सहयोग से घड़े के आकार को प्राप्त करने के पहले तथा घड़े के टूट जाने के बाद वह मिट्टी घड़ा नहीं कहलाती है। उसी तरह भाषा वर्गणा के पुद्गल वाणी के रूप में मुखरित होने से पहले और बाद मे भाषा नहीं कहलाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भाषा नित्य नहीं, अनित्य है। क्योंकि तात्वादि के सहयोग से भाषा वर्गणा के पुद्गलों को भाषा के आकार में प्रस्फुटित किया जाता है। इस लिए वह कृतक है और जो पदार्थ कृतक होते हैं, वे अनित्य होते हैं, जैसे घट। इससे यह स्पष्ट हुआ कि भाषा भाषावर्गणा के पुद्गलों का समूह है, वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श युक्त है, कृतक है और इस कारण से अनित्य है।

प्रस्तुत सूत्र में दूसरी बात यह कही गई है कि साधु असत्य एव मिश्र भाषा का बिल्कुल प्रयोग न करे। सत्य एवं व्यवहार भाषा में भी जो सावद्य हो, सक्रिय हो, कर्कश-कठोर हो, कड़वी हो, कर्म बन्ध कराने वाली हो, मर्म का उद्घाटन करने वाली हो तो साधु को ऐसी सत्य भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि साधु को सदा ऐसी सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए, जो निरवद्य हो, अनर्थकारी न हो। कठोर एवं कड़वी न हो, दूसरे के मर्म का भेदन करने वाली न हो। अतः साधु को सदा मधुर, निर्दोष एवं निष्पापकारी सत्य एव व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

इसके लिए सूत्रकार ने जो 'सुहुमा' शब्द का प्रयोग किया है, उसका यही अर्थ है कि मुनि को कुशाग्र एव सूक्ष्म (गहरी) दृष्टि से विचार करके विवेक पूर्वक भाषा का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु, वृत्तिकार ने इसका अर्थ यह किया है कि सूक्ष्म—कुशाग्र बुद्धि से सम्यक् पर्यालोचन करने पर कभी-कभी असत्य भाषा भी सत्य का स्थान ग्रहण कर लेती है। जैसे किसी शिकारी या हिंसक द्वारा मृग आदि के विषय में पूछने पर

देखने पर भी सत्य को प्रकट नहीं किया जाता। यह ठीक है कि झूठ नहीं बोलना चाहिए, परन्तु साथ में यह भी तो है कि ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जो दूसरे प्राणी के लिए कष्टकर हो। इस तरह का सत्य भी झूठ हो जाता है। परन्तु, वृत्तिकार के ये विचार कहां तक आगम से मेल खाते हैं, विद्वानों के लिए विचारणीय है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपड़िसुणेमाणं नो एवं वइज्जा--होलित्ति वा गोलित्ति वा वसुलेत्ति वा कुपक्खेत्ति वा घडदासित्ति वा साणेत्ति वा तेणित्ति वा चारिएत्ति वा माईत्ति वा मुसावाइत्ति वा, एयाइं तुमं ते जणगा वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्जा। से भिक्खू वा० पुमं आमंतेमाणे आमं--तिए वा अप्पडिसुणेमाणे एवं वइज्जा--अमुगे इ वा आउसोत्ति वा आउसंतारोत्ति वा सावगेत्ति वा उवासगेत्ति वा धम्मिएत्ति वा धम्मपिएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा। से भिक्खू वा २ इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पड़िसुणेमाणं नो एवं वइज्जा--होली इ वा गोलीति वा इत्थी--गमेणं नेयव्वं॥ से भिक्खू वा २ इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पड़िसुणेमाणीं एवं वइज्जा--आउसोत्ति वा भइणित्ति वा भोईति वा भगवईति वा साविगेति वा उवासिएत्ति वा धम्मिएत्ति

वा, धम्मप्पिएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ॥१३४॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा पुमांसम् आमन्त्रयन् आमंत्रितं वा अशृण्वन्तं नैवं वदेत्-होल इति वा गोल इति वा वृषल इति वा कुपक्ष इति वा घटदास इति वा श्वेति वा स्तेन इति वा चारिक इति वा मायीति वा मृषावादीति वा एतानि त्व तव जनकौ वा एतत्प्रकारां भाषा सावद्या सक्रियां यावद् भूतोपघातिकाम् अभिकाक्ष्य न भाषेत। स भिक्षुर्वा० पुमांसं आमन्त्रयन् आमन्त्रितो वा अशृण्वन्तं एवं वदेत्—अमुक इति वा आयुष्मन्! इति वा, आयुष्मन्त इति वा, श्रावक इति वा, उपासक इति वा, धार्मिक इति वा, धर्मप्रिय इति वा, एतत्प्रकारां भाषामसावद्यां यावत् अभिकाक्ष्य भाषेत। स भिक्षुर्वा २ स्त्रिय आमन्त्रयन् आमन्त्रितां वा अशृण्वती नो एवं वदेत—होलीति वा, गोलीति वा, नेस्त्रीगमेन तव्यम्। स भिक्षुर्वा २ स्त्रियं आमन्त्रयन् आमंत्रितां वा अशृण्वतीम् एवं वदेत्- आयुष्मति इति वा, भगिनि! इति वा, भवतीति वा, भगवतीति वा, श्रावके! इति वा, उपसिके! इति वा, धार्मिके! इति वा, धर्मप्रिये! इति वा, एतत्प्रकारां भाषामसावद्यां यावद् अभिकाक्ष्य भाषेत।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा २—साधु या साध्वी। पुमं—पुरुष को। आमंतेमाणे—आमन्त्रण करता हुआ। आमंतिए वा—अथवा आमन्त्रित किए जाने पर। अप्पडिसुणेमाणं—उसे सुनाई न दे तो उसे। एवं—इस प्रकार। नो वइज्जा—न कहे। होलित्ति वा—हे होल। गोलित्ति वा—हे गोल! ये दोनो शब्द अवज्ञा के सूचक हैं, अथवा। वसुलेति वा—हे वृषल! कुपक्खेति वा—हे कुपक्ष! घडदासित्ति वा—हे घटदास! इस प्रकार तथा। साणेत्ति वा—हे श्वान-कुत्ते! तेणेति वा—हे चोर! चारिएति वा—हे गुप्तचर! माईत्ति वा—हे छलिए! मुसावाइत्ति वा—हे मृषावादी-झूठ बोलने वाले! इस प्रकार न कहे अथवा। एयाइ तुम—तू ऐसा ही है या। ते जणगा वा—तेरे माता-पिता भी ऐसे ही हैं। एयप्पगारं—इस प्रकार की। भासं—भाषा जो कि। सावज्जं—पाप युक्त। स किरियं—क्रिया युक्त। जाव—यावत्। भूओवघाइयं—प्राणियों की विनाशक है उसे। अभिकंख—विचार कर-मन में सोचकर। नो भासिज्जा—साधु ऐसी भाषा न बोले। से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। पुमं—पुरुष को

**आमंतेमाणे**—बुलाता हुआ। **आमंतिए वा**—बुलाए जाने पर। **अप्पडिसुणे माणे**—उसके न सुनने पर। **एवं वइज्जा**—इस प्रकार कहे। **अमुगेइ वा**—हे अमुक! अर्थात् उसका जो नाम हो उस नाम से। **आउसोत्ति वा**—अथवा हे आयुष्मन्! इस प्रकार। **आउसंत्तारोत्ति वा**—अथवा हे आयुष्मानो! **सावगेत्ति वा**—हे श्रावक! **उवासगेत्ति वा**—हे उपासक! अथवा। **धम्मिएत्ति वा**—हे धार्मिक! अथवा। **धम्मपिएत्ति वा**—हे धर्म प्रिय! **एयप्पगारं**—इस प्रकार की। **असावज्जं**—असावद्य-पाप रहित। **जाव**—यावत्। **अभिकंख**—विचार कर। **भासं**—भाषा को। **भासिज्जा**—बोले। **सेभिक्खू वा०**—वह साधु या साध्वी। **इत्थिं**—स्त्री को। **आमंतेमाणे**—आमन्त्रित करता हुआ-बुलाता हुआ। **आमंतिए वा**—अथवा आमन्त्रित किए जाने पर। **अप्पडिसुणेमाणे**—उसके न सुनने पर। **एवं**—इस प्रकार। **नो वइज्जा**—न कहे यथा। **होलीइ वा**—हे होली इस प्रकार तथा। **गोलीति वा**—हे गोली इस प्रकार। **इत्थीगमेणं**—पूर्वोक्त सम्पूर्ण आलापक स्त्री के सम्बन्ध मे भी। **नेयव्वं**—जान लेने चाहिएं। **से भिक्खू वा०**—वह साधु या साध्वी। **इत्थि**—स्त्री को। **आमंतेमाणे**—आमन्त्रित करता हुआ। **आमंतिए वा**—अथवा आमन्त्रित किए जाने पर। **अप्पडिसुणे माणे**—उसके न सुनने पर। **एवं वइज्जा**—इस प्रकार कहे, जैसे कि। **आउसोत्ति वा**—हे आयुष्मति! **भइणिति वा**—हे भगिनि! **भोईति वा**—हे पूज्ये। **भगवईति वा**—हे भगवती! तथा। **सावगेति वा**—हे श्राविके! **उवासिएत्ति वा**—हे उपासिके! **धम्मिएति वा**—हे धार्मिके! और। **धम्मपिएति वा**—हे धर्म प्रिये! **एयप्पगारं**—इस प्रकार की। **भासं**—भाषा को जोकि। **असावज्जं**—असावद्य है। **जाव**—यावत्। **अभिकंख**—विचार कर। **भासिज्जा**—बोले।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी पुरुष को आमंत्रित करते हुए उसके न सुनने पर उसे हे होल! हे गोल! हे वृषल! हे कुपक्ष! हे घटदास! हे श्वान! हे चोर! हे गुप्तचर! हे कपटी! हे मृषावादी! तुम हो क्या और तुम्हारे माता पिता भी इसी प्रकार के है। विवेक शील साधु इस तरह की सावद्य, सक्रिय यावत् जीवो पघातिनी भाषा को न बोले। किन्तु संयमशील साधु अथवा साध्वी कभी किसी व्यक्ति को आमंत्रित कर रहे हों और वह न सुने तो उसे इस प्रकार संबोधित करे—हे अमुक व्यक्ति! हे आयुष्मन्! हे आयुष्मानों! हे श्रावक! हे उपासक! ह धार्मिक! हे धर्म प्रिय! आदि इस प्रकार की निरवद्य पाप रहित भाषा को बोले इसी तरह संयमशील साधु या साध्वी स्त्री को बुलाते समय उसके न

सुनने पर उसे हे होली ! हे गोली ! इत्यादि जितने सम्बोधन पुरुष के प्रति ऊपर दिये गये है। उन नीच संबोधनो से संबोधित न करे किन्तु उस के न सुनने पर उसे हे आयुष्मति ! हे भगिनि ! हे बहिन ! हे पूज्य ! हे भगवति ! हे श्राविके ! हे उपासिके ! हे धार्मिके और हे धर्मप्रिये ! इत्यादि पाप रहित कोमल एवं मधुर शब्दों से संबोधित करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को किसी भी गृहस्थ के प्रति हलके एवं अवज्ञापूर्ण शब्दों का प्रयोग करने का निषेध किया गया है। इसमें बताया गया है कि किसी पुरुष या स्त्री को पुकारने पर वह नहीं सुनता हो तो साधु उन्हें निम्न श्रेणी के सम्बधोनों से सम्बोधित न करे, उन्हें हे गोलक, मूर्ख आदि अलकारों से विभूषित न करे। क्योंकि, इससे सुनने वाले के मन को आघात लगता है और साधु की असभ्यता एवं अशिष्टता प्रकट होती है। इसलिए साधु को ऐसी सदोष भाषा नहीं बोलनी चाहिए। यदि कभी कोई बुलाने पर नहीं सुन रहा हो तो उसे मधुर, कोमल एवं प्रियकारी सम्बोधनों से पुकारना चाहिए, उसे हे धर्मप्रिय, देवानुप्रिय, आर्य, श्रावक अथवा हे धर्मप्रिये, देवानुप्रिये, श्राविका आदि शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए। इससे प्रत्येक प्राणी के मन मे हर्ष एवं उल्लास पैदा होता है और साधु के प्रति भी उसकी श्रद्धा बढ़ती है। अत: साधु-साध्वी को सदा मधुर, निर्दोष एवं कोमल भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० नो एवं वइज्जा--नभोदेविति वा गज्ज-देविति वा विज्जुदेविति वा पवुट्ठ दे० निवुट्ठदेवित्तए वा पडउ वा वासं मा वा पडउ निप्फज्जउ वा सस्सं मा वा नि० विभाउ वा रयणी मा वा विभाउ उदेउ वा सूरिए मा वा उदेउ सो वा राया जयउ वा मा जयउ, नो एयप्पगारं भासं भासिज्जा। पन्नवं से भिक्खू वा २ अंतलिक्खेति वा गुज्झाणुचरिएत्ति वा

समुंच्छिए वा निवइए वा पओए वइज्जा वुट्ठबलाहगेत्ति वा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सहिए सया जइज्जासि, त्तिबेमि ॥१३५॥

छाया—स भिक्षुः भिक्षुकी वा नैवं वदेत्-नभो देव इति वा, गर्जति देव इति वा विद्युद् देव इति वा प्रवृष्टो देव इति वा निवृष्टो देव इति वा पततु वा वर्षा मा वा पततु निष्पद्यतां वा सस्यं मा वा निष्पद्यताम्, विभातु वा रजनी मा वा विभातु उदेतु वा सूर्यः मा वा उदेतु स वा राजा जयतु वा मा जयतु, नो एतत्प्रकारां भाषां भाषेत। प्रज्ञावान् स भिक्षुर्वा २ अन्तरिक्षमिति वा गुह्यानुचरितमिति वा संमूर्छितो वा निपतति वा पयोदः वदेत्-वृष्टो बलाहक इति वा। एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्याः वा सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा यतेत, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से भिक्खू वा २—वह साधु अथवा साध्वी। एव—इस प्रकार। नो वइज्जा—न बोले, यथा—। नभोदेवित्ति वा—आकाश देव है। गज्जदेवित्ति वा—गाज-बादलों की गर्जन-देव है। विज्जुदेवित्ति वा—विद्युत देव है या। पवुट्ठदे०—देव वर्षता है। निवुट्ठदेवित्ति वा—निरन्तर देव बरसता है। पडउ वा वासं—वर्षा बरसे। मा वा पडउ—या वर्षा न बरसे। निप्फज्जउ वा सस्सं—धान्य उत्पन्न हो। मा वा निप्फज्जउ सस्सं—धान्य उत्पन्न न हो। विभाउ वा रयणी—रात्रि व्यतिक्रान्त या शोभा युक्त हो। मा वा विभाउ०—या शोभा युक्त न हो। उदेउ वा सूरिए—सूर्य उदय हो। मा वा उदेउ—या उदय न हो। सोवा—वह। राया—राजा। जयउ—विजयी बने। वा—या। मा जयउ—विजयी न बने। एयप्पगारं—इस प्रकार की। भासं—भाषा को। नो भासिज्जा—न बोले। पन्नवं—प्रज्ञावान-बुद्धिमान्। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी यदि कारण हो तो। अंतलिक्खेत्ति वा—आकाश को आकाश कहे, इस प्रकार यावन्मात्र आकाश के नाम हैं उन नामों से आकाश को पुकारे। गुज्झाणुचरिएत्ति वा—या यह आकाश देवताओं के चलने का मार्ग है इस लिए इसको गुह्यानुचरित भी कहते हैं अथवा। संमुच्छिए—सम्मूर्छिम जल। निवइए—पडता है या। पयोए—यह मेघ जल प्रदाता है, ऐसा। वइज्जा—कहे या। वुट्ठबलाहगेत्ति—ऐसा कहे कि बादल बरस रहा है। एय खलु—निश्चय ही यह। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु। वा—और। भिक्खुणीए—साध्वी का। सामग्गियं—

सम्पूर्ण आचार है। जं—जो। सव्वट्ठेहिं—ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप अर्थों से युक्त और। समिए—पांच समितियो के। सहिए—सहित। सया—सदा। जाइज्जासि—निरवद्य भाषा बोलने का यत्न करे। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—संयमशील साधु अथवा साध्वी इस प्रकार न कहे कि आकाश देव है, गर्ज (बादल) देव है, विद्युत देव है, देव बरस रहा है, या निरन्तर बरस रहा है, एवं वर्षा बरसे या न बरसे। धान्य उत्पन्न हों या न हों। रात्रि व्यतिक्रान्त हो या न हो। सूर्य उदय हो या न हो। और यह भी न कहे कि इस राजा की विजय हो या इसकी विजय न हो। आवश्यकता पड़ने पर प्रज्ञावान् साधु अथवा साध्वी इस प्रकार बोले कि यह आकाश है, देवताओं के गमनागमन करने से इसका नाम गुह्यानुचरित भी है। यह पयोधर जल देने वाला है। संमूर्च्छिम जल बरसाता है, या यह मेघ बरसता है, इत्यादि भाषा बोले। जो साधु या साध्वी साधना रूप पांच समिति तथा तीन गुप्ति से युक्त हैं उनका यह समग्र आचार है, अतः उसके परिपालन में वे सदा प्रयत्नशील रहते हैं इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि संयमनिष्ठ एवं विवेकशील साधु-साध्वी को अयथार्थ भाषा का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे- आकाश, बादल, बिजली, वर्षा आदि को देव कहकर नहीं पुकारना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों में दैवी शक्ति की कल्पना करके उन्हें देवत्व के सिंहासन पर बैठाना यथार्थता से बहुत दूर है। अतः इसमें असत्यता का अंश भी रहता है। इस कारण साधु को उन्हें देवत्व के सम्बोधन से न पुकार कर व्यवहार में प्रचलित आकाश, बादल, बिजली या विद्युत आदि शब्दों से ही उनका उच्चारण करना चाहिए।

इसी तरह साधु-साध्वी को यह भी नहीं कहना चाहिए कि वर्षा हो या न हो, धान्य एवं अन्न उत्पन्न हो या न हो, शीघ्रता से रात्रि व्यतीत होकर सूर्योदय हो या न हो, अमुक राजा विजयी हो या न हो। क्यों कि इस तरह की भाषा बोलने से संयम में अनेक दोष लगते हैं, अतः साधु को ऐसी सदोष भाषा का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'समुच्छिए वा निवइए' पाठ का यह अर्थ है— बादल

सम्मूर्छिम जल बरसाता है। अर्थात् सूर्य की किरणों के ताप से समुद्र, सरिता आदि में स्थित जल वाष्प रूप में ऊपर उठता है और ऊपर ठण्डी हवा आदि के निमित्त से फिर पानी के रूप को प्राप्त करके बादलों के रूप में आकाश में घूमता है और हवा पहाड़ एवं बादलों की पारस्परिक टक्कर से बरसने लगता है❀।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सदा मधुर, प्रिय, यथार्थ एवं निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

❀ इस विषय में विशेष जानकारी करने के जिज्ञासुओं को स्थानाङ्ग सत्र के चतुर्थ स्थान का अवलोकन करना चाहिए।

# चतुर्थ अध्ययन—भाषैषणा

## द्वितीय उद्देशक

साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए और किस तरह की भाषा नहीं बोलनी चाहिए इसका प्रथम उद्देशक मे विचार किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में इसी विषय पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा-तहावि ताइं नो एवं वइज्जा—गंडी गंडीति वा कुट्ठी कुट्ठीति वा जाव महुमेहुणीति वा हत्थच्छिन्नं वा हत्थच्छिन्नेत्ति वा एवं पायच्छिन्नेत्ति वा नक्कछिणोइ वा कराणछिन्नेइ वा उट्ठ-छिन्नेति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं वुइया २ कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासि-ज्जा तहावि ताइं एवं वइज्जा, तंजहा-ओयसी ओयंसित्ति वा तेयंसी तेयंसीति वा जसंसी जसंसीइ वा वच्चंसी वच्चंसीइ वा अभिरूयंसी २ पडिरूवंसी २ पासाइयं २ दरिसणिज्जं दरिसणी-यत्ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा तहप्पगाराहिं भासाहिं वुइया २ नो कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं अभि-कंख भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासि-

ज्जा, तंजहा वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा, तहावि ताइं नो एवं वइज्जा, तंजहा—सुक्कडे इ वा सुट्ठुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा। से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा, तंजहा- वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा तहा वि ताइं एवं वइज्जा, तंजहा – आरम्भकडे इ वा सावज्जकडे इ वा पयत्तकडे इ वा पासाइयं पासाइए वा दरिसणीयं दरिसणीयंति वा अभिरूवं अभिरूवंति वा पडिरूवं पडिरूवंति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥१३६॥

छाया—स भिक्षुः भिक्षुकी वा यथा वैककानि रूपाणि कानिचिद् रूपाणि पश्येत् तथापि तानि नो एवं वदेत् तद्यथा गडी गंडी इति वा कुष्ठी कुष्ठीति वा यावत् मधुमेही मधुमेहीति वा हस्तच्छिन्नं हस्तच्छिन्नइति वा एवं पादच्छिन्नं पादच्छिन्न इति वा नासिकाछिन्न इति वा कर्णछिन्न इति वा ओष्ठ छिन्न इति वा, ये यावन्तः तथाप्रकारा (तान्) एतद्प्रकाराभिः भाषाभिः उक्ताः २ कुप्यन्ति मानवाः तांश्चापि तथाप्रकाराभिः भाषाभिः अभिकांक्ष्य नो भाषेत।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथा वैककानि रूपाणि पश्येत् तथापि तानि एवं वदेत्—तद्यथा-ओजस्विनं ओजस्वीति वा तेजास्विनं तेजस्वीतिवा, यशस्विनं यशस्वीति वा वर्चस्विनं वर्चस्वीति वा अभिरूपवन्तं अभिरूपवानिति, प्रतिरूपिणं प्रतिरूपीति वा प्रासादनीयं प्रासादनीयमिति, दर्शनीयं दर्शनीयमिति वा, ये यावन्तः तथाप्रकाराः (तान्) तथाप्रकाराभिः भाषाभिः उक्ताः २ नो कुप्यन्ति मानवाः तांश्चापि तथाप्रकारान् एतद्प्रकाराभिः भाषाभिः अभिकांक्ष्य भाषेत।

छाया—स भिक्षुर्वा० यथा वैककानि रूपाणि पश्येत् तद्यथा—वप्राणि वा यावद् गृहाणि वा तथापि तानि नो एवं वदेत्, तद्यथा-सुकृतमिति वा सुष्ठुकृत-मिति वा साधुकृतमिति वा, कल्याणमिति वा करणीयमिति वा, एतत् प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत। स भिक्षुर्वा० यथा वैककानि रूपाणि पश्येत् तद्यथा वप्राणि वा यावद् गृहाणि वा तथापि तानि एवं वदेत्, तद्यथा आरम्भकृतमिति वा सावद्य कृतमिति वा प्रयत्नकृतमिति वा प्रासादीयं प्रासा-दीयइति वा दर्शनीयं दर्शनीयमिति वा अभिरूपं अभिरूपमिति वा प्रतिरूप वा प्रतिरूपमति वा एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावद् भाषेत।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। जहावि—यद्यपि। एगइयाइ—कई एक। रूवाइं—रूपो को। पासिज्जा—देखता है। तहावि—तथापि उन्हे देखकर। नो एवं वइज्जा—इस प्रकार न कहे। तंजहा—जैसे कि। गंडी—जिसको गण्ड रोग-कण्ठमाला या पादशून्य हो गया हो उसे गण्डी कहते है उसको। गंडीति—हे गण्डी! ऐसे कहना तथा। कुट्ठी—कुष्टी-कुष्ट रोग वाले को। कुट्ठीति वा—हे कुष्टी! कहना। जाव—यावत्। महुमेहुणीति—मधुमेह के रोगी को मधुमेही कहकर पुकारना। वा—अथवा। हत्थ छिन्न—जिसका हाथ कट गया हो उसे। हत्थछिन्नेति वा—हाथ कटा कहना। एव—इसी प्रकार। पायछिन्नेति वा—पैर कटे को पैर कटा कहना। नक्कछिन्नेइ वा—नाक कटे को नाक कटा या नकटा कहना और। कण्ण छिन्नेइ वा—कान कटे को कान कटा तथा। उट्ठछिन्नेति वा—जिसके ओष्ठ का छेदन हो गया हो उसे ओष्ठ कटा कहना। जे यावन्ने—जो जितने भी। तहप्पगारा—तथा प्रकार के हैं उनको। एयप्पगाराहि—इस प्रकार की। भासाहिं—भाषाओ से। वुइया—सम्बोधित करने पर। माणवा—वे पुरुष। कुप्पंति—क्रोधित हो जाते है अतः। ते यावि—उनको फिर। तहप्पगाराहिं—तथा प्रकार की। भासाहिं—भाषाओ से। अभिकख—विचार कर अर्थात् यह भाषा सदोष अथ च कष्ट प्रद है ऐसी पर्यालोचना करके। नो भासिज्जा—उन्हे ऐसी भाषा से सम्बोधित न करे।

से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। जहावि—यद्यपि। एगइयाइं रूवाइं—कई रूपो को। पासिज्जा—देखता है। तहावि—तथापि। ताइं—उनको देखकर। एवं वइज्जा—इस प्रकार कहे। तंजहा—जैसे कि। ओयसी०—ओजस्वी को-यदि व्याधि युक्त व्यक्ति मे कोई विशिष्ट गुण हो तो उसको सामने रखकर उसे आमन्त्रित करे और यदि वह

ओजस्वी है तो उसको। ओयंसिंत्ति वा—ओजस्वी कह कर सम्बोधित करे, इसी प्रकार। तेयंसी—तेजस्वी को। तेयंसीत्ति वा—तेजस्वी-तेज वाला कहे। जसंसी—यशस्वी-यश वाले को। जससी इ वा—यशस्वी कह कर पुकारे। वच्चंसी—वर्चस्वी-जिसका वचन आदेय हो अथवा लब्धि युक्त हो तो उसे। वच्चंसी इ वा—वर्चस्वी कहे। अभिरूयंसि—रूप सम्पन्न को रूपवान कहे। पडिरूवंसि—प्रतिरूप को प्रतिरूप शब्द से बुलावे, इसी प्रकार। पासाइयं २—प्रासाद गुण युक्त को प्रासादीय और। दरिसणिज्जं—दर्शनीय को। दरिसणीयत्ति वा—दर्शनीय कहकर सम्बोधित करे। जे यावन्ने—जो जितने भी। तहप्पगारा—तथा प्रकार के हैं उनको। तहप्पगाराहिं—तथा प्रकार की। भासाइं—भाषाओ से। बुइया २—सम्बोधित करने पर वे। माणवा—मनुष्य। नो कुप्पंति—क्रोधित नही होते हैं। अतः। ते यावि—वे भी। तहप्पगारा—जो कि उक्त प्रकार के हैं उनके प्रति। एयप्पगाराहिं—इस प्रकार की। भासाहिं—भाषाओ द्वारा। अभिकख—सोच विचार कर। भासिज्जा—बोले।

से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। जहावि—यद्यपि। एगइयाइं—कितने एक। रूवाइं—रूपो को। पासिज्जा—देखता है। तंजहा—जैसेकि—। वप्पाणि वा—खेतो की क्यारिएं। जाव—यावत्। गिहाणि वा—घर आदि। तहावि—तथापि। ताइं—उनको देखकर। एवं—इस प्रकार। नो वइज्जा—न कहे। तंजहा—जैसे कि—। सुक्कडेइ वा—अमुक वस्तु को देखकर यह अच्छी बनी है। सुट्ठुकडेइ वा—यह बहुत सुन्दर बनी है। साहुकड़ेइ वा—साधु कृत है। कल्लाणे इ वा—यह कल्याणकारी है। करणिज्जे इ वा—यह करने योग्य है इत्यादि। एयप्पगारं—इस प्रकार की। भासं—भाषा जो कि। सावज्जं—सावद्य है। जाव—यावत्। नो भासिज्जा—न बोले। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। जहावि—यद्यपि। एगइयाइ—कितने एक। रूवाइ—रूपो को। पासिज्जा—देखता है। तंजहा—जैसे-कि-। वप्पाणि वा—खेतो की क्यारियें। जाव—यावत्। गिहाणि वा—घर आदि। तहावि—तथापि। ताइ—उनको देखकर। एवं वइज्जा—इस प्रकार कहे। तंजहा—जैसे कि—। आरम्भकड़ेइ वा—यह आरम्भ कृत है। सावज्जकड़े इ वा—यह सावद्य कृत है, तथा। पयत्तकड़े-इ वा—यह कार्य प्रयत्नकृत प्रयत्नसाध्य है, इसी प्रकार। पासाइयं—प्रासादीय को। पासाइए वा—प्रासादीय और। दरिसणिज्जं—दर्शनीय को। दरिसणीयंति वा—दर्शनीय कहे तथा। अभिरूवं—अभिरूप-रूप सम्पन्न को। अभिरूवंति वा—अभिरूप और। पडिरूवं—प्रतिरूप को। पडिरूवंति वा—प्रतिरूप बतलावे। एयप्पगारं—इस प्रकार की। भासं—भाषा को। असावज्जं—अनावद्य। जाव—यावत् निर्दोष है। भासिज्जा—बोले।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी किसी रोगी आदि को देखकर ऐसा न कहे—हे गंडी! हे कुष्टी! हे मधुमेही! इत्यादि। इसी प्रकार

यावत् मात्र रोग है उनका नाम लेकर उस व्यक्ति को-जो कि उन रोगों से पीड़ित है-आमन्त्रित न करे। इसी प्रकार जिसका हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि कटे हुए हों, उसे कटे हाथ वाला, लगडा, कटे कान-वाला, नकटा या कटे हुए ओष्ठ वाला आदि शब्दो से सबोधित न करे। इस प्रकार की भाषा के बोलने से लोग कुपित हो सकते है, उनके मन को आघात लगता है, अतः भाषा समिति का विवेक रखने वाला साधु ऐसी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु, यदि किसी व्यक्ति में कोई गुण हो, तो उसे उस गुण से सम्बोधित करके बुला सकता है। जैसे कि— हे ओजस्वी, हे तेजस्वो, हे यशस्वो, हे वर्चस्वो, हे अभिरूप, हे प्रतिरूप, हे प्रेक्षणीय और हे दर्शनीय इत्यादि। इस प्रकार की निरवद्य भाषा के प्रयोग से सुनने वाले मनुष्य के मन मे क्रोध नहीं, प्रत्युत हर्ष भाव पैदा होता है, अतः वह ऐसी मधुर एव निर्दोष भाषा बोल सकता है। इसी प्रकार साधु अथवा साध्वी बावडो, कुए, खेतो के क्यारे यावत् घरो को देखकर उनके सम्बन्ध मे इस प्रकार न कहे कि यह अच्छा बना हुआ है, बहुत सुन्दर बना हुआ है, इस पर अच्छा कार्य किया गया है, यह कल्याणकारी है और यह कार्य करने योग्य है। इस प्रकार की भाषा से सावद्य क्रिया का अनुमोदन होता है। अतः साधु इस प्रकार की सावद्य भाषा न बोले। किन्तु उन बावडी यावत् घरो को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आरम्भ कृत है, सावद्य है और यह प्रयत्न साध्य है, तथा यह देखने योग्य है, रूपसम्पन्न है और प्रतिरूप है। इस प्रकार की निरवद्य भाषा का प्रयोग करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति गण्डी, कुष्ट (कोढ़) और मधुमेह इत्यादि भयंकर रोगों से पीड़ित हो या उसका हाथ, पैर, नाक, कान, ओष्ठ आदि कोई अङ्ग कटा हुआ हो, तो साधु को उसे उस रोग एवं कटे हुए अङ्गों के नाम से सम्बोधित करके नहीं बुलाना चाहिए। जैसे कि- कोढ़ के रोगी को कोढ़ी, अन्धे को अन्धा या नाक कटे हुए व्यक्ति को नकटा कह कर पुकारना साधु को नहीं

कल्पता। क्योंकि, पहले तो वह उक्त बीमारियों एवं अङ्गोपाङ्गों की हीनता के कारण परेशान, दुःखी एवं चिन्तित है। फिर उसे उस रूप में सम्बोधित करने से उसके मन को अवश्य ही आघात पहुंचेगा और उसके मन में साधु के प्रति दुर्भावना जागृत होगी। वह यह भी सोच सकता है कि यह साधु कितना असभ्य एवं असंस्कृत है कि साधना के पथ पर गतिशील होने के पश्चात् भी इनकी दूसरे व्यक्ति को चिढ़ाने, परेशान करने एवं उसका मज़ाक उड़ाने की दुष्ट मनोवृत्ति नहीं गई है। वस्तुतः वेश के साथ अभी इसके अन्तर जीवन का परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे उसके मन में साधु से प्रतिशोध लेने की भावना भी जागृत हो सकती है। अस्तु साधु को किसी के मन को चुभने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे दूसरे व्यक्ति की मानसिक हिंसा होती है इसलिए साधु को प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह रोगी हो, अपंग हो, अंगहीन हो सदा प्रिय एवं मधुर सम्बोधनों से सम्बोधित करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में गण्ड, कुष्ट और मधुमेह तीन रोगों का नाम निर्देश किया गया है और 'कुइणीति वा जाव' पद में यावत् शब्द से उन रोगों की ओर भी इशारा कर दिया है जिसका उल्लेख आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के धूताध्ययन में किया गया है। ये तीनों असाध्य रोग माने गए हैं। गण्ड- यह वात प्रधान रोग होता है, इस रोग का आक्रमण होने पर मनुष्य के पैर एवं गिट्टे में सूजन आ जाता है और कोढ़ एवं मधुमेह का रोग तो असाध्य रोग के रूप में प्रसिद्ध ही है। अतः साधु को इन असाध्य रोगों से पीड़ित एवं अंग हीन व्यक्ति को पाप कारी एवं मर्म भेदी शब्दों से सम्बोधित नहीं करना चाहिए।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं तहाविहं नो एवं वइज्जा, तं०—सुकडेत्ति वा सुट्ठुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा॥ से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाय एवं वइज्जा—तं-आरंभकडेत्ति वा सावज्जकडेत्ति वा पयत्तकडे इ वा भद्दयं भद्देत्ति वा ऊसढं ऊसढे इ वा रसियं

यावत् मात्र रोग है उनका नाम लेकर उस व्यक्ति को-जो कि उन रोगों से पीड़ित है-आमन्त्रित न करे। इसी प्रकार जिसका हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि कटे हुए हों, उसे कटे हाथ वाला, लगड़ा, कटे कान-वाला, नकटा या कटे हुए ओष्ठ वाला आदि शब्दो से सबोधित न करे। इस प्रकार की भाषा के बोलने से लोग कुपित हो सकते है, उनके मन को आघात लगता है, अतः भाषा समिति का विवेक रखने वाला साधु ऐसी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु, यदि किसी व्यक्ति में कोई गुण हो तो उसे उस गुण से सम्बोधित करके बुला सकता है। जैसे कि— हे ओजस्वी, हे तेजस्वो, हे यशस्वो, हे वर्चस्वी, हे अभिरूप, हे प्रतिरूप, हे प्रेक्षणीय और हे दर्शनोय इत्यादि। इस प्रकार की निरवद्य भाषा के प्रयोग से सुनने वाले मनुष्य के मन मे क्रोध नहीं, प्रत्युत हर्ष भाव पैदा होता है, अतः वह ऐसी मधुर एव निर्दोष भाषा बोल सकता है। इसी प्रकार साधु अथवा साध्वो बावड़ो, कुए, खेतो के क्यारे यावत् घरों को देखकर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार न कहे कि यह अच्छा बना हुआ है, बहुत सुन्दर बना हुआ है, इस पर अच्छा कार्य किया गया है, यह कल्याणकारी है और यह कार्य करने योग्य है। इस प्रकार की भाषा से सावद्य क्रिया का अनुमोदन होता है। अतः साधु इस प्रकार की सावद्य भाषा न बोले। किन्तु उन बावडी यावत् घरो को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आरम्भ कृत है, सावद्य है और यह प्रयत्न साध्य है, तथा यह देखने योग्य है, रूपसम्पन्न है और प्रतिरूप है। इस प्रकार की निरवद्य भाषा का प्रयोग करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति गण्डी, कुष्ट (कोढ़) और मधुमेह इत्यादि भयंकर रोगों से पीड़ित हो या उसका हाथ, पैर, नाक, कान, ओष्ठ आदि कोई अङ्ग कटा हुआ हो, तो साधु को उसे उस रोग एवं कटे हुए अङ्गों के नाम से सम्बोधित करके नहीं बुलाना चाहिए। जैसे कि- कोढ़ के रोगी को कोढ़ी, अन्धे को अन्धा या नाक कटे हुए व्यक्ति को नकटा कह कर पुकारना साधु को नहीं

कल्पता। क्योंकि, पहले तो वह उक्त बीमारियों एवं अङ्गोपाङ्गों की हीनता के कारण परेशान, दुःखी एवं चिन्तित है। फिर उसे उस रूप में सम्बोधित करने से उसके मन को अवश्य ही आघात पहुंचेगा और उसके मन में साधु के प्रति दुर्भावना जागृत होगी। वह यह भी सोच सकता है कि यह साधु कितना असभ्य एवं असंस्कृत है कि साधना के पथ पर गतिशील होने के पश्चात् भी इसकी दूसरे व्यक्ति को चिढ़ाने, परेशान करने एवं उसका मज़ाक उड़ाने की दुष्ट मनोवृत्ति नहीं गई है। वस्तुतः वेश के साथ अभी इसके अन्तर जीवन का परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे उसके मन में साधु से प्रतिशोध लेने की भावना भी जागृत हो सकती है। अस्तु साधु को किसी के मन को चुभने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे दूसरे व्यक्ति की मानसिक हिंसा होती है इसलिए साधु को प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह रोगी हो, अपंग हो, अगहीन हो सदा प्रिय एवं मधुर सम्बोधनों से सम्बोधित करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में गण्ड, कुष्ट और मधुमेह तीन रोगों का नाम निर्देश किया गया है और 'कुट्ठीति वा जाव' पद में यावत् शब्द से उन रोगों की ओर भी इशारा कर दिया है जिसका उल्लेख आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के धूताध्ययन में किया गया है। ये तीनों असाध्य रोग माने गए हैं। गण्ड- यह वात प्रधान रोग होता है, इस रोग का आक्रमण होने पर मनुष्य के पैर एव गिट्टे में सूजन आ जाता है और कोढ़ एवं मधुमेह का रोग तो असाध्य रोग के रूप मे प्रसिद्ध ही है। अतः साधु को इन असाध्य रोगों से पीड़ित एवं अंग हीन व्यक्ति को पाप कारी एवं मर्म भेदी शब्दों से सम्बोधित नहीं करना चाहिए।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं तहा- विहं नो एवं वइज्जा, तं०—सुकडेत्ति वा सुट्ठुकडे इ वा साहु- कडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सा- वज्जं जाव नो भासिज्जा॥ से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उव- क्खडियं पेहाय एवं वइज्जा—तं-आरंभकडेत्ति वा सावज्जकडेत्ति वा पयत्तकडे इ वा भद्दयं भद्देत्ति वा ऊसढं ऊसढे इ वा रसियं

यावत् मात्र रोग है उनका नाम लेकर उस व्यक्ति को-जो कि उन रोगों से पीड़ित है-आमन्त्रित न करे। इसी प्रकार जिसका हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि कटे हुए हो, उसे कटे हाथ वाला, लगड़ा, कटे कान-वाला, नकटा या कटे हुए ओष्ठ वाला आदि शब्दो से सबोधित न करे। इस प्रकार की भाषा के बोलने से लोग कुपित हो सकते है, उनके मन को आघात लगता है, अतः भाषा समिति का विवेक रखने वाला साधु ऐसी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु, यदि किसी व्यक्ति मे कोई गुण हो तो उसे उस गुण से सम्बोधित करके बुला सकता है। जैसे कि— हे ओजस्वी, हे तेजस्वी, हे यशस्वी, हे वर्चस्वी, हे अभिरूप, हे प्रतिरूप, हे प्रेक्षणीय और हे दर्शनीय इत्यादि। इस प्रकार की निरवद्य भाषा के प्रयोग से सुनने वाले मनुष्य के मन में क्रोध नहीं, प्रत्युत हर्ष भाव पैदा होता है, अतः वह ऐसी मधुर एव निर्दोष भाषा बोल सकता है। इसी प्रकार साधु अथवा साध्वी बावड़ी, कुए, खेतो के क्यारे यावत् घरो को देखकर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार न कहे कि यह अच्छा बना हुआ है, बहुत सुन्दर बना हुआ है, इस पर अच्छा कार्य किया गया है, यह कल्याणकारी है और यह कार्य करने योग्य है। इस प्रकार की भाषा से सावद्य क्रिया का अनुमोदन होता है। अतः साधु इस प्रकार की सावद्य भाषा न बोले। किन्तु उन बावडी यावत् घरों को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आरम्भ कृत है, सावद्य है और यह प्रयत्न साध्य है, तथा यह देखने योग्य है, रूपसम्पन्न है और प्रतिरूप है। इस प्रकार की निरवद्य भाषा का प्रयोग करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति गण्डी, कुष्ट (कोढ़) और मधुमेह इत्यादि भयकर रोगों से पीड़ित हो या उसका हाथ, पैर, नाक, कान, ओष्ठ आदि कोई अङ्ग कटा हुआ हो, तो साधु को उसे उस रोग एवं कटे हुए अङ्गों के नाम से सम्बोधित करके नहीं बुलाना चाहिए। जैसे कि- कोढ़ के रोगी को कोढ़ी, अन्धे को अन्धा या नाक कटे हुए व्यक्ति को नकटा कह कर पुकारना साधु को नहीं

कल्पता। क्योंकि, पहले तो वह उक्त बीमारियों एवं अङ्गोपाङ्गों की हीनता के कारण परेशान, दुःखी एवं चिन्तित है। फिर उसे उस रूप में सम्बोधित करने से उसके मन को अवश्य ही आघात पहुंचेगा और उसके मन में साधु के प्रति दुर्भावना जागृत होगी। वह यह भी सोच सकता है कि यह साधु कितना असभ्य एवं असंस्कृत है कि साधना के पथ पर गतिशील होने के पश्चात् भी इसकी दूसरे व्यक्ति को चिढ़ाने, परेशान करने एवं उसका मज़ाक उड़ाने की दुष्ट मनोवृत्ति नहीं गई है। वस्तुतः वेश के साथ अभी इसके अन्तर जीवन का परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे उसके मन में साधु से प्रतिशोध लेने की भावना भी जागृत हो सकती है। अस्तु साधु को किसी के मन को चुभने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे दूसरे व्यक्ति की मानसिक हिंसा होती है इसलिए साधु को प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह रोगी हो, अपंग हो, अंगहीन हो सदा प्रिय एवं मधुर सम्बोधनों से सम्बोधित करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में गण्ड, कुष्ट और मधुमेह तीन रोगों का नाम निर्देश किया गया है और 'कुट्ठीति वा जाव' पद में यावत् शब्द से उन रोगों की ओर भी इशारा कर दिया है जिसका उल्लेख आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के धूताध्ययन में किया गया है। ये तीनों असाध्य रोग माने गए है। गण्ड- यह वात प्रधान रोग होता है, इस रोग का आक्रमण होने पर मनुष्य के पैर एव गिट्टे में सूजन आ जाता है और कोढ़ एवं मधुमेह का रोग तो असाध्य रोग के रूप में प्रसिद्ध ही है। अतः साधु को इन असाध्य रोगों से पीड़ित एवं अंग हीन व्यक्ति को पाप कारी एवं मर्म भेदी शब्दों से सम्बोधित नहीं करना चाहिए।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं तहाविहं नो एवं वइज्जा, तं०—सुकडेत्ति वा सुट्ठुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा॥ से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाय एवं वइज्जा—तं-आरंभकडेत्ति वा सावज्जकडेत्ति वा पयत्तकडे इ वा भद्दयं भद्देत्ति वा ऊसढं ऊसढे इ वा रसियं

यावत् मात्र रोग है उनका नाम लेकर उस व्यक्ति को-जो कि उन रोगों से पीड़ित है-आमन्त्रित न करे। इसी प्रकार जिसका हाथ, पैर, कान, नाक, श्रोष्ठ आदि कटे हुए हों, उसे कटे हाथ वाला, लगडा, कटे कान-वाला, नकटा या कटे हुए श्रोष्ठ वाला आदि शब्दो से सबोधित न करे। इस प्रकार की भाषा के बोलने से लोग कुपित हो सकते है, उनके मन को आघात लगता है, अतः भाषा समिति का विवेक रखने वाला साधु ऐसी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु, यदि किसी व्यक्ति मे कोई गुण हो तो उसे उस गुण से सम्बोधित करके बुला सकता है। जैसे कि— हे ओजस्वी, हे तेजस्वी, हे यशस्वी, हे वर्चस्वी, हे अभिरूप, हे प्रतिरूप, हे प्रेक्षणीय और हे दर्शनीय इत्यादि। इस प्रकार की निरवद्य भाषा के प्रयोग से सुनने वाले मनुष्य के मन मे क्रोध नहीं, प्रत्युत हर्ष भाव पैदा होता है, अतः वह ऐसी मधुर एव निर्दोष भाषा बोल सकता है। इसी प्रकार साधु अथवा साध्वी बावडी, कुए, खेतो के क्यारे यावत् घरो को देखकर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार न कहे कि यह अच्छा बना हुआ है, बहुत सुन्दर बना हुआ है, इस पर अच्छा कार्य किया गया है, यह कल्याणकारी है और यह कार्य करने योग्य है। इस प्रकार की भाषा से सावद्य क्रिया का अनुमोदन होता है। अतः साधु इस प्रकार की सावद्य भाषा न बोले। किन्तु उन बावडी यावत् घरो को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आरम्भ कृत है, सावद्य है और यह प्रयत्न साध्य है, तथा यह देखने योग्य है, रूपसम्पन्न है और प्रतिरूप है। इस प्रकार की निरवद्य भाषा का प्रयोग करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति गण्डी, कुष्ट (कोढ़) और मधुमेह इत्यादि भयकर रोगों से पीड़ित हो या उसका हाथ, पैर, नाक, कान, ओष्ठ आदि कोई अङ्ग कटा हुआ हो, तो साधु को उसे उस रोग एवं कटे हुए अङ्गों के नाम से सम्बोधित करके नहीं बुलाना चाहिए। जैसे कि- कोढ़ के रोगी को कोढ़ी, अन्धे को अन्धा या नाक कटे हुए व्यक्ति को नकटा कह कर पुकारना साधु को नहीं

२ मणुन्नं २ एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥१३७॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अशनं वा ४ उपस्कृतं तथाविधं नो एवं वदेत्, तद्यथा—सुकृतमिति वा सुष्ठुकृतमिति वा साधुकृतमिति वा कल्याण-मिति वा करणीयमिति वा एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अशनं वा ४ उपस्कृत प्रेक्ष्य एव वदेत्, तद्यथा आरम्भकृतमिति वा सावद्यकृतमिति वा प्रयत्नकृतमिति वा भद्रकं भद्र-मिति वा उच्छ्रितं उच्छ्रितमिति वा रसित २ मनोज्ञं २ एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत।

पदार्थ—से भिक्खू वा २—वह-संयमशील साधु या साध्वी। असणं वा ४—अशनादिक चतुर्विध आहार अर्थात् अशन पान खादिम और स्वादिम रूप। उवक्खडियं—उपस्कृत-तैयार किए हुए। तहाविहं—तथाविध आहार-पदार्थ को। एवं—इस प्रकार। नो वइज्जा—न कहे-। त०—जैसे कि—। सुकडेति वा—यह भोजन अच्छा बनाया हुआ है। सुट्ठुकडे इ वा—यह भोजन बहुत अच्छा बनाया गया है। साहुकडे इ वा—यह भोजन श्रेष्ठ बनाया गया है। कल्लाणे इ वा—यह भोजन कल्याणकारी है तथा। करणिज्जे इ वा—यह कार्य अवश्य करने योग्य है। एयप्पगारं—साधु इस प्रकार की। सावज्ज—सावद्य। जाव—यावत्-प्राणियों का घात करने वाली। भासं—भाषा। नो भासिज्जा—न बोले। से भिक्खू वा २—वह साधु या साध्वी। उवक्खडियं—उपस्कृत-तैयार किए हुए। असणं वा ४—अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार को। पेहाय—देखकर। एवं वइज्जा—इस प्रकार कहे। तंजहा—जैसे कि। आरम्भकडेति वा—यह आहार आरम्भ कृत अर्थात् आरम्भ से बनाया गया है। सावज्ज कडे इ वा—यह सावद्य कार्य है। पयत्तकडे इ वा—यह आहार बडे प्रयत्न से तैयार किया गया है, या। भद्दयं—भद्र पदार्थ को। भद्देति वा—भद्र कहे। ऊसढं—वर्ण, गन्ध, रसादि से युक्त पदार्थ को। ऊसढे इ वा—वर्ण गन्ध रसादि युक्त कहे और। रसियं २—सरस को सरस तथा। मणुन्नं २—मनोज्ञ को मनोज्ञ कहे। एयप्पगारं—इस प्रकार की। असावज्जं—असावद्य-निष्पाप। जाव—यावत् प्राणियों का विनाश न करने वाली। भासं—भाषा को। भासिज्जा—बोले।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी उपस्कृत-तैयार हुए-अशनादि चतुर्विध आहार को देखकर इस प्रकार न कहे कि यह आहारादि पदार्थ

सुकृत है, सुष्ठुकृत है और साधु कृत है तथा कल्याणकारी और अवश्य करणीय है। साधु इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा न बोले।

किन्तु संयमशील साधु या साध्वी उपस्कृत अशनादि चतुर्विध आहार को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आहारादि पदार्थ बड़े आरम्भ से बनाया गया है। यह सावद्य पाप युक्त कार्य है यह अत्यन्त यत्न से बनाया हुआ है, यह भद्र अर्थात् वर्णगंध रसादि से युक्त है, सरस है और मनोज्ञ है, साधु ऐसी निरवद्य एवं निष्पाप भाषा का प्रयोग करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को आहार आदि के सम्बन्ध में यह नहीं कहना चाहिए कि यह आहार अच्छा बना है, स्वादिष्ट बना है, बहुत अच्छे ढंग से पकाया गया है। क्योंकि, आहार ६ काय के आरम्भ से बनता है, अत. उसकी प्रशंसा एवं सराहना करना ६ कायिक जीवों की हिंसा का अनुमोदन करना है और साधु हिंसा का पूर्णतया अर्थात् तीन करण और तीन योग से त्यागी होता है। अतः इस प्रकार की भाषा बोलने से उसके अहिंसा व्रत में दोष लगता है। इस कारण संयम-निष्ठ मुनि को ऐसी सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि कभी प्रसंगवश कहना ही हो तो वह ऐसा कह सकता है कि यह आरम्भीय (आरम्भ से बना हुआ) है, सरस, वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श वाला है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु उसके यथार्थ रूप को प्रकट कर सकता है, परन्तु, सावद्य भाषा में आहार आदि की प्रशंसा एवं सराहना नहीं कर सकता।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलचरं वा सेत्तं परिवूढकायं पेहाए नो एवं वइज्जा-थूले इ वा पमेइले इ वा वट्टे इ वा वज्झे इ वा पाइमे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं नो

भासिज्जा ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा जाव जलयरं वा सेत्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वइज्जा-परिवूढकायेत्ति वा उवचियकाएत्ति वा थिरसंघयणेत्ति वा चियमंससोणिएत्ति वा बहुपडिपुन्नइंदिएत्ति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा।

से भिक्खू वा २ विरूवरूवाओ गाओ पेहाए नो एवं वइज्जा, तंजहा-गाओ दुज्झाओत्ति वा दम्मेत्ति वा, गोरहत्ति वा वाहिमत्ति वा रहजोग्गत्ति वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा।

से भि० विरूवरूवाओ गाओ पेहाए एवं वइज्जा, तंजहा-जुवंगवित्ति वा धेणुत्ति वा रसवइत्ति वा हस्से इ वा महल्ले इ वा महव्वए इ वा संवहणित्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा।

से भिक्खु वा० तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महल्ले पेहाए नो एवं वइज्जा, तं०--पासायजोग्गात्ति वा तोरणजोग्गाइ वा गिहजोग्गाइ वा फलिहजो० अग्गलजो० नावाजो० उदग० दोणजो० पीढचंगबेरनगलकुलियजंतलट्ठी नाभिगंडीआसणजो० सयणजाणउवस्सयजोग्गाइ वा, एयप्पगार० नो भासिज्जा ॥

वा पशु वा पक्षिण वा सरोसृप वा जलचरं वा स तं परिवृद्ध कायं प्रेक्ष्य नैवं वदेत्—स्थूल इति वा प्रमेदुर इति वा वृत्त इति वा वध्य इति वा (वाहन योग्य इति वा) पाच्य इति वा, एतत्प्रकारां भाषा सावद्या यावत् नो भाषेत।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा मनुष्य वा यावत् जलचरं वा स तं परिवृद्ध-कायं प्रेक्ष्य एवं वदेत्—परिवृद्ध काय. इति वा, उपचित्तकाय इति वा स्थिरसंहनन इति वा, चित्तामासशोणित इति वा बहुप्रतिपूर्णइन्द्रिय इति वा एतत्प्रकारा भाषा असावद्याम् यावद् भाषेत।

स भिक्षुर्वा २ विरूपरूपाः गाः प्रेक्ष्य नो एव वदेत्, तद्यथा—गावः दोह्या-दोहन योग्या इति वा दम्य इति वा गोरहक इति वा वाहनयोग्य इति वा रथयोग्य इति वा, एतत्प्रकारा भाषा सावद्या यावत् नो भाषेत।

स भिक्षुर्वा० विरूपरूपा. गाः प्रेक्ष्य एव वदेत्, तद्यथा—युवा गौरिति वा धेनुरिति वा रसवतीति वा, ह्रस्व इति वा महान् इति वा महापयाइति वा संवहन इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभिकांक्ष्य भाषेत।

स भिक्षुर्वा० तथैव गत्वा उद्यानानि पर्वतान् वनानि वा वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य नैव वदेत्, तद्यथा—प्रासाद योग्य इति वा तोरणयोग्य इति वा गृह योग्य इति वा फलक योग्य इति वा अर्गला योग्य इति वा, नौ योग्य इति वा उदक० द्रोणयोग्य इति वा पीठ चंगवेर लांगल कुलिक यन्त्र यष्टि नाभि-गडी आसन योग्य इति वा शयनयानोपाश्रय योग्य इति वा, एतत्प्रकारां भाषा नो भाषेत।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तथैव गत्वा एव वदेत् तद्यथा— जातिमन्त इति वा दीर्घवृत्ता इति वा महालया इति वा, प्रयात शाखा इति वा विटपि शाखा इति वा, प्रासादीया इति वा यावत् प्रतिरूपा इति वा एतत्-

प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूतानि वनफलानि प्रेक्ष्य तथापि नैव वदेत्, तद्यथा-पक्वानि इति वा, पाकखाद्यानीति वा वेलोचितानि वा टाला-नीति वा (कोमलास्थीनीति वा) द्वैधिकानीति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् नो भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूतानि वनफलानि आम्राणि—(आम्रान् वा) प्रेक्ष्य एवं वदेत् तद्यथा—असमर्था इति वा बहुनिर्वर्तित फला इति वा बहुसम्भूता इति वा भूतरूपा इति वा, एतत्प्रकारां भाषाम् असावद्यां यावद् भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूता औषधीः प्रेक्ष्य तथापि ताः नैव, वदेत् तद्यथा पक्वा इति वा, नीला इति वा (आर्द्रा इति वा) छविमत्य इति वा, लाइमा इति वा (लाजायोग्या रोपण योग्या इति वा) भंजिमा इति वा (पचन योग्या भंजन योग्या इति वा) बहुखाद्या इति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां न भाषेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा बहुसम्भूता औषधीः प्रेक्ष्य तथापि एव वदेत्, तद्यथा--रूढा इति वा, बहुसभूता इति वा स्थिरा इति वा उच्छ्रिता इति वा, गर्भिता इति वा, प्रसूता इति वा ससारा इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावद् भाषेत ।

पदार्थ—से—वह । भिक्खू वा भिक्खुणी वा—साधु या साध्वी । मणुस्सं वा—मनुष्य को । गोणं वा—गोण-वृषभ को । महिसं वा—महिष-भैंसे को । मिगं वा—मृग-हरिण को । पसुं वा—अन्य पशु को । पक्खि वा—पक्षी को । सरीसिवं वा—सर्प को तथा । जलचरं वा—जलचर जीवों को । से—वह भिक्षु । तं—उनमें से किसी एक । परिवूढ़ काय—पुष्ट शरीर वाले को । पेहाए—देखकर । एवं—इस प्रकार । नो वइज्जा—न कहे । थूले इ वा—यह स्थूल है इस प्रकार । पमेइले इ वा—यह विशिष्ट मेद से युक्त है इस प्रकार । वट्टे इ वा—यह वृत्त अर्थात् गोलाकार है । वज्झेइ वा—यह वध्य-मारने योग्य है या बोझा ढोने योग्य है । पाइमे इ वा—पकाने योग्य है । एयप्पगारं—इस प्रकार की । भास—भाषा जो कि । सावज्ज—सावद्य । जाव—यावत्-भूतोपघातिनी है । नो भासेज्जा—न बोले । से भिक्खू वा—

**भिक्खुणी वा**—वह साधु या साध्वी। **मणुस्सं वा**—मनुष्य को। **जाव**—यावत्। **जलचर वा**—जलचर जीवो को। **से**—वह। **त**—उन जीवो मे से। **परिवूढ कायं**—परिपुष्ट शरीर वाले को। **पेहाए**—देखकर। **एव**—इस प्रकार। **वइज्जा**—कहे—। **परिवूढकाएत्ति**—यह वृपभादि अमुक जीव परिपुष्ट शरीर वाला है अथवा यह। **उवचिय काएत्ति वा**—उपचित काय-शरीर वाला है। **थिर संघयणेत्तिवा**—इसका संहनन वडा दृढ है अर्थात् इसका शरीर वडा संगठित है। **चियमससोणिएत्ति**—इसके शरीर मे मास और रुधिर विशेष रूप से है तथा। **बहुपडिपुन्न इंदिएत्ति वा**—इसकी सभी इन्द्रिये परिपूर्ण है। **एयप्पगार**—इस प्रकार को। **असावज्ज**—असावद्य-पाप रहित। **जाव**—यावत् जीव विराधना शून्य। **भासं**—भाषा को। **भासिज्जा**—भाषण करे-बोले।

**पदार्थ**—**से भिक्खू वा भिक्खुणी वा**—वह साधु अथवा साध्वी। **विरूवरूवाओ**—नाना प्रकार के। **गाओ**—गौ आदि पशुओ को। **पेहाए**—देखकर। **एवं**—इस प्रकार। **नो वइज्जा**—न कहे। **तजहा**—जैसे कि। **गाओ दुज्झाओत्ति वा**—ये गौए' दोहने के योग्य हैं अथवा इनके दोहने का समय हो रहा है। **दम्मेति वा**—या यह बैल दमन करने के योग्य है। **गोरहत्ति वा**—या यह तीन वर्ष का युवक बैल है। **वहिमत्ति वा**—यह बैल हल आदि वहन करने योग्य है। **रहजोगत्ति वा**—यह बैल रथ में जोतने योग्य है। **एयप्पगार**—इस प्रकार की। **सावज्जं**—सावद्य। **जाव**—यावत् भूतोपघातिनी। **भास**—भाषा को। **नो भासेज्जा**—न बोले। **से**—वह। **भिक्खू वा भिक्खुणी वा**—साधु या साध्वी। **विरूवरूवाओ**—नाना प्रकार के। **गाओ**—गौ आदि पशुओ को। **पेहाए**—देखकर। **एव वइज्जा**—इस प्रकार कहे। **तजहा**—जैसे कि। **जुवंगवित्ति वा**—यह वृषभ वडा युवा है अथवा। **धेणुत्ति वा**—यह गाय जवान है या। **रसवइत्ति वा**—वहुत दूध देने वाली है। **हस्सेइ वा**—या यह छोटा बैल है। **महल्ले इ वा**—यह बडा बैल है और। **महव्वए इ वा**—यह बैल बडी आयु का है। **संवाहणित्ति वा**—यह भार का उद्वहन कर रहा है। **एयप्पगारं**—इस प्रकार की। **असावज्ज**—असावद्य-निष्पाप। **भासं**—भाषा को। **जाव**—यावत्। **अभिकंख**—मन में विचार कर। **भासिज्जा**—बोले।

**से भिक्खू वा भिक्खुणी वा**—वह साधु अथवा साध्वी। **तहेव**—उसी प्रकार। **गतुमुज्जाणाइं**—उद्यानादि मे जाकर तथा। **पव्वयाइ**—पर्वतो और। **वणाणि**—वनो मे जाकर। **महल्ले**—अत्यन्त मोटे। **रुक्खा**—वृक्षो को। **पेहाए**—देखकर। **एवं**—इस प्रकार। **नो वइज्जा**—नही बोले। **तजहा**—जैसे कि-। **पासाय जोग्गाति वा**—यह वृक्ष प्रासाद (मकान वनाने) के योग्य है। **तोरण जोग्गाइ वा**—अथवा यह तोरण बनाने के योग्य। **गिहजोग्गा इ वा**—अथवा यह घर के योग्य है। **फलिह जो०**—अथवा यह फलक वनाने के योग्य है। **अग्गल जो०**—यह अर्गला के योग्य है और। **नावा जो०**—यह नाव के योग्य है और यह वृक्ष। **उदग० दोण जो०**—उदक द्रोणी के योग्य है इसी प्रकार। **पीढ**—पीढ के योग्य हैं। **चगवेर**—काठ का वर्तन विशेष

उनके सम्बन्ध मे। एव—इस प्रकार। नो वइज्जा—न बोले! तंजहा—जैसे कि। पक्काइ वा—यह धान्य परिपक्व हो गया है या यह औषधि पक गई है अथवा। नीलीया इ वा—यह अभी नीली अर्थात् कच्ची हैं। छवीइया इ वा—यह सुन्दर छवी-शोभा वाली है। लाइमा इ वा—यह काटने योग्य है। भज्जिमा इ वा—यह पकाने योग्य है या भून्जने योग्य है। बहु खज्जा इ वा—यह भली-भांति खाने योग्य है। एयप्पगार—इस प्रकार की सावद्य भाषा को। नो भासिज्जा नही बोले। से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। बहु०—बहुत परिणाम मे उत्पन्न होने वाली औषधि-धान्य विशेष को। पेहाए—देखकर। तहावि—तथापि। एव—इस प्रकार। वइज्जा—बोले-कहे। तजहा—जैसे कि-। रूढा इ वा—इसमे अंकुर निकला है। बहु सभूया इ वा—बहुत परिमाण मे उत्पन्न हुई है। थिरा इ वा—यह औषधि स्थिर है। ऊसढा इ वा—यह रस से भरी हुई है। गब्भियाइ वा—यह अभी गर्भ में है। पसूया इ वा—यह प्रसूत-उत्पन्न हो गई है। ससारा इ वा—इसमें धान्य पड गया है। एयप्पगारं—इस प्रकार की। असावज्जं—असावद्य-निष्पाप। जाव—यावत् अहिंसक। भासं—भाषा को। भासि०—बोले।

मूलार्थ—सयमशील साधु अथवा साध्वी, मनुष्य, वृषभ (बैल), महिष (भैंस), मृग, पशु-पक्षी, सर्प और जलचर आदि जीवों मे किसी भारी शरीर वाले जीव को देख कर इस प्रकार न कहे कि यह स्थूल है, यह मेदा युक्त है, वृत्ताकार है, वध या वहन करने योग्य और पकाने योग्य है। किन्तु, उन्हे देख कर ऐसी भाषा का प्रयोग करे कि यह पुष्ट शरीर वाला है, उपचित्त काय है, दृढ सहननवाला है इसके शरीर में रुधिर और मांस का उपचय हो रहा है और इसको सभी इन्द्रिएं परिपूर्ण है।

संयमशील साधु और साध्वी गाय आदि पशुओं को देख कर इस प्रकार न कहे कि यह गाय दोहने योग्य है अथवा इसके दोहने का समय हो रहा है तथा यह बैल दमन करने योग्य है, यह वृषभ छोटा है, यह वहन के योग्य है और यह हल आदि चलाने के योग्य है, इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु आवश्यकता पडने पर उनके लिए इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे कि यह वृषभ जवान है, यह गाय प्रौढ है. दूध देने वाली है, यह बैल छोटा है, यह बड़ा है और यह शकट आदि को वहन करता है।

संयमशील साधु अथवा साध्वी किसी उद्यान (बगीचे) पर्वत या वन आदि में कुछ विशाल वृक्षों को देख कर उनके सम्बन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि यह वृक्ष मकान आदि में लगाने योग्य है, यह तोरण के योग्य है, और यह गृह के योग्य है तथा इसका फलक बन सकता है, इसकी अर्गला बन सकती है और यह नौका के लिए भी अच्छा है। इसकी उदक-द्रोणी (जल भरने की टोकणी) अच्छी बन सकती है और यह पीठ के योग्य है, इसकी चक्र नाभि अच्छी बनेगी, यह गंडी के लिए अच्छा है, इसका आसन अच्छा बन सकता है और यह पर्यंक (पलंग) के योग्य है, इससे शकट आदि का निर्माण किया जा सकता है और यह उपाश्रय बनाने के लिए उपयुक्त है। साधु को इस प्रकार की सावद्य भाषा का व्यवहार नहीं करना चाहिए। किन्तु, उक्त स्थानों में अवस्थित विशाल वृक्षों को देख कर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे कि ये वृक्ष अच्छी जाति के हैं, दीर्घ और वृत्त तथा बड़े विस्तार वाले हैं। इनकी शाखाएं चारों ओर फैली हुई हैं, ये वृक्ष मन को प्रसन्न करने वाले अभिरूप और नितान्त सुन्दर हैं। साधु इस प्रकार की असावद्य-निष्पाप भाषा का व्यवहार करे।

संयमशील साधु अथवा साध्वी वन में बहुत परिमाण में उत्पन्न हुए फलों को देख कर उनके संबन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि ये फल पक गए हैं, अतः खाने योग्य है या ये फल पलाल आदि में रख कर पकाने के पश्चात् खाने योग्य हो सकते है। इनके तोड़ने का समय हो गया है। ये फल अभी बहुत कोमल हैं, क्योंकि इनमें अभी तक गुठली नहीं पड़ी है और ये फल खण्ड-खण्ड करके खाने योग्य हैं। विवेकशील साधु इस प्रकार की सावद्य भाषा न बोले। किन्तु, आवश्यकता पड़ने पर वह इस प्रकार कहे कि ये वृक्ष फलों के भार से नम्र हो रहे हैं। अर्थात् ये उनका भार सहन करने में असमर्थ प्रतीत हो रहे हैं। ये वृक्ष बहुत

फल दे रहे हैं। ये फल बहुत कोमल है, क्योंकि अभो तक इनमे गुठली नही पड़ी है, इत्यादि। साधु इस प्रकार को पाप रहित सयत भाषा का व्यवहार करे।

सयमशील साधु अथवा साध्वो बहुत परिमाण में उत्पन्न हुई औषधियो को देख कर उनके सम्बन्ध मे भो इस प्रकार न कहे कि यह औषधि (धान्य विशेष) पक गई है। यह अभो नीली अर्थात् कच्ची या हरी है। यह काटने योग्य या भूंजने या खाने योग्य है। साधु इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा को न बोले। किन्तु, अधिक परिमाण मे उत्पन्न हुई औषधियो को देख कर यदि उनके संबन्ध में बोलने की आवश्यकता हो तो साधु इस प्रकार बोले यह अभी अकुरित हुई हैं। यह औषधि अधिक उत्पन्न हुई है। यह स्थिर है और यह बीजों से भरी हुई है, यह सरस हैं। यह अभी गर्भ मे ही है या उत्पन्न हो गई है। साधु इस प्रकार की असावद्य–निष्पाप भाषा का व्यवहार करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भाषा के प्रयोग मे विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। साधु चाहे सजीव पदार्थों के सम्बन्ध मे कुछ कहे या निर्जीव पदार्थों के सम्बन्ध मे कुछ बोले, परन्तु, उसे इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिए कि उसके बोलने से किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। असत्य एवं मिश्र भाषा की तरह दूसरे जीवों की हिंसा का कारण बनने वाली भाषा भी, भले ही वह सत्य भी क्यों न हो साधु के बोलने योग्य नहीं है। अत. भाषा समिति मे ऐसे शब्द बोलने का भी निषेध किया गया है जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी जीव की हिंसा की प्रेरणा मिलती हो या हिंसा का समर्थन होता हो।

साधु प्राणी मात्र का रक्षक है। अत: बोलते समय उसे प्रत्येक प्राणी के हित का ध्यान रखना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र मे इस बात का उल्लेख किया गया है कि साधु को किसी गाय–भैंस, मृग आदि पशु-पक्षी एवं जलचर तथा वनस्पति (पेड़-पौधों) आदि के सम्बन्ध मे भी ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे उन जीवों को किसी तरह का कष्ट पहुंचे। किसी भी पशु-पक्षी के मोटापन को देख कर साधु को यह नहीं कहना

डाणि वा ८ ॥१३६॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तथाप्रकारान् शब्दान्शृणुयात् तथापि एतान् नैव वदेत्, तद्यथा—सुशब्दः इति वा दुःशब्दः इति वा एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां नो भाषेत ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तथापि तान् एवं वदेत् तद्यथा सुशब्दं सुशब्द इति वा दुशब्दं दुःशब्द इति वा, एतत् प्रकारां असावद्यां यावत् भाषेत, एवं रूपाणिकृष्णइति वा ५ गन्धान् सुरभिगन्ध इति वा २ रसान् तिक्तइति वा ५ स्पर्शान्—कर्कश इति वा ८।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा २—साधु या साध्वी। तहप्पगाराइं—तथा प्रकार के। सद्दाइं—शब्दो को। सुणिज्जा—सुने और सुनकर। तहावि—तथापि। एयाइं—इनके सम्बन्ध मे। एव—इस प्रकार। नो वइज्जा—न बोले। तजहा—जैसे कि-। सुसद्देति वा—सुन्दर शब्द सुनकर बोलने वाले के प्रति राग भाव लाकर यह कहना, आपने यह बहुत अच्छा कहा यह बडा मङ्गलकारी है तथा। दुसद्देति वा—दुःशब्द-बुरे शब्द को सुन कर बोलने वाले के प्रति द्वेष भाव लाकर यह कहना- तुमने बहुत बुरा कहा, यह बड़ा ही अनिष्टकारी है। एयप्पगारं—इस प्रकार की। सावज्जं—सावद्य। भास—भाषा को। नो भासिज्जा—न बोले। से भि०—वह साधु या साध्वी शब्दो को सुनता हुआ। तहावि—तथापि। ताइं—उन शब्दो के सम्बन्ध मे। एवं—इस प्रकार। वइज्जा—बोले। तजहा—जैसे कि। सुसद्दं—सुशब्द–सुन्दर शब्द को। सुसदित्ति वा—यह सुन्दर शब्द है' इस प्रकार कहे तथा। दुसद्दं—दुष्ट शब्द को। दुसद्दित्ति वा—यह दुष्ट शब्द है इस प्रकार कहे। एयप्पगार—इस प्रकार की। असावज्जं—असावद्य-निष्पाप। जाव—यावत् भाषा को। भासिज्जा—बोले। एव—इसी प्रकार। रूवाइ—रूप के विषय में। किण्हेति वा—कृष्ण को कृष्ण यावत् श्वेत को श्वेत कहे। गंधाइ—गन्ध के विषय में। सुरभिगंधिति वा—सुगन्ध को सुगन्ध और दुर्गन्ध को दुर्गन्ध कहे। रसाइ—रसादि के विषय मे भी। तित्ताणि वा—तिक्त को तिक्त यावत् मधुर को मधुर कहे। फासाइ—स्पर्श के विषय में। कक्खडाणि वा—कर्कश को कर्कश यावत् मृदु को मृदु कहे तात्पर्य कि जो पदार्थ जिस तरह का हो उसको उसी प्रकार का बतलाए।

मूलार्थ—संयमशील साधु साध्वी किसी भी शब्द को सुनकर वह किसी भी सुशब्द को दुःशब्द अर्थात् शोभनीय शब्द को अशोभनीय एवमागलिक को अमांमलिक न कहे। किन्तु सुशब्द अच्छे शब्द को सुन्दर

और दुःशब्द को दुःशब्द और असुन्दर शब्द को असुन्दर ही कहे । इसी प्रकार रूपादि के सबन्ध में भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग करना चाहिए । कुरूप को कुरूप और सुन्दर को सुन्दर तथा सुगन्धित एव दुर्गन्धित पदार्थों को क्रमशः सुगंध एव दुर्गन्ध युक्त तथा कटु को कटुक और कर्कश को कर्कश कहे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को ५ वर्ण; २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श के सम्बन्ध में कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। इसमें स्पष्ट बताया गया है कि साधु को जैसे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का पदार्थ हो उससे विपरीत नहीं कहना चाहिए। राग-द्वेष के वश अच्छे पदार्थ हो उससे विपरीत नही कहना चाहिए। राग-द्वेष के वश अच्छे पदार्थ को बुरा और बुरे पदार्थ को अच्छा नहीं बताना चाहिए। कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए कुरूपवान व्यक्ति को सुन्दर एवं रूप सम्पन्न को कुरूप बताने का भी प्रयत्न करते हैं। परन्तु, राग-द्वेष एवं स्वार्थ से ऊपर उठे हुए साधु किसी भी पदार्थ का गलत रूप में वर्णन न करे। उसे सदा सावधानी पूर्वक यथार्थ एवं निर्दोष वचन का ही प्रयोग करना चाहिए। वर्ण की तरह गन्ध, रस एव स्पर्श के सम्बन्ध में भी यथार्थ एव निर्दोष भाषा का व्यवहार करना चाहिए*।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीइ निट्ठाभासी, निसम्मभासी, अतुरियभासी, विवेगभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा ॥५॥ एवं खलु० सया जइ० त्तिबेमि ॥१४०॥

छाया—स भिक्षुः भिक्षुकी वा वान्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च

---

* स भिक्षुर्यद्यप्येतान् शब्दान् शृणुयात् तथापि नैव वदेत् तद्यथा शोभनः शब्दोऽशोभनो वा माङ्गलिको ऽमाङ्गलिको वा, इत्ययं न व्याहर्तव्यः । विपरीतस्त्वाह—यथावस्थितशब्दप्रज्ञापनाविषये एतद् वदेत्, तद्यथा—"सुशब्दमिति" शोभनं शब्दं शोभनमेव ब्रूयाद् अशोभनं त्वशोभनमिति ॥ एवं रूपादिसूत्रमपि नेयम् । (वृत्तिकार)

अनुविचिन्त्य निष्ठा भाषी निशम्यभाषी अत्वरितभाषी विवेकभाषी समित्या संयतः भाषां भाषेत ४। एवं खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समित्या सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। कोहं च—क्रोध को। माणं च—मान को। मायं च—माया कपट युक्त व्यवहार को। लोभं च—लोभ को। वंता—वमन-छोड करके और। अणुवीइ—विचार पूर्वक पर्यालोचन करके। निट्ठाभासी—एकान्त-सर्वथा असावद्य वचन बोलने वाला। निसम्म भासी—हृदय में अत्यन्त विचार कर भाषण करने वाला। अतुरियभासी—सम्भाल कर शनैः-शनैः बोलनेवाला और। विवेग भासी—विवेक पूर्वक बोलने वाला। संजए—साधु। समियाए—भाषासमिति युक्त। भासं—भाषा को। भासिज्जा—बोले। एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स २—साधु और साध्वी का यह। सामग्गियं—समग्र-सम्पूर्ण आचार है। जंसव्वट्ठेहिं – जो ज्ञानादि अर्थो से तथा। समिए—पांच समितियों से। सहिए—युक्त है अतः वह। सया – सदा-सर्व काल में उक्त आचार का परिपालन करने का। जएज्जासि—यत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करने वाला, एकान्त निरवद्य भाषा बोलने वाला, विचार पूर्वक बोलने वाला शनैः २ बोलने वाला और विवेक पूर्वक बोलने वाला संयत साधु या साध्वी भाषा समिति से युक्त संयत भाषा का व्यवहार करे। यही साधु और साध्वी का समग्र आचार है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भाषा अध्ययन का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि साधु को क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके भाषा का प्रयोग करना चाहिए और उसे बहुत शीघ्रता से भी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि, वह क्रोधादि विकारों के वश झूठ भी बोल सकता है और अविवेक एवं शीघ्रता में भी असत्य भाषण का होना सम्भव है। अत विवेकशील एवं संयम निष्ठ साधक को कषायों का त्याग करके, गम्भीरता-पूर्वक विचार करके धीरे-धीरे बोलना चाहिए। इस तरह साधु को सोच विचार-पूर्वक निरवद्य, निष्पापकारी, मधुर, प्रिय एवं यथार्थ भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ चतुर्थ अध्ययनसमाप्त ॥

# पंचम अध्ययन—वस्त्रैषणा

## प्रथम उद्देशक

चतुर्थ अध्ययन मे भाषा समिति से सम्बद्ध विषय पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत अध्ययन मे यह बताया गया है कि भाषा समिति में प्रवृत्तशील साधु-साध्वी को किस तरह से और कैसा वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। इस अध्ययन के दो उद्देशक हैं, पहले उद्देशक में वस्त्र ग्रहण करने की विधि तथा द्वितीय उद्देशक में वस्त्र धारण करने का उल्लेख किया गया है। वस्त्र भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का बताया गया है। द्रव्य वस्त्र तीन प्रकार का बताया गया है—१-एकेन्द्रिय जीवों के शरीर से निर्मित कपास, (Cotton) सण (Jute) आदि के वस्त्र, २-विकलेन्द्रिय जीवों के बनाए गए तारों से निष्पन्न रेशमी (Silk) वस्त्र और ३-पञ्चेन्द्रिय जीवों के बालों से बनाए गए ऊन (Woollen) के वस्त्र या कम्बल आदि। और ब्रह्मचर्य के अठारह सहस्र गुणों को धारण करना भाव वस्त्र कहलाता है। वस्त्र दूसरों के एवं अपने मन में विकृति पैदा करने वाले गुप्ताङ्गों को आवृत्त करने तथा शीत-ताप से बचाने के लिए एक उपयोगी साधन है। इसी तरह मानव मन मे उठने वाले विकारी भावों का क्षय या क्षयोपशम करने तथा साधक को विकारों के शीत-तापमय व अनुकूल-प्रतिकूल आघातों से बचाने के लिए १८ हजार शीलांग गुण सर्वश्रेष्ठ साधन हैं, आत्म विकास में अत्यधिक सहयोगी हैं, इसी कारण इन्हें भाव वस्त्र कहा गया है। परन्तु, प्रस्तुत अध्ययन मे द्रव्य वस्त्रो के सम्बन्ध मे ही विचार किया गया है। क्योंकि, याचना द्रव्य वस्त्र की ही की जाती है, भाव वस्त्र की नही। आत्मा में स्थित अनन्त वीर्य ही भाव वस्त्र है और उसकी प्राप्ति मांग कर नही, प्रत्युत आत्म साधना से ही की जा सकती है। इस लिए सूत्रकार इस सम्बन्ध मे यहा कुछ नही कह कर, यह बताते हैं कि साधक को कैसे वस्त्र की याचना करनी चाहिए। साधु के लिए कल्पनीय वस्त्रों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भि० अभिकंखिज्जा वत्थं एसित्तए, से जं पुण वत्थं जाणिज्जा, तंजहा—जंगियं वा भंगियं वा साणियं वा पोत्तगं वा खोमियं वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं वा

जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारिज्जा नो वीयं, जा निग्गंथी सा चत्तारि संघाडीओ धारिज्जा, एगं दुहत्थवित्थारं दो तिहत्थवित्थाराओ एगं चउहत्थवित्थारं, तहप्पगारेहिं वत्थेहिं असंधिज्जमाणेहिं, अह-पच्छा एगमेगं संसिविज्जा ॥१४१॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् वस्त्रमेषितुं (अन्वेष्टुम्) स यत् पुनः वस्त्रं जानीयात् तद्यथा-जांगमिक वा भागिक वा माणिकं वा पोतकं वा क्षौमिकं व तूलकृतं वा तथाप्रकार वस्त्र वा यो निर्ग्रन्थः तरुणः युगवान् बलवान् अल्पातकः स्थिरसंहननः स एक वस्त्रं धारयेत् नो द्वितीय, या निर्ग्रन्थी सा चतस्र· संघाटिका धारयेत्, एका द्विहस्तविस्तारा, द्वे त्रिहस्त विस्तारे, एका चतुर्हस्तविस्तारां, तथाप्रकारैः वस्त्रैः असंधीयमानै· अथ-पश्चात् एकमेकेन संसीव्येत् ।

पदार्थ—से—वह। भिक्खू वा०—साधु या साध्वी। वत्थ - वस्त्र की। एसित्तए—एषणा। अभिकंखिज्जा—या गवेषणा करनी चाहे तो। से—वह-साधु। जं—जो। पुण—फिर। वत्थ—वस्त्र के विषय मे। जाणिज्जा—इस प्रकार जाने। तजहा—जैसे कि। जंगिय वा—जङ्गम-जीवो से उत्पन्न हुआ- (ऊंट आदि की ऊन से बना हुआ) अथवा। भंगिय वा—विकलेन्द्रिय जीवो के तन्तुओ से बना हुआ रेशमी वस्त्र या। साणियं वा—सण (Jute) तथा वल्कल आदि से निष्पन्न वस्त्र। पोत्तग वा—या ताड पत्र आदि से बना हुआ वस्त्र। खोमिय वा—कपास आदि से बनाया गया वस्त्र या। तूलकड वा—आक आदि की तूली-रूई से बना हुआ वस्त्र। तहप्पगारं—तथा प्रकार के अन्य। वत्थ—वस्त्र को भी। धारिज्जा—धारण करे। जे निग्गथे—जो निग्रन्थ। तरुणे—तरुण-युवावस्था मे है तथा। जुगवं—तीसरे या चौथे आरे का जन्मा हुआ है। बलवं—बलवान। अप्पायके—रोग रहित और। थिर-सघयणे—दृढ संहनन वाला है। से—वह। एग वत्थ—एक वस्त्र को। धारिज्जा—धारण करे। नो वीय—दूसरा वस्त्र धारण न करे। जा निग्गथी—और जो साध्वी है। सा—वह। चत्तारि सघाडीओ धारिज्जा—चार चादरे धारण करे। एग—एक चादर। दुहत्थवित्थारं—दो हाथ प्रमाण चौडी हो। दो तिहत्थवित्थाराओ—दो चादरें तीन हाथ प्रमाण चौडी हो और।

एग—एक। चउहत्थवित्थार—चार हाथ प्रमाण चौडी हो। तहप्पगारेहिं—तथाप्रकार के। वत्थेहिं—वस्त्रों के। असंधिज्जमाणेहिं—पृथक्-पृथक् न मिलने पर। अह—अथ। पच्छा—पश्चात्। एगमेगं—एक को एक के साथ। संसिविज्जा—सी ले।

मूलार्थ—संयमशील साधु तथा साध्वी यदि वस्त्र की गवेषणा करने की अभिलाषा रखते हों तो वे वस्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार जाने कि—ऊन का वस्त्र, विकलेन्द्रिय जीवों की लारों से बनाया गया रेशमी वस्त्र, सन तथा वल्कल का वस्त्र, ताड़ आदि के पत्तों से निष्पन्न वस्त्र और कपास एवं आक की तूली से बना हुआ सूती वस्त्र एवं इस तरह के अन्य वस्त्र को भी मुनि ग्रहण कर सकता है। जो साधु तरुण बलवान, रोग रहित और दृढ़ शरीर वाला है वह एक ही वस्त्र धारण करे, दूसरा न धारण करे। परन्तु साध्वी चार वस्त्र-चादरें धारण करे। उसमें एक-चादर दो हाथ प्रमाण चौडी, दो चादरें तीन हाथ प्रमाण और एक चार हाथ प्रमाण चौड़ी होनी चाहिए। इस प्रकार के वस्त्र न मिलने पर वह एक वस्त्र को दूसरे के साथ सी ले।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु ६ तरह का वस्त्र ग्रहण कर सकता है— १-जांगिक-जंगम-चलने-फिरने वाले ऊंट, भेड़ आदि जानवरों के बालों से बनाए हुए ऊन के वस्त्र, २-भंगिय-विभिन्न विकलेन्द्रिय जीवों की लार से, निर्मित तन्तुओं से निर्मित रेशमी (Silk) वस्त्र*, ३-साणिय-सण (Jute) या वल्कल से बना हुआ वस्त्र,

* एक तरह का वस्त्र, पाट का बना हुआ वस्त्र।

—प्राकृत शब्द महार्णव, पृ० ७९२।

भंगिय (भांगिक—भंगायाइदम्) सन का वस्त्र, कीडों की लार के रस के द्वारा बना हुआ वस्त्र। —अर्द्ध मागधी कोष, भा० ४, पृ० २।

भंगिय=अतसीमयं अर्थात् अलसी का बना हुआ वस्त्र।

—स्थानाङ्ग सूत्र, वृत्ति (आचार्य अभयदेव सूरि)

भंगिय शब्द का रेशमी वस्त्र अर्थ भी होता है और आजकल एक ऐसा रेशमी वस्त्र

४-पोतक-ताड़ पत्रों के रेशों से बनाया हुआ वस्त्र, ५-खोमिय-कपास से निष्पन्न वस्त्र और ६-तूलकडे-आक के डोडों मे से निकलने वाली रूई से बना हुआ वस्त्र। इन ६ तरह के वस्त्रों में सभी तरह के वस्त्रों का समावेश हो जाता है। अत वह इनमे से किसी भी तरह का वस्त्र ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे साधु और साध्वी के लिए वस्त्रों का परिमाण भी निश्चित कर दिया गया है। यदि साधु युवक, निरोगी, शक्ति सम्पन्न एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला हो तो वह एक वस्त्र ही ग्रहण कर सकता है, दूसरा नही। इससे यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि वृद्ध, कमजोर, रोगी एव जर्जरित शरीर वाला साधु एक से अधिक वस्त्र भी रख सकता है।

साध्वी के लिए चार वस्त्रों (चादरों) का विधान किया गया है। उसमें एक चादर दो हाथ की हो, दो चादरें तीन-तीन हाथ की हों, और एक चार हाथ की हो। साध्वी को उपाश्रय में रहते समय दो हाथ वाली चादर का उपयोग करना चाहिए, गोचरी एव जङ्गल आदि जाते समय तीन-तीन हाथ वाली चादरों को क्रमश. काम में लेना चाहिए और अवशिष्ट चौथी (चार हाथ वाली) चादर को व्याख्यान के समय ओढ़ना चाहिए। इसका तात्पर्य इतना ही है कि आहार आदि के लिए स्थान से बाहर निकलते समय एव व्याख्यान में परिषदा के सामने बैठते समय साध्वी अपने अधिकांश अङ्गों-पाङ्गों को आवृत करके बैठे, जिससे उन्हें देखकर किसी के मन में विकार भाव जागृत न हो।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस समय भारतीय शिल्पकला एवं वस्त्र उद्योग पर्याप्त उन्नति पर था। यन्त्रों के सहयोग के बिना ही विभिन्न तरह के सुन्दर, आकर्षक एव मजबूत वस्त्र बनाए जाते थे। अंग्रेजों के भारत में आने के पूर्व ढाका में बनने वाली मलमल इतनी बारीक होती थी कि २० गज की मलमल का पूरा थान एक बांस की नली मे समाविष्ट किया जा सकता था। आगम मे भी ऐसे वस्त्राभूषणों का उल्लेख मिलता है, जो वजन मे हलके और बहुमूल्य होते थे। इससे उस युग की शिल्प कला की उन्नति का स्पष्ट परिचय मिलता है।

---

भी मिलने लगा है जिसके लिए कीडो को मारना नही पडता। इसे टसर का रेशम कहते है। यह रेशम भी कीडो से प्राप्त होता है। ये कीडे इसका निर्माण करने के बाद स्वत: बाहर निकल जाते हैं। यह रूई की तरह होता है और उसी तरह कात कर इसका धागा बनाया जाता है। इसे भी भंगिय वस्त्र कह सकते हैं। परन्तु, साधु के लिए अलसी का बना हुआ वस्त्र यह अर्थ करना युक्ति सगत प्रतीत होता है। —लेखक

इस (वस्त्र के) विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० परं अद्धजोयणमेराए वत्थपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥१४२॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा परमर्द्धयोजनमर्यादायाः वस्त्र प्रतिज्ञया नो अभिसन्धारयेत् गमनाय।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। वत्थ पडियाए—वस्त्र की याचना करने हेतु। अद्धजोयणमेराए—आधे योजन की मर्यादा से। परं—आगे। गमणाए—जाने का। नो अभिसंधारिज्जा—विचार न करे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी को वस्त्र की याचना करने के लिए आधे योजन से आगे जाने का विचार नहीं करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने के लिए क्षेत्र मर्यादा का उल्लेख किया गया है। साधु या साध्वी को आधे योजन से आगे के क्षेत्र में जाकर वस्त्र लाने का संकल्प भी नहीं करना चाहिए। जैसे आगम में साधु-साध्वी को आधे योजन से आगे का लाया हुआ आहार-पानी करने का निषेध किया गया है*, इसी तरह प्रस्तुत सूत्र में क्षेत्र का अतिक्रान्त करके वस्त्र ग्रहण करने का भी निषेध किया गया है।

वृत्तिकार ने इस पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला है, उन्होंने केवल शब्दों का अर्थ मात्र किया है। यह नहीं बताया कि यह आदेश सामान्य सूत्र से सम्बद्ध है या अभिग्रह विशेष से।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० से जं० अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं जहा पिंडेसणाए भाणियव्वं॥ एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ बहवे समण-

माहण० तहेव पुरिसतरकडा जहा पिंडेसणाए ॥१४३॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यत्० स अस्वप्रतिज्ञया एकं सार्धमिकं समुद्दिश्य प्राणानि यथा पिंडैषणायां (तथैव) भणितव्यम्। एवं बहवः साधर्मिकाः एका साधर्मिणी बह्व्यः साधर्मिण्यः बहवः श्रमण ब्राह्मण० तथैव पुरुषान्तरकृताः यथा पिण्डैषणायाम्।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी। से जं—वस्त्र के विषय में इस प्रकार जाने। अस्सि पडियाए—जिसके पास धन नही है उसकी प्रतिज्ञा से। एग—एक। साहम्मियं—सार्धमिक का। समुद्दिस्स—उद्देश्य रख कर। पाणाइ—प्राणियो की हिंसा करके। जहा—जैसे। पिंडेसणाए—पिंडैषणा अध्ययन में आहार विषयक वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार इस स्थान मे वस्त्र विषयक। भाणियव्वं—वर्णन कहना चाहिए। एव—इसी प्रकार। बहवे साहम्मिया—बहुत से सार्धर्मी साधु। एगं साहम्मिणिं—एक सार्धमिणी साध्वी तथा। बहवे साहम्मिणीओ—बहुत सी साध्विएं और। बहवे समण माहण—बहुत से शाक्यादि श्रमण और ब्राह्मणादि। तहेव—उसी प्रकार। पुरिसतरकडा— पुरुषान्तर कृत। जहा—जैसे कि--। पिंडेसणाए—पिंडैपणा अध्ययन में कहा गया है।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी को वस्त्र के विषय मे यह जानना चाहिए कि जिसके पास धन नही है उसकी प्रतिज्ञा से कोई व्यक्ति एक या अनेक साधु या साध्वियो के लिए प्राण भूत आदि की हिंसा करके वस्त्र तैयार करे तो साधु—साध्वी को वह वस्त्र नही लेना चाहिए। यदि वह बहुत से शाक्य आदि श्रमण-ब्राह्मणो के लिए तैयार किया गया है और वह पुरुषान्तर हो गया तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। यह सारा प्रकरण पिण्डैषणा के प्रकरण की तरह समझना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु—साध्वी को आधाकर्म आदि दोष युक्त वस्त्र ग्रहण नही करना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति ने एक या अनेक साधुओं या एक और अनेक साध्वियों को उद्देश्य करके वस्त्र बनाया हो तो साधु-साध्वी को वह वस्त्र ग्रहण नही करना चाहिए। यदि वह वस्त्र किसी शाक्य आदि श्रमण या ब्राह्मणों के लिए

बनाया गया हो, परन्तु पुरुषान्तर कृत नहीं हुआ हो तो वह वस्त्र भी स्वीकार न करे। यदि वह पुरुषान्तर कृत हो गया है तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। वस्त्र ग्रहण करने या न करने की सारी विधि आहार ग्रहण करने की विधि की तरह ही है। अतः सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकरण को पिंडैषणा के प्रकरण की तरह समझना चाहिए। अर्थात् साधु को सदा निर्दोष वस्त्र ही ग्रहण करना चाहिए।

अब उत्तर गुणों की शुद्धि को रखते हुए वस्त्र ग्रहण की मर्यादा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० से जं० असंजए भिक्खुपडियाए कीयं वा धोयं वा रत्तं वा घट्ठं वा मट्ठं वा संपधूमियं वा तहप्पगारं वत्थं अपुरिसंतरकडं जाव नो० अह पु० पुरिसं० जाव पडिगाहिज्जा ॥१४४॥

छाया—स भिक्षुर्वा० स यत्० असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया क्रीतं वा धौतं वा रक्तं वा घृष्टं वा मृष्टं वा सम्प्रधूपितं वा तथाप्रकारं वस्त्रं अपुरुषान्तर कृतं यावत् नो प्रतिगृह्णीयात्। अथ पुनरेवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं यावत् प्रतिगृह्णीयात्।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी। से जं—वस्त्र के विषय में फिर यह जाने कि। असंजए-असंयत-गृहस्थ ने। भिक्खुपडियाए—साधु के लिए यदि। कीयं वा-वस्त्र मोल लिया हो। धोयं वा—धोकर रखा हो। रत्तं वा—रङ्ग कर रखा हो। घट्ठं वा—घिसा हो। मट्ठं वा—मसला हो और। संपधूमियं वा—धूप से सुवासित किया हो तो। तहप्पगारं तथा प्रकार के। वत्थं—वस्त्र को। अपुरिसंतरकड—जो कि पुरुषान्तर कृत नहीं है। जाव—यावत्। नो०—ग्रहण न करे। अह पुण—और यदि यह जाने कि। पुरिसं—पुरुषान्तर कृत है तो। जाव—यावत्। पडिगाहिज्जा—ग्रहण कर ले।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी को वस्त्र के विषय में यह जानना चाहिए कि यदि किसी गृहस्थ ने साधु के लिए वस्त्र खरीदा हो, धोया हो, रंगा हो, घिस कर साफ किया हो, शृंगारित किया हो या धूप आदि से सुगन्धित किया हो और वह पुरुषान्तरकृत नहीं हुआ है तो साधु-

साध्वी उसे ग्रहण न करे। यदि वह पुरुषान्तर कृत हो गया है तो साधु-साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे उत्तर गुण में लगने वाले दोषों से वचने का आदेश दिया गया है इस में बताया गया है कि जो वस्त्र साधु के लिए खरीदा गया हो*, धोया गया हो, रङ्गा गया हो†, अच्छी तरह से रगड़ कर साफ किया गया हो, शृङ्गारित किया गया हो या धूप‡ आदि से सुवासित बनाया गया हो तो साधु को वैसा वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि इस तरह का वस्त्र पुरुषान्तर कृत हो गया हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो वस्त्र मूल से साधु के लिए ही तैयार किया गया हो उसे साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में स्वीकार न करे—चाहे वह पुरुषान्तर कृत हो या न हो, हर हालत मे वह अकल्पनीय है। परन्तु, जो वस्त्र मूल से साधु के लिए नही बनाया गया है, परन्तु उसके तैयार होने के बाद साधु के निमित्त उसमें कुछ विशेष क्रियाए की गई हैं। ऐसी स्थिति मे साधु उसे तब तक स्वीकृत नहीं कर सकता, जब तक कि वह पुरुषान्तरकृत नहीं हो गया है। यदि किसी व्यक्ति ने उसे अपने उपयोग में ले लिया है, तो फिर साधु उसे ले भी सकता है।

इस वस्त्र प्रकरण को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

* साधु के लिए खरीदा गया वस्त्र साधु को लेना नही कल्पता। परन्तु, यदि उसका किसी व्यक्ति ने अपने लिए उपयोग कर लिया हो तो फिर वह वस्त्र साधु के लिए अकल्पनीय नही रहता है।

† यह पाठ तीनो काल के साधुओ को दृष्टि में रख कर रखा गया है। क्योंकि भगवान अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के साधु-साध्वी पाचो रङ्ग के वस्त्र ग्रहण कर सकते थे। या इसका उद्देश्य किसी ऐसे रङ्ग से है जो लगाने के बाद तुरन्त उड जाता हो। जैसे—आजकल कुछ सेण्ट एवं इतर रंगीन होते है और वस्त्र पर लगाते समय उनका धुधला सा रग भी आता है परन्तु वह तुरन्त उड जाता है। उनका प्रयोग केवल सुगन्धि के लिए किया जाता है।

‡ पहले से जल रहे धूप मे उस वस्त्र को रख कर सुवासित किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है।

मूलम्—से भिक्खू वा २ से जाइं पुण वत्थाइं जाणिज्जा, विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं, तंजहा-आईणगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पन्नुन्नाणि वा अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा देसरागाणि वा अमिलाणि वा गज्जफलाणि वा फालियाणि वा कोयवाणि वा कंबलगाणि वा पावराणि वा, अन्नयराणि वा तह० वत्थाइं महद्धणमुल्लाइं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥

से भि० आइणपाउरणाणि वत्थाणि जाणिज्जा तं०—उद्दाणि वा पेसाणि वा पेसलाणि वा किण्हमिगाईणगाणि वा, नीलमिगाईणगाणि वा गोर मि० कणगाणि वा कणगकंताणि वा कणगपट्टाणि वा कणगखइयाणि वा कणगफुसियाणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा (विगाणि वा) आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा, अन्नयराणि तह० आईणपाउरणाणि वत्थाणि लाभे संते नो० ॥१४५॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यानि पुनः वस्त्राणि जानीयात् विरूपरूपाणि महाधनमूल्यानि, तद्यथा आजिनानि वा श्लक्ष्णानि वा श्लक्ष्णकल्याणानि वा आजकानि वा कायकानि वा क्षौमिकानि वा दुकूलानि वा पट्टा-

नि वा मलयानि वा प्रनुन्नानि वा अशुकानि वा चीनाशुकानि वा देश-रागाणि वा अमिलानि वा गज्जफलानि वा फालिकानि वा कोयवानि वा कम्बलकानि वा प्रावराणि वा अन्यतराणि वा तथाप्रकाराणि वा वस्त्राणि वा महाधनमूल्यानि लाभे सति न प्रतिगृण्हीयात् ।।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आजिनप्रावरणीयानि वस्त्राणि जानीयात्, तद्यथा उद्राणि वा पैसानि वा पेशलानि वा कृष्णमृगाजिनानि वा नीलमृगाजिनानि वा, गौरमृगाजिनानि वा कनकानि वा कनककान्तीनि वा कनकपट्टानि वा कनकखचितानि वा कनकस्पृष्टानि वा व्याघ्राणि वा व्याघ्रचर्मविचित्रितानि वा आभरणानि वा आभरणविचित्राणि वा अन्यतराणि तथाप्रकाराणि आ-जिनप्रावरणानि वस्त्राणि लाभेसति नो प्रतिगृण्हीयात्।

**पदार्थ**—से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। से जाइं पुण वत्थाणि—जिन वस्त्रों के विषय में। जाणिज्जा—जाने। विरूवरूवाइं—नाना प्रकार के। महद्धण मुल्लाइं—बहुमूल्य वस्त्र। तं०—जैसे कि—। आईणगाणि वा—मूपक आदि के चर्म से निष्पन्न। साहिणाणि वा—श्लक्ष्ण-अत्यन्त सूक्ष्म। सहिणकल्लाणाणि वा—सूक्ष्म और कल्याणकारी। आयाणि वा—भेड या भेड के सूक्ष्म रोमो से निर्मित वस्त्र। कायाणि वा—इन्द्र नील वर्ण की कपास से निष्पन्न। खोमियाणि वा—सामान्य कपास से बनाया गया वस्त्र। दुगुल्लाणि—गौड देश मे उत्पन्न होने वाली विशिष्ट-प्रकार की कपास से निष्पन्न। पट्टाणि—पट्टसूत्र-रेशम से निष्पन्न। मलयाणि वा—मलयज सूत्र से बनाया गया वस्त्र। पन्नुन्नाणि वा—वल्कल के तंतुओ से निर्मित वस्त्र। असुयाणि वा—अशुक-देश विदेश मे उत्पन्न होने वाला महार्घ वस्त्र। चीणसुयाणि वा—चीनाशुक—चीन देश का बना हुआ रेशमी वस्त्र। देस रागाणि वा—नाना-प्रकार के देशो के बने हुए विशिष्ट वस्त्र या देश राग में निर्मित वस्त्र। अमिलाणि वा—आमिल नामक देश मे उत्पन्न होने वाले वस्त्र। गज्जफलाणि वा—गजफल नामक देश के विशिष्ट वस्त्र। फालियाणि वा—फलिय देश में उत्पन्न होने वाले असाधारण वस्त्र। कोयवाणि वा—कोयव नाम के देश के बने हुए। कबलगाणि वा—विशिष्ट प्रकार के कम्बल। पावराणि वा—प्रावरण-कम्बल विशेप तथा इसी प्रकार के। अन्नयराणि वा—कई एक अन्य वस्त्र विशेप। तह०—तथाप्रकार के वस्त्र। महद्धणमुल्लाइ—जो बहुमूल्य है ऐसे वस्त्रो के। लाभे सते—मिलने पर। नो पडिगाहिज्जा—साधु उन्हे ग्रहण न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। आइण्णपाउरणाणि—चर्म निष्पन्न पहरने वाले।

वत्थाणि वा—वस्त्रो को। जाणिज्जा—जाने। तंजहा—जैसे कि। उद्दाणि वा—सिंधु देश मे होने वाले मत्स्य के सूक्ष्म चर्म से निष्पन्न वस्त्र। पेसाणि वा—सिंधु देश में होने वाले पशुओ के सूक्ष्म चर्म से बने हुए तथा। पेसलाणि वा—उस चर्म पर के सूक्ष्म रोमो से निष्पन्न हुए वस्त्र तथा। किण्हमिगाईणगाणि वा—कृष्णमृग के चर्म के बने हुए वस्त्र। नीलमिगाईणगाणि वा—नीलमृग के चर्म से निष्पन्न और। गोरमि०—गौर-श्वेत मृगचर्म से निष्पन्न वस्त्र। कणगाणि वा—कनक-सोने की झाल से बनाये गये तथा। कणगकताणि वा—कनक के समान कांतिवाले और। कणगपट्टाणि वा—सोने के रस से बनाए गए एव। कणगखइणाणि वा—सोने के तारो से निर्मित। कणगफुसियाणि वा—सोने के स्तवको से युक्त वस्त्र। वग्घाणि वा—व्याघ्र चर्म निर्मित वस्त्र अथवा। विवग्घाणि वा—नाना प्रकार के व्याघ्र चर्म निष्पन्न वस्त्र अथवा। विगाणि वा—वृक चर्म से निष्पादित वस्त्र। आभरणाणि वा—प्रधान आभरणो से विभूषित वस्त्र अथवा। आभरणविचित्ताणि वा—विचित्र प्रकार के आभरणो से विभूषित और। अन्नयराणि वा—अन्य कई एक। तहप्पगाराणि—तथाप्रकार के। आईण पाउरणाणि—चर्म निष्पन्न पहरने योग्य। वत्थाणि—वस्त्र। लाभे संते—मिलने पर। नो पडिगाहिज्जा—साधु ग्रहण न करे।

मूलार्थ—संयमशील साधु अथवा साध्वी को महाधन से प्राप्त होने वाले नाना प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों के सम्बन्ध मे जानना चाहिए और मूषकादि के चर्म से निष्पन्न, अत्यन्त सूक्ष्म, वर्ण और सौन्दर्य से सुशोभित वस्त्र तथा देशविशेषोत्पन्न बकरी या बकरे के रोमो से बनाए गए वस्त्र एव देशविशेषोत्पन्न इन्द्रनील वर्ण कपास से निर्मित, समान कपास से बने हुए और गौड देश की विशिष्ट प्रकार की कपास से बने हुए वस्त्र, पट्ट सूत्र-रेशम से, मलय सूत्र से और वल्कल तन्तुओ से बनाए गए वस्त्र तथा अंशुक और चीनांशुक, देशराज नामक देश के, अमल देश के तथा गजफल देश के और फलक तथा कोदव देश के बने हुए प्रधान वस्त्र अथवा ऊर्ण कम्बल तथा अन्य बहुमूल्य वस्त्र-कम्बल विशेष और अन्य इसी प्रकार के अन्य भी बहुमूल्य वस्त्र, प्राप्त होने पर भी विचारशील साधु उन्हे ग्रहण न करे।

संयमशील साधु या साध्वी को चर्म एवं रोम से निष्पन्न वस्त्रो के

सम्बन्ध मे भी परिज्ञान करना चाहिए। जैसे— सिन्धुदेश के मत्स्य के चर्म और रोमो से बने हुए, सिन्धु देश के सूक्ष्मचर्म वाले पशुओं के चर्म एव रोमो से बने हुए तथा उस चर्म पर स्थित सूक्ष्म रोमो से बने हुए एव कृष्ण, नील और श्वेत मृग के चर्म और रोमो से बने हुए तथा स्वर्णजल से सुशोभित, स्वर्ण के समान कांति और स्वर्ण रस के स्तवकों से विभूषित, स्वर्ण तारो से खचित और स्वर्ण चन्द्रिकाओ से स्पर्शित बहु-मूल्य वस्त्र अथवा व्याघ्र या वृक के चर्म से बने हुए, सामान्य और विशेष प्रकार के आभरणो से सुशोभित अन्यप्रकार के चर्म एवं रोमो से निष्पन्न वस्त्रो को मिलने पर भी सयमशील मुनि स्वीकार न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को देश या विदेश में बने हुए विशिष्ट रेशम, सूत, चर्म एवं रोमों के बहुमूल्य वस्त्रों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। ऐसे कीमती वस्त्रों को देखकर चोरों के मन में दुर्भाव पैदा हो सकता है और साधु के मन में भी ममत्व भाव जागृत हो सकता है। चर्म एव मुलायम रोमों के वस्त्र के लिए पशुओं की हिंसा भी होती है। अत. पूर्ण अहिंसक साधु के लिए ऐसे कीमती एवं महारम्भ से बने वस्त्र ग्राह्य नहीं हो सकते। इसलिए भगवान ने साधु के लिए ऐसे वस्त्र ग्रहण करने का निषेध किया है।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय एवं भारतीय सीमा के निकट के देशों में वस्त्रउद्योग काफी उन्नति पर था और उस समय मशीनरी युग से भी अधिक सुन्दर और टिकाऊ वस्त्र बनता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग मे भारत आज से अधिक खुशहाल था। उसका व्यापारिक व्यवसाय अधिक व्यापक था। चीन एव उसके निकटवर्ती देशों से वस्त्र का आयात एव निर्यात होता रहता था। इससे यह स्पष्ट जान-कारी मिलती है कि उस युग मे शिल्पकला विकास की चरम सीमा पर पहुच चुकी थी और जनता का जीवनस्तर काफी उन्नत था। भारत मे गरीबी, भुखमरी एव अभाव कम था और अन्य देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध भी काफी अच्छे थे। उस युग के भारतीय औद्योगिक, व्यवसायिक एवं व्यापारिक इतिहास की शोध करने वाले इतिहास वेत्ताओं के लिए प्रस्तुत सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है।

वस्त्र ग्रहण करते समय किए जाने वाले अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इच्चेइयाइं आयतणाइं उवाइकम्म अह भिक्खू जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं वत्थं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढ़मा-पडिमा,से भि० २ उद्देसिय वत्थं जाइज्जा, तं०—जंगियं वा जाव तूलकडं वा, तह० वत्थं सयं वा णं जाइज्जा, परो० फासुयं पडि० ,पढमा पडिमा (१) अहावरा दुच्चा पडिमा से भि० पेहाए वत्थं जाइज्जा गाहावई वा० कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलो-इज्जा—आउसोत्ति वा २ दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं वत्थ? तहप्प० वत्थं सयं वा० परो० फासुयं एस० लाभे० पडि० दुच्चा पडिमा, (२) अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा० से जं पुण० तं अंतरिज्जं वा उत्तरिज्जं वा तहप्पगारं वत्थं सयं० पडि० , तच्चा-पडिमा (३) अहावरा चउत्था पडिमा—से० उज्झियधम्मियं वत्थं जाइज्जा जं चऽन्ने बहवे समण० वणीमगा नावकंखंति तहप्प० उज्झिय० वत्थं सयं० परो० फासुयं जाव प० चउत्थापडिमा (४) इच्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए। सिया णं एताए एसणाए एसमाणं परो वइज्जा—आउसंतो समणा! इज्जाहि तुमं मासेण वा दसराएण वा पंचराएण वा सुते सुततरे वा तो ते वयं अन्नयरं वत्थं दाहामो. एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा

निसम्म से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा ! २ नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारं संगारं पडिसुणित्तए, अभिकंखसि मे दाउं इयाणिमेव दलयाहि, से णेवं वयंतं परोवइज्जा—आउ० स० ! अणुगच्छाहि तो ते वयं अन्नं० वत्थं दाहामो, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति ! वा २ नो खलु मे कप्पइ संगारवयणे पडिसुणित्तए० से सेवं वयंतं परो णेया वइज्जा–आउसोत्ति वा ! भइणित्ति वा ! आहरेयं वत्थं समणस्स वा दाहामो, अवियाइ वयपच्छावि अप्पणो सयट्ठाए पाणाइं ४ समारंभ—समुद्दिस्स जाव चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया ण परो नेता वइज्जा ! आउसोत्ति वा ! २ आहर एयं वत्थं सिणाणेण वा ४ आघंसित्ता वा प० समणस्स णं दाहामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० से पुव्वामेव आउ० भ० ! मा एयं तुमं वत्थं सिणाणेण वा जाव पघंसाहि वा, अभि० एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सिणाणेण वा पघंसित्ता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफा० नो० पडिगाहिज्जा ॥ से णं परो नेता वइज्जा-भ० ! आहर एयं वत्थं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेत्ता वा पहोलेत्ता वा समणस्स णं दाहामो०, एय० निग्घोसं तहेव नवरं मा एयं तुमं

वत्थं सीओदग० उसि० उच्छोलेहि वा, पहोलेहि वा, अभि- कंखसि० सेसं तहेव जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ से णं परो ने० आ० भ० ! आहरेयं वत्थं कंदाणि वा जाव हरियाणि वा विसोहित्ता समणस्स णं दाहामो, एय० निग्घोसं तहेव, नवरं मा एयाणि तुमं कंदाणि वा जाव विसोहेहि, नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारे वत्थे पडिगाहित्तए, से सेवं वयंतस्स परो जाव विसोहित्ता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफासुयं नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया से परो नेता वत्थं निसिरिज्जा, से पुव्वा० आ० भ० ! तुमं चेव णं संतयं वत्थं अंतोअंतेणं पडिलेहिज्जिस्सामि, केवली बूया आ०, वत्थंतेण बद्धे सिया कुंडले वा गुणे वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा मणी वा जाव रयणावली वा पाणे, वा बीए वा हरिए वा अह भिक्खू णं पु० जं पुव्वामेव वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहिज्जा ॥१४६॥

छाया—इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य अथ भिक्षुः जानीयात् चतसृभिः प्रतिमाभिः वस्त्रमेषितु (अन्वेष्टुं) तत्र खलु (१) इयं प्रथमा प्रतिमा—स भि० उद्दिश्य वस्त्र याचेत, तद्यथा–स जांगमिकं वा यावत् तूलकृत वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्वयं वा याचेत परो० प्रासुकं० प्रति० प्रथमा प्रतिमा (२) अथापरा द्वितीया प्रतिमा — स भिक्षुर्वा० प्रेक्ष्य वस्त्र याचेत गृहपति वा० कर्मकरी वा स पूर्वमेव आलोचयेत- आयुष्मन् इति वा दास्यसि मे इतः अन्यतरद् वस्त्रं ? तथाप्रकार

वस्त्रं स्वय वा० परो० प्रासुकमेषणीय लाभे० प्रति०, द्वितीया प्रतिमा (३) अथापरा तृतीया प्रतिमा—स भिक्षुर्वा० स यत् पुन: तमन्तरीय वा उत्तरीयं वा तथाप्रकार वस्त्रं स्वय० प्रतिगृह्णीयात्, तृतीया प्रतिमा । [४] अथापरा चतुर्थी प्रतिमा—स० उज्झितधर्मिकं वस्त्रं याचेत यच्च अन्ये बहव. श्रमण० वनीपका. नावकांक्षन्ति तथा-प्रकारं उज्झित० वस्त्र स्वयं परो० प्रासुक यावत् प्रतिगृह्णीयात्, चतुर्थी प्रतिमा । आसां चतसृणा प्रतिमाना यथा पिंडैपणायां (अर्थात् शेषो विधि पिंडैषणा वन्नेय)। स्यान् (कदाचित्) एतया एषणया एषयन्तं परो वदेत्—आयुष्मन् श्रमण ! गच्छ त्व मासेन वा दश-रात्रेण वा पञ्चरात्रेण वा श्वः परश्वो वा ततः ते वयं अन्यतरद् वस्त्र दा-स्याम: एतद्प्रकार निर्घोष श्रुत्वा निशम्य स पूर्वमेव आलोचयेत आयुष्मन् ! इति वा २ न खलु मे कल्पते एतत्प्रकार सकेतं प्रतिश्रोतु, अभिकाक्षसि मे दातुमिदानोमेव ददस्व ? तमेव वदन्तं परो वदेत्, आयुष्मन् श्रमण ! अनुगच्छ तावत् ते वय अन्यतरद् वस्त्रं दास्यामः, स पूर्वमेव आलोचयेत आयुष्मन् इति वा २ न खलु मे कल्पते संकेत वचन प्रतिश्रोतुं. तं तदेव वदन्त परो नेता वदेत्-आयुष्मन् इति वा भगिनि ! इति वा आहर एतद् वस्त्रं श्रमणाय दास्यामः अपि च वयं पश्चादपि आत्मनः स्वार्थं-(आत्मार्थ) प्राणानि ४ समारभ्य समुद्दिश्य यावत् चेतयिष्यामः-करिष्यामः, एतत्प्रकार निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य तथाप्रकार वस्त्रमप्रासुकं यावत् न प्रतिगृह्णीयात् । स्यात् परो नेता वदेत् आयुष्मन् इति वा आहर एतद् वस्त्र स्नानेन वा ४ आघर्ष्य वा प्रघर्ष्य वा श्रमणाय या दास्यामः, एतत् प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य स पूर्वमेव आयुष्मन् ! इति वा भगिनि ! इति मा एतत् त्वं वस्त्रं स्नानेन वा यावत् प्रघर्षस्व ? अभिकाक्षसि मे दातुं एवमेव ददस्व ? स तस्यैवं वदतः परः स्नानेन वा प्रघर्ष्य दद्यात् तथाप्रकार वस्त्रमप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयात । स परो नेता वदेत् भगिनि ! आहर एतद् वस्त्रं शीतोदक

त्रिकटेन वा २ उत्क्षाल्य वा प्रक्षाल्य वा श्रमणाय दास्यामः० एतत्प्रकारं निर्घोषं तथैव नवरं मा एतत् त्वं वस्त्रं शीतोदक० उष्णोदक० उत्क्षाल्य वा प्रक्षाल्य वा, अभिकाङ्क्षसि, शेषं तथैव यावत् न प्रतिगृह्णीयात्। स परो नेता आ० भ० आहर एतद् वस्त्रं कन्दानि वा यावत् हरितानि वा विशोध्य श्रमणाय दास्यामः एतत्प्रकारं निर्घोषं, तथैव, नवरं मा एतानि त्वं कन्दानि वा यावद् विशोध्य ? नो खलु मे कल्पते एतत्प्रकाराणि वस्त्राणि प्रतिग्रहीतुं, स तस्यैव वदतः परो यावत् विशोध्य दद्यात्, तथाप्रकारं वस्त्रमप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयात्। स्यात् स परो नेता वस्त्रं निसृजेत् ? स पूर्वमेव० आ० भ० ! त्वं चैव सान्तिकं वस्त्रं अन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षिष्ये, केवली ब्रूयात आदानमेतत् वस्त्रान्तेन बद्धं स्यात्, कुण्डलं वा गुणं वा हिरण्यं वा, सुवर्णं वा मणिं वा यावत् रत्नावली वा, प्राणी वा बीजं वा हरितं वा, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत् यत् पूर्वमेव वस्त्रं अन्तोपान्तेन प्रतिलेखयेत् ।

पदार्थ—इच्चेइयाइं—ये पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण । आयतणाइं—वस्त्रैषणा के स्थान। उवाइकम्म—इनको अतिक्रम करके अर्थात् छोडकर। अह—अथ । भिक्खू—भिक्षु-साधु। चउहिं पडिमाहिं—चार प्रतिमाओं-अभिग्रह विशेषों से। वत्थं—वस्त्र की। एसित्तए—गवेषणा करनी हो तो वह उन्हें। जाणिज्जा—जाने। तत्थ—उन चार प्रतिमाओं में से। इमा—यह। पढमा—पहली । पडिमा—प्रतिमा है। से भिक्खू वा २—वह साधु या साध्वी। उद्देसिय—मन में निश्चित किये हुए। वत्थ—वस्त्र की। जाइज्जा—याचना करे । तंजहा—जैसेकि। जंगिय वा—जंगम जीवों के रोमों से निष्पन्न होने वाले। जाव—यावत् । तूलकडं वा—अर्कतूल निर्मित वस्त्र। तहप्पगारं—तथाप्रकार के । वत्थं—वस्त्र की । सय वा णं—स्वयं । जाइज्जा—याचना करे या । परो—गृहस्थ देवे तो । फासुयं—प्रासुक और एषणीय जानकर। पडि०—उसे ग्रहण करले। पढमा पडिमा—यह पहली प्रतिमा है । अहावरा-दोच्चा पडिमा—अब दूसरी प्रतिमा के विषय में कहते हैं । से भि०—वह साधु या साध्वी। पेहाए—देखकर। वत्थं—वस्त्र की। जाइज्जा—याचना करे। गाहावई वा०—गृहपति यावत् कम्मकरी वा—दास दासी आदि गृहस्थों से। से—वह साधु। पुव्वामेव—पहले ही । आलोएज्जा—वस्त्र को देखे, देखकर इस तरह कहे। आउसोत्ति वा २—आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा भगिनी ! दाहिसि—क्या तुम। मे—मुझे । इत्तो—इन वस्त्रों में से। अन्नयरं—किसी ।

वत्थ—वस्त्र को। दाहिसि—दोगे? तहप्प०—तथाप्रकार के। वत्थ—वस्त्र की। सयं वा०—स्वय याचना करे या। परो—यदि गृहस्थ बिना मागे ही देवे तो। फासुयं—प्रासुक तथा। एस०—एषणीय जानकर। लभे०—मिलने पर। पडि०—ग्रहण करले। दुच्चा पडिमा—यह दूसरी प्रतिमा अभिग्रह विशेष है। अहावरा तच्चा पडिमा—अब तीसरी प्रतिमा को कहते है। से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। से जं पुण०—फिर वस्त्र के सम्बन्ध मे जाने। त०—जैसेकि। अंतरिज्जं वा—गृहस्थ का भीतर हुआ अथवा। उत्तरिज्जं वा—गृहस्थ के पहनने का उत्तरासन। तहप्पगारं—तथाप्रकार के। वत्थं—वस्त्र की। सय—स्वय याचना करे या गृहस्थ विना मागे ही स्वय देवे तो प्रासुक और एषणीय जानकर मिलने पर। पडि०—ग्रहण करले। तच्चा पडिमा—यह तीसरी प्रतिमा है। अहावरा चउत्था पडिमा—अब चौथी प्रतिमा को कहते है। से भिक्खू वा०—वह—सयम शील साधु या साध्वी। उज्झियधम्मियं—उत्सृष्ट धर्म वाला अर्थात् जो गृहस्थ ने भोग लिया है। और जो फिर उसके काम मे आने वाला नही इस प्रकार के। वत्थं—वस्त्र की। जाइज्जा—याचना करे। जं च—और जिसको। अन्ने—अन्य। बहवे—बहुत से। समण०—शाक्यादि भिक्षु यावत्। वणीमगा—भिखारी लोग। नावकखंति—नही चाहते। तहप्प०—तथाप्रकार के। उज्झिय०—उज्झित धर्म वाले। वत्थं—वस्त्र को। सय—स्वयं मागे। परो०—गृहस्थ दे तो। फासुय—प्रासुक। जाव—यावत् एषणीय जानकर। पडिगा०—ग्रहण करले। चउत्थपडिमा—यह चौथी प्रतिमा कही है। इच्चेयाणं—इन। चउण्हं पडिमाणं—चार प्रतिमाओ के विषय में। जहा—जैसे। पिण्डेसणाए—पिण्डैषणा अध्ययन मे वर्णन किया गया है उसी प्रकार यहा समझना चाहिए। णं—वाक्यलकार मे है। सिया—कदाचित्। एताए—इन पूर्वोक्त। एसणाए—एषणा अर्थात् वस्त्रैषणा से। एसमाणं—वस्त्र की गवेषणा करने वाले साधु के प्रति। परो—कोई अन्य गृहस्थ। वइज्जा—कहे कि। आउसंतो समणा—आयुष्मन् श्रमण। तुमं इज्जाहि—तुम इस समय जाओ। किन्तु। मासेण वा-एक मास के बाद अथवा। दसराएणवा—दस दिन के बाद अथवा। पचरायेण वा—पाच दिन के बाद अथवा। सुते सुततरे वा—कल या कल के अन्तर से तुमने आना। तो—तब। वय—हम। ते—तेरे को। वत्थ—वस्त्र। दाहामो—देवेंगे। एयप्पगारं—इस प्रकार के। निग्घोसं—शब्द को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—हृदय में धारण कर। से—वह-साधु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—देखे और देखकर इस प्रकार कहे। आउसोत्ति वा—आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा भगिनि!। नो मे कप्पइ—मुझे नही कल्पता। एयप्पगारं—इस प्रकार का। संगारं—प्रतिज्ञा वचन। पडिसुणित्तए—सुनना अर्थात् मैं आपके इस प्रतिज्ञा वचन को स्वीकार नही कर सकता। यदि तुम। मे—मुझे। दाउं—देना। अभिकंखसि—चाहते हो तो। इयाणीमेव—इसी समय। दलयाहि—दे दो। से णेवं वयंतं—उस साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि। परो—गृहस्थ। वइज्जा—कहे कि। आउ० स०—आयुष्मन् श्रमण! अणुगच्छाहि—अब तो तुम जाओ, थोड़े समय के पश्चात् तुमने आजाना। तो—उस समय पर।

वयं—हम। ते—तुझे। अन्न० -कोई। वत्थ—वस्त्र। दाहामो—देंगे। से पुव्वामेव आलोइज्जा—वह साधु पहले ही देखे और देखकर गृहस्थ के प्रति कहे। आउसोत्ति वा२—आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा भगिनी। संगार वयणे—प्रतिज्ञा युक्त वचन। पडिसुणित्तए०—स्वीकार करना। नो खलु मे कप्पइ—मुझे नहीं कल्पता। यदि मुझे तुम देना चाहते हो तो इसी समय दे दो? सेव वयत—इस प्रकार बोलते हुए भिक्षु के प्रति। से परो णेया—वह नेता-गृहस्थ घर के किसी व्यक्ति को यदि। वइज्जा—कहे कि। आउसोत्ति वा—हे आयुष्मन्! अथवा। भइणित्ति वा—हे बहिन! एय वत्थं—वह वस्त्र। आहर—लाओ। समणस्स—साधु को। दाहामो—देंगे। अवियाइं—यद्यपि। वयं—हम। पच्छावि—पीछे भी। अप्पणो सयट्ठाए—अपने लिए। पाणाइ—प्राणियों का। समारम्भ—समारम्भ करके। समुद्दिस्स-उद्देश्य करके। जाव—यावत्। चेइस्सामो—वस्त्र बना लेंगे। एयप्पगारं—इस प्रकार के। निग्घोसं—शब्द को। सुच्चा—सुन कर। निसम्म—विचार कर। तहप्पगारं—तथाप्रकार के। वत्थ—वस्त्र को। अफासुय—अप्रासुक। जाव—यावत् अनेषणीय जानकर। नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे। ण—वाक्यालंकार में है। सिया—कदाचित्। परोनेता—अन्य गृहस्थ-गृहस्वामी यदि। वइज्जा—घर के किसी स्त्री या पुरुष को इस प्रकार आमन्त्रित करता हुआ कहे। आउसोत्ति वा २—आयुष्मन्! अथवा बहन! एय वत्थ—वह वस्त्र। आहर—ला, इसको। सिणाणेण वा ४—स्नानादि सुगन्धित द्रव्यों से आघर्षण करके। प०—प्रघर्षण करके। समणस्स—श्रमण-साधु को। दाहामो-देंगे। ण—वाक्यालकार में है। एयप्पगारं—इस प्रकार के निर्घोष-शब्द को। सुच्चा—सुनकर। निसम्म—हृदय में विचार कर। से—वह साधु। पुव्वामेव—पहले ही देख कर कहे कि। आउ० हे आयुष्मन्! अथवा। भ०—हे भगिनि! तुमं—तुम। एय वत्थं—इस वस्त्र को। सिणाणेण वा—स्नानादि से। जाव—यावत्। मा पघंसाहि—मत प्रघर्षित करो? अभि०—यदि तुम देना चाहते हो तो। एमेव दलयाहि—इसी तरह दे दो? सेवं वयतस्स—उसके इस प्रकार कहने पर। से परो—वह गृहस्थ यदि। सिणाणेण वा—स्नानादि से। पघंसित्ता-प्रघर्षित करके। दलइज्जा—देवे तो। तहप्प०—तथाप्रकार के। वत्थ—वस्त्र को। अफासुयं—अप्रासुक जानकर। नो प०—ग्रहण न करे। णं—वाक्यालकार में है। से परो—वह गृहस्थ। नेता—गृह स्वामी यदि घर के किसी भी व्यक्ति को। वइज्जा—कहे। भ०—हे भगिनि! आहर—ला। एय वत्थं—वह वस्त्र उसको। सीओदग वियड़ेण वा—निर्मल शीतल या उष्ण जल से। उच्छोलेत्ता वा—उत्क्षालन करके। पहोलेत्ता वा—प्रक्षालन करके। समणस्स—श्रमण-साधु को। दाहामो—देंगे। ण—वाक्यालकार में। एय०—इस प्रकार के। निग्घोसं—निर्घोष-शब्द को सुनकर। तहेव—उसी प्रकार कहे जैसे कि पूर्व कह चुके हैं। नवर—इतना विशेष है तब साधु उस गृहस्थ या स्त्री के प्रति सम्बोधन करता हुआ कहे। तुम—तुम। एयं वत्थ—इस वस्त्र को। सीओदग०—शीतोदक से। उसि०—उष्णोदक से।

मा—मत। उच्छोलेहि वा—उत्क्षालन करो तथा। पहोलेहि वा—प्रक्षालन मत करो। अभिकखसि—यदि तुम चाहते हो मुझे देना तो इसी प्रकार दे दो। सेस—शेष वर्णन। तहेव—उसी प्रकार है जैसे कि पूर्व लिखा जा चुका है। जाव—यावत् धोकर देवे तो। नो पडिगाहिज्जा—उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे। से—वह। परो—अन्य गृहस्थ। ने०—घर का स्वामी कहे कि। आ० भ०—हे आयुष्मन्! अथवा हे भगिनि! आहर—लाओ। एय वत्थ—यह वस्त्र, इसे। कदाणि वा—कन्द। जाव—यावत्। हरियाणि वा—हरी से। विसोहित्ता—विशुद्ध करके। समणस्स—श्रमण-साधु को। दाहामो—देंगे। ण—वाक्यालकार में। एयप्पगार—इस प्रकार के। निग्घोस—निर्घोष-शब्द को सुनकर। तहेव—उसी प्रकार-अर्थात् शेष वर्णन पूर्ववत् ही है। नवर—इतना विशेष है कि तब साधु गृहस्थ के प्रति कहे कि। तुमं—तुम, एयाणि कदाणि—इन कन्दादि से। जाव—यावत् हरियाली से वस्त्र को। मा विसोहि—विशुद्ध मत करो। खलु—निश्चयार्थ में है। मे—मुझे। नो कप्पइ—नहीं कल्पता। एयप्पगारे—इस प्रकार के। वत्थे—वस्त्रों का। पडिगाहित्तए—ग्रहण करना। सेव वयतस्स—इस प्रकार कहते हुए साधु के। से—वह। परो—गृहस्थ। जाव—यावत् कन्दादि से। विसोहित्ता—विशुद्ध कर। दलइज्जा—देवे तो। तहप्प०—तथा प्रकार के—। वत्थ—वस्त्र को। अफासुय—अप्रासुक और अनेषणीय जानकर। नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे। सिया—कदाचित्। से—वह। परो—अन्य। नेता—गृहस्वामी। वत्थं—वस्त्र को घर से लाकर। निसिरिज्जा—साधु को देवे तो। से—वह साधु। पुव्वा—पहले ही देखे और देखकर। आ० भ०—आयुष्मन् गृहस्थ! या हे भगिनि-बहन! तुम चेव—तुम्हारा ही। संतिय वत्थं—यह वस्त्र है मैं इसकी। अतोअतेण—अन्तप्रान्त अर्थात् चारो कोनो से। पडिलेहिज्जिस्सामि—प्रतिलेखना करूंगा अर्थात् इस चारो ओर से अच्छी तरह से देखूगा? क्योंकि। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं कि। आ०—विना प्रतिलेखना किए वस्त्र का लेना कर्म बन्धन का कारण है। सिया—कदाचित्। वत्थतेण—वस्त्र के अन्त मे। बद्धे—कुछ बन्धा हुआ हो यथा। कुडले वा—कुडल। गुणे वा—धागा—डोरा। हिरण्णे—हिरण्य-चांदी आदि अथवा। सुवण्णे वा—सुवर्ण-सोना अथवा। मणी वा—मणिरत्न। जाव—यावत्। रयणावली वा—रत्नावली-रत्नो की माला आदि। पाणे वा—कोई प्राणी। बीए वा—बीज अथवा। हरिए वा—हरी आदि। अह—अथ। भिक्खूण—भिक्षुओ के लिए। पु०—पहले ही तीर्थंकरादि ने आदेश दे रक्खा है। जं—जोकि साधु। पुव्वामेव—पहले ही। वत्थं—वस्त्र को। अंतो अतेण—अन्तप्रान्त से-चारो ओर से। पडिलेहिज्जा—प्रतिलेखना करे, अर्थात् प्रतिलेखना करके ग्रहण करे।

मूलार्थ—वस्त्रैषणा के इन पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण दोषो को छोड़कर

संयमशील साधु अथवा साध्वी इन चार प्रतिमाओ—अभिग्रह विशेषो से वस्त्र की गवेषणा करे, यथा— ऊन आदि के वस्त्रों का सकल्प कर उद्देश्य रख कर स्वय वस्त्र की याचना करे या गृहस्थ ही बिना मांगे वस्त्र देवे, यदि प्रासुक होगा तो लूगा, यह प्रथम प्रतिमा है। दूसरी प्रतिमा— देख कर वस्त्र को याचना करूंगा। तीसरी प्रतिमा—गृहस्थ का पहना हुआ वस्त्र लूगा। चौथी प्रतिमा—उज्झित धर्म वाला वस्त्र लूगा, जिसे अन्य शाक्यादि श्रमण न चाहते हों। इन प्रतिमाओं—अभिग्रहों को धारण करने वाला साधु अन्य साधुओं की निन्दा न करे तथा स्वयं अहंकार भी न करे, किन्तु जो जिनाज्ञा मे चलने वाले है वे सब पूज्य हैं इस प्रकार की समाधि अर्थात् समभाव से विचरे। वस्त्र की गवेषणा करते हुए साधु को यदि कोई गृहस्थ कहे कि आयुष्मन् श्रमण! अब तो तुम चले जाओ। किन्तु मासादि के अन्तर से अर्थात् एक मास या दस दिन अथवा पांच दिन आदि के अनन्तर तुमने यहां आना तब साधु उस गृहस्थ के प्रति कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ! मुझे यह प्रतिज्ञापूर्वक वचन सुनना नही कल्पता। अतः यदि तुम देना चाहते हो तो अभी दे दो। इस पर यदि गृहस्थ कहे कि आयुष्मन् श्रमण! अभी तुम जाओ, थोड़े समय के अनन्तर आकर वस्त्र ले जाना। तब भी मुनि यही कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ! मुझे यह सकेत पूर्वक वचन स्वीकार करना नहीं कल्पता. यदि तुम देना चाहते हो तो इसी समय दे दो। तब गृहस्थ ने किसी निजी पुरुष या बहिन आदि को बुलाकर कहा कि यह वस्त्र इस साधु को दे दो। हम पीछे अपने लिए प्राणियों का समारम्भ करके और बना लेंगे। गृहस्थ के इस प्रकार के शब्दों को सुनकर पश्चात्कर्म लगने से उस वस्त्र को अप्रासुक तथा अनेषणीय जान कर साधु ग्रहण न करे। और यदि घर का स्वामी अपने परिवार से कहे कि लाओ इस वस्त्र को जल से धोकर और सुगन्धित द्रव्यो से घर्षित करके इस साधु को देवें, तब साधु उसे ऐसा

करने से मना करे। उसके मना करने-निषेध करने पर भी यदि गृहस्थ उक्त क्रिया करके वस्त्र देना चाहे तो साधु उस वस्त्र का कदापि ग्रहण न करे एवं यदि शीतल अथवा उष्ण जल से धोकर देना चाहे और रोकने पर भी न रुके तो साधु उस वस्त्र को भी स्वीकार न करे। इसी प्रकार यदि वस्त्र मे कन्द मूल आदि वनस्पति बान्धी हुई हो या रखी पडी हो उसको अलग कर के देना चाहे तो भी न ले। और यदि गृहस्थ साधु को वस्त्र दे ही दे तो साधु बिना प्रतिलेखना किए, बिना अच्छी तरह देखे-भाले उस वस्त्र को कदापि ग्रहण न करे, कारण कि केवली भगवान कहते है कि बिना प्रतिलेखना के वस्त्र का ग्रहण कर्म बन्धन का हेतु होता है, सम्भव है वस्त्र के किसी किनारे मे कुण्डल, डोरा, चान्दी, सोना, मणि यावत् रत्नावली आदि बधे हुए हो अथवा प्राणी बीज और हरी सब्जी आदि बंधी हुई हो। इसलिए तीर्थकरादि ने पहले ही मुनियो को आज्ञा प्रदान की है कि साधु बिना प्रतिलेखना किए इन वस्त्रो को ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने की चार प्रतिज्ञाओं का वर्णन किया गया है—१ उद्दिष्ट, २ प्रेक्षित, ३ परिभुक्त और ४ उत्सृष्ट धार्मिक। १– अपने मन में पहले संकल्पित वस्त्र की याचना करना उद्दिष्ट प्रतिज्ञा है। २– किसी गृहस्थ के यहां वस्त्र देख कर उस देखे हुए वस्त्र की ही याचना करना प्रेक्षित प्रतिज्ञा है। ३–गृहस्थ के अन्तर परिभोग या उत्तरीय परिभोग या उसके पहने हुए वस्त्र की याचना करना परिभुक्त प्रतिज्ञा है। ४–मैं वही वस्त्र ग्रहण करूंगा कि जो उत्सृष्ट धर्मवाला- फैंकने योग्य है। इस तरह के अभिग्रहों को धारण करके वस्त्र की याचना करने की विधि ठीक उसी तरह से बताई गई है, जैसे पिडैषणा अध्ययन मे आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख किया गया है।

इसमे दूसरी बात यह बताई गई है कि यदि कोई गृहस्थ वस्त्र की याचना करते समय साधु से यह कहे कि आप मास या १० – १५ दिन के पश्चात आकर वस्त्र ले जाना, तो साधु उसकी इस बात को स्वीकार न करे। वह स्पष्ट कहे कि यदि आपकी वस्त्र देने की इच्छा हो तो अभी दे दो, अन्यथा कुछ दिन के बाद नहीं आऊंगा। इस निषेध के पीछे दो कारण हैं— एक तो यह है कि यदि उस समय

गृहस्थ के पास वस्त्र नहीं है तो वह साधु के लिए नया वस्त्र खरीद कर ला सकता है या उसके लिए और कोई सावद्य क्रिया कर सकता है। दूसरी बात यह है कि किसी कारणवश साधु निश्चित समय पर नहीं पहुच सके तो उसे भाषा समिति में दोप लगेगा।

यदि किसी गृहस्थ की वस्त्र की दुकान हो और उसमें कुछ दिन में वस्त्र आने वाला हो तो साधु कुछ समय के बाद भी वहां जाकर वस्त्र ला सकता है। क्योंकि, उसमें उसके लिए कोई क्रिया नहीं की गई है। परन्तु, इस कार्य के लिए साधु को निश्चित समय के लिए बन्धना नहीं चाहिए। यदि उसे यह ज्ञात हो जाए कि कुछ समय बाद आने वाला वस्त्र निर्दोष है तो वह गृहस्थ से इतना ही कहे कि जैसा अवसर होगा देखा जाएगा। परन्तु, यह न कहे कि मैं अमुक समय पर आकर ले जाऊंगा। वह इतना कह सकता है कि यदि सम्भव हो सका तो मै अमुक समय पर आने का प्रयत्न करूंगा।

इस तरह साधु को सभी दोषों से रहित निर्दोष वस्त्र को अच्छी तरह देखकर ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न हो कि उसके किसी कोने में कोई सचित्त या अचित्त वस्तु बन्धी हो या उस पर कोई सचित्त वस्तु लगी हो। अतः वस्त्र ग्रहण करने के पूव साधु को उसका सम्यक्तया अवलोकन कर लेना चाहिए।

इस विषय पर और विस्तार से विचार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० से जं० सअंडं० ससंताणं तहप्प० वत्थं अफा० नो प०॥ से भि० से जं अप्पंडं जाव अप्पसंताणगं अनलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं रोइज्जंतं न रुच्चइ तह अफा० नो प०॥ से भि० से जं० अप्पंडं जाव अप्पसंताणगं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं रोइज्जंतं रुच्चइ तह वत्थं फासु० पडि०॥ से भि० नो नवए मे वत्थेत्तिकट्टु नो बहुदेसिएण सिणाणेण वा जाव पघसिज्जा। से भि० नो नवए मे वत्थेतिकट्टु नो बहुदे० सीओदग वियडेण वा २ जाव पहोइज्जा॥ से भिक्खू वा २ दुब्भिगंधे मे वत्थित्तिकट्टु नो बहु० सिणाणेण तहेव बहुसीओ० उस्सिं०

# आलावओ ॥१४७॥

छाया—स भिक्षु० स यद् साड० स सन्तानक तथाप्रकारं वस्त्रमप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयात् । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् अल्पांड यावत् अल्पसन्तानकमनलमस्थिरमध्रुवमधारणीयं रोच्यमानं न रोचते तथाप्रकारमप्रासुकं० न प्रतिगृह्णीयात् । स भिक्षु० स यत् अल्पाड यावत् अल्प सन्तानकमल स्थिरं ध्रुवं धारणीय रोच्यमानं रोचते तथाप्रकारं वस्त्रं प्रासुक प्रतिगृह्णीयात् । स भिक्षु० नो नवं मे वस्त्रमिति कृत्वा नो बहुदेश्येन स्नानेन वा यावत् प्रघर्षयेत् । स भिक्षु० नो नव मे वस्त्रमितिकृत्वा नो बहुदेश्येन० शीतोदकविकटेन वा यावत् प्रधावेत् (प्रक्षालयेत् ) । स भिक्षुर्वा २ दुर्भि गन्धं मे वस्त्रमिति कृत्वा नो बहुदेश्येन ० स्नानेन तथैव बहुशीतोदकेन वा उष्णोदक विकटेन वा आलापकः ।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी । से जं०—वस्त्र के सम्बन्ध मे जाने, जैसे कि- । स अंड—अण्डो से युक्त । जाव—यावत् । ससनाणग—मकडी के जाले आदि से युक्त । तहप्प०—तथा प्रकार के । वत्थ—वस्त्र को । अफा०—अप्रासुक जान कर । नो पडि०—ग्रहण न करे । से भि०—वह साधु या साध्वी । से ज०—वस्त्र के सम्बन्ध मे जाने, यथा । अप्पंडं—अण्डो से रहित । जाव—यावत् । अप्पसंताणग—मकडी के जालो से रहित । अनल—अभीष्ट कार्य करने मे असमर्थ । अथिरं—अस्थिर-जीर्ण । अधुव—अध्रुव-जो कि थोडे काल की आज्ञा होने से ध्रुव नही हैं । अधारणिज्ज—धारण करने के अयोग्य । रोइज्जंतं—अच्छा सुन्दर वस्त्र देते हुए भी । न रुच्चइ—दाता को नही रुचता अर्थात् दाता का मन प्रसन्न न हो अथवा यदि वह वस्त्र साधु को भी रुचता न हो-अनुकूल न हो तो । तहप्प०—उस वस्त्र को । अफा०—अप्रासुक जानकर । नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । से जं०—वस्त्र को जाने, यथा- । अप्पंड—अण्डो से रहित । जाव—यावत् । अप्पसताणग—मकडी आदि के जालो से रहित । अलं—अभीष्ट कार्य करने मे समर्थ । थिर—स्थिर और । धुव—ध्रुव-जिसकी साधु को सदा के लिए आज्ञा दे दी गई हो । धारणिज्ज—धारण करने के योग्य तथा । रोइज्जत—गृहस्थ की देने की रुचि को देख कर यदि । रुच्चइ—साधु को रुचे तो । तहप्प०—तथा प्रकार के । वत्थ—वस्त्र को । फासु०—प्रासुक जान कर मिलने पर । पडि०—साधु ग्रहण कर ले । से भि०—वह साधु या साध्वी । तिकट्टु—ऐसा विचार कर कि । मे—मेरे पास । नवए—नवीन । वत्थ—वस्त्र । नो—नहीं है । बहुदेसिएण—थोडे बहुत । सिणाणेण वा—स्नानादि सुगन्धित द्रव्य से । जाव—

चाहिए, जो अण्डे एवं मकड़ी के जालों या अन्य जीव-जन्तुओं से युक्त हो। इसके अतिरिक्त वह वस्त्र भी साधु के लिए अग्राह्य है, जो अण्डों आदि से युक्त तो नहीं है, परन्तु जीर्ण-शीर्ण होने के कारण पहनने के अयोग्य है और गृहस्थ भी उसे कुछ दिन के लिए ही देना चाहता है और साधु को भी वह पसन्द नहीं है। अत जो वस्त्र अण्डों आदि से रहित हो, मजबूत हो, गृहस्थ की देने के लिए पूरी अभिलाषा हो और साधु के मन को भी पसन्द हो तो ऐसा वस्त्र साधु ले सकता है।

इसमे दूसरी बात यह बताई गई है कि यदि कोई वस्त्र मैला हो गया हो या दुर्गन्धमय हो तो साधु को विभूषा के लिए उसे पानी एवं सुगन्धित द्रव्यों से रगड़ कर सुन्दर एवं सुवासित बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वृत्तिकार ने इस पाठ को जिनकल्पी मुनि से सम्बद्ध माना है। उनका कहना है कि यदि जिनकल्पी मुनि के वस्त्र मैले होने के कारण दुर्गन्धमय हो गए हों तब भी उन्हें उस वस्त्र को पानी एवं सुगन्धित द्रव्यों से धोकर साफ एवं सुवासित नहीं करना चाहिए*।

'अधारणिज्ज' पद की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार का कहना है कि लक्षण हीन उपधि को धारण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का उपघात होता है। और 'अनलं अस्थिरं अध्रुव और अधारणीय' इन चार पदों के १६ भग बनते हैं, उनमे १५

---

* अपि च-स भिक्षुर्यद्यपि मलोपचितत्वाद् दुर्गन्धि वस्त्रं स्यात्, तथापि तदपनयनार्थं सुगन्धिद्रव्योदकादिना नो धावनादि कुर्याद् गच्छनिर्गतः, तदन्तर्गतस्तु यतनया प्रासुकोदकादिना लोकोपघातससक्तिभयात् मलापनयनार्थं कुर्यादपीति।

—आचाराङ्ग वृत्ति।

चत्तारि देविया भागा, दोय भागा य माणुसा।
आसुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसो॥१

देविएसुत्तमो लाभो, माणुसेसु अ मज्झिमो।
आसुरेसु अ गेलन्न, मरण जाण रक्खसे॥२

त्रा चेयम्। किञ्च—

लक्खणहीणो उवही उवहणइ नाणदसण चरित्त॥ इत्यादि,

भंग अशुद्ध माने गए हैं और अन्तिम भंग शुद्ध माना गया है‡। कुछ प्रतियों में 'रोइज्जंत' के स्थान पर 'देइज्जतं' और कुछ प्रतियों में 'वइज्जत' पाठ भी उपलब्ध होता है।

वस्त्र प्रक्षालन करने के बाद उसे धूप में रखने के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

‡ स्थापनायन्त्रम्

| ४ | अल | स्थिर | ध्रुव | धारणीयं |
|---|---|---|---|---|
| १ | ० | ० | ० | ० |
| २ | ० | ० | ० | १ |
| ३ | ० | ० | १ | ० |
| ४ | ० | ० | १ | १ |
| ५ | ० | १ | ० | ० |
| ६ | ० | १ | ० | १ |
| ७ | ० | १ | १ | ० |
| ८ | ० | १ | १ | १ |
| ९ | १ | ० | ० | ० |
| १० | १ | ० | ० | १ |
| ११ | १ | ० | १ | ० |
| १२ | १ | ० | १ | १ |
| १३ | १ | १ | ० | ० |
| १४ | १ | १ | ० | १ |
| १५ | १ | १ | १ | ० |
| १६ | १ | १ | १ | १ |

मूलम्—से भिक्खू वा० अभिकंखिज्ज वत्थं आयावित्तए वा प० तहप्पगारं वत्थं नो अणंतरहियाए जाव पुढवीए संताणए आयाविज्ज वा प० ॥ से भि० वत्थं आ० प० त० वत्थं थूणंसि वा गिहेलुगंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अन्नयरे तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अणिकंपे चलाचले नो आ० नो प० ॥ से भिक्खू वा० अभि० आयावित्तए वा तह० वत्थं कुडियंसि वा भित्तंसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अन्नयरे वा तह० अंतलि० जाव नो आयाविज्ज वा प० ॥ से भि० वत्थं आया० प० तह० वत्थं खंधंसि वा मं० मा० पासा० ह० अन्नयरे वा तह० अंतलि० नो आयाविज्ज वा० प०। से० तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा २ अहेज्झामथंडिल्लंसि वा जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ सं० वत्थं आयाविज्ज वा पया०, एयं० खलु० सया जइज्जासि ॥१४८॥ त्तिबेमि ॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत वस्त्रमातापयितुं वा परितापयितुं तथाप्रकारं वस्त्रं नो अनन्तरहितायां यावत् पृथिव्या सतानायाम् आतापयेद् वा परितापयेत्। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत वस्त्रमातापयितुं वा परितापयितु वा तथाप्रकार वस्त्र स्थूणायां वा गिहेलुके वा उदूखले वा कामजले वा अन्यतरस्मिन् तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते दुर्बद्धे दुर्निक्षिप्ते अनिष्कंपे चलाचले नो आतापयेत् वा नो परितापयेद् वा। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा०

अभिकांक्षेत आतापयितुं वा परितापयितुं वा, तथाप्रकारं वस्त्रं कुड्ये वा भित्तौ वा शिलायां वा लेलौ वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते यावत् नो आतापयेत् वा प्रतापयेद् वा। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा वस्त्रमातापयितुं वा प्रतापयितुं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्कन्धे वा मञ्चके वा माले वा प्रासादे वा हर्म्ये वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते नो आतापयेत् वा परितापयेद् वा। स तदादाय एकान्तमपक्रामेत, अपक्रम्य अधः दग्ध स्थंडिले वा यावत् अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले प्रतिलिख्य २ प्रमृज्य २ ततः संयतमेव वस्त्रमातापयेद् वा प्रतापयेद् वा एवं खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्या वा सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि। पंचमस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः।

पदार्थ—से भिक्खू०—वह साधु या साध्वी। अभिकंखिज्जा—चाहे। वत्थं—वस्त्र को। आयावित्तए वा—आताप या। प०—परिताप देना तो। तहप्पगारं—तथाप्रकार के। वत्थं—वस्त्र को। अणंतरहियाए—सचित पृथ्वी तथा आर्द्र पृथिवी। जाव—यावत्। पुढवीए—पृथिवी पर। संताणए—जल आदि से युक्त पृथिवी पर। नो आयाविज्ज वा० प०—आताप और परिताप न दे अर्थात् धूप में न सुखावे। से भि०—वह साधु या साध्वी। अभि०—चाहे। वत्थं—वस्त्र को। आ० प०—आताप और परिताप दे तो। त०—तथाप्रकार के। वत्थं—वस्त्र को। थूणंसि वा—स्थूणा—स्तंभ, खूंटी आदि पर। गिहेलुगंसि वा—गृह के द्वारों पर। उसुयालंसि वा—या ऊखल पर। कामजलंसि वा—स्नान के पीठ पर अर्थात् चौकी पर। अन्नयरे—अन्य। तहप्प०—तथा प्रकार के। अंतलिक्खजाए—अन्तरिक्ष भूमि से ऊंचे स्थान पर जो। दुब्बद्धे—अच्छी भांति से बान्धा हुआ नहीं है। दुन्निक्खित्ते—दुष्ट प्रकार से भूमि पर रोपण किया हुआ है और जो। अणिकंपे—निश्चल स्थान नहीं है। चलाचले—वायु के द्वारा इधर उधर हो रहा है। नो आ० नो प०—आताप या परिताप न दे। से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। अभि०—यदि चाहे वस्त्र को। आयावित्तए—आताप दे। तह०—तथा प्रकार के। वत्थं—वस्त्र को। कुलियंसि वा—घर की दीवार पर। भित्तंसि वा—नदी के तट पर। सिलंसि वा—शिला पर। लेलुंसि वा—शिला खंड पर अर्थात् किसी पत्थर पर। अन्नयरे वा—अथवा अन्य। तहप्प०—इसी प्रकार के। अंतलिक्ख०—अन्तरिक्षस्थान पर। जाव—यावत्। नो आयाविज्ज आ० प०—आताप और परिताप न दे-सुखाए नहीं। से भि०—वह साधु या साध्वी यदि चाहे। वत्थं—वस्त्र को। आया० प०—आताप या परिताप देना तो।

तह० — तथाप्रकार के। वत्थ — वस्त्र को। खधसि वा — स्तम्भ पर। म — मंजे पर। मा० — माले पर। पासा० — प्रासाद पर। ह० — हर्म्य पर। अन्नयरे वा — अन्य। तहप्प० — तथा प्रकार के। अतलिक्ख — अन्तरिक्ष—भूमि से ऊंचे स्थानो पर। नो आयाविज्ज वा० प० — आताप और परिताप न दे। से — वह-भिक्षु। तमायाए — उस वस्त्र को लेकर। एगतमवक्कमिज्जा — एकान्त मे चला जावे वहा जाकर। अहे — अथ। ज्झाम थंडिलसि वा — जो भूमि अग्नि से दग्ध हो वहा या। अन्नयरसि — अन्य। तहप्पगारसि — उसी प्रकार की। थंडिलसि वा — निर्दोष स्थडिल भूमि का। पडिलेहिय २ — प्रतिलेखन करके। पमज्जिय २ — रजोहरणादि से प्रमार्जित करके। तओ — तत्पश्चात्। सजयामेव — यतना पूर्वक। वत्थ — वस्त्र को। आयाविज्ज वा पया० — आताप और परिताप दे अर्थात् सुखाए। एय खलु — निश्चय ही यह। तस्स भिक्खुस्स — उस साधु और साध्वी का। सामग्गियं — सम्पूर्ण आचार है। ज — जो। सव्वट्ठेहिं — ज्ञान दर्शन चारित्र रूप अर्थो से तथा। समिय — पाच समितियो से। सहिए — सहित है वह उसके पालन करने मे। सया — सदा। जएज्जासि — यत्न करे। त्तिबेमि — इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी यदि वस्त्र को धूप मे सुखाना चाहे तो वह गीली जमीन पर यावत् अण्डो और जालो से युक्त जमीन पर न सुखावे तथा न वस्त्र को स्तंभ पर, घर के दरवाजे पर, ऊखल और स्नान पीठ (चौकी) पर सुखाए एवं इसी प्रकार के अन्य, भूमि से ऊचे स्थान पर-जोकि दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त कपनशील तथा चलाचल हो उन पर और घर की दीवार पर, नदी के तट पर, शिला और शिलाखड पर, स्तम्भ पर, मच पर, माल पर, तथा प्रासाद और हर्म्य-प्रासाद विशेष पर वस्त्र को न सुखावे। यदि सुखाना हो तो एकान्त स्थान मे जाकर वहां अग्नि-दग्ध स्थडिल यावत् इसी प्रकार के अन्य निर्दोष स्थान का प्रतिलेखन और प्रमार्जना करके यत्न पूर्वक सुखाए। यही साधु का समग्र-सम्पूर्ण आचार है, इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो स्थान गीला हो, बीज, हरियाली एवं अण्डों आदि से युक्त हो तो साधु ऐसे स्थान पर वस्त्र न सुखाए। और वह स्तम्भ पर, घर के दरवाजे पर एवं ऐसे अन्य ऊंचे स्थानों पर भी वस्त्र न सुखाए। क्योंकि हवा

के झोंकों से ऐसे स्थानों पर से वस्त्र के गिरने से या उसके हिलने से वायुकायिक एवं अन्य जीवों की विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए साधु को ऐसे ऊंचे स्थानों पर वस्त्र नहीं सुखाना चाहिए। जो अच्छी तरह बन्धा हुआ नहीं है, भली-भांति आरोपित नहीं है, निश्चल नहीं है, चलायमान है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो अन्तरिक्ष का स्थान सम्यक्तया बन्धा हुआ आरोपित, स्थिर एवं अचलायमान हो तो अपवाद मार्ग में वहां पर साधु वस्त्र सुखा भी सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में मचान आदि स्थानों पर भी वस्त्र सुखाने का निषेध किया है। इसका उद्देश्य आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पहले अध्ययन के ७वें उद्देशक मे आहार विधि के प्रकरण मे दिया गया उद्देश्य ही है। यदि मञ्च एवं मकान आदि की छत पर जाने का मार्ग प्रशस्त है और वहां किसी भी जीव की विराधना होने की सम्भावना नहीं है तो साधु मञ्च एवं मकान आदि की छत पर भी वस्त्र सुखा सकता है। वस्तुतः सूत्रकार का उद्देश्य यह है कि साधु को प्रासुक एवं निर्दोष भूमि पर ही वस्त्र सुखाने चाहिएं, जिससे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

# पंचम अध्ययन—वस्त्रैषणा

## द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में वस्त्र ग्रहण करने की विधि का वर्णन किया गया था, अब प्रस्तुत उद्देशक में वस्त्र धारण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा० अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोइज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिउंचमाणो गामंतरेसु० ओमचेलिए, एयं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥ से भिक्खू वा० गाहावइकुलं पविसिउकामे सव्वं चीवरमायाए गाहावइकुलं निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा, एवं बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा गामाणुगामं वा दूइज्जिज्जा, अह पु० तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए जहा पिंडेसणाए नवरं सव्वं चीवरमायाए ॥१४६॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत यथापरिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत्। नो धावेत् नो रजयेत् नो धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत् अपरिकुंचमानः ग्रामान्तरेषु अवमचेलकः एवं खलु वस्त्रधारिणः सामग्र्यम् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं चीवरमादाय गृहपतिकुलं निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा एवं बहिः विहार भूमिं वा

विचारभूमिं वा ग्रामानुग्रामं वा दूयेत--गच्छेत्। अथ पुनः एवं जानीयात्। तीव्रदेशिकां वा वर्षां वर्षन्तं प्रेक्ष्य, यथा पिंडैषणायाम्। नवरं सर्वं चीवरमादाय।

पदार्थ—से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। अहेसणिज्जाइं—अथ एषणीय-अर्थात् भगवदाज्ञानुसार। वत्थाइं—जो वस्त्र है उनकी। जाइज्जा—याचना करे फिर। अहापरिग्गहियाइं—यथा परिगृहीत। वत्थाइं—वस्त्रो को। धारेज्जा—धारण करे तथा उन वस्त्रो को विभूषा के लिए। नो धोइज्जा—न तो धोए और। नो रएज्जा—न रंगे, इतना ही नही किन्तु। नो धोय रत्ताइ वत्थाइं—धोए और रगे हुए वस्त्रो को। नो धारिज्जा—धारण भी न करे। गामंतरेसु०—ग्रामादि मे। अपलिउंचमाणे—वस्त्रो को न गोपता हुआ विचरे तथा। ओमचेलिए—असार वस्त्र अथवा थोडा वस्त्र धारण कर सुख पूर्वक विचरे। एयं—यह। खलु—निश्चय ही। वत्थधारिस्स—वस्त्रधारी मुनि का। सामग्गियं—सम्पूर्ण आचार है।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। गाहावइकुलं—गृहपति कुल में आहारादि के लिए। पविसिउ कामे—प्रवेश करने की इच्छा वाला। सव्वं—सर्व। चीवरमायाए—वस्त्र लेकर। गाहावई कुलं—गृहपति कुल में। निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा—निष्क्रमण और प्रवेश करे अर्थात् उपाश्रय से निकले और गृहस्थ के घर मे प्रवेश करे। एवं—इसी प्रकार। बहिया—वस्ती आदि से बाहर। विहारभूमि वा—विहार-स्वाध्याय करने की भूमि मे अथवा। वियार भूमि वा—मल आदि का त्याग करने की भूमि मे अथवा। गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम् विहार करते समय वस्त्र लेकर ही। दूइज्जिज्जा—प्रयाण करे। अह पुण—अथ इस प्रकार जाने। तिव्व देसिय वा—थोडी या बहुत। वासं वासमाण—वर्षा बरसती हुई को। पेहाए—देख कर। जहा—जैसे। पिंडेसणाए—पिण्डैपणा अध्ययन मे आहार विषयक वर्णन किया है उसी प्रकार यहा पर भी जान लेना चाहिए किन्तु। नवरं—इतना विशेष है कि। सव्वं चीवरमायाए—सर्व वस्त्रो को ग्रहण करके जावे।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी भगवान द्वारा दी गई आज्ञा के अनुरूप एषणीय और निर्दोष वस्त्र की याचना करे और मिलने पर उन्हें धारण करे। परन्तु, विभूषा के लिए वे उन्हें न धोए और न रगे तथा धोए हुए और रंगे हुए वस्त्रों को पहने भी नही। किन्तु, अल्प और असार [साधारण] वस्त्रो को धारण करके ग्राम आदि में सुख पूर्वक विचरण करे। वस्त्रधारी मुनि का वस्त्र धारण करने सम्बन्धी यह सम्पूर्ण आचार

गृहस्थ के घर में जाते हुए या स्वाध्याय भूमि में तथा जंगल के लिए जाते समय अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु के पास आवश्यकता के अनुसार बहुत ही थोड़े वस्त्र होते थे। और आगम में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को स्वल्प एवं साधारण (असार) वस्त्र रखने चाहिएं।

इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि उस युग में शहर या गांव से बाहर एकान्त में स्वाध्याय करने की प्रणाली थी। क्योंकि एकान्त स्थान में ही चित्त की एकाग्रता बनी रहती है। यह भी बताया गया है कि साधु को शौच के लिए भी गांव या शहर से बाहर जाने का प्रयत्न करना चाहिए। बिना किसी विशेष कारण के उपाश्रय में शौच नहीं जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से एगइओ मुहुत्तगं २ पडिहारियं वत्थं जाइज्जा, जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हिज्जा नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा, नो परं उवसंकमित्ता एवं वइज्जा—आउ० समणा! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परट्ठविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा नो णं साइज्जिज्जा॥ से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० जे भयतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा० ५ विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण

है अर्थात् यही उसका भिक्षुभाव है।

आहारादि के लिए जाने वाले सयमनिष्ठ साधु-साध्वी गृहस्थ के घर मे जाते समय अपने भी वस्त्र साथ मे लेकर उपाश्रय से निकलें और गृहस्थ के घर मे प्रवेश करें। इसी प्रकार वस्ती से बाहर, स्वाध्याय भूमि एव जगल आदि जाते समय तथा ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी वे सभी वस्त्र लेकर विचरें। इसी प्रकार थोडी या अधिक वर्षा बरसती हुई को देखकर साधु वैसा ही आचरण करे जैसा पिंडैषणा अध्ययन मे वर्णन किया गया है। केवल इतनी ही विशेषता है कि वह अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि आगम में वर्जित विधि के अनुसार साधु को निर्दोष एवं एषणीय वस्त्र जिस रूप में प्राप्त हुआ हो वह उसे उसी रूप में धारण करे। विभूषा* की दृष्टि से साधु न तो उस वस्त्र को स्वयं धोए और न रंगे और यदि कोई गृहस्थ उसे धोकर या रंगकर दे तब भी वह उसे स्वीकार न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को विभूषा के लिए वस्त्र को धोना या रगना नही चाहिए। क्योंकि, वह वस्त्र का उपयोग केवल लज्जा ढकने एव शीतादि से बचने के लिए करता है, न कि शारीरिक विभूषा के लिए। परन्तु, यदि वस्त्र पर गन्दगी लगी है या उसे देखकर किसी के मन में घृणा उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति मे वह उसे विवेक पूर्वक साफ करता है तो उसके लिए शास्त्रकार का निषेध नहीं है क्योंकि, अशुचियुक्त वस्त्र के कारण वह स्वाध्याय भी नहीं कर सकेगा। अत: उसका निवारण करना आवश्यक है। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध करने के पीछे मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि साधु स्वाध्याय एवं ध्यान के समय को केवल अपने शरीर की सजावट के लिए वस्त्र धोने में समाप्त न करे। क्योंकि, साधु की साधना शरीर एव वस्त्रों को सुन्दर बनाने के लिए नहीं, प्रत्युत आत्मा को स्वच्छ एवं पूर्ण स्वतंत्र बनाने के लिए है। अत. उसे अपना पूरा समय आत्म साधना मे ही लगाना चाहिए।

इस सूत्र मे साधु को यह आदेश भी दिया गया है कि वह आहार के लिए

* निशीथ सूत्र उ० १५।

गृहस्थ के घर में जाते हुए या स्वाध्याय भूमि में तथा जंगल के लिए जाते समय अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु के पास आवश्यकता के अनुसार बहुत ही थोड़े वस्त्र होते थे। और आगम में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को स्वल्प एव साधारण (असार) वस्त्र रखने चाहिएं।

इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि उस युग में शहर या गांव से बाहर एकान्त में स्वाध्याय करने की प्रणाली थी। क्योंकि एकान्त स्थान में ही चित्त की एकाग्रता बनी रहती है। यह भी बताया गया है कि साधु को शौच के लिए भी गांव या शहर से बाहर जाने का प्रयत्न करना चाहिए। बिना किसी विशेष कारण के उपाश्रय में शौच नहीं जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से एगइओ मुहुत्तगं २ पडिहारियं वत्थं जाइज्जा, जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हिज्जा नो अन्न-मन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा, नो परं उवसंकमित्ता एवं वइज्जा—आउ० समणा! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परिट्ठविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा नो णं साइज्जिज्जा॥ से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० जे भयतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा० ५ विप्प-वसिय २ उवागच्छंति, तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण

है अर्थात् यही उसका भिक्षुभाव है।

आहारादि के लिए जाने वाले सयमनिष्ठ साधु–साध्वी गृहस्थ के घर मे जाते समय अपने भी वस्त्र साथ मे लेकर उसपाश्रय से निकलें और गृहस्थ के घर मे प्रवेश करें। इसी प्रकार वस्ती से वाहर, स्वाध्याय भूमि एव जगल आदि जाते समय तथा ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी वे सभी वस्त्र लेकर विचरें। इसी प्रकार थोड़ी या अधिक वर्षा बरसती हुई को देखकर साधु वैसा ही आचरण करे जैसा पिंडैपणा अध्ययन मे वर्णन किया गया है। केवल इतनी ही विशेपता है कि वह अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि आगम में वर्जित विधि के अनुसार साधु को निर्दोष एवं एषणीय वस्त्र जिस रूप में प्राप्त हुआ हो वह उसे उसी रूप में धारण करे। विभूषा* की दृष्टि से साधु न तो उस वस्त्र को स्वयं धोए और न रगे और यदि कोई गृहस्थ उसे धोकर या रगकर दे तब भी वह उसे स्वीकार न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को विभूषा के लिए वस्त्र को धोना या रगना नहीं चाहिए। क्योंकि, वह वस्त्र का उपयोग केवल लज्जा ढकने एव शीतादि से बचने के लिए करता है, न कि शारीरिक विभूषा के लिए। परन्तु, यदि वस्त्र पर गन्दगी लगी है या उसे देखकर किसी के मन मे घृणा उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति मे वह उसे विवेक पूर्वक साफ करता है तो उसके लिए शास्त्रकार का निषेध नहीं है क्योंकि, अशुचियुक्त वस्त्र के कारण वह स्वाध्याय भी नहीं कर सकेगा। अतः उसका निवारण करना आवश्यक है। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध करने के पीछे मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि साधु स्वाध्याय एवं ध्यान के समय को केवल अपने शरीर की सजावट के लिए वस्त्र धोने में समाप्त न करे। क्योंकि, साधु की साधना शरीर एव वस्त्रों को सुन्दर बनाने के लिए नहीं, प्रत्युत आत्मा को स्वच्छ एवं पूर्ण स्वतंत्र बनाने के लिए है। अतः उसे अपना पूरा समय आत्म साधना मे ही लगाना चाहिए।

इस सूत्र मे साधु को यह आदेश भी दिया गया है कि वह आहार के लिए

* निशीथ सूत्र उ० १५।

गृहस्थ के घर में जाते हुए या स्वाध्याय भूमि में तथा जंगल के लिए जाते समय अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु के पास आवश्यकता के अनुसार बहुत ही थोड़े वस्त्र होते थे। और आगम में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को स्वल्प एव साधारण (असार) वस्त्र रखने चाहिएं।

इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि उस युग में शहर या गांव से बाहर एकान्त में स्वाध्याय करने की प्रणाली थी। क्योंकि एकान्त स्थान में ही चित्त की एकाग्रता बनी रहती है। यह भी बताया गया है कि साधु को शौच के लिए भी गांव या शहर से बाहर जाने का प्रयत्न करना चाहिए। बिना किसी विशेष कारण के उपाश्रय में शौच नहीं जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से एगइओ मुहुत्तगं २ पडिहारियं वत्थं जाइज्जा, जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हिज्जा नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा, नो परं उवसंकमित्ता एवं वइज्जा—आउ० समणा! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परट्ठविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा नो णं साइज्जिज्जा॥ से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा० ५ विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण

है अर्थात् यही उसका भिक्षुभाव है।

आहारादि के लिए जाने वाले सयमनिष्ठ साधु-साध्वी गृहस्थ के घर मे जाते समय अपने भी वस्त्र साथ मे लेकर उसपाश्रय से निकलें और गृहस्थ के घर मे प्रवेश करें। इसी प्रकार वस्ती से बाहर, स्वाध्याय भूमि एव जगल आदि जाते समय तथा ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी वे सभी वस्त्र लेकर विचरें। इसी प्रकार थोड़ी या अधिक वर्षा बरसती हुई को देखकर साधु वैसा ही आचरण करे जेसा पिंडैपणा अध्ययन मे वर्णन किया गया है। केवल इतनी ही विशेपता है कि वह अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि आगम में वर्जित विधि के अनुसार साधु को निर्दोष एवं एपणीय वस्त्र जिस रूप मे प्राप्त हुआ हो वह उसे उसी रूप में धारण करे। विभूषा* की दृष्टि से साधु न तो उस वस्त्र को स्वयं धोए और न रगे और यदि कोई गृहस्थ उसे धोकर या रंगकर दे तब भी वह उसे स्वीकार न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को विभूषा के लिए वस्त्र को धोना या रगना नहीं चाहिए। क्योंकि, वह वस्त्र का उपयोग केवल लज्जा ढकने एव शीतादि से बचने के लिए करता है, न कि शारीरिक विभूषा के लिए। परन्तु, यदि वस्त्र पर गन्दगी लगी है या उसे देखकर किसी के मन में घृणा उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति मे वह उसे विवेक पूर्वक साफ करता है तो उसके लिए शास्त्रकार का निषेध नहीं है क्योंकि, अशुचियुक्त वस्त्र के कारण वह स्वाध्याय भी नहीं कर सकेगा। अत: उसका निवारण करना आवश्यक है। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध करने के पीछे मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि साधु स्वाध्याय एवं ध्यान के समय को केवल अपने शरीर की सजावट के लिए वस्त्र धोने में समाप्त न करे। क्योंकि, साधु की साधना शरीर एव वस्त्रो को सुन्दर बनाने के लिए नहीं, प्रत्युत आत्मा को स्वच्छ एवं पूर्ण स्वतंत्र बनाने के लिए है। अत. उसे अपना पूरा समय आत्म साधना मे ही लगाना चाहिए।

इस सूत्र मे साधु को यह आदेश भी दिया गया है कि वह आहार के लिए

* निशीथ सूत्र उ० १५।

गृहस्थ के घर में जाते हुए या स्वाध्याय भूमि में तथा जंगल के लिए जाते समय अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु के पास आवश्यकता के अनुसार बहुत ही थोड़े वस्त्र होते थे। और आगम मे भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को स्वल्प एव साधारण (असार) वस्त्र रखने चाहिएं।

इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि उस युग में शहर या गांव से बाहर एकान्त में स्वाध्याय करने की प्रणाली थी। क्योंकि एकान्त स्थान में ही चित्त की एकाग्रता बनी रहती है। यह भी बताया गया है कि साधु को शौच के लिए भी गांव या शहर से बाहर जाने का प्रयत्न करना चाहिए। बिना किसी विशेष कारण के उपाश्रय में शौच नहीं जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से एगइओ मुहुत्तगं २ पडिहारियं वत्थं जाइज्जा, जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हिज्जा नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा, नो परं उवसंकमित्ता एवं वइज्जा—आउ० समणा! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परिट्ठविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा नो णं साइज्जिज्जा॥ से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० जे भयतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा० ५ विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण

भाणियव्वं, से हंता अहमवि मुहुत्तगं पाडिहारियं वत्थं जाइत्ता जाव एगाहेण वा ५ विप्पवसिय २ उवागच्छिस्सामि, अवियाइं एयं ममेव सिया, माइट्ठाणं संफासे नो एवं करिज्जा ॥१५०॥

छाया—स एकक: मुहूर्तकं प्रातिहारिकं वस्त्रं याचेत याचित्वा यावत् एकाहेन वा द्व्यहेन वा त्र्यहेन वा चतुरहेन वा पंचाहेन ओषित्वा २ उपागच्छेत् नो तथा वस्त्रं आत्मना गृह्णीयात् नो अन्यस्मै दद्यात् नो प्रामृत्यं कुर्यात् नो वस्त्रेण वस्त्रपरिणामं कुर्यात्, नो परमुपसंक्रम्य एवं वदेत्-आयुष्मन् ! श्रमण ! अभिकांक्षसि वस्त्रं धारयितुं वा परिहर्तुं वा स्थिरं वा सद् परिच्छिन्द्य २ परिष्ठापयेत् तथाप्रकारं वस्त्रं ससन्धितं वस्त्रं तस्मै चैव निसृजेत् नो स्वादयेत्। स एकक: एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य ये भयत्रातार: तथाप्रकाराणि वस्त्राणि समन्धितानि, मुहूर्तकं २ यावत् एकाहेन वा० ५ उषित्वा २ उपागच्छन्ति तथाप्रकाराणि वस्त्राणि नो आत्मना गृण्हति, नो अन्योऽन्यस्मै ददति तच्चैव नो स्वादयन्ति बहुवचनेन भणितव्यं। स हंत अहमपि मुहूर्तकं प्रातिहारिकं वस्त्रं याचित्वा यावत् एकाहेन वा० ५ उषित्वा २ उपागमिष्यामि। अपि च एतत् ममैव स्यात्, मातृस्थानं संस्पृशेत् नो एवं कुर्यात्।

पदार्थ—एगइओ—कोई । से—भिक्षु । मुहुत्तगं २—मुहूर्त मात्र काल का उद्देश कर। पाडिहारियं—प्रतिहारक-जो लेकर फिर पीछे उसी को दिया जाए, उसे प्रातिहारक कहते है। वत्थ—वस्त्र की। जाइज्जा—याचना करे। जाव—यावत् वस्त्र की याचना करके वह अकेला ही ग्रामादि में चला जाए और वहां पर। एगाहेण वा—एक दिन। दु०—दो दिन। ति०—तीन दिन। चउ०—चार दिन अथवा। पचाहेण वा—पाच दिन। विप्पवसिय २—ठहर कर फिर। उवागच्छिज्जा—वहा पर ही आ जाए। तहप्पगार—तथा प्रकार का। वत्थ—वस्त्र, यदि पहनने से फट गया हो, उपहत हो गया हो तो। अप्पणो—उस वस्त्र का स्वामी-जिसने वस्त्र दिया था वह, उपहत हुआ जानकर स्वयं। नो गिण्हिज्जा—ग्रहण न करे। नो अन्नमन्नस्स दिज्जा—न परस्पर में किसी को दे। नो पमिच्च कुज्जा—न किसी को उधार तथा। वत्थेण—वस्त्र से। वत्थपरिणाम नो करिज्जा—वस्त्र का परिणमन अर्थात् अदला-

अदला-बदली करे तथा न अन्य किसी के पास जाकर यह कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम इस वस्त्र को ले लो, एव वस्त्र के दृढ होने पर उसे छिन्न-भिन्न करके परठे भी नही, किन्तु उपहत वस्त्र उसी को दे दे ।

कोई साधु इस प्रकार के समाचार को सुन कर-अर्थात् अमुक साधु अमुक साधु से कुछ समय के लिए वस्त्र मांग कर ले गया था और वह वस्त्र उपहत हो जाने पर उसने नही लिया अपितु उसी को दे दिया ऐसा सुनकर वह यह विचार करे कि यदि मै भी मुहूर्त आदि का उद्देश्य रख कर प्रातिहारिक वस्त्र की याचना कर यावत् पाच दिन पर्यन्त किसी अन्य ग्रामादि मे निवास कर फिर वहा पर आ जाऊंगा ता वह वस्त्र उपहत हो जाने से मेरा ही हो जाएगा, इस प्रकार के विचार के अनुसार यदि साधु प्रातिहारिक वस्त्र का ग्रहण करे तो उसे मातृस्थान का स्पर्श होता है अर्थात् माया के स्थान का दोष लगता है। इसलिए साधु ऐसा न करे बहुत से साधुओ के सम्बन्ध मे भी इसी तरह समझना चाहिए ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी साधु ने अपने अन्य किसी साधु से कुछ समय का निश्चय करके वस्त्र लिया हो और उतने समय तक वह ग्रामादि में विचरण करके वापिस लौट आया हो और उसका वह वस्त्र कहीं से फट गया हो या मैला हो गया हो, जिसके कारण वह स्वीकार न कर रहा हो तो उस मुनि को वह वस्त्र अपने पास रख लेना चाहिए। और जिस मुनि ने वस्त्र दिया था उसे चाहिए कि वह या तो उस उपहत (फटे हुए या मैले हुए) वस्त्र को ग्रहण कर ले। यदि वह उसे नहीं लेना चाहे तो फिर वह उसे अपने दूसरे साधुओं मे न बांटे और मजबूत वस्त्र को फाड़ कर परठे (फैंके) भी नहीं और उसके बदले में उससे वैसे ही नए वस्त्र को प्राप्त करने की अभिलाषा भी नही रखे। और उस लेने वाले मुनि को भी चाहिए कि यदि वह दाता मुनि उसे वापिस न ले तो वह किसी एकलविहारी मुनि को यदि उस वस्त्र की आवश्यकता हो तो उसे दे दे। अन्यथा स्वयं उसका उपभोग करे। यह नियम जैसे एक साधु के लिए है उसी तरह अनेक साधुओं के लिए भी यही विधि समझनी चाहिए।

किसी साधु से ऐसा जानकर कि प्रातिहारिक रूप लिया हुआ वस्त्र थोड़ा सा

फट जाने पर देने वाला मुनि वापिस नहीं लेता है, इस तरह वह वस्त्र लेने वाले मुनि का ही हो जाता है। इस भावना को मन मे रख कर कोई भी साधु प्रातिहारिक वस्त्र ग्रहण न करे। यदि कोई साधु इस भावना से वस्त्र ग्रहण करता है, तो उसे माया का दोष लगता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० नो वरणमंताइं वत्थाइं विवरणाइं करिज्जा, विवरणाइं न वरणमंताइं करिज्जा, अन्नं वा वत्थं लभिस्सामित्तिकट्टु नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु एवं वदेज्जा-आउसो० ! समभिकंखसि मे वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ! थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परिट्ठविज्जा, जहा मेयं वत्थं पावगं परो मन्नइ, परं च णं अदत्तहारी पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स नियाणाय नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा, जाव अप्पुस्सुए, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा, इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज्जा जाव गामा० दूइज्जिज्जा ॥ से भि० दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा पडियागच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा—आउसं० ! आहरेयं वत्थं देहि णिक्खिवाहि जहा रियाए णाणत्तं वत्थ-

पडियाए, एय खलु० जइज्जासि, त्तिबेमि ॥१५१॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा नो वर्णवन्ति वस्त्राणि विवर्णानि कुर्यात् विवर्णानि न वर्णवन्ति कुर्यात् अन्यद् वा वस्त्रं लप्स्ये इति कृत्वा नो अन्योन्यस्मै दद्यात, नो प्रामित्य कुर्यात् नो वस्त्रेण वस्त्रपरिणाम कुर्यात् नो परम् उपसंक्रम्य एव वदेत्-- आयुष्मन् श्रमण ! समभिकाङ्क्षमि मे वस्त्रं धारयितुं वा परिहर्तुं वा स्थिर वा सत् नो परिच्छिन्द्य २ परिष्ठापयेत्, यथा ममेद वस्त्रं पापक परोमन्यते पर च अदत्ताहारि प्रतिपथे प्रेक्ष्य तस्य वस्त्रस्य निदानाय नो तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत् यावत् अल्पोत्सुकः ततः सयतमेव ग्रामानुग्राम दूयेत ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा ग्रामानुग्रामं दूयमानः-गच्छन् अन्तरा-अन्तराले विह - (अरण्य) स्यात् स यत् पुनः विहं जानीयात्, अस्मिन् खलु विहे वहवः आमोषकाः वस्त्रप्रतिज्ञया संपिंडिताः गच्छेयुः नो तेभ्यो भीतः उन्मार्गेण गच्छेत् यावत् ग्रामानुग्राम दूयेत ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा दूयमानः अन्तरा तस्य आमोषकाः प्रतिज्ञया आ॰च्छेयुः । ते आमोषकाः एव वदेयुः— आयुष्मन् श्रमण ! आहर ? इद वस्त्रं ? देहि ? निक्षिप ? यथा ईर्यायां नानात्वं वस्त्रप्रतिज्ञया, एव खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्य यत् सर्वार्थः समित्या सहितः सदायतेत, इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से भि० — वह साधु या साध्वी । वण्णमताइं — वर्ण वाले । वत्थाइं — वस्त्रों को । विवण्णाइं — विवर्ण । नो करिज्जा — न करे । विवण्णाइं — वर्ण रहित-सुन्दरता रहित वस्त्रों को । वण्णमंताइं — वर्ण युक्त । न करिज्जा — न करे । वा — या । अन्न — अन्य । वत्थं — वस्त्र । लभिस्सामि — प्राप्त करूंगा । तिकट्टु — ऐसा विचार करके । अन्नमन्नस्स — परस्पर किसी एक साधु को वस्त्र । नो दिज्जा — न दे । पामिच्चं — वस्त्र को उधार न दे । वत्थेण — वस्त्र से । वत्थपरिणाम — वस्त्र का अदला-बदला । नो कुज्जा — न करे । परं उवसकमित्तु — पर-अन्य साधु के पास जाकर । एवं — इस प्रकार । नो वदिज्जा — न कहे । [illegible] ! क्या तू । मे — मेरा । वत्थ — वस्त्र । धारएसि वा —

धारण करना अथवा। परिहरित्तए वा—पहरना। समभिकखसि—चाहता है। थिर वा सतं—दृढ वस्त्र होने पर। पलिच्छिदिय २—खण्ड-खण्ड करके। नो परिट्ठविज्जा—परठे नही। जहा—जैसे। मेय—मेरे इस वस्त्र को यावत्। परोमन्नइ—अन्य व्यक्ति निकृष्ट मानता है ऐसा विचार करके न परठे। च—पुनः। णं—वाक्यालकार मे है। पर—अन्य-गृहस्थ। अदत्तहारि—बिना दिए लेने वाला अर्थात् चोर। पडिपहे—मार्ग मे सामने आते हुए को। पेहाए—देख कर। तस्स वत्थस्स—उस वस्त्र के। नियाणाय—रखने के लिए। तेसिं—उनसे। भीओ—डर कर। उम्मग्गेण—उन्मार्ग से। नो गच्छिज्जा—गमन न करे। जाव—यावत्। अप्पुस्सुए—राग-द्वेष से रहित होकर। तओ—तदनन्तर। संजयामेव—यतनापूर्वक। गामाणुगाम—एक ग्राम से दूसरे ग्राम के प्रति। दूइज्जिज्जा—गमन करे-विहार करे।

से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम। दूइज्जमाणे—गमन करते हुए। अतरा—मार्ग के मध्य मे। से—उसके। विहं सिया—यदि अटवी आजाए तो। से जं पुण—वह फिर। विहं जाणिज्जा—अटवी को जाने। खलु—निश्चयार्थक है। इमंसि विहंसि—इस अटवी में। बहवे—बहुत से। आमोसगा—चोर। वत्थपडियाए—वस्त्र छीनने के लिए। सपिंडिया—एकत्र होकर। आगच्छेज्जा—आए हैं तो। तेसिं भीओ—उनसे डर कर। उम्मग्गेणं—उन्मार्ग से। णो गच्छेज्जा—गमन न करे। जाव—यावत्। गामा०—ग्रामानुग्राम। दूइज्जेज्जा—विहार करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम। दूइज्जेमाणे—विहार करता हुआ। से—उसके। अतरा—मार्ग में। आमोसगा—चोर एकत्र होकर। पडियागच्छेज्जा—वस्त्र छीनने के लिए आजाएं। ण—वाक्यालकार मे है। ते—वे। आमोसगा—चोर। एव—इस प्रकार। वदेज्जा—कहे। आउसो०—आयुष्मन् श्रमण! एय वत्थ—यह वस्त्र। आहर—ला। देहि—हमारे हाथ मे दे दे या। णिक्खिवाहि—हमारे आगे रख दे तब। जहा इरियाए—जैसे ईर्याध्ययन में वर्णन किया है उसी प्रकार करे। णाणत्तं—उससे इतना विशेष है। वत्थ पडियाए—वस्त्र के लिए अर्थात् यहा पर वस्त्र का अधिकार समझना। एयं खलु—निश्चय ही यह। तस्स—साधु और साध्वी का। सामग्गिय—सम्पूर्ण आचार है। ज—जो। सव्वट्ठेहिं—सर्व अर्थों से तथा। समिए—पाचो समितियो से। सहिए—युक्त। सया—सदा संयम पालन का। जइज्जासि—यत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—संयमशील साधु और साध्वी सुन्दरवर्णवाले वस्त्रों को विवर्ण—विगत वर्ण न करे तथा विवर्ण को वर्ण युक्त न करे। तथा मुझे अन्य सुन्दर वस्त्र मिल जाएगा ऐसा विचार कर के अपना पुराना वस्त्र

किसी और को न दे। और न किसी से उधारा वस्त्र लवे एव अपने वस्त्र की परस्पर अदला-बदली भी न करे। तथा अन्य श्रमण के पास आकर इस प्रकार भी न कहे कि आयुष्मन्! श्रमण! तुम मेरे वस्त्र को ले लो, मेरे इस वस्त्र को जनता अच्छा नहीं समझती है इसके अतिरिक्त उस दृढ वस्त्र को फाड करके फैंके भी नहीं तथा मार्ग मे आते हुए चोरो को देख कर उस वस्त्र की रक्षा के लिए चोरो से डरता हुआ उन्मार्ग से गमन न करे, किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर साधु ग्रामानुग्राम विहार करे-विचरे। यदि कभी विहार करते हुए मार्ग मे अटवी आ जाए तो उसको उल्लघन करते समय यदि बहुत से चोर एकत्र होकर सामने आ जाए तब भी उनसे डरता हुआ उन्मार्ग मे न जाए। यदि वे चोर कहें कि आयुष्मन् श्रमण! यह वस्त्र उतार कर हमें दे दो, यहा रख दो? तब साधु वस्त्र को भूमि पर रख दे, किन्तु उनके हाथ मे न दे और उनसे करुणा पूर्वक उसकी याचना भी न करे। यदि याचना करनी हो तो धर्मपूर्वक करे। यदि वे वस्त्र न दें तो नगरादि मे जाकर उनके संबन्ध में किसी से कुछ न कहे। यही वस्त्रैषणा विषयक साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है, अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा पाच समितियों से युक्त मुनि विवेकपूर्वक आत्म-साधना में सलग्न रहे। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु उज्ज्वल या मैला जैसा भी वस्त्र मिला है वह उसे उसी रूप में धारण करे। किन्तु, वह न तो चोर आदि के भय से उज्ज्वल वस्त्र को मैला करे और न विभूषा के लिए मैले वस्त्र को साफ करे। और नए वस्त्र को प्राप्त करने की अभिलाषा से साधु अपने पहले के वस्त्र को किसी अन्य साधु को न दे और न किसी से अदला-बदली करे तथा उस चलते हुए वस्त्र को फाड़ कर भी न फैंके।

सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि साधु को सदा निर्भय होकर विचरना चाहिए। यदि कभी अटवी पार करते समय चोर मिल जाएं तो उनसे अपने वस्त्र को

बचाने की दृष्टि से साधु रास्ता छोड़ कर उन्मार्ग की ओर न जाए। यदि वे चोर साधु से वस्त्र मांगें तो साधु उस वस्त्र को जमीन पर रख दे, परन्तु उनके हाथ में न दे और उसे वापिस लेने के लिए उनके सामने गिडगिड़ाहट भी न करे और न उनकी खुशामद ही करे। यदि अवसर देखे तो उन्हें धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल संयम साधना के लिए है, न कि ममत्व के रूप में है। अतः साधु को किसी भी स्थिति में उस पर ममत्वभाव नहीं रखना चाहिए। इससे साधु जीवन के निर्ममत्व एवं निर्भयत्व का स्पष्ट परिचय मिलता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

किसी और को न दे। और न किसी से उधारा वस्त्र लवे एव अपने वस्त्र की परस्पर अदला-बदली भी न करे। तथा अन्य श्रमण के पास आकर इस प्रकार भी न कहे कि आयुष्मन्! श्रमण! तुम मेरे वस्त्र को ले लो, मेरे इस वस्त्र को जनता अच्छा नहीं समझती है इसके अतिरिक्त उस दृढ वस्त्र को फाड करके फैंके भी नहीं तथा मार्ग मे आते हुए चोरों को देख कर उस वस्त्र की रक्षा के लिए चोरो से डरता हुआ उन्मार्ग से गमन न करे, किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर साधु ग्रामानुग्राम विहार करे-विचरे। यदि कभी विहार करते हुए मार्ग में अटवी आ जाए तो उसको उल्लघन करते समय यदि बहुत से चोर एकत्र होकर सामने आ जाए तब भी उनसे डरता हुआ उन्मार्ग मे न जाए। यदि वे चोर कहें कि आयुष्मन् श्रमण! यह वस्त्र उतार कर हमे दे दो, यहा रख दो? तब साधु वस्त्र को भूमि पर रख दे, किन्तु उनके हाथ मे न दे और उनसे करुणा पूर्वक उसकी याचना भी न करे। यदि याचना करनी हो तो धर्मपूर्वक करे। यदि वे वस्त्र न दें तो नगरादि में जाकर उनके संबन्ध में किसी से कुछ न कहे। यही वस्त्रैषणा विषयक साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है, अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा पाच समितियो से युक्त मुनि विवेकपूर्वक आत्म-साधना में सलग्न रहे। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु उज्ज्वल या मैला जैसा भी वस्त्र मिला है वह उसे उसी रूप में धारण करे। किन्तु, वह न तो चोर आदि के भय से उज्ज्वल वस्त्र को मैला करे और न विभूषा के लिए मैले वस्त्र को साफ करे। और नए वस्त्र को प्राप्त करने की अभिलाषा से साधु अपने पहले के वस्त्र को किसी अन्य साधु को न दे और न किसी से अदला-बदली करे तथा उस चलते हुए वस्त्र को फाड़ कर भी न फैंके।

सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि साधु को सदा निर्भय होकर विचरना चाहिए। यदि कभी अटवी पार करते समय चोर मिल जाएं तो उनसे अपने वस्त्र को

बचाने की दृष्टि से साधु रास्ता छोड़ कर उन्मार्ग की ओर न जाए। यदि वे चोर साधु से वस्त्र मांगे तो साधु उस वस्त्र को जमीन पर रख दे, परन्तु उनके हाथ में न दे और उसे वापिस लेने के लिए उनके सामने गिड़गिड़ाहट भी न करे और न उनकी खुशामद ही करे। यदि अवसर देखे तो उन्हें धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल संयम साधना के लिए है, न कि ममत्व के रूप में हैं। अतः साधु को किसी भी स्थिति में उस पर ममत्वभाव नहीं रखना चाहिए। इससे साधु जीवन के निर्ममत्व एवं निर्भयत्व का स्पष्ट परिचय मिलता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

# षष्ठ अध्ययन—पात्रैषणा

## प्रथम उद्देशक

यह हम देख चुके हैं कि पहले अध्ययन में आहार ग्रहण करने की विधि का, दूसरे अध्ययन मे आहार करने एवं ठहरने के स्थान का, तीसरे अध्ययन मे गमनागमन मे विवेक रखने के लिए ईर्या समिति का, चौथे में आहार आदि के लिए गमन करते एव विहार करते समय भाषा मे विवेक रखने के लिए भाषा समिति का और पांचवें अध्ययन में इस सयम साधना में प्रवर्तमान साधक को कैसा वस्त्र ग्रहण करना चाहिए इसका उल्लेख किया गया है। अब प्रस्तुत अध्ययन मे आहार ग्रहण करने के लिए कैसा पात्र होना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा अभिकंखिज्जा पायं एसित्तए, से जं पुण पायं जाणिज्जा, तंजहा—अलाउयपायं वा, दारुपायं वा मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिर-संघयणे से एगं पायं धारिज्जा, नो बिइयं ॥ से भि० परं अद्ध-जोयणमेराए पायपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० से ज० अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ जहा पिंडेसणाए चत्तारि आलावगा, पंचमे बहवे समण० पगणिय २ तहेव ॥ से भिक्खू वा० अस्संजए भिक्खु-पडियाए बहवे समणमाहणे० वत्थेसणाऽऽलावओ ॥ से भिक्खू वा० से जाइं पुण पायाइं जाणिज्जा विरूवरूवाइं महद्धण-

मुल्लाइं, तंजहा—अयपायाणि वा तउपाया० तंब पाया० सीसग पाया० हिरण्णपा० सुवण्णपा० रीरिअ पाया० हारपुड़ पा० मणिकायकंसपाया० संखसिंगपा० दंतपा० चेलपा० सेलपा० चम्मपा० अन्नयराइं वा तह० विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं पायाइं अफासुयाइं नो पडिगाहिज्जा ॥ से भि० से जाइं पुण पाया० विरूव० महद्धणबंधणाइं तं० अयबंधणाणि वा जाव चम्मबंधणाणि वा, अन्नयराइं तहप्प० महद्धणबंधणाइं अफा० नो प० ॥ इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढ़मा पडिमा—से भिक्खू० उद्दिसिय २ पायं जाइज्जा, तंजहा—अलाउयपायं वा ३ तह० पायं सयं वा णं जाइज्जा जाव पडि० पढमा पडिमा १ ॥ अहावरा० से० पेहाए पायं जाइज्जा, तं०—गाहावइं वा कम्मकरीं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा, आउ० भ० ! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पायं तं०—अलाउयपायं वा ३ तह० पायं सयं वा जाव पडि०, दुच्चा पडिमा २ ॥ अहा० से भि० से जं पुण पायं जाणिज्जा संगइयं वा वेजइयंतियं वा तहप्प० पायं सयं वा जाव पडि० तच्चा पडिमा ३ ॥ अहावरा चउत्था पडिमा—से भि० उज्झियधम्मियं जाएज्जा जावऽन्ने बहवे समणा

जाव नावकंखति तह० जाएज्जा जाव पडि०, चउत्था पडिमा ४ ॥ इच्चेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं जहा—पिंडे-सणाए ॥ से णं एयाए एसणाए एसमाणं पासित्ता परो-वइज्जा, आउ० स० ! एज्जासि तुमं मासेण वा जहा वत्थेसणाए, से णं परो नेता व० —आ० भ० ! आहरेय पायं तिल्लेण वा घ० नव० वसाए व अब्भंगित्ता वा तहेव सिणाणादि तहेव सी-ओदगाइं कंदाइं तहेव ॥

से णं परो ने० —आउ० स० ! मुहुत्तगं २ जाव अच्छाहि ताव अम्हे असणं वा उवकरेंसु वा उवक्खडेंसु वा, तो ते वयं आउसो० ? सपाणं सभोयणं पडिग्गहं दाहामो, तुच्छए पडिग्गहे दिन्ने समणस्स नो सुट्ठु साहु भवइ, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउ० भइ० ! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा०, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, अभिकंखसि मे दाउं ए-मेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ उवकरित्ता उवक्खडित्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दलइज्जा तह० पडि-ग्गहगं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया से परो उव-णित्ता पडिग्गहगं निसिरिज्जा, से पुव्वामेव आउ० ! भ० ! तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडिलेहिस्सामि,

केवली० आयाण० अतो पडिग्गहगंसि पाणाणि वा वीया० हरि०, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडि० स--अंडाइं सव्वे आलावगा भाणियव्वा जहा वत्थेसणाए, नाणत्तं तिल्लेण वा घय० नव० वसाए वा सिणाणादि जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगा० थंडिलंसि पडिलेहिय २ पम० २ तओ० संज० आमज्जिज्जा, एवं खलु० सया जएज्जासि त्तिबेमि ॥१५२॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत पात्रमेषितुं (अन्वेष्टु) तत् यत् पुनः पात्रं जानीयात्, तद्यथा-अलाबुपात्र वा दारुपात्रं वा मृत्तिकापात्रं वा, तथाप्रकारं पात्रं या निर्ग्रन्थः तरुणः यावत् स्थिरसंहननः स एकं पात्रं धारयेत् न द्वितीयम् । स भिक्षुर्वा भिक्षुको वा परं अर्द्धयोजन मर्यादायाः पात्रप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, तत् यत् अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिक समुद्दिश्य प्राणानि ४ यथा पिण्डैषणाया चत्वारः आलापकाः, पचमे बहवः श्रमण० प्रगण्य २ तथैव। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा असयनः भिक्षुप्रतिज्ञया बहवः श्रमण ब्राह्मण० वस्त्रैषणाऽऽलापकः । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तत् यानि पुनः पात्राणि जानीयात्, विरूपरूपाणि महद्धनमूल्यानि, तद्यथा-अयःपात्राणि वा त्रपुः पात्राणि वा ताम्रपात्राणि वा सीसक पात्राणि वा हिरण्यपात्राणि वा० सुवर्णपात्राणि वा रीतिपात्राणि वा हारपुटपात्राणि वा मणिकाचकसपात्राणि वा शंखशृंगपात्राणि वा दन्त पात्राणि वा चोल पा० शिला पा० चर्मपात्राणि वा अन्यतराणि वा तथाप्रकाराणि विरूपरूपाणि महद्धनमूल्यानि पात्राणि अप्रासुकानि न प्रतिगृह्णोयात् । स भिक्षुर्वा

जाव नावकंखति तह॰ जाएज्जा जाव पडि॰, चउत्था पडिमा ४ ॥ इच्चेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं जहा—पिंडे-सणाए॥ से णं एयाए एसणाए एसमाणं पासित्ता परो-वइज्जा, आउ॰ स॰! एज्जासि तुमं मासेण वा जहा वत्थेसणाए, से णं परो नेता व॰—आ॰ भ॰! आहरेयं पायं तिल्लेण वा घ॰ नव॰ वसाए व अब्भंगित्ता वा तहेव सिणाणादि तहेव सी-ओदगाइं कंदाइं तहेव ॥

से णं परो ने॰—आउ॰ स॰! मुहुत्तगं २ जाव अच्छाहि ताव अम्हे असणं वा उवकरेंसु वा उवक्खडेंसु वा, तो ते वयं आउसो॰? सपाणं सभोयणं पडिग्गहं दाहामो, तुच्छए पडिग्गहे दिन्ने समणस्स नो सुट्ठु साहु भवइ, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउ॰ भइ॰! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा॰, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, अभिकंखसि मे दाउं ए-मेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ उवकरित्ता उवक्खडित्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दलइज्जा तह॰ पडि-ग्गहगं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया से परो उव-णित्ता पडिग्गहगं निसिरिज्जा, से पुव्वामेव आउ॰! भ॰! तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडिलेहिस्सामि,

केवली० आयाण० अतो पडिग्गहगंसि पाणाणि वा वीया० हरि०, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडि० स--अंडाइं सव्वे आलावगा भाणियव्वा जहा वत्थेसणाए, नाणत्तं तिल्लेण वा घय० नव० वसाए वा सिणाणादि जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगा० थंडिलंसि पडिलेहिय २ पम० २ तओ० संज० आमज्जिज्जा, एवं खलु० सया जएज्जासि त्तिबेमि ॥१५२॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत पात्रमेषितुं (अन्वेष्टुं) तत् यत् पुनः पात्रं जानीयात्, तद्यथा-अलाबुपात्र वा दारुपात्र वा मृत्तिकापात्रं वा, तथाप्रकारं पात्रं या निर्ग्रन्थ. तरुणः यावत् स्थिरसंहननः स एकं पात्रं धारयेत् न द्वितीयम् । स भिक्षुर्वा भिक्षुको वा परं अर्द्धयोजन मर्यादायाः पात्रप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा, तत् यत् अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिक समुद्दिश्य प्राणानि ४ यथा पिण्डैषणायां चत्वार: आलापकाः, पचमे वहव. श्रमण० प्रगण्य २ तथैव। स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा असयन: भिक्षुप्रतिज्ञया वहव: श्रमण ब्राह्मण० वस्त्रैषणाऽऽलापक: । स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा तत् यानि पुनः पात्राणि जानीयात्, विरूपरूपाणि महद्धनमूल्यानि, तद्यथा-अयःपात्राणि वा त्रपुः पात्राणि वा ताम्रपात्राणि वा सीसक पात्राणि वा हिरण्यपात्राणि वा० सुवर्णपात्राणि वा रीतिपात्राणि वा हारपुटपात्राणि वा मणिकाचकसपात्राणि वा शखशृगपात्राणि वा दन्त पात्राणि वा चेल पा० शिला पा० चर्मपात्राणि वा अन्यतराणि वा तथाप्रकाराणि विरूपरूपाणि महद्धनमूल्यानि पात्राणि अप्रासुकानि न प्रतिगृह्णीयात् । स भिक्षुर्वा

जाव नावकंखति तह० जाएज्जा जाव पडि०, चउत्था पडिमा ४ ॥ इच्चेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं जहा—पिंडे-सणाए ॥ से णं एयाए एसणाए एसमाणं पासित्ता परो-वइज्जा, आउ० स० ! एज्जासि तुमं मासेण वा जहा वत्थेसणाए, से णं परो नेता व० —आ० भ० ! आहरेयं पायं तिल्लेण वा घ० नव० वसाए व अब्भंगित्ता वा तहेव सिणाणादि तहेव सी-ओदगाइं कंदाइं तहेव ॥

से णं परो ने० —आउ० स० ! मुहुत्तगं २ जाव अच्छाहि ताव अम्हे असणं वा उवकरेंसु वा उवक्खडेंसु वा, तो ते वयं आउसो० ? सपाणं सभोयणं पडिग्गहं दाहामो, तुच्छए पडिग्गहे दिन्ने समणस्स नो सुट्ठु साहु भवइ, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउ० भइ० ! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा०, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, अभिकंखसि मे दाउं ए-मेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ उवकरित्ता उवक्खडित्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दलइज्जा तह० पडि-ग्गहगं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया से परो उव-णित्ता पडिग्गहगं निसिरिज्जा, से पुव्वामेव आउ० ! भ० ! तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडिलेहिस्सामि,

भिक्षुकी वा तद् यानि पुनः पात्राणि विरूपरूपाणि महद्धनबन्धनानि, तद्यथा—अयोबन्धनानि वा यावत् चर्मबन्धनानि वा अन्यतराणि तथा-प्रकाराणि महद्धनबन्धनानि अप्रासुकानि न प्रतिगृह्णीयात्, इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य, अथ भिक्षुः जानीयात्, चतसृभिः प्रतिमाभिः पात्रमेषितु (अन्वेष्टु) तत्र खलु इयं प्रथमा प्रतिमा १। स भिक्षुः० उद्दिश्य २ पात्रं याचेत, तद्यथा—अलाबुकपात्रं वा ३ तथाप्रकार पात्रं स्वय वा याचेत, यावत् प्रतिगृह्णीयात्, प्रथमा प्रतिमा ॥१॥

अथापरा० स० प्रेक्ष्य पात्रं याचेत तद्यथा—गृहपतिं वा कर्मकरी वा, स पूर्वमेव आलोचयेत्, आयुष्मति! भगिनि! दास्यसि मे इतः अन्यतरत पात्र तद्यथा—अलाबुकपात्रं वा ३ तथाप्रकारं पात्र स्वयं वा यावत् प्रतिगृह्णीयात्, द्वितीया प्रतिमा ॥२॥ अथापरा- स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुनः पात्र जानीयात्, स्वागिक वा वैजयन्तिक वा तथाप्रकार पात्र स्वय वा यावत् प्रतिगृह्णीयात्, तृतीया प्रतिमा ॥३॥ अथापरा चतुर्थी प्रतिमा-स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा उज्झितधर्मिक याचेत यावत् अन्ये बहवः श्रमणाः यावत् नावकाक्षन्ति तथाप्रकार याचेत यावत् प्रति-गृह्णीयात्, चतुर्थी प्रतिमा ॥४॥ इत्येतासां चतसृणां प्रतिमानां अन्यतरा प्रतिमां यथा पिंडैषणायाम्। स एतया एषणया एषमाणं दृष्ट्वा परो वदेत्—आयुष्मन् श्रमण! एष्यसि त्वं मासेन वा यथा वस्त्रैषणायाम्, स परो नेता वदेत्—आयुष्मति, भगिनि! आहर एतत् पात्रं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा अभ्यज्य, तथैव स्नानादि, तथैव शीतोदकानि कन्दानि तथैव। स परो नेता०-(एवं वदेत्-) आयुष्मन् श्रमण! मुहूर्तक यावत् आस्स्व-तिष्ठ? तावत् वयमशन वा ४ उपकुर्मः उपस्कुर्मः। ततस्ते वय आयुष्मन् श्रमण! सपानं सभोजनं पतद्ग्रह (पात्र) दास्यामः। तुच्छके प्रतिग्रहे दत्ते श्रमणस्य नो सुष्ठु, साधु भवति। स पूर्वमेव आलोचयेत्, आयुष्मति! भगिनि०। नो खलु मे कल्पते आधाकर्मिक अशनं

वा ४ भोक्तुं वा मा उपकुरु मा उपस्कुरु अभिकांक्षसि मे दातु एवमेव ददस्व तस्य एवं वदतः परः अशन वा उपकृत्य उपस्कृत्य सपान सभोजन पतद्ग्रहं दद्यात् तथाप्रकारं पतद्ग्रह-पात्रमप्रासुक यावत् न प्रतिगृह्णीयात्। स्यात् स परः उपनीय प्रतिग्रहक निसृजेत्, स पूर्वमेव आ-लोचयेत् आयुष्मति ! भगिनि ! त्वं चैव स्वागिकं पतन्ग्रहकं अन्तोन्तेन प्रतिलेखिष्यामि। केवली ब्रूयात् आदानमेतत् अन्तः पतद्ग्रहके प्राणानि वा बीजानि वा हरितानि वा अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टं यत् पूर्वमेव पतद्-ग्रहकं अन्तोन्तेन प्रति० साण्डानि. सर्वे आलापकाः भणितव्याः यथा-वस्त्रैषणायाम्, नानात्वं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा स्नानादि यावत् अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले प्रतिलिख्य २, प्रमृज्य २ ततः संयतमेव, आमृज्यात्। एवं खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यं सदा यतेत। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—यदि वह। भिक्खू वा—साधु या साध्वी। पाय—पात्र की। एसित्तए—गवेषणा करनी। अभिकंखिज्जा—चाहता है तो। से—वह साधु। जं—जो। पुण—फिर। पाय—पात्र के सम्बन्ध मे यह। जाणिज्जा—जाने। तजहा—जैसेकि। अलाउयपायं वा—तूंबे का पात्र है अथवा। दारुपायं—काष्ठ का पात्र है अथवा। मट्टियापायं वा—मिट्टी का पात्र है और। तहप्पगारं पाय—तथाप्रकार के पात्र है। जे—जो। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ। तरुणे—युवक है। जाव—यावत्। थिरसंघयणे—स्थिर सहनन वाला है अर्थात् जिनका शरीर दृढ है। से—वह साधु। एगं पाय—एक ही पात्र। धारिज्जा—धारण करे। नो बिइय—दूसरा पात्र न रखे। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी। अद्धजोयणमेराए—अर्द्ध योजन की मर्यादा से। पर—उपरान्त। पायपडियाए—पात्र ग्रहण की प्रतिज्ञा से। गमणाए—जाने के लिए। नो अभिसधारिज्जा—मन मे विचार न करे।

से भिक्खू वा०—वह साधु या साध्वी। से—वह। ज—जो फिर। पायं—पात्र को। जाणिज्जा—जाने। अस्सिंपडियाए—साधु की प्रतिज्ञा से गृहस्थ ने। एगंसाहम्मियं—एक सावर्मी साधु का। समुद्दिस्स—उद्देश्य रख कर अर्थात् साधु के निमित्त से। पाणाइं ४—प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का विनाश करके पात्र तैयार किया है, शेष वर्णन। जहा—जैसे पिंडेसणाए—पिंडैषणा अध्ययन मे किया गया है उसी तरह। चत्तारि—चार। आलावगा—

आलापक जानने चाहिये। पंचमे—पाचवे आलापक मे । बहवे—बहुत से । समग०—शाक्यादि श्रमण तथा ब्राह्मण आदि के लिए। पगणिय २—गिन २ कर अर्थात् उनका उद्देश्य रखकर पात्र बनाए । तहेव—शेप वर्णन जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में आहार के विपय में किया गया है उसी प्रकार यहा पर अर्थात् पात्र के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिए।

से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी । असंजए—असयत, गृहस्थ । भिक्खुपडियाए—साधु की प्रतिज्ञा से । बहवे—बहुत से । समणमाहणे०—शाक्यादि श्रमण तथा ब्राह्मणादि के विपय में। वत्थेसणाऽऽलावओ—जैसे 'वस्त्रैपणा आलापक में कहा गया है उसी प्रकार पात्रैपणा आलापक भी जानना चाहिए। से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी । से—वह-साधु । जाइं—जो । पुण—फिर । विरूवरूवाइ—नाना प्रकार के । पायाइ—पात्रो के सम्बन्ध मे । जाणिज्जा — जाने । महद्धणमुल्लाइ—जो बहुमूल्य हैं, कीमती हैं। तजहा—जैसेकि । अयपायाणि वा—लोहे के पात्र। तउपाया०—कली के पात्र। तंबपाया०—ताम्बे के पात्र। सीसगपा०—सीसे के पात्र। हिरण्णपा०—चान्दी के पात्र। सुवण्ण पा०—सुवर्ण-सोने के पात्र। रीरिअयाया०—पीतल के पात्र । हारपुडपा—लोहविशेष के पात्र । मणिकायकसपाया०—मणि, काच और कासी के पात्र । संखसिंग पा०—संख-शख और शृंग के पात्र । दंतपा०—दान्त के पात्र । चेल पा०—वस्त्र के पात्र । सेल पा०—पत्थर के पात्र तथा । चम्मपा०—चर्म के पात्र और। अन्नयराइं—अन्य। तहप्प०—इसी तरह के । विरूवरूवाइ—विविध। महद्धणमुल्लाइ—मूल्य वाले। पायाइं—पात्रो को। अफासुयं—अप्रासुक जान कर । जाव—यावत्। नोपडि०—ग्रहण न करे।

से भिक्खू वा—वह साधु अथवा साध्वी । से - वह। जाइ—जो । पुण—फिर। पाय—पात्र को। जाणिज्जा—जाने। विरूवं०—नाना प्रकार के–विविध-भान्ति के । महद्धण-बधणाइ—जिनके मूल्यवान बन्धन हैं । तं०—जैसे कि। अयबंधणाणि वा—लोहे के बन्धन। जाव—यावत्। चम्मबंधणाणि वा—चर्म के बन्धन वाले, तथा। अन्नयराइं—अन्य भी। तहप्प०—तथाप्रकार के। महद्धणबधणाइ—कीमती बन्धनो को जानकर और उन बन्धनो के कारण इन पात्रो को। अफा०—अप्रासुक मान कर। नो पडि०—ग्रहण न करे । इच्चेयाइ—ये सब पूर्वोक्त। आयतणाइं—पात्र सम्बन्धी दोषो के स्थान है। इनको । उवाइक्कम्म—अति-क्रम करके अर्थात् छोडकर पात्र ग्रहण करना चाहिए।

अह—अथ। भिक्खू—साधु। जाणिज्जा—यह जाने कि । चउहिं पड़िमाहिं—उमे चार प्रतिमाओ–अभिग्रह विशेषो से। पाय—पात्र की। एसित्तए—गवेषणा करनी है। खलु—वाक्यालंकार मे है। तत्थ—उन चार प्रतिमाओ मे से। इमा—यह। पढमा—पहली। पडिमा—

प्रतिमा है। से—वह। भिक्खू०—साधु या साध्वी। उद्दिसिय २—नाम लेकर। पायं—पात्र की। जाइज्जा—याचना करे। तंजहा—जैसेकि। अलाउयपायं वा ३—अलाबुक पात्र-तूम्बे का पात्र, काष्ठ का पात्र और मिट्टी का पात्र। तह०—तथाप्रकार के। पायं—पात्र की। सयं वा—स्वयं अपने आप। जाइज्जा—याचना करे। जाव—यावत्। पडि०—ग्रहण करे। पढ़मा-पडिमा—यह पहली प्रतिमा है। णं—वाक्यालंकार में है। अहावरा—अथ अपर दूसरी प्रतिमा कहते हैं। से० – वह साधु या साध्वी। पेहाए—देखकर। पायं—पात्र की। जाइज्जा—याचना करे। तं—जैसे कि। गाहावइ वा—गृहपति यावत्। कम्मकरीं वा—काम करने वाले दास दासी आदि। से—वह भिक्षु। पुव्वामेव—पहले ही गृहस्थ के घर में। आलोइज्जा—देखे और देख कर इस प्रकार कहे। आउ०—आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा। भ०—भगिनि! बहिन। मे—मुझे। इत्तो—इन पात्रों में से। अन्नयरं—अन्यतर कोई एक। पाय—पात्र को। दाहिसि—दोगे या दोगी? तंजहा—जैसे कि। अलाउपायं वा ३—तुम्बी का पात्र, लकड़ी और मिट्टी का पात्र। तह०—तथाप्रकार के अन्य। पाय—पात्र की। सयं वा—स्वयमेव याचना करे अथवा बिना मांगे कोई देवे। जाव—यावत्। पडि०—ग्रहण करे। दुच्चापडिमा—यह दूसरी प्रतिमा है। अहावरा—अथ अपर अर्थात् तीसरी प्रतिमा कहते है। से—वह। भि०—साधु अथवा साध्वी। से जं—वह जो। पुण—फिर। पाय—पात्र को। जाणिज्जा—जाने। संगइय वा—गृहस्थ का भोगा हुआ पात्र। वेजइयंतिय वा—गृहस्थ के भोगे हुए दो या तीन पात्र जिनमें खाद्य पदार्थ पड़े हुए हों या पड़ चुके हों। तहप्पगारं—तथाप्रकार के। पायं—पात्र को। सयं वा—स्वयं याचना करे, अथवा गृहस्थ बिना मांगे देवे तो। जाव—यावत्। पडि०—ग्रहण करे। तच्चा पडिमा—यह तीसरी प्रतिमा है। अहावरा चउत्था पडिमा—अथ चौथी प्रतिमा कहते है। से भि०—वह साधु या साध्वी। उज्झियधम्मियं—उज्झितधर्म वाले पात्र की। जाएज्जा—याचना करे। जाव—यावत्। अन्ने—अन्य। बहवे—बहुत। समणा—शाक्यादि श्रमण। जाव—यावत्। नावकंखंति—नहीं चाहते। तह०—तथाप्रकार के पात्र की। जाएज्जा—स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ ही बिना मांगे देवे तो। जाव—यावत् प्रासुक जान कर। पडि०—ग्रहण करे। चउत्थापडिमा—यह चौथी प्रतिमा-अभिग्रह विशेष है। इच्चेइयाणं—इन पूर्वोक्त। चउण्हंपडिमाणं—चार प्रतिमाओं में से। अन्नयरं—किसी एक। पडिम—प्रतिमा को, शेष वर्णन। जहा—जैसे। पिंडेसणाए—पिण्डैपणा अध्ययन में सात प्रतिमाओं के विषय में किया गया है उसी प्रकार जानना। ण—वाक्यालंकार में है। से—साधु को। एयाए एसणाए—इस एषणा-पात्रैषणा के द्वारा। एसमाणं—गवेषणा-पात्र की अन्वेषणा करते हुए को। पासित्ता—देख कर यदि। परो—कोई गृहस्थ। वइज्जा—इस प्रकार कहे। आउ० स०—आयुष्मन् श्रमण! एज्जासि—अब तुम जाओ। तुमं—तुमने। मासेण वा—एक मास के बाद आना शेष वर्णन जहा—जैसे। वत्थेसणाए—वस्त्रैषणा का है उसी भांति जानना। णं—वाक्यालंकार में है।

से—पात्र की गवेषणा करते हुए उस भिक्षु को देखकर। परो—अन्य गृहस्थ। नेता—गृहस्वामी अपने कौटुम्बिक जन को। वइज्जा—इस प्रकार कहे। आउ०—हे आयुष्मन् अथवा। भ०—हे भगिनि-बहिन! आहरेय पायं—ला यह पात्र, इसको। तिल्लेण वा—तैल से अथवा। घ०—घृत से अथवा। नव०—नवनीत मक्खन से अथवा। वसाए वा—वसा-ओषधि के रस विशेष से। अब्भगित्ता—चोपड कर। तहेव—इसी भांती। सिणाणादि—सुगन्धित द्रव्य से स्नानादि तहेव—उसी प्रकार। सीओदगाइ—शीत व उष्ण जलादि के विषय में तथा। तहेव—उसीप्रकार। कदाइ—कन्दादि के सम्बन्ध मे जान लेना। ण—वाक्यलकार में है। से—पात्र की गवेषणा करते हुए भिक्षु को देखकर। परो—गृहस्थ। नेता—गृहस्वामी साधु के प्रति यदि। वइज्जा—कहे। आ उ० स०—आयुष्मन्-श्रमण। मुहुत्तगं २—मूहूर्त पर्यन्त तुम यहा पर। अच्छाहि—ठहरो। जाव—यावत्। ताव—तब तक। अम्हे—हम। असणं वा—अशनादिक चतुर्विध आहार को। उवकरेसु वा—एकत्रित कर अथवा। उवक्खडेंसु वा—उपस्कृत करके अर्थात् अन्नादि को तैयार करके। आउसो०—आयुष्मन्-श्रमण! तो—तदनन्तर। ते—तुमको। वय—हम। सपाण—पानी के साथ। समोयणं—भोजन के साथ। पडिग्गहं—पात्र को। दाहामो—देंगे। कारण कि। तुच्छए—खाली। पडिग्गहे—पात्र मे। दिन्ने—दिया हुआ। समणस्स—साधु को। सुट्ठु—अच्छा और। साहु—श्रेष्ठ। नो भवइ—नही होता है तब। से—वह साधु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोइज्जा—देखे और देख कर इस प्रकार कहे। आउ०—आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा। भइ०—हे भगिनि-बहन! खलु—निश्चय ही। आहाकम्मिए—आधाकर्मिक अर्थात् आधाकर्मादि दोषो से युक्त। असणे वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार को। भुत्तए वा—भोगना अर्थात् खाना पीना। मे—मेरे को। नो कप्पइ—नही कल्पता अत: मा उवकरेहि—मेरे निमित्त इसे एकत्र न करो तथा। मा उवक्खडेहि—मेरे लिए इसका संस्कार मत करो? यदि। मे—मुझे। दाउ अभिकखसि—देना चाहते हो तो। एमेव—इसी तरह। दलयाहि—दे दो? से—वह। परो—गृहस्थ। सेव वयतस्स—साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि। असण वा ४—अशनादि चतुर्विध आहार को। उवकरित्ता—एकत्र कर और। उवक्खडिता—सस्कार करके। सपाण—पानी सहित। समोयण—भोजन सहित अर्थात् पानी और भोजन से। पडिग्गहगं—पात्र को भर कर। दलइज्जा—देवे तो। तह०—तथा प्रकार के। पडिग्गहग—पात्र को। अफासुय—अप्रासुक जान कर। जाव—यावत्। नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे। सिया—कदाचित्। से—उस भिक्षु को। परो—गृहस्थ। उवणित्ता—घर के भीतर से लाकर। पडिग्गहग—पात्र को। निसिरिज्जा—दे देवे तो। से—वह भिक्षु। पुव्वामेव—पहले ही। आलोएज्जा—देखे और देख कर इस प्रकार कहे। आउ०—आयुष्मन् गृहस्थ! अथवा। भ०—हे भगिनि-बहन! च—पुनरर्थक है। एव—अवधारण अर्थ में है। ण—वाक्यालंकार में है। सतिय—विद्यमान। तुम—तुम्हारे। पडिग्गहगं—पात्र को। अतोअंतेणं—

सब प्रकार से अर्थात् भीतर और बाहर से। पडिलेहिस्सामि—प्रतिलेखन करूंगा अर्थात् देखूंगा? क्योंकि। केवली बूया०—केवली भगवान कहते है कि। आयाण०—यह कर्म बन्धन का कारण है; अर्थात् बिना प्रतिलेखन किए पात्र लेना कर्म बन्धन का हेतु होता है कारण कि। अंतोपडिग्गहगसि—पात्र के भीतर कदाचित्। पाणाणि वा—क्षुद्र जीव हो। बीया०—अथवा बीज हो या। हरि०—हरी हो। अहे—इस लिए। भिक्खूण—भिक्षुओं को। पु०—पूर्वोपदिष्ट अर्थात् तीर्थंकरादि की आज्ञा है कि। जं—जो। पुव्वामेव—पहले ही। पडिग्गहग—पात्र को, अन्तोअंतेण—भीतर और बाहर से। पडि०—प्रतिलेखन करे-अच्छी तरह से देखे, यदि। स-अडाइ—वह अडादि से युक्त हो तो उसे ग्रहण न करे। सव्वे आलावगा—यहा पर सभी आलापक। भाणियव्वा—कहने चाहिएं। जहा—जैसे कि। वत्थेसणाए—वस्त्रैषणा के विषय में कथन किया गया है उसी प्रकार पात्रैषणा के सम्बन्ध मे जानना। नाणत्तं—इसमे इतना विशेष है यथा। तिल्लेण वा—तैल से या। घय०—घृत से अथवा। नव०—नवनीत से। वसाए वा—वसा-चर्बी अथवा औषधि विशेष से। सिणाणादि—या सुगन्धित स्नानादि से। जाव—यावत्। अन्नयरसि वा—अन्य किसी पदार्थ से पात्र संस्पर्शित हुआ हो तो। तहप्पगा०—तथाप्रकार के। थडिलंसि—स्थंडिल मे जाकर। पडिलेहिय २—प्रतिलेखना कर अर्थात् भूमि को देख कर। पम० २—उसे प्रमार्जित कर। तओ०—तदनन्तर। सजयामेव—यत्नापूर्वक। आमज्जिज्जा—पात्र को मसले। एय खलु—यह निश्चय ही। तस्स भिक्खुस्स—उस भिक्षु का। सामग्गियं—सम्पूर्ण आचार है। जं—जो। सव्वट्ठेहिं—सर्व अर्थों से। समिएहिं—पाच समितियो से युक्त। सया—सदा। जएज्जासि—यत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—संयम शील साधु या साध्वी जब कभी पात्र की गवेषणा करनी चाहें तो सब से पहले उन्हें यह जानना चाहिए कि तूबे का पात्र, काष्ठ का पात्र, और मिट्टी का पात्र साधु ग्रहण कर सकता है। और उक्त प्रकार के पात्र को ग्रहण करने वाला साधु यदि तरुण है स्वस्थ है स्थिर सहनन वाला है तो वह एक ही पात्र धारण करे, दूसरा नही और वह अर्द्धयोजन के उपरान्त पात्र लेने के लिए जाने का मन मे सकल्प न करे।

यदि किसी गृहस्थ ने एक साधु के लिए प्राणियों की हिंसा करके पात्र बनाया हो तो साधु उसे ग्रहण न करे। इसी तरह अनेक साधु, एक साध्वी एवं अनेक साध्वियों के सम्बन्ध मे उसी तरह जानना चाहिए

जैसे कि पिण्डैषणा अध्ययन में वर्णन किया गया है। और शाक्यादि भिक्षुओं के लिए बनाए गए पात्र के सम्बन्ध मे भी पिण्डैषणा अध्ययन के वर्णन की तरह समझना चाहिए। शेष वर्णन वस्त्रैषणा के आलापकों के समान समझना। अपितु जो पात्र नाना प्रकार के तथा बहुत मूल्य के हों-यथा लोहपात्र, त्रपुपात्र–कली का पात्र, ताम्रपात्र, सीसे, चान्दी और सोने का पात्र, पीतल का पात्र, लोह विशेष का पात्र, मणि, कांच और कांसे का पात्र एवं शंख और शृंग से बना हुआ पात्र, दांत का बना हुआ पात्र, पत्थर और चर्म का पात्र और इसी प्रकार के अधिक मूल्यवान अन्य पात्र को भी अप्रासुक तथा अनैषणीय जान कर साधु ग्रहण न करे। और यदि लकड़ी आदि के कल्पनीय पात्र पर लोह, स्वर्ण आदि के बहुमूल्य बन्धन लगे हो तब भी साधु उस पात्र को ग्रहण न करे। अत. साधु उक्त दोषो से रहित निर्दोष पात्र ही ग्रहण करे।

इसके अतिरिक्त चार प्रतिज्ञाओ के अनुसार पात्र ग्रहण करना चाहिए। १-पात्र देख कर स्वयमेव याचना करूंगा। २–साधु पात्र को देख कर गृहस्थ से कहे–आयुष्मन् गृहस्थ ! क्या तुम इन पात्रो मे से अमुक पात्र मुझे दोगे ! या वैसा पात्र बिना मागे ही गृहस्थ दे दे तो मैं ग्रहण करूंगा। ३-जो पात्र गृहस्थ ने उपभोग मे लिया हुआ है, वह ऐसे दो-तीन पात्र जिन-मे गृहस्थ ने खाद्यादि पदार्थ रखे हो वह पात्र ग्रहण करूंगा। ४-जिस पात्र को कोई भी नही चाहता, ऐसे पात्र को ग्रहण करूंगा।

इन प्रतिज्ञाओं मे से किसी एक का धारक मुनि किसी अन्य मुनि की निन्दा न करे। किन्तु यह विचार करता हुआ विचरे कि जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन करने वाले सभी मुनि आराधक है।

पात्र की गवेषणा करते हुए साधु को देख कर यदि कोई गृहस्थ उसे कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! इस समय तो तुम जाओ। एक मास के बाद

आकर पात्र ले जाना, इत्यादि। इस विषय में शेष वर्णन वस्त्रैषणा के समान जानना।

यदि कोई गृहस्थ साधु को देख कर अपने कौटुम्बिक जनों में से किसी पुरुष या स्त्री को बुलाकर यह कहे कि वह पात्र लाओ उस पर तेल, घृत, नवनीत या वसा आदि लगाकर साधु को देवें। शेष स्नानादि शीत उदक तथा कन्द-मूल विषयक वर्णन वस्त्रैषणा अध्ययन के समान जानना।

यदि कोई गृहस्थ साधु से इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् श्रमण! आप मुहूर्त पर्यन्त ठहरें। हम अभी अशनादि चतुर्विध आहार को उपस्कृत करके आपको जल और भोजन से पात्र भर कर देंगे। क्योंकि साधु को खाली पात्र देना अच्छा नहीं रहता। तब साधु उनसे इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ! या भगिनि-बहिन! मुझे आधाकर्मिक आहार-पानी ग्रहण करना नहीं कल्पता। अतः मेरे लिए आहारादि सामग्री को एकत्र और उपसंस्कृत मत करो। यदि तुम मुझे पात्र देने की अभिलाषा रखते हो तो उसे ऐसे ही दे दो। साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि गृहस्थ आहार आदि बना कर उससे पात्र को भर कर दे तो साधु उसे अप्रासुक जानकर स्वीकार न करे।

यदि कोई गृहस्थ उस पात्र पर नई क्रिया किए बिना ही लाकर दे तो साधु उसे कहे कि मैं तुम्हारे इस पात्र को चारों तरफ से भली-भांति प्रतिलेखना करके लूंगा। क्योंकि बिना प्रतिलेखना किए ही पात्र ग्रहण करने का केवली भगवान ने कर्मबंध का कारण बताया है। हो सकता है कि उस पात्र में प्राणी, बीज और हरी आदि हो, जिस से वह कर्मबन्ध का हेतु बन जाए। शेष वर्णन वस्त्रैषणा के समान जानना। केवल इतनी ही विशेषता है कि यदि वह पात्र तैल से, घृत से, नवनीत से और वसा

या ऐसे ही किसी अन्य पदार्थ से स्निग्ध किया हुआ हो तो साधु स्थंडिल भूमि मे जाकर वहा भूमि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करे। और तत्पश्चात् पात्र को धूली आदि का प्रमार्जित कर-मसल कर रूक्ष बना ले। यही साधु का समग्र आचार है। जो साधु ज्ञान दर्शन चारित्र से युक्त समितियो से समित है वह इस आचार को पालन करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को तुम्बे, काष्ठ एव मिट्टी का पात्र ही ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु को लोह, ताम्र, स्वर्ण-चान्दी आदि धातु के तथा काच के पात्र स्वीकार नहीं करने चाहिए। और साधु को अधिक मूल्यवान पात्र एव काष्ठ आदि के पात्र भी जो कि धातु से संवेष्टित हों तो उन्हें भी ग्रहण नही करना चाहिए। यदि काष्ठ आदि के पात्र पर कोई गृहस्थ तैल, घृत आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर दे या साधु के लिए आहार आदि तैयार करके उस आहार से पात्र भर कर देवे तब भी साधु को उस सदोष आहार आदि से युक्त पात्र को ग्रहण नहीं करना चाहिए। साधु को सब तरह से निर्दोष एव एषणीय पात्र को चारों ओर से भली-भांति देख कर ही ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में शेष वर्णन पिंडैषणा प्रकरण की तरह समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि साधु तरुण, नीरोग, दृढ संहनन वाला हो तो उसे एक ही पात्र रखना चाहिए। वृत्तिकार ने प्रस्तुत पाठ को जिनकल्प से सम्बद्ध माना है*। क्योंकि, स्थविरकल्प साधु के लिए तीन पात्र रखने का विधान है। हा, अभिग्रहनिष्ठ साधु अपनी शक्ति के अनुरूप अभिग्रह धारण कर सकता है।

इसमे यह भी बताया गया है कि साधु पात्र ग्रहण करने के लिए आधे योजन से

* तत्र च, य: स्थिरसहननाद्युपेत स एकमेव पात्र बिभृयात् न च द्वितीयं, स च, जिनकल्पिकादि:, इतरस्तुमात्रकसद्वितीय पात्र धारयेत्, तत्र सघाटके सत्येकस्मिन् भक्त द्वितीये पात्र पानक मात्रक त्वाचार्यादिप्रायोग्यकृतेऽशुद्धस्य वेति। —श्री आचाराङ्ग वृत्ति।

ऊपर न जाए। इसका तात्पर्य यह है कि साधु जिस स्थान में ठहरा हुआ हो उस समय वह पात्र लेने के लिए आधे योजन से ऊपर जाने का संकल्प न करे। परन्तु, विहार के समय के लिए यह प्रतिबन्ध नहीं है।

आहार, वस्त्र आदि की तरह साधु-साध्वी को वह पात्र भी ग्रहण नहीं करना चाहिए जो उनके लिए बनाया गया है। साधु को आधा कर्म आदि दोषों से रहित पात्र को स्वीकार करना चाहिए।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

# षष्ठ अध्ययन—पात्रैषणा

## द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में पात्र गवेषणा की विधि का उल्लेख किया गया है, अब प्रस्तुत उद्देशक में पात्र सम्बन्धी शेष विधि का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भिक्खू वा २ गाहावइकुलं पिंड० पविट्ठे समाणे पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहगं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं तओ सं० गाहावइ० पिंड० निक्ख० प०, केवली० आउ०! अंतो पडिग्गहगंसि पाणे वा बीए वा हरि० परियावज्जिज्जा, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं तओ सं० गाहावइ निक्खमिज्ज वा २ ॥१५४॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिंडपातप्रतिज्ञया प्रविष्टः सन् पूर्वमेव प्रेक्ष्य पतद्ग्रहं अपहृत्य (आहृत्य) प्राणिनः प्रमृज्य रजः ततः संयतमेव गृहपतिकुलं पिंडपातप्रतिज्ञया निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा केवली ब्रूयात् कर्मादानमेतत्। आयुष्मन्! अन्तः पतद्ग्रहे प्राणिनो वा बीजानि वा हरितानि वा पर्यापद्येरन्। अथ भिक्षूणा पूर्वोपदिष्ट यत् पूर्वमेव प्रेक्ष्य पतद्ग्रह अपहृत्य प्राणिनः प्रमृज्य रज, ततः संयतमेव गृहपतिकुल निष्क्रामेद् वा प्रविशेद् वा।

पदार्थ—से भिक्खू०—वह साधु या साध्वी। गाहावइ कुल—गृहस्थ के कुल में। पिंडवायपडियाए—आहार प्राप्ति के लिए। पविट्ठे समाणे—प्रवेश करता हुआ। पुव्वामेव—

पहले ही। पेहाए—देखकर। पडिग्गहयं—पात्र को अर्थात् यदि पात्र में। पाणे—प्राणि हो तो उनको। अवहट्टु—निकाल कर तथा। पमज्जिय रयं—रज को प्रमार्जित कर। तओ—तदनन्तर। सं०—यतना पूर्वक। गाहावइ०—गृहपति के कुल में। पिंड० प०—आहार प्राप्ति के लिए। निक्खमिज्ज वा प०—निकले या प्रवेश करे क्योंकि। केवली०—केवली भगवान् कहते हैं। आउ०—आयुष्मन् शिष्य! प्रतिलेखना और प्रमार्जना किए बिना पात्र का ले जाना कर्म बन्धन का कारण है, क्योंकि। अंतोपडिग्गहगंसि—पात्र के बीच में। पाणे वा—प्राणी। बीए वा—अथवा बीज। हरि०—अथवा हरी तथा सचित्त रज यदि हो तो उनका। परियावज्जिज्जा—विनाश हो जाएगा। अह—इस लिए। भिक्खूण—भिक्षुओं को। पु०—तीर्थंकरादि ने पहले ही यह आज्ञा दी है। जं—जोकि। पुव्वामेव—पहले ही। पडिग्गहं—पात्र को। पेहाए—देखकर उसमें रहे हुए। पाणे—प्राणी आदि को। अवहट्टु—निकाल कर तथा। रयं—रज आदि को। पमज्जिय—प्रमार्जित कर के। तओ—तदनन्तर। स०—साधु। गाहावइ०—गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए। पविसेज्ज वा—प्रवेश करे। निक्खमिज्जा वा—निकले।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर में आहार पानी के लिए जाने से पहले संयमनिष्ठ साधु साध्वी अपने पात्र का प्रतिलेखन करे। यदि उसमें प्राणि आदि हों तो उन्हें बाहर निकाल कर एकान्त में छोड़ दे और रज आदि को प्रमार्जित कर दे। उसके बाद साधु आहार आदि के लिए उपाश्रय से बाहर निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे। क्योंकि भगवान का कहना है कि बिना प्रतिलेखना किए हुए पात्र को लेकर जाने से उसमें रहे हुए क्षुद्र जीव जन्तु एवं बीज आदि की विराधना हो सकती है। अतः साधु को आहार पानी के लिए जाने से पूर्व पात्र का सम्यक्तया प्रतिलेखन करके आहार को जाना चाहिए, यही भगवान की आज्ञा है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को आहार-पानी के लिए जाने से पहले अपने पात्र का सम्यक्तया प्रतिलेखन करना चाहिए। जबकि साधु सायंकाल में पात्र साफ करके बांधता है और प्रातः उनका प्रतिलेखन कर लेता है, फिर भी आहार-पानी को जाते समय पुनः प्रतिलेखन करना अत्यावश्यक है। क्योंकि कभी-कभी कोई क्षुद्र जन्तु या रज (धूल) आदि पात्र में प्रविष्ट हो जाती है। अतः जीवों की रक्षा के लिए उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करना जरूरी है। यदि पात्र को न देखा जाए और वे क्षुद्र जन्तु उसमें रह जाएं तो उनकी विराधना हो सकती है। इस लिए बिना प्रमार्जन

किए पात्र लेकर आहार को जाना कर्म बन्ध का कारण बताया गया है। अतः साधु को सदा विवेक पूर्वक पात्र का प्रतिलेखन करके ही गोचरी को जाना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० जाव समाणे सिया से परो आहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाइत्ता नीहट्टु दलइज्जा, तहप्प० पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं जाव नो प०, से य आहच्च पडिग्गहिए सिया खिप्पामेव उदगंसि साहरिज्जा, से पडिग्गहमायाए पाणं परिट्ठविज्जा, ससिणिद्धाए वा भूमीए नियमिज्जा॥ से० उदउल्लं वा ससिणिद्धं वा पडिग्गहं नो आमज्जिज्जा वा २ अह पु० विगओदए मे पडिग्गहए छिन्नसिणेहे तह० पडिग्गहं तओ० सं० आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा॥ से भि० गाहा० पविसिउकामे पडिग्गहमायाए गाहा० पिंड० पविसिज्ज वा नि०, एवं बहिया वियारभूमीं विहारभूमीं वा गामा० दूइज्जिजज्जा, तिव्वदेसियाए जहा बिइयाए वत्थेसणाए नवरं इत्थ पडिग्गहे, एयं खलु तस्स० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जएज्जासि, त्तिबेमि ॥१५४॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टः सन् स्यात् स परः आहृत्य अन्तः पतद्ग्रहे शीतोदकं परिभाज्य निःसार्य दद्यात्, तथाप्रकारं पतद्ग्रहं परहस्ते वा परपात्रे वा अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृह्णीयात् स च आहृत्य प्रतिगृहीतं स्यात् क्षिप्रमेव उदके आहरेत् प्रक्षिपेत्। स पतद्ग्रह-

मादाय पानं परिष्ठापयेत्, सस्निग्धायां वा भूमौ नियमेत्-प्रक्षिपेत् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा उदकार्द्रं वा सस्निग्धं वा पतद्ग्रहं नो आमृज्येत् २ अथ पुनः एवं जानीयात् विगतोदकं मे पतद्ग्रह (पात्रं) छिन्नस्नेहं तथाप्रकारं पतद्ग्रहं ततः संयतमेव आमृज्येत् वा यावत् परितापयेत् वा ॥ स भिक्षुर्वा गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः पतद्ग्रहमादाय गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा, एवं बहिः विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा ग्रामानुग्राम दूयेत-गच्छेत् । तीव्रदेशीया यथा द्वितीयायां वस्त्रैषणायां,नवरं अत्र पतद्ग्रहे, एवं खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्यं यत् सर्वार्थैः समितैः सहितः सदा यतेत । इति ब्रवीमि ।

पदार्थ–से भि० – वह साधु या साध्वी । जाव समाणे – गृहपति के घर मे प्रवेश करते हुए । सिया - कदाचित् । से – उस साधु को । परो – गृहस्थ । आहट्टु – घर के भीतर से बाहर लाकर । अंतोपडिग्गहगंसि – गृहस्थ के अन्य किसी पात्र में । सीओदगं – सचित्त पानी को। परिभाइत्ता – घट आदि के किसी अन्य बर्तन मे डालकर । निहट्टु – फिर उसे लाकर । दलइज्जा – दे तो । तहप्पगारं – तथाप्रकार के । पडिग्गहगं – पात्र को-जोकि पानी से भरा हुआ है । परहत्थंसि वा – गृहस्थ के हाथ मे है । पर पायंसि वा – या अन्य पात्र मे है तो, अफासुयं –'उसे अप्रासुक । जाव – यावत् अनेपणीय जानकर । नो प० – साधु ग्रहण न करे । य – पुनः । से – वह-पात्र । आहच्च – कदाचित् । पडिग्गहिए सिया – ग्रहण कर लिया हो तो, से – वह साधु । खिप्पामेव – शीघ्र ही । उदगंसि – उस पानी को डालने योग्य भाजन में । साहरिज्जा – डाल दे । पडिग्गहमायाए – यदि गृहस्थ पानी वापिस लेना न चाहे तो पानी युक्त पात्र को लेकर किसी अन्य एकान्त स्थान में जाकर । पाण – पानी को । परिट्ठविज्जा – परठ दे । वा – अथवा । स सिणिद्धाए भूमीए – स्निग्ध भूमि पर । नियमिज्जा – परठ दे । से-भि० – वह साधु अथवा साध्वी पानी को परठने के बाद । उदउल्लं वा – जिससे पानी के बिन्दु टपक रहे हैं अथवा । ससिणिद्धं वा – जो पानी से गीला है । पडिग्गहं – उस पात्र को नो आमज्जिज्जा – मार्जित न करे; मसले नहीं यावत् धूप में सुखाए नहीं । अह पुण एवं जाणिज्जा – और यदि इस प्रकार जाने । मे – मेरा । पडिग्गहए – पात्र । विगओदए – पानी से रहित हो गया है और । छिन्नसिणेहे – गीला भी नहीं है । तह० – तथाप्रकार के । पडिग्गह – पात्र को । तओ – तत्पश्चात् । सं० – साधु । आमज्जिज्ज वा – प्रमार्जित करे । जाव – यावत् । पयाविज्ज वा – धूप मे सुखाए ।

से भि० – वह साधु या साध्वी । गाहा० – गृहपति के घर में । पविसिउ कामे – प्रवेश करने की इच्छा करता हुआ । पडिग्गहमायाए – पात्र को लेकर । गाहा० – गृहपति के घर

में। पिंड०—आहार प्राप्ति के लिए। पविसिज्ज वा—प्रवेश करे अथवा। नि०—निकले। एव बहिया—इसी प्रकार बाहर। वियार भूमीं वा—स्थडिल मे जाना हो तो पात्र लेकर जाए और। विहार भूमीं वा—स्वाध्याय भूमि मे जाना हो तो पात्र लेकर जाए तथा। गामा० दूइज्जिज्जा—ग्रामानुग्राम विहार करना हो तब भी पात्र लेकर विहार करे। तिव्वदेसियाए—यदि थोडी-बहुत वर्षा बरस रही हो तो। जहा—जैसे। बिइयाए—द्वितीय। वत्थेसणाए—वस्त्रैषणा के विषय मे वर्णन किया है, शेष वर्णन उसी तरह समझ लेना चाहिए। नवर—इतना विशेष है। इत्थ—यहा पर। पडिग्गहे—पात्र का अधिकार जानना। खलु—निश्चय ही। एव—इस प्रकार। तस्स भिक्खुस्स वा० २—उस साधु या साध्वी का। सामग्गिय—समग्र-सम्पूर्ण आचार है। ज सव्वट्ठेहिं—जो सर्व अर्थों से युक्त। समिएहिं—समितियो के। सहिए—सहित। सया—सदा। जएज्जासि—इसके पालन मे यत्न करे। त्तिवेमि—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मैं गए हुए साधु या साध्वी ने जब पानी की याचना की और गृहस्थ घर के भीतर से सचित्त जल को किसी अन्य भाजन में डाल कर साधु को देने लगा हो तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। कदाचित्-असावधानी से वह जल ले लिया गया हो तो शीघ्र ही उस जल को वापिस करदे। यदि गृहस्थ उसे वापिस न ले तो फिर वह उस जल युक्त पात्र को लेकर स्निग्ध भूमि मे अथवा अन्य किसी योग्य स्थान मे जल को परठ दे और पात्र को एकान्त स्थान मे रख दे, किन्तु जब तक उस पात्र से जल के बिन्दु टपकते रहें या वह पात्र गीला रहे तब तक उसे न तो पोछे और न धूप मे सुखावे। जब यह जान ले कि मेरा यह पात्र अब विगत जल और स्नेह से रहित हो गया है तब उसे पोछ सकता है और धूप मे भी सुखा सकता है।

सयमशील साधु या साध्वी जब आहार लेने के लिए गृहस्थ के घर मे जाए तो अपने पात्र साथ लेकर जाए। इसी तरह स्थंडिल भूमि और स्वाध्याय भूमि मे जाते समय भी पात्र को साथ लेकर जाए और ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी पात्र को साथ मे ही रखे। और न्यूनाधिक

वर्षा के समय की विधि का वर्णन वस्त्रैषणा अध्ययन के दूसरे उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए। यही साधु या साध्वी का समग्र आचार है। प्रत्येक साधु साध्वी को इसके परिपालन करने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ के घर में पानी के लिए गए हुए साधु-साध्वी को कोई गृहस्थ सचित्त पानी देने का प्रयत्न करे तो वह उसे स्वीकार न करे। और यदि कभी असावधानी से ग्रहण कर लिया हो तो उसे अपने उपयोग में न लाए। वह उसे उसी समय वापिस कर दे, यदि गृहस्थ वापिस लेना स्वीकार न करे तो एकान्त स्थान में स्निग्ध भूमि पर परठ दे और उस पात्र को तब तक न तो पोंछे एवं न धूप में सुखाए जब तक उसमें पानी की बून्दें टपकती हों या वह गीला हो।

सचित्त पानी देने के सम्बन्ध में वृत्तिकार ने चार कारण बताए हैं— १ गृहस्थ की अनभिज्ञता-वह यह न जानता हो कि साधु सचित्त पानी लेते हैं या नहीं, २ शत्रुता--साधु को बदनाम करके उसे लोगों के सामने सदोष पानी ग्रहण करने वाला बताने की दृष्टि से, ३ अनुकम्पा--साधु को प्यास से व्याकुल देखकर अचित्त जल न होने के कारण दया भाव से और ४ विमर्षता--किसी विचार के कारण उसे ऐसा करने को विवश होना पड़ा हो। यह स्पष्ट है कि गृहस्थ चाहे जिस परिस्थिति एवं भावनावश सचित्त जल दे, परन्तु साधु को किसी भी परिस्थिति मे सचित्त जल का उपयोग नहीं करना चाहिए।

सचित्त जल को परठने के सम्बन्ध में वृत्तिकार का कहना है कि यदि गृहस्थ उस सचित्त जल को वापिस लेना स्वीकार न करे तो साधु को उसे कूप आदि में समान जातीय जल मे परठ देना चाहिए। और उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि यदि साधु के पास दूसरा पात्र हो तो उसे उस सचित्त जल युक्त पात्र को एकान्त में परठ (छोड़) देना चाहिए। परन्तु, ये दोनों कथन आगम सम्मत प्रतीत नहीं होते। क्योंकि, आगम मे पानी को परठने के लिए स्पष्ट रूप से स्निग्ध भूमि का उल्लेख किया गया है। अतः उस जल को कुंएं आदि में डालना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस क्रिया में अप्कायिक एवं अन्य जीवों की हिंसा होगी। और उस सचित्त जल के साथ पात्र को परठना भी उचित्त प्रतीत नहीं होता, यदि वह मजबूत है। क्योंकि, चलते हुए मजबूत पात्र को परठना एवं परठने वाले का समर्थन करना दोष युक्त माना है और उसके लिए आगम में लघु चातुर्मासी प्रायश्चित बताया है❀।

❀ जे भिक्खू पडिग्गहं अलं, थिरं, धुवं, धारणिज्जं णो धरइ धारतं वा साइज्जइ।
निशीथ सूत्र, उद्देशक १४।

में। पिंड०—आहार प्राप्ति के लिए। पविसिज्ज वा—प्रवेश करे अथवा। नि०—निकले। एव बहिया—इसी प्रकार बाहर। वियार भूमी वा—स्थंडिल में जाना हो तो पात्र लेकर जाए और। विहार भूमीं वा—स्वाध्याय भूमि मे जाना हो तो पात्र लेकर जाए तथा। गामा० दूइज्जिज्जा—ग्रामानुग्राम विहार करना हो तब भी पात्र लेकर विहार करे। तिव्वदेसियाए—यदि थोडी-वहुत वर्षा बरस रही हो तो। जहा—जैसे। बिइयाए—द्वितीय। वत्थेसणाए—वस्त्रैषणा के विषय मे वर्णन किया है, शेप वर्णन उसी तरह समझ लेना चाहिए। नवर—इतना विशेप है। इत्थ—यहा पर। पडिग्गहे—पात्र का अधिकार जानना। खलु—निश्चय ही। एव—इस प्रकार। तस्स भिक्खुस्स वा० २—उस साधु या साध्वी का। सामग्गिय—समग्र-सम्पूर्ण आचार है। ज सव्वट्ठेहिं—जो सर्व अर्थों से युक्त। समिएहिं—समितियो के। सहिए—सहित। सया—सदा। जएज्जासि—इसके पालन मे यत्न करे। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—गृहस्थ के घर मे गए हुए साधु या साध्वी ने जब पानी की याचना की और गृहस्थ घर के भीतर से सचित्त जल को किसी अन्य भाजन मे डाल कर साधु को देने लगा हो तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। कदाचित्-असावधानी से वह जल ले लिया गया हो तो शीघ्र ही उस जल को वापिस करदे। यदि गृहस्थ उसे वापिस न ले तो फिर वह उस जल युक्त पात्र को लेकर स्निग्ध भूमि मे अथवा अन्य किसी योग्य स्थान मे जल को परठ दे और पात्र को एकान्त स्थान मे रख दे, किन्तु जब तक उस पात्र से जल के बिन्दु टपकते रहें या वह पात्र गीला रहे तब तक उसे न तो पोछे और न धूप मे सुखावे। जब यह जान ले कि मेरा यह पात्र अब विगत जल और स्नेह से रहित हो गया है तब उसे पोछ सकता है और धूप मे भी सुखा सकता है।

संयमशील साधु या साध्वी जब आहार लेने के लिए गृहस्थ के घर मे जाए तो अपने पात्र साथ लेकर जाए। इसी तरह स्थंडिल भूमि और स्वाध्याय भूमि मे जाते समय भी पात्र को साथ लेकर जाए और ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी पात्र को साथ मे ही रखे। और न्यूनाधिक

वर्षा के समय की विधि का वर्णन वस्त्रैषणा अध्ययन के दूसरे उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए। यही साधु या साध्वी का समग्र आचार है। प्रत्येक साधु साध्वी को इसके परिपालन करने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ के घर में पानी के लिए गए हुए साधु-साध्वी को कोई गृहस्थ सचित्त पानी देने का प्रयत्न करे तो वह उसे स्वीकार न करे। और यदि कभी असावधानी से ग्रहण कर लिया हो तो उसे अपने उपयोग में न लाए। वह उसे उसी समय वापिस कर दे, यदि गृहस्थ वापिस लेना स्वीकार न करे तो एकान्त स्थान में स्निग्ध भूमि पर परठ दे और उस पात्र को तब तक न तो पोंछे एवं न धूप में सुखाए जब तक उसमें पानी की बून्दें टपकती हों या वह गीला हो।

सचित्त पानी देने के सम्बन्ध में वृत्तिकार ने चार कारण बताए हैं— १ गृहस्थ की अनभिज्ञता-वह यह न जानता हो कि साधु सचित्त पानी लेते हैं या नहीं, २ शत्रुता--साधु को बदनाम करके उसे लोगों के सामने सदोष पानी ग्रहण करने वाला बताने की दृष्टि से, ३ अनुकम्पा-साधु को प्यास से व्याकुल देखकर अचित्त जल न होने के कारण दया भाव से और ४ विमर्षता--किसी विचार के कारण उसे ऐसा करने को विवश होना पड़ा हो। यह स्पष्ट है कि गृहस्थ चाहे जिस परिस्थिति एवं भावनावश सचित्त जल दे, परन्तु साधु को किसी भी परिस्थिति मे सचित्त जल का उपयोग नहीं करना चाहिए।

सचित्त जल को परठने के सम्बन्ध में वृत्तिकार का कहना है कि यदि गृहस्थ उस सचित्त जल को वापिस लेना स्वीकार न करे तो साधु को उसे कूप आदि में समान जातीय जल में परठ देना चाहिए। और उपाध्याय पार्श्व चन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि यदि साधु के पास दूसरा पात्र हो तो उसे उस सचित्त जल युक्त पात्र को एकान्त में परठ (छोड़) देना चाहिए। परन्तु, ये दोनों कथन आगम सम्मत प्रतीत नहीं होते। क्योंकि, आगम मे पानी को परठने के लिए स्पष्ट रूप से स्निग्ध भूमि का उल्लेख किया गया है। अतः उस जल को कुएं आदि में डालना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस क्रिया में अप्कायिक एवं अन्य जीवों की हिंसा होगी। और उस सचित्त जल के साथ पात्र को परठना भी उचित्त प्रतीत नहीं होता, यदि वह मजबूत है। क्योंकि, चलते हुए मजबूत पात्र को परठना एवं परठने वाले का समर्थन करना दोष युक्त माना है और उसके लिए आगम में लघु चातुर्मासी प्रायश्चित बताया है*।

* जे भिक्खू पडिग्गहं अलं, थिरं, धुवं, धारणिज्जं णो धरइ धारंतं वा साइज्जइ।
निशीथ सूत्र, उद्देशक १४।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु उस पानी को न तो कुंए आदि में फैंके, न पात्र सहित ही परठे, परन्तु एकान्त छाया युक्त स्निग्ध स्थान में विवेक पूर्वक परठे।

वस्त्र आदि की तरह पात्र के सम्बन्ध में भी यह बताया गया है कि साधु जब भी आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर में जाए या शौच के लिए बाहर जाए या स्वाध्याय भूमि में जाए तो अपने पात्र को साथ लेकर जाए। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को बिना पात्र के कहीं नहीं जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि पात्र किसी भी समय काम में आ सकता है। अत. उपाश्रय से बाहर जाते समय उसे साथ रखना उपयुक्त प्रतीत होता है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

# सप्तम अध्ययन–अवग्रह प्रतिमा

## प्रथम उद्देशक

छठे अध्ययन मे पात्रैषणा का वर्णन किया गया था, परन्तु, साधु पात्र आदि सभी उपकरण किसी गृहस्थ की आज्ञा से ही ग्रहण करता है। क्योंकि उसने पूर्णतया चोरी का त्याग कर रखा है। अत प्रस्तुत अध्ययन में अवग्रह का वर्णन किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अवग्रह चार प्रकार का होता है और सामान्य रूप से पांच प्रकार का अवग्रह माना गया है—१ देवेन्द्र अवग्रह, २ राज अवग्रह, ३ गृहपति अवग्रह, ४ शय्यातर अवग्रह और ५ साधर्मिक अवग्रह। उक्त अवग्रहों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावं कम्मं नो करिस्सामित्ति समुट्ठाए सव्वं भंते० ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा नेव सयं अदिन्नं गिरिहज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिहाविज्जा अदिन्नं गिराहंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जेहिवि सद्धिं संपव्वइए तेसिंपि जाइं छत्तगं वा जाव चम्मछे-यणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय २ अपमज्जिय २ नो उग्गिरिहज्जा वा, परिगिरिहज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं जाइज्जा अणुन्नविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ सं० उग्गिरिहज्जा वा प० ॥१५५॥

छाया—श्रमणो भविष्यामि अनगारः अकिंचनः अपुत्रः अपशुः परदत्त-

इससे स्पष्ट होता है कि साधु उस पानी को न तो कुंए आदि में फेंके, न पात्र सहित ही परठे, परन्तु एकान्त छाया युक्त स्निग्ध स्थान में विवेक पूर्वक परठे।

वस्त्र आदि की तरह पात्र के सम्बन्ध में भी यह बताया गया है कि साधु जब भी आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर मे जाए या शौच के लिए बाहर जाए या स्वाध्याय भूमि में जाए तो अपने पात्र को साथ लेकर जाए। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को बिना पात्र के कहीं नहीं जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि पात्र किसी भी समय काम में आ सकता है। अत. उपाश्रय से बाहर जाते समय उसे साथ रखना उपयुक्त प्रतीत होता है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

# सप्तम अध्ययन—अवग्रह प्रतिमा

## प्रथम उद्देशक

छठे अध्ययन में पात्रैषणा का वर्णन किया गया था, परन्तु, साधु पात्र आदि सभी उपकरण किसी गृहस्थ की आज्ञा से ही ग्रहण करता है। क्योंकि उसने पूर्णतया चोरी का त्याग कर रखा है। अत प्रस्तुत अध्ययन में अवग्रह का वर्णन किया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अवग्रह चार प्रकार का होता है और सामान्य रूप से पांच प्रकार का अवग्रह माना गया है—१ देवेन्द्र अवग्रह, २ राज अवग्रह, ३ गृहपति अवग्रह, ४ शय्यातर अवग्रह और ५ साधर्मिक अवग्रह। उक्त अवग्रहों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावं कम्मं नो करिस्सामित्ति समुट्ठाए सव्वं भंते० ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जेहिवि सद्धिं संपव्वइए तेसिंपि जाइं छत्तगं वा जाव चम्मछे-यणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय २ अपमज्जिय २ नो उग्गिण्हिज्जा वा, परिगिण्हिज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं जाइज्जा अणुन्नविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ सं० उग्गिण्हिज्जा वा प० ॥१५५॥

छाया—श्रमणो भविष्यामि अनगारः अकिंचनः अपुत्रः अपशुः परदत्त-

भोजी पापं कर्म न करिष्यामि, इति समुत्थाय सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, स अनुप्रविश्य ग्राम वा यावद् राजधानी वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयात्, नैवान्यैः अदत्तं ग्राहयेत् अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यैरपि (साधुभिः) सार्द्धं संप्रव्रजितः तेषामपि यानि छत्रक वा यावत् चर्मच्छेदनक वा तेषां पूर्वमेव अवग्रहमननुज्ञाप्याप्रतिलिख्य २ अप्रमृज्य २ नावगृह्णीयाद् वा प्रतिगृह्णीयाद् वा तेषां पूर्वमेव अवग्रहं याचेतानुज्ञाप्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य ततः सयतमेवावगृह्णीयात् प्रतिगृह्णीयाद् वा ।

पदार्थ—समण भविस्सामि—मैं श्रमण-तपस्वी साधु बनूंगा। किस प्रकार का ? अणगारे—अनगार-घर से रहित। अकिंचणे—अकिंचन-परिग्रह से रहित। अपुत्ते—पुत्र आदि से रहित। अपसू—और द्विपद चतुष्पदादि पशुओ से रहित एव। परदत्तभोई—दूसरे का दिया हुआ भोजन करने वाला, मैं। पाव कम्म—पाप कर्म को। नो करिस्सामि—नही करूंगा। त्ति—इस प्रकार की। समुट्ठाए—प्रतिज्ञा मे उद्यत होकर मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हू। भते—हे भगवन् ! मैं। सव्व—सर्व प्रकार के। अदिन्नादाणं—अदत्तादान का। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हू, इस प्रतिज्ञा से। से—वह-भिक्षु। गामं वा—ग्राम और नगर। जाव—यावत्। रायहाणिं वा—राजधानी में। अणुपविसित्ता—प्रवेश करके। नेव सय अदिन्न गिण्हिज्जा—बिना दिए अदत्त—पदार्थ को स्वय ग्रहण न करे तथा। नेवन्नेहिं अदिन्न गिण्हाविज्जा—बिना दिए पदार्थ को दूसरो से ग्रहण भी न करावे और। अदिन्न गिण्हतेवि—अदत्त को ग्रहण करने वाले। अन्ने—अन्य व्यक्तियो का। नो समणुजाणिज्जा—अनुमोदन भी न करे, इतना ही नही किन्तु। जेहिंवि सद्धिं—जिनके साथ। सपव्वइए—प्रव्रजित हुआ या जिनके साथ रहता है। तेसिंपि—उनके भी। जाइं—जो। छत्तगं वा—छत्र। जाव—यावत्। चम्म छेयणग वा—चर्म छेदक आदि उपकरण विशेष है। तेसिं—उनका। पुव्वा—पहले। उग्गह—अवग्रह-आज्ञा विशेष। अणणुन्नविय—लिए विना। अपडिलेहिय—विना प्रतिलेखन किए और। अपमज्जिय—विना प्रमार्जन किए। नो उग्गिण्हिज्जा वा—एक वार ग्रहण न करे तथा। परिगिण्हिज्ज—वार २ ग्रहण न करे, किन्तु। पुव्वामेव—पहले ही। तेसिं—उनके पास। उग्गह—अवग्रह की। जाइज्जा—याचना करे अर्थात् आज्ञा मागे। अणुन्नविय—उनकी आज्ञा लेकर तथा। पडिलेहिय—प्रतिलेखना और। पमज्जिय—प्रमार्जना करके। तओ—तदनन्तर। स०—यतनापूर्वक। उग्गिण्हिज्जा वा प०—एक वार अथवा अधिक वार ग्रहण करे।

मूलार्थ—दीक्षित होते समय दीक्षार्थी विचार पूर्वक कहता है कि मैं श्रमण [illegible] करने वाला बनूंगा, जो घर से, परिग्रह से, पुत्रादि

सम्बन्धियों से और द्विपद-चतुष्पद आदि पशुओ से रहित होकर गोचरी (भिक्षा) लाकर सयम का पालन करने वाला साधक बनूगा, परन्तु कभो भी पापकर्म का आचरण नही करूंगा। हे भदन्त ! इस प्रकार की प्रतिज्ञा में आरूढ़ होकर आज मै सर्वप्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूं।

ग्राम, नगर, यावत् राजधानी मे प्रविष्ट सयमशील साधु स्वय अदत्त—बिना दिए हुए पदार्थो को ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण कराए और जो अदत्त ग्रहण करता है उसकी अनुमोदना (प्रशसा) भी न करे। एव वह मुनि जिनके पास दीक्षित हुआ है, या जिनके पास रह रहा है उनके छत्र यावत् चर्म छेदक आदि उपकरण विशेष है, उनको बिना आज्ञा लिए तथा बिना प्रतिलेखना और प्रमार्जन किए ग्रहण न करे। किन्तु पहले उनसे आज्ञा लेकर और उसके बाद उनका प्रतिलेखन एव प्रमार्जन करके उन पदार्थो को स्वीकार करे। अर्थात् बिना आज्ञा से वह कोई भो वस्तु ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु के अस्तेय महाव्रत का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु किसी व्यक्ति की आज्ञा के बिना सामान्य एव विशिष्ट कोई भी पदार्थ स्वीकार न करे। वह दीक्षित होते समय यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं घर, परिवार, धन-धान्य आदि का त्याग करके तप-साधना के तेजस्वी पथ पर आगे बढ़ूंगा और साध्य-सिद्धि तक पहुचने में सहायक होने वाले आवश्यक पदार्थों एवं उपकरणों को बिना आज्ञा के ग्रहण नही करूंगा। इस तरह साधक जीवन पर्यन्त के लिए चोरी का सर्वथा त्याग करके साधना पथ पर कदम रखता है। यहा तक कि वह अपने सांभोगिक साधुओं की किसी भी वस्तु को उनकी आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करता। यदि किसी साधु को छत्र, चर्म छेदनी आदि पदार्थ पड़े हुए हैं और अन्य साधु को उनकी आवश्यकता है, तो वह उस साधु की आज्ञा के बिना उन्हें ग्रहण नही करेगा। प्रस्तुत प्रसग में छत्र का अर्थ है— वर्षा के समय सिर पर लिया जाने वाला ऊन का कम्बल। और स्थविर कल्पी मुनि विशेप कारण उपस्थित होने पर छत्र भी रख सकते हैं। वृत्तिकार

भोजी पापं कर्म न करिष्यामि, इति समुत्थाय सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, स अनुप्रविश्य ग्राम वा यावद् राजधानी वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयात्, नैवान्यैः अदत्तं ग्राहयेत् अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानीयात्, यैरपि (साधुभिः) सार्द्ध संप्रव्रजितः तेषामपि यानि छत्रक वा यावत् चर्मच्छेदनक वा तेषा पूर्वमेव अवग्रहमननुज्ञाप्याप्रतिलिख्य २ अप्रमृज्य २ नावगृह्णीयाद् वा प्रतिगृह्णीयाद् वा तेषां पूर्वमेव अवग्रहं याचेतानुज्ञाप्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य ततः संयतमेवावगृह्णीयात् प्रतिगृह्णीयाद् वा ।

पदार्थ—समण भविस्सामि—मैं श्रमण-तपस्वी साधु बनूगा। किस प्रकार का ? अणगारे—अनगार-घर से रहित। अकिंचणे—अकिंचन-परिग्रह से रहित। अपुत्ते—पुत्र आदि से रहित। अपसू—और द्विपद चतुष्पदादि पशुओ से रहित एव। परदत्तभोई—दूसरे का दिया हुआ भोजन करने वाला, मैं। पाव कम्म—पाप कर्म को। नो करिस्सामि—नही करूगा। त्ति—इस प्रकार की। समुट्ठाए—प्रतिज्ञा में उद्यत होकर मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हू। भते—हे भगवन् ! मैं। सव्व—सर्व प्रकार के। अदिन्नादाणं—अदत्तादान का। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हू, इस प्रतिज्ञा से। से—वह-भिक्षु। गामं वा—ग्राम और नगर। जाव—यावत्। रायहाणिं वा—राजधानी में। अणुपविसित्ता—प्रवेश करके। नेव सयं अदिन्न गिण्हिज्जा—बिना दिए अदत्त—पदार्थ को स्वय ग्रहण न करे तथा। नेवन्नेहिं अदिन्न गिण्हाविज्जा—बिना दिए पदार्थ को दूसरो से ग्रहण भी न करावे और। अदिन्न गिण्हतेवि—अदत्त को ग्रहण करने वाले। अन्ने—अन्य व्यक्तियो का। नो समणुजाणिज्जा—अनुमोदन भी न करे, इतना ही नही किन्तु। जेहिंवि सद्धिं—जिनके साथ। सपव्वइए—प्रव्रजित हुआ या जिनके साथ रहता है। तेसिंपि—उनके भी। जाइ—जो। छत्तगं वा—छत्र। जाव—यावत्। चम्म छेयणग वा—चर्म छेदक आदि उपकरण विशेष है। तेसिं—उनका। पुव्वा—पहले। उग्गह—अवग्रह-आज्ञा विशेष। अणणुन्नविय—लिए बिना। अपडिलेहिय—बिना प्रतिलेखन किए और। अपमज्जिय—बिना प्रमार्जन किए। नो उग्गिण्हिज्जा वा—एक बार ग्रहण न करे तथा। परिगिण्हिज्ज—बार २ ग्रहण न करे, किन्तु। पुव्वामेव—पहले ही। तेसिं—उनके पास। उग्गह—अवग्रह की। जाइज्जा—याचना करे अर्थात् आज्ञा मागे। अणुन्नविय—उनकी आज्ञा लेकर तथा। पडिलेहिय—प्रतिलेखना और। पमज्जिय—प्रमार्जना करके। तओ—तदनन्तर। स०—यतनापूर्वक। उग्गिण्हिज्जा वा प०—एक बार अथवा अधिक बार ग्रहण करे।

मूलार्थ—दीक्षित होते समय दीक्षार्थी विचार पूर्वक कहता है कि मैं श्रमण ... नी-तप करने वाला बनूगा, जो घर से, परिग्रह से, पुत्रादि

सम्बन्धियों से और द्विपद-चतुष्पद आदि पशुओं से रहित होकर गोचरी (भिक्षा) लाकर संयम का पालन करने वाला साधक बनूगा, परन्तु कभी भी पापकर्म का आचरण नही करूंगा। हे भदन्त! इस प्रकार की प्रतिज्ञा में आरूढ़ होकर आज मै सर्वप्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूं।

ग्राम, नगर, यावत् राजधानी में प्रविष्ट सयमशील साधु स्वय अदत्त—बिना दिए हुए पदार्थो को ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण कराए और जो अदत्त ग्रहण करता है उसकी अनुमोदना (प्रशसा) भी न करे। एव वह मुनि जिनके पास दीक्षित हुआ है, या जिनके पास रह रहा है उनके छत्र यावत् चर्म छेदक आदि उपकरण विशेष है, उनको बिना आज्ञा लिए तथा बिना प्रतिलेखना और प्रमार्जन किए ग्रहण न करे। किन्तु पहले उनसे आज्ञा लेकर और उसके बाद उनका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके उन पदार्थो को स्वीकार करे। अर्थात् बिना आज्ञा से वह कोई भी वस्तु ग्रहण न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधु के अस्तेय महाव्रत का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु किसी व्यक्ति की आज्ञा के बिना सामान्य एव विशिष्ट कोई भी पदार्थ स्वीकार न करे। वह दीक्षित होते समय यह प्रतिज्ञा करता है कि मै घर, परिवार, धन-धान्य आदि का त्याग करके तप-साधना के तेजस्वी पथ पर आगे बढ़ूंगा और साध्य-सिद्धि तक पहुचने में सहायक होने वाले आवश्यक पदार्थों एवं उपकरणों को बिना आज्ञा के ग्रहण नही करूंगा। इस तरह साधक जीवन पर्यन्त के लिए चोरी का सर्वथा त्याग करके साधना पथ पर कदम रखता है। यहां तक कि वह अपने सांभोगिक साधुओं की किसी भी वस्तु को उनकी आज्ञा के बिना ग्रहण नही करता। यदि किसी साधु को छत्र, चर्म छेदनी आदि पदार्थ पड़े हुए है और अन्य साधु को उनकी आवश्यकता है, तो वह उस साधु को आज्ञा के बिना उन्हें ग्रहण नही करेगा। प्रस्तुत प्रसग में छत्र का अर्थ है— वर्षा के समय सिर पर लिया जाने वाला ऊन का कम्बल। और स्थविर कल्पी मुनि विशेष कारण उपस्थित होने पर छत्र भी रख सकते हैं। वृत्तिकार

ने भी अपवाद मार्ग में छत्र-छाता रखने की बात कही है*। अतः छत्र शब्द से कम्बल और छत्र दोनों में से कोई भी पदार्थ हो सकता है। इसी तरह साधु किसी कार्य के लिए गृहस्थ के घर से चर्म छेदनी† या असि पुत्र (चाकू) आदि लाया हो और दूसरे साधु को इन वस्तुओं को या उसके पास मे स्थित वस्तुओं में से किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता हो तो वह उक्त मुनि की आज्ञा लेकर उस वस्तु को ग्रहण कर सकता है। इस तरह साधु स्तेय कर्म से पूर्णत निवृत्त होकर साधना पथ में गति-प्रगति करता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुंचने का प्रयत्न करता है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिट्ठए ते उग्गहं अणुन्नविज्जा कामं खलु आउसो० ! अहालंदं अहापरिन्नायं वसामो जाव आउसो ! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिया एइ तावं उग्गहं उग्गिरिहस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो ॥ से किं पुण तत्थोग्ग-हंसि एवोग्गहयंसि जे तत्थ साहम्मिया संभोइया समणुन्ना उवा-गच्छिज्जा जे तेण सयमेसित्तए असणे वा ४ तेण ते साहम्मिया ३ उवनिमंतिज्जा, नो चेव ण परवडियाए ओगिज्झिय २ उवनि० ॥१५६॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आगन्तारेषु वा ४ अनुविचिन्त्य अवग्रह

* 'छत्रकमिति-छद अपवारणे' छादयतीति छत्र-वर्षाकल्पादि यदि वा कारणिकः क्वचित् कुकण देशादावतिवृष्टि सम्भवात् छत्रकमपि गृह्णीयाद्। —आचाराङ्ग वृत्ति।

† नाखून काटने या अन्य कार्यों के लिए साधु चर्म छेदनी आदि शस्त्र गृहस्थ के यहां से लाते हैं, परन्तु सूर्यास्त पूर्व ही वापिस लौटा देते हैं। क्योंकि धातु के पदार्थ रात को साधु अपनी निश्राय मे नहीं रखते। अतः दिन मे जब तक ये पदार्थ जिस साधु के पास हो उसकी आज्ञा के बिना अन्य साधु नहीं ले सकता। —लेखक।

याचेत, यस्तत्र ईश्वरः यस्तत्र समधिष्ठाता तान् अवग्रहं अनुज्ञापयेत्, काम खलु आयुष्मन् गृहपते! यथालन्दं यथापरिज्ञातं बसामः यावद् आयुष्मन्! यावत् आयुष्मतः अवग्रहे यावत् साधर्मिकाः एष्यन्ति [समागमिष्यन्ति] तावदवग्रहमवग्रहीष्यामः तेन परं विहरिष्यामः ॥ स किं पुनः तत्रावग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र साधर्मिकाः साम्भोगिकाः समनोज्ञाः उपागच्छेयुः ये तेन स्वयं एषितुमशनं वा ४ तेन तान् साधर्मिकान् ३ उपनिमन्त्रयेत्, नो चैव पराप्रत्ययेन अवगृह्य २ उपनिमन्त्रयेत्।

पदार्थ - से भिक्खू०—वह साधु अथवा साध्वी। आगंतारेसु वा—धर्मशाला आदि मे जाकर। अणुवीइ—विचार कर। उग्गहं—अवग्रह की। जाइज्जा—याचना करे। तत्थ—उस धर्मशाला का। जे—जो। ईसरे—स्वामी है। तत्थ—उसका। जे—जो। समहिट्ठए—अधिष्ठाता है। ते—उनकी। उग्गहं—आज्ञा। अणुन्नविज्जा—मागे। खलु—वाक्यालंकार मे है। आउसो—आयुष्मन् गृहस्थ! काम—यदि आपकी इच्छा हो। अहालंद—जितने समय के लिए आप आज्ञा दें तथा। अहापरिन्नायं—जितने क्षेत्र की आज्ञा दे, उतने समय तक उतने ही क्षेत्र मे। वसामो—हम निवास करेंगे। जाव—यावत्। आउसो—आयुष्मन् गृहस्थ! जाव—यावन्मात्र काल प्रमाण। आउसंतस्स—आयुष्मन् का-आपका। उग्गहे—अवग्रह होगा तथा। जाव—यावन्मात्र। साहम्मिया—सार्धमिक-साधु। एइ—आएगे। तावं—तावन्मात्र काल तक। उग्गह—अवग्रह को। उग्गिण्हिस्सामो—ग्रहण करके रहेगे। तेण पर—उसके पश्चात्। विहरिस्सामो—विहार कर जायेगे। से—वह-साधु। किं पुण—फिर क्या करे। तत्थ—वहा। उग्गहंसि—अवग्रह मे। एवोग्गहियसि—प्रकर्ष पूर्वक आज्ञा दिए जाने पर। जे-जो। तत्थ-वहा। साहम्मिया—साधर्मिक-साधु। समोइया—साभोगिक-सम समाचारी के मानने वाले, तथा एक गुरु के शिष्य। समणुन्ना—उग्र विहार करने वाले अर्थात् क्रिया करने वाले। उवागच्छिज्जा—अतिथि रूप मे आएं। जे—जो। तेण—उस-परमार्थी साधु से। सयं—स्वयमेव। एसित्तए—गवेषणा करके। असणं वा ४-अशनादिक चतुर्विध आहार लाया गया है। तेण—उसे। ते—उन। साहम्मिए—साधर्मिक साधुओ को। उवनिमंतिज्जा—निमन्त्रित करे। णं—वाक्यालंकार में है। एव—अवधारण अर्थ मे है। च—परन्तु। पर वडियाए—दूसरे के लाए हुए आहार को। ओगिज्झिय २—अपेक्षा से। नो उवनिमंतिज्ज—निमन्त्रित न करे।

मूलार्थ—सयमशील साधु या साध्वी धर्मशाला आदि में जाकर और विचार कर उस स्थान की आज्ञा मागे। उस स्थान का जो स्वामी या अधिष्ठाता हो उससे आज्ञा मांगते हुए कहे-आयुष्मन् गृहस्थ! जिस प्रकार तुम्हारी

इच्छा हो अर्थात् जितने समय के लिए जितने क्षेत्र में निवास करने की तुम आज्ञा दोगे उतने काल तक उतने ही क्षेत्र मे हम निवास करेंगे, अन्य जितने भी साधर्मिक साधु आएंगे वे भी उतने काल तक उतने क्षेत्र मे ठहरेंगे। उक्तकाल के बाद वे विहार कर जाएंगे।

इस प्रकार गृहस्थ की आज्ञा के अनुसार वहा निवसित साधु के पास यदि अन्य साधु-जोकि साधर्मी है, समग्र समाचारी वाले है और उग्र विहार करने वाले है, अतिथि के रूप में आजाए तो वह साधु अपने द्वारा लाए हुए आहारादि का उसे आमंत्रण करे, परन्तु अन्य के लाए हुए आहारादि के लिए उन्हे निमत्रित न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में मकान ग्रहण करने सम्बन्धी अवग्रह का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु अपने ठहरने योग्य निर्दोष एवं प्रासुक स्थान को देखकर उसके स्वामी या अधिष्ठाता* से उस मकान में ठहरने की आज्ञा मांगे। आज्ञा मांगते समय साधु यह स्पष्ट कर दे कि आप जितने समय के लिए जितने क्षेत्र मे ठहरने एव उसका उपयोग करने की आज्ञा देंगे उतने समय तक हम उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे। और यदि हमारे अन्य सांभोगिक साधु आएंगे तो वे भी उस अवधि तक उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे जितने क्षेत्र को काम में लेने की आपने आज्ञा दी है। इससे स्पष्ट है कि कोई भी साधु बिना आज्ञा लिए किसी भी मकान में नही ठहरता है।

उक्त मकान में स्थित साधु के पास यदि कोई साधर्मिक, साम्भोगिक और समान समाचारी वाला अन्य साधु अतिथि रूप में आ जाए तो वह अपने लाए हुए आहार-पानी का आमन्त्रण करके उनकी सेवा करे, परन्तु अन्य द्वारा लाए हुए आहार-पानी का आमन्त्रण न करे। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं— एक तो यह है कि साधु को अपने अतिथि साधु की स्वयं सेवा करनी चाहिए। इससे पारस्परिक प्रेम-स्नेह में अभिवृद्धि होती है। दूसरी यह कि साधु का एक माण्डले पर बैठकर आहार-पानी

---

* स्वामी का अर्थ मकान मालिक से है और अधिष्ठाता का अर्थ है—मकान की देख-रेख के लिए रखा हुआ व्यक्ति अर्थात् अपनी अनुपस्थिति में जिसे वह मकान देख-रेख रखने के लिए दे रखा हो।

करने का सम्बन्ध उसी साधु के साथ होता है जो साधर्मिक, साम्भोगिक और समान आचार-विचार वाला है।

अब असम्भोगी साधु के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया अन्नसंभोइया समणुन्ना उवागच्छिज्जा जे तेण सयमेसित्तए पीढे वा फलए वा सिज्जा वा संथारए वा तेण ते साहम्मिए अन्नसंभोइए समणुन्ने उवनिमंतिज्जा नो चेव णं परवडियाए ओगिज्झिय २ उवनिमंतिज्जा ॥

से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थुग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा सूई वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा नहच्छेयणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पाडिहारियं जाइत्ता नो अन्नमन्नस दिज्ज वा अणुपइज्ज वा, सयंकरणिज्जंतिकट्टु, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणाए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवित्ता-इमं खलु २ त्ति आलोइज्जा, नो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणिज्जा ॥१५७॥

छाया—स आगन्तारेषु वा ४ यावत् स किं पुनः तत्रावग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र साधर्मिकाः अन्यसाम्भोगिकाः समनोज्ञा उपागच्छेयुः ये तेन स्वयमेषितव्याः पीठं वा फलकं वा शय्या वा संस्तारको वा तेन तान् साधर्मिकान् अन्यसाम्भोगिकान् समनोज्ञान् उपनिमन्त्रयेत नो चैव परप्रत्ययेन अवगृह्य २ उपनिमन्त्रयेत् । स आगन्तारेषु वा ४ यावत् स किं पुनः तत्रावग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र गृहपतीना वा गृहपतिपुत्राणां वा सूची वा पिप्पलक वा कर्णशोधनको वा नखच्छेदनको वा ते आत्मनः एकस्यार्थाय प्रातिहारिकं याचित्वा नो अन्योन्यस्य दद्याद् वा अनुप्रदद्याद् वा स्वयं करणीयमितिकृत्वा स तदादाय तत्र गच्छेत्, पूर्वमेव उत्तानकं हस्त कृत्वा भूमौ वा स्थापयित्वा इदं खलु २ इति आलोचयेत् नो चैव स्वयं पाणिना परपाणौ प्रत्यर्पयेत् ।

पदार्थ—से—वह साधु । आगंतारेसु वा—धर्मशाला आदि मे । जाव—यावत् । से—वह भिक्षु । तत्थोवग्गहसि—वहा अवग्रह लिए जाने पर । एवोग्गहियंसि—प्रकर्ष पूर्वक आज्ञा दिए जाने पर । पुण किं— पुनः वह वहा क्या करे ? अब सूत्रकार इस सम्बन्ध में कहते हैं । जे—जो । तत्थ—वहा पर । साहम्मिया—अतिथि रूप मे सार्धमिक हैं । अन्न संभोइया—अन्य साम्भोगिक है अर्थात् जिनसे एक माडले पर बैठकर आहार करने का सम्भोग नही है किन्तु । समणुन्ना—वे उग्र विहारी हैं अर्थात् उत्तम आचार वाले है यदि वे । उवागच्छिज्जा—आ जाये । जे—जो । तेण—पहले वहा ठहरे हुए साधु हैं उनको । सयमेसित्तए—स्वय के गवेषणा किए हुए । पीढे वा—पीठ । फलए वा—फलक-पट्टा । सिज्जा वा—शय्या-वस्ती । संथारए वा—संस्तारक आदि । तेण—उस पीढ फलकादि से । ते—उन । साहम्मिए—सार्धमिक जो कि । अन्नसंभोइए—अन्य साम्भोगिक तथा । समणुन्ने—उग्र विहारी-उत्तम आचार वाले हैं । उवनिमंतिज्जा—प्रेम पूर्वक निमन्त्रित करे । च—फिर । एव—अवधारणार्थक है । णं—वाक्यालकार में है । पर वडियाए—परन्तु दूसरे के लाए हुए पीठ-फलकादि । ओगिज्झिय—उनकी अपेक्षा से । नो उवनिमंतिज्जा—निमन्त्रित न करे ।

से—वह भिक्षु । आगंतारेसु वा ४—धर्मशाला आदि के विषय मे । जाव—यावत् । से—वह । तत्थुग्गहंसि—आज्ञा लेने पर । एवोग्गहियंसि—विशेषता से आज्ञा प्राप्त होने के पश्चात् । उस साधु को क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं कि । जे—जो । तत्थ—वहा पर । गाहावईण वा—गृहपतियों के उपकरण अथवा । गाहा० पुत्ताण वा—गृहपति के पुत्रों के उपकरण । सूई वा—वस्त्रादि के सीने वाली सूई अथवा ।

पिप्पलए वा—कैंची-कतरनी। कण्णसोहणए वा—कान के मल को निकालने वाली शलाका कर्णशोधक सलाई। नहच्छेयणए वा—नख छेदन करने वाला उपकरण आदि पड़े हो तो। तं—उसको। अप्पणो—अपने। एगस्स—एक के। अट्ठाए—लिए। पाडिहारियं—प्रातिहारक-वापिस दिए जाने वाला। जाइत्ता—माग कर। अन्नमन्नस्स—परस्पर अन्य साधुओ को। नो दिज्ज वा—न दे। न अणुपइज्ज वा—बार बार न दे किन्तु। सयं करणिज्जतिकट्टु—अपना कार्य पूरा करके। से—वह साधु। तमायाए—उस सूई आदि को लेकर। तत्थ—वहा गृहस्थ के पास। गच्छिज्जा २—जाए और वहा जाकर। पुव्वामेव—पहले ही। उत्ताणए हत्थे कट्टु—सीधा हाथ पसार कर और सूई आदि को हाथ मे रख कर। वा—अथवा। भूमीए—पृथ्वी पर। ठवित्ता—रख कर फिर गृहस्थ के प्रति कहे। इम खलु २ त्ति—यह निश्चय ही तुम्हारी वस्तु है, ऐसा कह कर वह वस्तु उसको दिखावे परन्तु। सयं पाणिणा—अपने हाथ से। पर पाणिसि—गृहस्थ के हाथ मे। नो पच्चप्पिणिज्जा—न दे।

मूलार्थ—आज्ञा प्राप्त कर धर्मशाला आदि में ठहरे हुए साधु के पास यदि उत्तम आचार वाले असभोगी साधर्मी-साधु अतिथिरूप मे आजाएं तो वह स्थानीय साधु अपने गवेषणा किए हुए पीढ़, फलक, शय्या-सस्तारक आदि के द्वारा अल्पसांभोगिक साधुओं को निमन्त्रित करे, परन्तु दूसरे द्वारा गवेषित पीढ़, फलकादि द्वारा निमन्त्रित न करे।

यदि कोई साधु गृहस्थ के पास से सूई, कैंची, कर्णशोधनिका और नखछेदक आदि उपकरण अपने प्रयोजन के लिये माग कर लाया हो तो वह उन उपकरणो को अन्य भिक्षुओ को न दे। किन्तु अपना कार्य करके गृहस्थ के पास जाए और लम्बा हाथ करके उन उपकरणों को भूमि पर रख कर गृहस्थ से कहे कि यह तुम्हारा पदार्थ है, इसे संभाल लो, देख लो परन्तु उन सूई आदि वस्तुओं को साधु अपने हाथ से गृहस्थ के हाथ पर न रखे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गत सूत्र में कथित विधि से आज्ञा लेकर ठहरे हुए साधु के पास कोई असम्भोगिक एवं अपने समान समाचारी का पालन नहीं करने वाले साधु आ जाएं तो वह अपने लाए हुए शय्या-संथारे या पाट-तख्त आदि से उसका सत्कार-सम्मान करे अर्थात् उसे उनका आमन्त्रण करे, परन्तु अन्य के

मूलम्—से भि० से जं० उग्गहं जाणिज्जा अणंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए तह० उग्गहं नो गिरिहज्जा वा २ ॥ से भि० से जं पुण उग्गहं थूणंसि वा ४ तह० अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे जाव नो उगिरिहज्जा वा २॥

से भि० से जं० कुलियंसि वा ४ जाव नो उगिरिहज्ज वा २ ॥ से भि० खंधंसि वा ४ अन्नयरे वा तह० जाव नो उग्गहं उगिरिहज्ज वा २ ॥ से भि० से जं० पुण० ससागारियं० सखुड्डपसुभत्तपाणं नो पन्नस्स निक्खमणपवेसे जाव धम्माणु-ओगचिंताए, सेवं नच्चा तह० उवस्सए ससागारिए० नो उग्गहं उगिरिहज्जा वा २ ॥ से भि० से जं० गाहावइकुलस्स मज्झं-मज्झेणं गंतुं पंथे पडिबद्धं वा नो पन्नस्स जाव सेवं न० ॥ से भि० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अन्न-मन्नं अक्कोसंति वा तहेव तिल्लादि सिणाणादि सीओदग-वियड़ादि निगियाइ वा जहा सिज्जाए आलावगा, नवरं उग्गह-वत्तव्वया ॥ से भि० से जं० आइन्नसंलिक्खे नो पन्नस्स० उगिरिहज्ज वा २, एयं खलु ॥१५८॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् अवग्रहं जानीयात् अनन्तरहितायां पृथिव्यां यावत् सन्तानकः तथाप्रकार अवग्रहं न गृह्णीयात् वा २ । स भिक्षुर्वा

भिक्षुकी वा स यत् पुनः अवग्रहं स्थूणायां वा ४ तथाप्रकार अन्तरिक्षजातं दुर्बद्धं यावत् नो अवगृह्णीयात् वा २।

स भिक्षुर्वा० स यत् कुल्यके यावत् नो अवगृह्णीयाद् वा २ ॥ स भिक्षुर्वा० स्कन्धे वा ४ अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारं यावत् नो अवग्रह अवगृह्णीयाद् वा २ ॥ स भिक्षुर्वा० स यत्० पुनः० ससागारिक० सक्षुद्रपशु-भक्तपानं नो प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशः यावत् धर्मानुयोगचिन्तायां तदेव ज्ञात्वा तथाप्रकारमुपाश्रयं ससागारिक० नो अवग्रह अवगृह्णीयाद् वा २ ॥ स भिक्षुर्वा० स यत्० गृहपतिकुलस्य मध्य-मध्येन गन्तु पथि प्रतिबद्ध वा नो प्राज्ञस्य यावत् तदेव ज्ञात्वा० ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत्० इह खलु गृहपतिर्वा यावत् कर्मकर्यो वा अन्योन्यम् आक्रोशन्ति वा तथैव तैलादि, स्नाना-दि, शीतोदक विकटादि नग्नादि वा यथा शय्यायाम् आलापकाः नवरम् अवग्रह-वक्तव्यता ॥ स भिक्षुर्वा० स यत्० आकीर्णसलिख्ये नो प्राज्ञस्य० अवगृह्णी-याद् वा २ एतत् खलु० ।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी। से—वह। ज—जो। पुण०—फिर अवग्रह को। जाणिज्जा—जाने। अणतरहियाए—सचित्त। पुढवीए—पृथ्वी के विषय में। जाव—यावत्। सताणए—मकडी के जाले आदि से युक्त पृथ्वी में। तह०—तथाप्रकार के। उग्गहं—अवग्रह को। नो गिण्हिज्ज वा—ग्रहण न करे या गृहस्थ से आज्ञा न मागे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से—वह। ज—जो। पुण०—फिर। उग्गहं—अवग्रह को। जाणिज्जा—जाने। थूणसि वा ४—स्तूप आदि के विषय मे। तह०—तथाप्रकार के। अंतलिक्खजाए—अन्तरिक्ष-भूमि से ऊंचे स्थानो को जो। दुबद्धे—अस्थिर है। जाव—यावत् ऐसे अवग्रह को। नो उगिण्हिज्ज वा २—ग्रहण न करे अथवा गृहस्थ से उसकी याचना न करे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से—वह। जं०—जो फिर अवग्रह को जाने। कुलियसि वा ४—भीत आदि के विषय में जो कि चलाचल स्वभाव वाले स्थान हैं। जाव—यावत्। नो उगिण्हिज्ज वा २—अवग्रह को ग्रहण न करे और गृहस्थ से याचना भी न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी फिर अवग्रह को जाने। खधसि वा—स्कन्ध आदि के विषय मे। अन्नयरे वा—अन्य इसी प्रकार का ऊचा अथवा विषम स्थान। तह०—तथा-

प्रकार के। जाव—यावत्। उग्गहं—अवग्रह को। नो उगिण्हिज्ज वा २—ग्रहण न करे अर्थात् इस प्रकार के अवग्रह की गृहस्थ से याचना न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। से जं० पुण—वह जो फिर अवग्रह को जाने। ससागारियं—जो उपाश्रय गृहस्थो से युक्त, अग्नि और जल से युक्त तथा स्त्री पुरुष और नपुंसक आदि से युक्त हो तथा। सखुड्डपसुभत्तपाणं—बालक पशु और उनके खाने-पीने के योग्य अन्नपानादि से युक्त हो। पन्नस्स—प्रज्ञावान् साधु को। निक्खमणपवेसे—निकलना और प्रवेश करना। नो—नही कल्पता। जाव—यावत्। धम्माणुओगचिंताए—ऐसे स्थान मे धर्मानुष्ठान एवं धर्मानुयोग चिन्ता आदि करनी नही कल्पती। सेवं—वह-भिक्षु इस प्रकार। नच्चा—जानकर। तह०—तथा प्रकार के। उवस्सए—उपाश्रय मे। स सागारिय—जो कि गृहस्थ आदि से युक्त है। उग्गहं—अवग्रह को। नो उगिण्हिज्ज वा २—ग्रहण न करे और न उसकी याचना करे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से जं०—वह जो फिर अवग्रह को जाने। गाहावई०—गृहपति कुल के। मज्झं मज्झेण—मध्य २ से। गंतु—जाने का। पंथे—मार्ग हो। वा—अथवा। पडिबद्धं—मार्ग स्त्रियो से आकीर्ण हो या स्त्री वर्ग अपनी नाना प्रकार की शारीरिक चेष्टाये कर रहा हो तो। पन्नस्स—प्रज्ञावान् साधु को उन्हे उलंघ कर जाना। नो—नही कल्पता अतः। सेवं नच्चा—साधु इस प्रकार जानकर। तहप्पगारे०—तथाप्रकार के उपाश्रय के विषय मे अवग्रह की याचना न करे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से जं० पुण०—वह जो फिर अवग्रह को जाने। इह खलु—निश्चय ही यहाँ। गाहावई वा—गृहपति। जाव—यावत्। कम्मकरीओ वा—गृहपति की दासियें। अन्नमन्नं—परस्पर। अक्कोसंति वा—आक्रोश करती हैं, आपस में लड़ती-झगड़ती है। तहेव—उसी प्रकार। तिल्लादि—तैल आदि चोपड सकती हैं तथा। सिणाणादि—स्नानादि करती है। सीओदग वियडादि—शीतल सचित्त जल से वा उष्ण जल से स्नान करती है। वा—अथवा। निगिणाइ—मैथुन आदि क्रीडा के लिए नग्न होती हैं। वा—अथवा। जहा—जैसे। सिज्जाए—शय्या अध्ययन के। आलावगा—आलापक कथन किए गए है उसी प्रकार यहा भी जान लेना। नवरं—इतना विशेष है। उग्गहवत्तव्वया—यहा पर अवग्रह की वक्तव्यता है, अर्थात् अवग्रह का विषय है।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से जं०—वह जो फिर अवग्रह को जाने। आइन्न संलिक्खे—जो उपाश्रय चित्रो से आकीर्ण है ऐसे उपाश्रय मे ठहरने के लिए। पन्नस्स०—प्रज्ञावान् साधु को तथाप्रकार के उपाश्रय का। उगिण्हिज्जा वा २—अवग्रह नही लेना चाहिए।

एवं खलु०—निश्चय ही यह साधु और साध्वी का समग्र आचार है। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—संयम निष्ठ साधु-साध्वी को सचित्त पृथ्वी या जीव जन्तु युक्त स्थान की आज्ञा नही लेनी चाहिए और जो उपाश्रय भूमि से ऊचा, स्तम्भ आदि के ऊपर एवं विषम हो उसमें भी ठहरने की आज्ञा न लेनी चाहिये और जो उपाश्रय कच्ची भीत पर स्थित हो और अस्थिर हो उसकी भी साधु याचना न करे। जो उपाश्रय स्तम्भ आदि पर अवस्थित और इसी प्रकार के अन्य किसी विषम स्थान मे हो तो उसकी आज्ञा भी नही लेनी चाहिये। जो उपाश्रय गृहस्थों से युक्त हो, अग्नि और जल से युक्त हो, एव स्त्री, बालक और पशुओ से युक्त हो तथा उनके योग्य खान-पान की सामग्री से भरा हुआ हो तो बुद्धिमान साधु को ऐसे उपाश्रय मे भी नहीं ठहरना चाहिए जिस उपाश्रय मे जाने के मार्ग मे स्त्रियें बैठी रहती हो या वे नाना प्रकार की शारीरिक चेष्टाये करती हो, ऐसे उपाश्रय में भी बुद्धिमान साधु ठहरने की आज्ञा न मांगे। जिस उपाश्रय में गृहपति यावत् उनकी दासियें परस्पर आक्रोश करती हो, या तैलादि की मालिश करती हो, स्नानादि करती और नग्न होकर बैठती हो इस प्रकार के उपाश्रय की भी साधु याचना न करे। और जो उपाश्रय चित्रो से आकीर्ण होरहा हो उसकी भी आज्ञा नहीं लेनी चाहिये यह साधु और साध्वी का समग्र आचार है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु को कैसे मकान में ठहरना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए शय्या अध्ययन मे वर्णित बातों को दोहराया है। जैसे— जो उपाश्रय अस्थिर दीवार एवं स्तम्भ पर बना हुआ हो, विषम स्थान पर हो, स्त्रियों से आवृत्त हो, जिसके आने-जाने के मार्ग मे स्त्रिए बैठी हों, परस्पर तैल की मालिश कर रही हों, या अस्त-व्यस्त ढङ्ग से बैठी हों, तो ऐसे स्थान की साधु को याचना नहीं करनी चाहिए। इसका

तात्पर्य यह है कि साधु को ऐसे स्थान में ठहरने का संकल्प नहीं करना चाहिए, जिस में जीवों की हिंसा एवं संयम की विराधना होती हो, मन में विकार उत्पन्न होता हो और स्वाध्याय एवं ध्यान में विघ्न पड़ता हो।

यह साधु का उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु, यदि किसी गांव में संयम साधना के अनुकूल मकान नहीं मिल रहा है, तो साधु एक-दो रात के लिए परिवार वाले मकान आदि में भी ठहर सकता है। यह अपवाद मार्ग है और ऐसी स्थिति में साधु को एक-दो रात्रि से अधिक ऐसे मकान में ठहरना नहीं कल्पता है*।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कुलियंसि एवं थूणंसि' का अर्थ कोष† में कुड्य दीवार एवं स्तम्भ किया है। और 'धम्माणुओगचिंताए' का अर्थ है—साधु को उसी स्थान की याचना करनी चाहिए जिसमें धर्मानुयोग भली-भांति साधा जा सके अर्थात् जहां संयम में बिल्कुल दोष न लगे ऐसे स्थान में ठहरना चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

* बृहत्कल्प सूत्र।

† अर्द्धमागधी कोष भा० २, पृ० ५०७, भा० ३, पृ० १०१।

# सप्तम अध्ययन—अवग्रह प्रतिमा

## द्वितीय उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन अवग्रह से सम्बद्ध है। प्रथम उद्देशक में अवग्रह के सम्बन्ध में कुछ विचार किया गया था। उसी विचार धारा को आगे बढ़ाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे० ते उग्गहं अणुन्नविज्जा कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिन्नायं वसामो जाव आउसो! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिआए ताव उग्गहं उगिरिहस्सामो, तेण परं वि०, से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाण वा माह० छत्तए वा जाव चम्मछेदणए वा तं नो अन्तोहिंतो बाहिं नीणिज्जा बहियाओ वा नो अंतो पविसिज्जा सुत्तं वा नो पडिबोहिज्जा, नो तेसिं किंचिवि अप्पत्तियं पडिणीय करिज्जा ॥१५६॥

छाया—स आगन्तागारेषु वा ४ अनुविचिन्त्य अवग्रहं याचेत, यस्तत्र ईश्वरः० तान् अवग्रहमनुज्ञापयेद् कामं खलु आयुष्मन्! यथालन्दं यथापरिज्ञात वसामः यावत् आयुष्मन्! यावत् आयुष्मतः अवग्रहः यावत् साधर्मिकाः तावत् अवग्रहमवग्रहीष्यामः तेन पर विहरिष्याम, स किं पुनः तत्र अवग्रहे एवावग्रहीते ये तत्र श्रमणाना वा ब्राह्मणाना वा छत्रक वा यावत् चर्मच्छेदनकः वा तद् नो अन्ततः बहिः

निर्णयेत् बहिष्तो वा नो अन्तः प्रवेशयेत्, सुप्तं वा नो प्रतिबोधयेत् नो तेषां किंचिदपि अप्रीतिकं प्रत्यनीकतां कुर्यात् ।

पदार्थ – से – वह भिक्षु। आगतारेसु वा ४ – धर्मशाला आदि मे। अणुवीइ – विचार कर। उग्गहं – अवग्रह की। जाइज्जा – याचना करे। जे – जो। तत्थ – वहा पर। ईसरे० – घर का स्वामी तथा अधिष्ठाता हो। ते – उनको। उग्गहं – अवग्रह। अणुन्नविज्जा – वतलाए जैसे कि। खलु – निश्चय ही। आउसो – हे आयुष्मन् गृहस्थ! कामं – जितने समय तक आपकी इच्छा हो। अहालद – उतने समय तक। अहा परिन्नाय – तावत् प्रमाण क्षेत्र में। वसामो – हम निवास करेगे। जाव – यावत् काल पर्यन्त तुम्हारी आज्ञा होगी। आउसो! – हे आयुष्मन्! जाव – यावत् काल पर्यन्त। आउसंतस्स – आयुष्मन् का-आपका। उग्गहे – अवग्रह होगा उतने समय तक ही रहेगे, तथा। जाव – जितने भी। साहम्मियाए – और साधर्मिक साधु आयेगे वे भी। ताव – तावन्मात्र। उग्गहं – अवग्रह। उगिण्हिस्सामो – ग्रहण करेगे अर्थात् आपकी आज्ञानुसार रहेगे। तेण परं – उसके बाद। विहरिस्सामो – विहार कर जायेगे। से – वह भिक्षु। तत्थ – वहा। उग्गहंसि – अवग्रह लेने पर तथा। एवोग्गहियंसि – अवग्रह के ग्रहण करने के पश्चात्। पुण किं – उसे फिर क्या करना चाहिए? इस विषय में सूत्रकार कहते है। जे – जो। तत्थ – वहा पर। समणाण वा – शाक्यादि श्रमणो अथवा। माह० – ब्राह्मणो के। छत्तए वा – छत्र। जाव – यावत्। चम्म छेदणए वा – चर्म छेदनक पडे हो तो। तं – उनको। अंतोहिंतो – भीतर से। बाहिं – बाहर। नो नीणिज्जा – न निकाले। वा – और। बहियाओ – बाहर से। अंतो – भीतर। नो पविसिज्जा – न रखे। वा – अथवा। सुत्तं – सोए हुए को। नो पडिबोहिज्जा – जागृत न करे। तेसिं – उनके। किंचिवि – किंचन्मात्र भी। अप्पत्तियं – मन को पीडा तथा। पडिणीयं – प्रतिकूलता। नो करिज्जा – उत्पन्न न करे।

मूलार्थ – साधु धर्मशाला आदि स्थानों मे जाकर और विचार कर अवग्रह की याचना करे। उक्त स्थानो के स्वामी, अधिष्ठाता से याचना करते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! हम यहां पर ठहरने को आज्ञा चाहते है आप हमे जितने समय तक और जितने क्षेत्र मे ठहरने की आज्ञा देंगे उतने समय और उतने ही क्षेत्र मे ठहरेंगे। हमारे जितने भी सावर्मी साधु यहां आएगे तो वे भी इसी नियम का अनुसरण करेगे। तुम्हारे द्वारा नियत की गई अवधि के बाद विहार कर जाएगे। उक्त स्थान मे ठहरने के लिए गृहस्थ को आज्ञा प्राप्त हो जाने पर साधु उस स्थान मे प्रवेश करते

समय यह ध्यान रखे कि यदि उन स्थानो मे शाक्यादि श्रमण तथा ब्राह्मणो के छत्र यावत् चर्म छेदक आदि उपकरण पड़े हों तो वह उनको भीतर मे बाहर न निकाले और बाहर से भीतर न रक्खे तथा किसी सुपुप्त श्रमण आदि का जागृत न करे और उनके साथ किंचिन्मात्र भी अप्रीतिजनक काय न करे जिस से उनके मन को आघात पहुचे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि गृहस्थ की आज्ञा प्राप्त करके उसके मकान में ठहरते समय साधु को कोई ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए जिससे उस गृहस्थ या उसके मकान मे ठहरे हुए शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं के मन को किसी तरह का आघात पहुचे और उनके मन में साधु के प्रति दुर्भाव एव अप्रीति पैदा हो। यदि उस मकान मे पहले कोई श्रमण-ब्राह्मण ठहरे हुए हों और उनके छत्र, चामर आदि उपकरण पड़े हों तो साधु उन उपकरणों को बाहर से भीतर या भीतर से बाहर न रखे और यदि वे सुपुप्त हों तो साधु उन्हें जागृत न करे और उनके साथ किसी तरह का असभ्य एव अशिष्ट व्यवहार भी न करे। क्योंकि साधु का जीवन स्व और पर के कल्याण के लिए है। वह अपने हित के साथ-साथ अन्य प्राणियों को भी सन्मार्ग दिखाकर उनकी आत्मा का हित करने का प्रयत्न करता है। अत उसे प्रत्येक मानव के साथ बर्ताव करते समय अपनी साधुता को नहीं छोड़ना चाहिए। उसकी साधुता प्रत्येक मानव के साथ—चाहे वह किसी भी पन्थ, मत, देश, जाति एवं धर्म का क्यों न हो, मानवता का, शिष्टता का एव मधुरता का व्यवहार करने मे है। इस लिए साधु को प्रत्येक स्थान मे ठहरते समय इस बात की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिए कि उसके व्यवहार से मकान मालिक एव उसमें स्थित या अन्य आने-जाने वाले व्यक्तियों के मन को किसी तरह कासंक्लेश न पहुचे।

यदि आम्र के बगीचे में ठहरे हुए साधु को आम्र आदि ग्रहण करना हो तो वह उन्हें कैसे ग्रहण करे, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० अभिकंखिज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे २ ते उग्गहं अणुजाणाविज्जा—कामं खलु जाव विहरिस्सामो, से किं पुण० एवोग्गहियंसि अह भिक्खू इच्छिज्जा अंबं भुत्तए वा से जं पुण अंबं जाणिज्जा सअंडं ससंताणं तह०

ल्ह० चोयगं वा ल्हसुणनालगं वा भुत्तए वा २ से जं० लसुणं वा जाव लसुणबीयं वा स अंडं जाव नो पडि०, एवं अतिरिच्छ-छिन्नेवि तिरिच्छछिन्ने जाव प० ॥१६०॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् आम्रवनमुपागंतु यस्तत्र ईश्वरः तमवग्रहमनुज्ञापयेत्—काम खलु यावद् विहरिष्यामः स किं पुन तत्र अवग्रहे एवावग्रहीते, अथ भिक्षुः इच्छेत आम्र भोक्तु वा स यत् पुनः आम्रं जानीयात् साण्ड ससन्तानक तथाप्रकारं आम्रमप्रासुक नो-प्रतिगृण्हीयात्। स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः आम्र जानीयात्-अल्पाण्डमल्प-सन्तानकमतिरश्चीनछिन्नमव्यवच्छिन्नमप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः आम्रं जानीयात् अल्पाण्डं वा यावद् सन्तानकं तिर-श्चीनछिन्न व्यवच्छिन्न यावत् प्रासुकं प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुन आम्र जानीयात् आम्रभित्तक (आम्रार्द्धम्) वा आमूपेशिका आम्रत्वच वा आम्रशालक वा आमूडालकं वा भोक्तु वा पातु वा स यत्० वा आम्रभित्तक वा ५ साण्डमप्रासुक० नो प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत्० आम्र वा आम्रभित्तक वा अल्पाड० अतिरश्चीनछिन्नमव्यवच्छिन्न-मप्रासुक नो प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत्० आम्रडालक वा अल्पाड ५ तिरश्चीनछिन्न व्यवच्छिन्न प्रतिप्रासुकगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत् इक्षुवन उपागन्तु, यस्तत्र ईश्वर. यावत् अव-ग्रहीते० ॥ अथ भिक्षुः इच्छेत् इक्षु भोक्तु वा पातु वा० स यत्० इक्षु जा-नीयात् साण्ड यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् अतिरश्चानछिन्न तथैव तिरश्चीन-छिन्नमपि तथेव ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत् अन्तरिक्षुकं वा इक्षुगण्डिका वा इक्षुत्वच वा इक्षुशालकं वा इक्षुडालक वा भोक्तु वा पातु वा० स यत् पुनः अतरिक्षक वा यावत् डालक वा साण्ड०-नो प्रतिगृह्णीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत् लशनवन-

मुपागन्तुं तथैव त्रयोऽपि आलापकाः नवरं लशुनम् ॥ स भिक्षुर्वा २ लशुनं वा लशुनकन्दं वा लशुनत्वच वा लशुननालकं वा भोक्तुं वा पातु वा २ स यत्० लशुन वा यावत् लशुनवीज वा साण्डं वा यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् एवं अतिरश्चीनछिन्नमपि तिरश्चीनछिन्नं यावत् प्रतिगृण्हीयात् ।

पदार्थ—से भि०—वह साधु अथवा साध्वी यदि । अभिकंखिज्जा—चाहे । अंब वण—आम्र वन मे । उवागच्छित्तए—आकर अवग्रह की याचना करे । जे—जो । तत्थ—वहा पर । ईसरे २—आम्रवन का स्वामी अथवा वन का अधिष्ठाता है । ते—उसको । उग्गह—अवग्रह का । अणुजाणाविज्जा—अनुज्ञापन करावे अर्थात् उससे आज्ञा मागे । कामं खलु—जैसे अपनी इच्छा हो वैसे ही । जाव—यावत् । विहरिस्सामो—हम विचरेंगे । से—वह भिक्षु । किं—फिर क्या करे ? अब सूत्रकार इस विषय मे कहते हैं । पुण०—फिर । तत्थ—वहा पर । एवोग्गहियंसि—आज्ञा मिल जाने पर । अह—अथ । भिक्खू—भिक्षु-साधु । अंबं भुत्तए वा—आम्र का आहार करना । इच्छिज्जा—चाहे तो । से—वह-भिक्षु । जं—जो । पुण—फिर । अंबं—आम्रफल के सम्बन्ध मे यह । जाणिज्जा—जाने कि । स अडं—जो आम अण्डो के सहित हैं । ससंताण—जालो से युक्त हैं तो । तह०—तथाप्रकार के । अंबं—आम्र को । अफा०—अप्रासुक जानकर । नो प०—ग्रहण न करे ।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी । से ज—वह जो फिर । अंब जाणिज्जा—आम्र फल को जाने । अप्पंडं—अण्डो से रहित । अप्पसंताणगं—जालो से रहित । अतिरिच्छछिन्नं—जो तिरछा छेदन नही किया हुआ है तथा जो । अव्वोच्छिन्न—अखडित है उसको । अफासुयं—अप्रासुक । जाव—यावत् अनेषणीय जानकर । नो पडिगाहिज्जा—ग्रहण न करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । से जं०—वह फिर आम्र के फल को जाने जो । अप्पडं—अडो से रहित । जाव—यावत् । संताणगं—जालो से रहित । तिरिच्छ छिन्नं—तिरछा छेदन किया हुआ । वुच्छिन्नं—खण्ड-खण्ड किया हुआ उसको । फा०—प्रासुक जानकर । पडि०—ग्रहण करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी यदि आम्र फल को ग्रहण करना चाहे तो । अंबभित्तग—आम्र का अर्द्ध भाग । वा—अथवा । अंब सालगं वा—आम्रफल का रस अथवा । अंबडालगं वा—आम्रफल के सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड । भुत्तए वा पायए वा—खाना या पीना चाहे तो । से जं—वह भिक्षु जो । पुण—फिर जाने कि । अंब भित्तगं वा—यदि आधा आम्र फल ।

ल्हु० चोयगं वा ल्हसुणनालगं वा भुत्तए वा २ से जं० लसुणं वा जाव लसुणबीयं वा स अंडं जाव नो पडि०, एवं अतिरिच्छछिन्नेवि तिरिच्छछिन्ने जाव प० ॥१६०॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकांक्षेत् :आम्रवनमुपागंतुं यस्तत्र ईश्वरः तमवग्रहमनुज्ञापयेत्—काम खलु यावद् विहरिष्यामः स किं पुन तत्र अवग्रहे एवावग्रहीते, अथ भिक्षुः इच्छेत आम्र भोक्तुं वा स यत् पुनः आम्रं जानीयात् साण्ड ससन्तानक तथाप्रकारं आम्रमप्रासुक नो-प्रतिगृण्हीयात्। स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः आम्र जानीयात्-अल्पाण्डमल्पसन्तानकमतिरश्चोनछिन्नमव्यवच्छिन्नमप्रासुकं यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत् पुनः आम्रं जानीयात् अल्पाण्डं वा यावद् सन्तानकं तिरश्चीनछिन्नं व्यवच्छिन्न यावत् प्रासुकं प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा स यत् पुन आम्र जानीयात् आम्रभित्तक (आम्रार्द्धम्) वा आम्रपेशिका आम्रत्वच वा आम्रशालक वा आम्रडालकं वा भोक्तु वा पातु वा स यत्० वा आम्रभित्तक वा ५ साण्डमप्रासुक० नो प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत्० आम्र वा आम्रभित्तक वा अल्पाड० अतिरश्चोनछिन्नमव्यवच्छिन्नमप्रासुक नो प्रतिगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा० स यत्० आम्रडालक वा अल्पाड ५ तिरश्चोनछिन्न व्यवच्छिन्न प्रतिप्रासुकगृण्हीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत् इक्षुवन उपागन्तु. यस्तत्र ईश्वरः यावत् अवग्रहीते० ॥ अथ भिक्षुः इच्छेत् इक्षु भोक्तु वा पातु वा० स यत्० इक्षु जानीयात् साण्ड यावत् नो प्रतिगृण्हीयात् अतिरश्चानछिन्नं तथैव तिरश्चीनछिन्नमपि तथैव ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत् अन्तरिक्षुकं वा इक्षुगडिका वा इक्षुत्वच वा इक्षुशालकं वा इक्षुडालक वा भोक्तुं वा पातु वा० स यत् पुनः अंतरिक्षक वा यावत् डालकं वा साण्ड०- नो प्रतिगृहीयात् ॥ स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा अभिकाक्षेत् लशनवन-

आलापक । तहेव—उसी प्रकार पूर्व की भांति जानना। नवरं—केवल इतना विशेष है। ल्हसुण—यहा पर लशुन का अधिकार समझना चाहिए। से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। अभिकंखिज्जा—चाहे। ल्हसुण वा—लशुन को। ल्हसुण कंदं वा—लशुन के कन्द को। ल्ह०-चोयगं वा—लशुन की त्वचा-छाल को अथवा। ल्हसुण नालगं वा—लशुन की नाल को। भुत्तए वा—भोगना तथा पीना। से जं पुण—वह जो फिर। ल्हसुण वा—लशुन लशुन कन्द। जाव—यावत्। ल्हसुणबीयं वा—लशुन के बीज को, जो। स अंडं—अंडादि से युक्त है। जाव—यावत्। नो पडि०—ग्रहण न करे। एवं—इसी प्रकार। अतिरिच्छ छिन्नेऽवि—जो तिरछा छेदन नही किया हुआ, जो कि सचित्त है उसे ग्रहण न करे। तिरिच्छछिन्ने—तिरछा छेदन किया हुआ है जो कि अचित्त है। जाव—यावत्। पडि०—ग्रहण कर ले।

मूलार्थ—यदि कोई संयम निष्ठ साधु या साध्वी आम्र के वन में ठहरना चाहे तो वह उस बगीचे के स्वामी या अधिष्ठाता से उसके लिए याचना करते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! मैं यहा पर ठहरना चाहता हू। जितने समय के लिए आप आज्ञा देंगे उतने समय ठहर कर बाद मे विहार कर दूगा। इस तरह बागवान की आज्ञा प्राप्त होने पर वह वहा ठहरे। यदि वहा स्थित साधु को आम्रफल खाने की इच्छा हो तो उसे कैसे आम्रफल को ग्रहण करना चाहिए? इसके सम्बन्ध मे बताया गया है कि वह फल अंडादि से युक्त हो तो वह उसे ग्रहण न करे। अंडादि से रहित होने—परन्तु यदि उसका तिरछा छेदन न हुआ हो तथा उसके अनेक खण्ड भी न किए गए हो तो भी उसे साधु स्वीकार न करे। परन्तु यदि वह अंडादि से रहित हो, तिरछा छेदन किया हुआ हो और खंड २ किया हुआ हो तो अचित्त एव प्रासुक होने से साधु उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु आम्र का आधा भाग, उसकी फाड़ी, उसकी छाल और उसका रस एवं उसके किए गए सूक्ष्म खंड यदि अंडादि से युक्त हो या अंडादि से रहित होने पर भी तिरछे कटे हुए न हो और खंड २ न किए गए हो तो साधु उसे भी ग्रहण न करे। यदि उनका तिरछा छेदन किया गया है, और अनेक खंड किए गए है तब उसे अचित्त और प्रासुक जानकर साधु ग्रहण कर ले।

सअंडं—अण्डो से युक्त है तो। अफा०—उसको अप्रासुक जानकर। नो प०—ग्रहण न करे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से जं०—वह साधु जो। अंबं—आम्र फल को। अंब भित्तग वा—अथवा उसके अर्द्ध भाग-खण्ड को, जो कि। अप्पडं—अडादि से रहित होने पर भी। अतिरिच्छछिन्न २—तिरछा छेदन नहीं किया हुआ और न खण्ड-खण्ड किया गया है तो उसको भी अप्रासुक जानकर। नो प०—ग्रहण न करे।

से जं०—वह साधु या साध्वी फिर आम्र फल को जाने; अंबडालग वा—यावत् आम्रफल के सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड किए हुए है। अप्पडं—अंडादि से रहित है और। तिरिच्छ छिन्नं—तिरछा छेदन किया हुआ है। वुच्छिन्न—खण्ड २ किया हुआ है तथा परिपक्क होने से अचित्त हो गया है उसको। फासुय—प्रासुक जान कर। पडि०—ग्रहण करे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी यदि। अभिकखिज्ज—चाहे। उच्छुवणं—इक्षु-वन मे। उवागच्छित्तए—जाना। जे—जो। तत्थ—वहां। ईसरे—इक्षु वन का स्वामी है। जाव—यावत्। उग्गहसि०—उसकी आज्ञा मे ठहरे। अह भिक्खू—अतः साधु। उच्छुं—इक्षु को। भुत्तए वा पा०—खाना या पीना। इच्छिज्जा—चाहे तो। से—वह भिक्षु। जं—जो। पुण—फिर। उच्छु—इक्षु के सम्बन्ध में यह। जाणिज्जा—जाने कि। स अंड—जो इक्षु अडो से युक्त। जाव—यावत् जालो से युक्त है उसको। नो पडि०—ग्रहण न करे। अतिरिच्छ छिन्न—जो तिरछा छेदन नहीं किया हुआ। तहेव—उसी प्रकार अर्थात् आम्र फल के समान दूसरा आलापक जानना। तहेव—उसी प्रकार। तिरिच्छन्नेऽवि—तिरछा छेदा हुआ भी आलापक जानना यह आलापक अचित्त विषयक है और इससे पहला सचित्त विषय में है।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। अभिकखिज्जा—चाहे। अंतरुच्छुयं वा—इक्षु के पर्व भाग का मध्य अथवा। उच्छुगडियं वा—इक्षु की गडिका-कतली। उच्छुचोयग वा—अथवा इक्षु की छाल। उच्छुसा०—इक्षु का रस। उच्छुडा०—इक्षु के सूक्ष्म खण्ड। भुत्तए वा—भोगने अथवा। पा०—पीने। से—वह भिक्षु। जं—जो। पुण—फिर। जाणिज्जा—जाने। अंतरुच्छुय वा—इक्षु के पर्व का मध्य भाग। जाव—यावत्। डालग वा—इक्षु के सूक्ष्म २ खण्ड। सअंड—अडादि से युक्त होतो। नो पडि०—ग्रहण न करे। से भि०—वह साधु या साध्वी। से जं०—यह जाने। अंतरुच्छुय वा—इक्षु के पर्व का मध्य भाग। जाव—यावत्। अप्पडं वा—अंडादि से रहित हो तो। जाव—यावत्। पडि०—ग्रहण करले। अतिरिच्छ छिन्न—जो तिरछा छेदन नहीं किया हुआ अतः सचित्त होने से। तहेव—उसी प्रकार अग्र हुए है। से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। ल्हसण वणं—यदि लशुन के वन मे। उवागच्छित्तए—गमन करना। अभिकखि०—चाहे तो यावत्। तिन्निवि—तीनों ही। आलावगा—

आम्रापक । तहेव—उसी प्रकार पूर्व की भांति जानना। नवरं—केवल इतना विशेष है। ल्हसुण—यहां पर, लशुन का अधिकार समझना चाहिए। से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। अभिकंखिज्जा—चाहे । ल्हसुण वा—लशुन को। ल्हसुण कंदं वा—लशुन के कन्द को। ल्ह०-चोयगं वा—लशुन की त्वचा-छाल को अथवा। ल्हसुण नालगं वा—लशुन की नाल को। भुत्तए वा—भोगना तथा पीना। से जं पुण—वह जो फिर। ल्हसुण वा—लशुन लशुन कन्द। जाव—यावत्। ल्हसुणबीयं वा—लशुन के बीज को, जो। स अंडं—अण्डादि से युक्त है। जाव—यावत्। नो पडि०—ग्रहण न करे। एवं—इसी प्रकार। अतिरिच्छ छिन्नेऽवि—जो तिरछा छेदन नहीं किया हुआ, जो कि सचित्त है उसे ग्रहण न करे। तिरिच्छछिन्ने—तिरछा छेदन किया हुआ है जो कि अचित्त है। जाव—यावत्। पडि०—ग्रहण कर ले।

मूलार्थ—यदि कोई संयम निष्ठ साधु या साध्वी आम्र के वन में ठहरना चाहे तो वह उस बगीचे के स्वामी या अधिष्ठाता से उसके लिए याचना करते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! मैं यहां पर ठहरना चाहता हूं। जितने समय के लिए आप आज्ञा देंगे उतने समय ठहर कर बाद में विहार कर दूंगा। इस तरह बागवान की आज्ञा प्राप्त होने पर वह वहां ठहरे। यदि वहां स्थित साधु को आम्रफल खाने की इच्छा हो तो उसे कैसे आम्रफल को ग्रहण करना चाहिए? इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि वह फल अंडादि से युक्त हो तो वह उसे ग्रहण न करे। अंडादि से रहित होने—परन्तु यदि उसका तिरछा छेदन न हुआ हो तथा उसके अनेक खण्ड भी न किए गए हों तो भी उसे साधु स्वीकार न करे। परन्तु यदि वह अंडादि से रहित हो, तिरछा छेदन किया हुआ हो और खंड २ किया हुआ हो तो अचित्त एवं प्रासुक होने से साधु उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु आम्र का आधा भाग, उसकी फाड़ी, उसकी छाल और उसका रस एवं उसके किए गए सूक्ष्म खंड यदि अंडादि से युक्त हों या अंडादि से रहित होने पर भी तिरछे कटे हुए न हों और खंड २ न किए गए हों तो साधु उसे भी ग्रहण न करे। यदि उनका तिरछा छेदन किया गया है, और अनेक खंड किए गए हैं तब उसे अचित्त और प्रासुक जानकर साधु ग्रहण कर ले।

यदि कोई साधु या साध्वी इक्षु वन में ठहरना चाहे और वन पालक की आज्ञा लेकर वहा ठहरने पर यदि वह इक्षु (गन्ना) खाना चाहे तो पहले यह निश्चय करे कि जो इक्षु अडादि से युक्त है और तिरछा कटा हुआ नहीं है तो वह उसे ग्रहण न करे। यदि अडादि से रहित और तिरछा छेदन किया हुआ हो तो उसको अचित्त और प्रासुक जानकर ग्रहण करले। इसका शेष वर्णन आम्र के समान ही जानना चाहिए। यदि साधु इक्षु के पर्व का मध्य भाग, इक्षुगडिका, इक्षुत्वचा-छाल, इक्षुरस और इक्षु के सूक्ष्म खड आदि को खाना-पीना चाहे तो वह अंडादि से युक्त या अंडादि से रहित होने पर भी तिरछा कटा हुआ न हो तथा वह खंड-खड भी न किया गया हो तो साधु उसे ग्रहण न करे। इसी प्रकार लशुन के सम्बन्ध मे भी तीनो आलापक समझने चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में आम्र फल, इक्षु खण्ड आदि के ग्रहण एवं त्याग करने के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। आम्र आदि पदार्थ किस रूप में साधु के लिए ग्राह्य एव अग्राह्य हैं, इसका नयसापेक्ष वर्णन किया गया है। और इसका सम्बन्ध केवल पक्व आम आदि से है, न कि अर्ध पक्व या अपक्व फलों से। पक्व आम्र आदि फल भी यदि अण्डों आदि से युक्त हों, तिरछे एवं खण्ड-खण्ड में कटे हुए न हों तो साधु उन्हें ग्रहण न करे और यदि वे अण्डे आदि से रहित हों, तिरछे एवं खण्ड-खण्ड मे कटे हुए हों तो साधु उन्हें ग्रहण कर सकता है। उस पक्व फल के तिर्यक् एवं खण्ड-खण्ड मे कटे हुए होने का उल्लेख उसे अचित्त एवं प्रासुक सिद्ध करने के लिए है। निशीथ सूत्र मे यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि साधु सचित्त आम्र एवं सचित्त इक्षु ग्रहण करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है*। इससे स्पष्ट होता है कि साधु अचित्त एवं प्रासुक आम्र आदि ग्रहण कर सकता है। यदि वह पक्व फल जीव-जन्तु से रहित हो और तिर्यक् कटा हुआ हो तो साधु के लिए अग्राह्य नही है और न वह सचित्त ही रह जाता है।

अब अवग्रह के अभिग्रह के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—

* निशीथ सूत्र, उद्देशक १५; ५, १२, उद्देशक १६ ४, ११।

मूलम्—से भि० आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्जा, इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं उग्गिगिहत्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा जाव विहरिस्सामो पढमा पडिमा ॥१॥ अहावरा० जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं उग्गिगिहस्सामि, अणोसिं भिक्खूणं उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि, दुच्चा पडिमा ॥२॥ अहावरा० जस्स णं भि० अहं च० उग्गिगिहस्सामि अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए नो उवल्लिस्सामि, तच्चा पडिमा ॥३॥ अहावरा० जस्स णं भि० अहं च० नो उग्गहं उग्गिगिहस्सामि, अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि, चउत्था पडिमा ॥४॥ अहावरा० जस्स णं अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं च उ० नो दुण्हं नो तिण्हं नो चउण्हं नो पंचण्हं पंचमा पडिमा ॥५॥ अहावरा० से भि० जस्स एव उग्गहे उवल्लिइज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए इक्कड़े वा जाव पलाले तस्स लाभे संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुओ वा नेसज्जिओ वा विहरिज्जा, छट्ठा पडिमा ॥६॥ अहावरा स० जे भि० अहा संथडमेव उग्गहं जाइज्जा

तंजहा पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव तस्स लाभे संते० तस्स अलाभे उ० ने० विहरिज्जा, सत्तमा पडिमा ॥७॥ इच्चेयासिं सत्तण्हं पडिमाणं अन्नयरं जहा पिंडेसणाए ॥१६१॥

छाया—स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा आगन्तागारेषु वा ४ यावत् अवग्रहीते ये तत्र गृहपतीनां वा गृहपतिपुत्राणा वा इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य अथ भिक्षुः जानीयात्--आभिः सप्ताभिः प्रतिमाभिः अवग्रहमवग्रहीतु । तत्र खलु इय प्रथमा प्रतिमा-स आगन्तागारेषु वा ४ अनुविचिन्त्यावग्रह याचेत यावत् विहरिष्यामः प्रथमा प्रतिमा ॥१॥ अथापरा० यस्य भिक्षोः एवं भवति-अह च खलु अन्येषां भिक्षूणां अर्थायावग्रहमवग्रहीष्यामि अन्येषां भिक्षूणामवग्रहे अवगृहीते उपालयिष्ये द्वितीया प्रतिमा ॥२॥ अथापरा० यस्य भिक्षो एवं भवति अह च० अवग्रहीष्यामि अन्येषां च अवग्रहे अवगृहीते नो उपालयिष्यं तृतीया प्रतिमा ॥२॥ अथापरा० यस्य भि० अह च० नो अवग्रहमवग्रहीष्यामि, अन्येषा च अवग्रहे अवगृहीते उपालयिष्ये, चतुर्थी प्रतिमा ॥४॥ अथापरा० यस्य अह च खलु आत्मनः अर्थाय अवग्रह च अवग्रहीष्यामि नो द्वयोः नो त्रयाणा नो चतुर्णां नो पञ्चाना पचमी प्रतिमा ॥५॥ अथापरा० स भि० यस्य एव अवग्रहे उपालयेत् ये तत्र यथा समन्वागते उत्कटः यावत् पलाल. तस्य लाभे सवसेत्, तस्य अलाभे उत्कुटुको वा निषण्णो वा विहरेत्, षष्ठी प्रतिमा ॥६॥ अथापरा स० यो भिक्षुः यथासस्तृतमेव अवग्रह याचेत, तद्यथा पृथ्वीशिलां वा काष्ठशिलां वा यथासस्तृतमेव तस्य लाभे सति० तस्यालाभे सति० अवग्रहं० नि० विहरेत्, सप्तमी प्रतिमा ॥७॥ इत्येतासां सप्तानां प्रतिमानामन्यतरा यथा पिण्डैषणायाम् ।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी । आगनारेसु वा ४—धर्मशाला आदि में । जाव—यावत् । ओग्गहियंसि—आज्ञा लेने पर । जे—जो । तत्थ—वहा पर । गाहावईण वा—

गृहपतियों के। गाहा०पुत्ताण वा—अथवा गृहपति के पुत्रों तथा उनके सम्बन्धी जनों। इच्चेयाइ—ये जो पूर्वोक्त। आयतणाइ—कर्म बन्ध के स्थान हैं उन दोषों को। उवाइक्कम्म—अतिक्रम करके उक्त स्थानों मे रहना चाहिए। अह—अथ। भिक्खू—भिक्षु। इमाहिं—ये जो आगे कहे जाते हैं। सत्तहिं—सात। पडिमाहिं—प्रतिमा—अभिग्रहविशेषों से। उग्गहं—अवग्रह को। उग्गिण्हितए—ग्रहण करना। एव जाणिज्जा—जानना चाहिए। खलु—निश्चयार्थक है। तत्थ—उन सात प्रतिमाओं मे से। इमा—यह। पढ़मा—पहली। पडिमा—प्रतिमा है। से—वह भिक्षु। आगतारेसु वा ४—धर्मशाला आदि मे। अणुवीइ—विचार कर। उग्गहं—अवग्रह की। जाइज्जा—याचना करे। जाव—यावत्। विहरिस्सामो—विचरूंगा। पढ़मा पडिमा—यह पहली प्रतिमा है। अहावरा०—अथ अपर इससे अन्य। दुच्चापडिमा—दूसरी प्रतिमा यह है। णं—वाक्यालंकार मे है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिग्रह होता है। च—पुनः। खलु—वाक्यालंकार मे है। अहं—मैं। अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओं के। अट्ठाए—अर्थ-प्रयोजन के लिए। उग्गहं—अवग्रह की। उग्गिण्हिस्सामि—याचना करूंगा और। अण्णेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओं का। उग्गहे—अवग्रह। उग्गहिए—अवग्रह की आज्ञा ग्रहण किए जाने पर। उवल्लिस्सामि—उसमे वसूंगा—निवास करूंगा। दुच्चापडिमा—यह दूसरी प्रतिमा है। अहावरा—अथ अपर इससे आगे। तच्चापडिमा—तीसरी प्रतिमा कहते है। णं—वाक्यालकार मे। जस्स—जिस भिक्षु का। एव भवति—इस प्रकार का अभिग्रह होता है। च खलु—पूर्ववत् ही है। अहं—मैं अन्य भिक्षुओं के लिए अवग्रह की। उग्गिण्हिस्सामि—याचना करूंगा। च—और। अन्नेसिं—अन्य भिक्षुओं का। उग्गहे—अवग्रह। उग्गहिए—याचना किए हुए मे। नो उवल्लिस्सामि—नही वसूंगा अर्थात् निवास नही करूंगा। तच्चा पडिमा—यह तीसरी प्रतिमा है।३। अहावरा०—अथ अपर चतुर्थी प्रतिमा यह है। जस्स—जिस। भि०—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिग्रह होता है। च खलु—पूर्ववत्। अहं—मैं। अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओं के। अट्ठाए—लिए। उग्गहं—अवग्रह की। नो उग्गिण्हिस्सामि—याचना नही करूंगा। अन्नेसिं—अन्य भिक्षुओं के। उग्गहे—अवग्रह की। उग्गहिए—आज्ञा लिए जाने पर। उवल्लिस्सामि—उसमे निवास करूंगा। चउत्था पडिमा—यह चौथी प्रतिमा है।४। अहावरा—अथ अपर—इससे अन्य। पचमा—पाचवीं प्रतिमा कहते हैं। णं—वाक्यालंकार में। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिग्रह होता है। च खलु—पूर्ववत्। अहं—मैं। अप्पणो अट्ठाए—अपने वास्ते। उग्गहं—अवग्रह की। उग्गिण्हिस्सामि—याचना करूंगा। नो दुण्हं—दो के लिए नही। नो तिण्हं—तीन के लिए नही। नो चउण्हं—चार के लिए नही। नो पंचण्हं—पाच के लिए नहीं। पंचमा पडिमा—यह पाँचवी प्रतिमा है। अहावरा०—इससे अन्य। छट्ठा पडिमा—छठी प्रतिमा कहते हैं। से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। जस्स एव उग्गहे—जिस उपाश्रय की आज्ञा लेकर। उवल्लिइज्जा—रहूगा। जे तत्थ—जो वहा पर। अहासमन्नागए—समीप में ही। इक्कडे वा—तृण विशेष।

जाव—यावत् । पलाले—पलाल। तस्सलाभे—उसके मिलने पर । संवसिज्जा—रमे, अर्थात् संस्तारक आदि करे । तस्स अलाभे—उसके न मिलने पर । उक्कुडुओ वा—उत्कुटुक आसन अथवा। नेसज्जिओ वा—निषद्या आसन पर। विहरिज्जा—विचरे । छट्ठा पडिमा—यह छठी प्रतिमा है। अहावरा—अथ अपर-इसमे अन्य । सत्तमा पडिमा—सातवी प्रतिमा कहते हैं । जे भिक्खू०—जो साधु या साध्वी । अहा सथडमेव—जो पहले ही संस्तृत हो रहा है अर्थात् विछा हुआ है । उग्गहं जाइज्जा—उस अवग्रह की याचना करूंगा । तं०—जैसे कि । पुढविसिलं वा—पृथिवी शिला । कट्ठसिलं वा—काष्ठ शिला अथवा । अहा, सथडमेव—उस उपाश्रय में पलाल आदि पहले ही बिछा हुआ हो । तस्स लाभे सते०—उसके लाभ होने पर उस पर आसन करे। तस्स—उसके । अलाभे—न मिलने पर । उ०—उत्कुटुक आसन से अथवा । नि०—निषद्यादि आसन पर। विहरिज्जा—विचरे । सत्तमा पडिमा—यह सातवी प्रतिमा है । इच्चेयासि—इन पूर्वोक्त । सत्तण्हं—सात । पडिमाण—प्रतिमाओ मे से साधु ने यदि। अन्नयर—कोई एक प्रतिमा ग्रहण की हुई है तब वह अन्य साधुओ की निन्दा न करे । शेष वर्णन । जहा—जैसे । पिंडेसणाए—पिण्डैषणा अध्ययन में सात पिण्डैषणा प्रतिमाओ का वर्णन किया है उसी प्रकार जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—सयमशील साधु या साध्वी धर्मशाला आदि मे गृहस्थ और गृहस्थो के पुत्र आदि सम्बन्धी स्थान के दोषो को छोड़कर इन वक्ष्यमाण सात प्रतिमाओ के द्वारा अवग्रह की याचना करके वहां पर ठहरे ।

१-धर्मशाला आदि स्थानो की परिस्थिति को विचार कर यावन्मात्र काल के लिए वहा के स्वामी की आज्ञा हो तावन्मात्र काल वहा ठहरूंगा, यह पहली प्रतिमा है।

२- मैं अन्य भिक्षुओ के लिए उपाश्रय की आज्ञा मागूगा और उनके लिए याचना किए गए उपाश्रय मे ठहरूंगा यह दूसरी प्रतिमा है।

३-कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है कि मैं अन्य भिक्षुओ के लिए तो अवग्रह की याचना करूंगा, परन्तु उनके याचना किए गए स्थानो मे नहीं ठहरूंगा। यह तीसरी प्रतिमा का स्वरूप है।

४- कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है— मै अन्य भिक्षुओ के लिए अवग्रह की याचना नही करूंगा; परन्तु उनके याचना किए हुए स्थानो

मे ठहरूंगा। यह चौथी प्रतिमा है।

५-कोई साधु यह अभिग्रह धारण करता है कि मै केवल अपने लिए ही अवग्रह की याचना करूंगा, किन्तु अन्य दा, तीन, चार और पाच साधुओ के लिए याचना नही करूगा। यह पाचवी प्रतिमा है।

६-कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मै जिस स्थान की याचना करूंगा उस स्थान पर यदि तृण विशेष—सस्तारक आदि मिल जायेंगे तो उन पर आसन करूंगा, अन्यथा उक्कुटुक आसन आदि के द्वारा रात्रि व्यतीत करूंगा यह छठो प्रतिमा है।

७-जिस स्थान को आज्ञा लो हो यदि उसी स्थान पर पृथ्वी शिला, काष्ठ शिला तथा पलाल आदि बिछा हुआ हो तब वहां आसन करूगा, अन्यथा उत्कुटुक आदि आसन द्वारा रात्रि व्यतीत करूगा, यह सातवी प्रतिमा है।

इन सात प्रतिमाओ मे से यदि कोई भी प्रतिमा साधु स्वीकार करे, परन्तु वह अन्य साधुओं की निन्दा न करे। अभिमान एवं गर्व को छोड़कर अन्य साधुओं को समभाव से देखे। शेष वर्णन:पिंडैषणा अध्ययनवत् जानना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह से सम्बद्ध सात प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। पहली प्रतिमा में बताया गया है कि साधु सूत्र मे वर्णित विधि के अनुसार मकान की याचना करे और वह गृहस्थ जितने काल तक जितने क्षेत्र में ठहरने की आज्ञा दे तब तक उतने ही क्षेत्र में ठहरे। दूसरी प्रतिमा यह है कि मैं अन्य साधुओं के लिए मकान की याचना करूंगा तथा उनके द्वारा याचना किए गए मकान मे ठहरूंगा। तीसरी प्रतिमा मे वह यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य साधु के लिए मकान की याचना करूंगा, परन्तु दूसरे द्वारा याचना किए गए मकान में नहीं ठहरूंगा। चौथी प्रतिमा मे वह दूसरे द्वारा याचना किए गए मकान मे ठहर तो जाता है, परन्तु, अन्य के लिए याचना नहीं करता है। पांचवीं प्रतिमा में वह केवल अपने लिए ही मकान की याचना करता है, अन्य के

जाव—यावत् । पलाले—पलाल। तस्सलाभे—उसके मिलने पर । संवसिज्जा—रमे, अर्थात् संस्तारक आदि करे। तस्स अलाभे—उसके न मिलने पर । उक्कुडुओ वा—उत्कुटुक आसन अथवा। नेसज्जिओ वा—निषद्या आसन पर। विहरिज्जा—विचरे । छट्ठा पडिमा—यह छठी प्रतिमा है। अहावरा—अथ अपर-इसमे अन्य । सत्तमा पडिमा—सातवी प्रतिमा कहते हैं। जे भिक्खू०—जो साधु या साध्वी । अहा सथडमेव—जो पहले ही संस्तृत हो रहा है अर्थात् बिछा हुआ है । उग्गहं जाइज्जा—उस अवग्रह की याचना करूंगा । तं०—जैसे कि । पुढविसिलं वा—पृथिवी शिला । कट्ठसिलं वा – काष्ठ शिला अथवा । अहा सथडमेव—उस उपाश्रय में पलाल आदि पहले ही बिछा हुआ हो । तस्स लाभे सते०—उसके लाभ होने पर उस पर आसन करे। तस्स—उसके। अलाभे—न मिलने पर । उ०—उत्कुटुक आसन से अथवा । नि०—निषद्यादि आसन पर। विहरिज्जा—विचरे । सत्तमा पडिमा—यह सातवी प्रतिमा है । इच्चेयासि—इन पूर्वोक्त । सत्तण्हं—सात । पडिमाण—प्रतिमाओ मे से साधु ने यदि। अन्नयर—कोई एक प्रतिमा ग्रहण की हुई है तब वह अन्य साधुओ की निन्दा न करे। शेप वर्णन । जहा—जैसे । पिंडेसणाए—पिण्डैषणा अध्ययन में सात पिण्डैषणा प्रतिमाओ का वर्णन किया है उसी प्रकार जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—सयमशील साधु या साध्वी धर्मशाला आदि में गृहस्थ और गृहस्थो के पुत्र आदि सम्बन्धी स्थान के दोषो को छोड़कर इन वक्ष्यमाण सात प्रतिमाओ के द्वारा अवग्रह की याचना करके वहां पर ठहरे ।

१-धर्मशाला आदि स्थानो की परिस्थिति को विचार कर यावन्मात्र काल के लिए वहा के स्वामी की आज्ञा हो तावन्मात्र काल वहा ठहरूंगा, यह पहली प्रतिमा है ।

२- मैं अन्य भिक्षुओ के लिए उपाश्रय की आज्ञा मागूंगा और उनके लिए याचना किए गए उपाश्रय मे ठहरूंगा यह दूसरी प्रतिमा है ।

३-कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है कि मैं अन्य भिक्षुओ के लिए तो अवग्रह की याचना करूंगा, परन्तु उनके याचना किए गए स्थानो मे नहीं ठहरूंगा। यह तीसरी प्रतिमा का स्वरूप है।

४- कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है— मै अन्य भिक्षुओ के लिए अवग्रह की याचना नहीं करूंगा, परन्तु उनके याचना किए हुए स्थानो

में ठहरूंगा। यह चौथी प्रतिमा है।

५-कोई साधु यह अभिग्रह धारण करता है कि मै केवल अपने लिए ही अवग्रह को याचना करूंगा, किन्तु अन्य दा, तीन, चार और पांच साधुओं के लिए याचना नही करूंगा। यह पांचवों प्रतिमा है।

६-कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मै जिस स्थान की याचना करूंगा उस स्थान पर यदि तृण विशेष—सस्तारक आदि मिल जायेंगे तो उन पर आसन करूंगा, अन्यथा उत्कुटुक आसन आदि के द्वारा रात्रि व्यतीत करूंगा यह छठो प्रतिमा है।

७-जिस स्थान को आज्ञा ली हो यदि उसी स्थान पर पृथ्वी शिला, काष्ठ शिला तथा पलाल आदि बिछा हुआ हो तब वहां आसन करूंगा, अन्यथा उत्कुटुक आदि आसन द्वारा रात्रि व्यतीत करूंगा, यह सातवीं प्रतिमा है।

इन सात प्रतिमाओ में से यदि कोई भी प्रतिमा साधु स्वीकार करे परन्तु वह अन्य साधुओं की निन्दा न करे। अभिमान एवं गर्व को छोड़कर अन्य साधुओं को समभाव से देखे। शेष वर्णन पिंडैषणा अध्ययनवत् जानना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह से सम्बद्ध सात प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। पहली प्रतिमा में बताया गया है कि साधु सूत्र में वर्णित विधि के अनुसार मकान की याचना करे और वह गृहस्थ जितने काल तक जितने क्षेत्र में ठहरने की आज्ञा दे तब तक उतने ही क्षेत्र में ठहरे। दूसरी प्रतिमा यह है कि मैं अन्य साधुओं के लिए मकान की याचना करूंगा तथा उनके द्वारा याचना किए गए मकान में ठहरूंगा। तीसरी प्रतिमा में वह यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य साधु के लिए मकान की याचना करूंगा, परन्तु दूसरे द्वारा याचना किए गए मकान में नहीं ठहरूंगा। चौथी प्रतिमा में वह दूसरे द्वारा याचना किए गए मकान में ठहर तो जाता है, परन्तु, अन्य के लिए याचना नहीं करता है। पांचवीं प्रतिमा में वह केवल अपने लिए ही मकान को याचना करता है, अन्य के

लिए नहीं। छठी प्रतिमा में वह यह प्रतिज्ञा करता है कि जिस मकान में ठहरूंगा उसमें घास आदि रखा होगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उकडू आदि आसन करके रात व्यतीत करूंगा और सातवीं प्रतिमा में वह उन्हीं तख्त, शिलापट एवं घास आदि को काम मे लेता है, जो पहले से मकान में बिछे हुए हों।

इसमे प्रथम प्रतिमा सामान्य साधुओं के लिए है। दूसरी प्रतिमा का अधिकारी मुनि गच्छ में रहने वाले साम्भोगिक एवं उत्कट संयम निष्ठ असाम्भोगिक साधुओं के साथ प्रेम भाव रखने वाला होता है। तीसरी प्रतिमा उन साधुओं के लिए है जो आचार्य आदि के पास रहकर अध्ययन करना चाहते है। चौथी प्रतिमा उनके लिए है, जो गच्छ में रहते हुए जिनकल्पी बनने का अभ्यास कर रहे हैं। पाचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमा केवल जिनकल्पी मुनि से सम्बद्ध है। ये भेद वृत्तिकार ने किए हैं*। मूलपाठ मे किसी कल्प के मुनि का सकेत नहीं किया गया है। वहां तो इतना ही उल्लेख किया गया है कि मुनि इन सात प्रतिमाओं को ग्रहण करते हैं,चाहे वे जिन कल्प पर्याय मे हों या स्थविर कल्प पर्याय में हो। सामान्य रूप से प्रत्येक साधु अपनी शक्ति के अनुसार अभिग्रह ग्रहण कर सकता है। इसी कारण सूत्रकार ने यह उल्लेख किया है कि स्थान सम्बन्धी समस्त दोषों का त्याग करके साधु को अवग्रह की याचना करनी चाहिए।

---

* यहा पाठको के अवलोकनार्थ वृत्ति का वह समग्र पाठ दिया जाता है—अथ भिक्षु सप्तभिः प्रतिमाभिरभिग्रहविशेषैरवग्रह गृह्णीयात्, तत्रेय प्रथमा प्रतिमा, तद्यथा—स भिक्षुरागन्तागारादौ पूर्वमेव विचिन्त्यैवभूतः प्रतिश्रयो मया 'ग्राह्यो, नान्यथाभून इति प्रथमा। तथान्यस्य च भिक्षोरेवभूतोऽभिग्रहो भवति, तद्यथा—अह न खल्वन्येषा साधूना कृतेऽवग्रह 'ग्रहीष्यामि' याचिष्ये, अन्येषा वावग्रहे गृहीते सति 'उपालयिष्ये' वत्स्यामीति द्वितीया। प्रथमा प्रतिमा सामान्येन, इय तु गच्छान्तर्गताना साधूना साम्भोगिकानामसाभोगिकाना चोद्युक्त विहारिणा; यतस्तेऽन्योऽन्यार्थं याचन्त इति। तृतीया त्वियं—अन्यार्थमवग्रह याचिष्ये, अन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीति, एषा त्वाहालन्दिकाना, यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्यादभिकाक्षन्त आचार्यार्थं याचन्ते। चतुर्थी पुनरहमन्येषा कृतेऽवग्रह न याचिष्ये अन्यावगृहीते च वत्स्यामीति, इय तु गच्छे एवाभ्युद्यतविहारीणा जिनकल्पाद्यर्थं परिकर्म कुर्वताम्। अथापरापञ्चमी-अहमात्मकृतेऽवग्रहमव ग्रहीष्यामि न चापरेषा द्वित्रिचतुष्पञ्चानामिति, इय तु जिनकल्पिकल्य। अथापरा षष्ठी—यदीयमवग्रहग्रहीष्यामि, इतरथोत्कुटुको वा निषण्ण. उपविष्टो वा रजनी गमिष्यामीत्ये जिनकल्पिकादेरिति। अथापरा सप्तमी—एषैव पूर्वोक्ता, नवरं यथासंस्तृतमेव शिलादिक ग्रहीष्यामि नेतरदिति शेषमात्मोत्कर्षवर्जनादि पिण्डैषणावन्नेयमिति॥

—आचाराग वृत्ति।

पिण्डैषणा आदि अध्ययनों की तरह इसमें भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अभिग्रह ग्रहण करने वाले मुनि को अन्य साधुओं को घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। परन्तु सब का सामान्य रूप से आदर करते हुए यह कहना चाहिए कि भगवान की आज्ञा के अनुरूप आचरण करने वाले सभी साधु मोक्ष मार्ग के पथिक हैं।

अब अवग्रह के भेदों का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं पंचविहे उग्गहे पन्नते, तंजहा—देविंद उग्गहे १ राय उग्गहे २ गाहावइ उग्गहे ३ सागारिय उग्गहे ४ साहम्मिय उग्गहे ५ एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥१६२॥ उग्गहपडिमा सम्मत्ता ॥**

छाया—श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातं इह खलु स्थविरैः भगवद्भिः पंच विधः अवग्रहः प्रज्ञप्तः तद्यथा—देवेन्द्रावग्रहः १ राजावग्रहः २ गृहपति-अवग्रहः ३ सागारिकावग्रहः ४ साधर्मिकावग्रहः ५ एवं खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुक्याः वा सामग्र्यम्॥ अवग्रहप्रतिमा समाप्ता।

पदार्थ—आउसं—हे आयुष्मन्-प्रियशिष्य! मे—मैंने। सुयं—सुना है। तेणंभगवया—उस भगवान ने। खलु—निश्चय ही। इह—इस जिन प्रवचन में। थेरेहिं भगवंतेहिं—स्थविर भगवन्तों अर्थात् पूज्य स्थविरों ने-भगवन्तों ने। पंचविहे—पांच प्रकार का। उग्गहे—अवग्रह। पन्नत्ते—प्रतिपादन किया है। तंजहा—जैसेकि। देविंद उग्गहे १—देवेन्द्र का अवग्रह १-रायउग्गहे २—राजा का अवग्रह २। गाहावइ उग्गहे ३—गृहपति का अवग्रह। सागारियउग्गहे—सागारिक का अवग्रह ४। साहम्मिय उग्गहे ५—साधर्मिक का अवग्रह ५। एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स—भिक्षु का साधु का। वा—अथवा। भिक्खुणीए-भिक्षुकी साध्वी का-आर्या का यह। सामग्गियं—समग्र आचार है। उग्गहपडिमा सम्मत्ता—यह अवग्रह प्रतिमा समाप्त हुई।

मूलार्थ—हे आयुष्मन्-शिष्य! मैंने भगवान से इस प्रकार सुना है कि

इस जिन प्रवचन मे पूज्य स्थविरो ने पांच प्रकार का अवग्रह प्रतिपादन किया है १-देवेन्द्र अवग्रह, ४-राज अवग्रह, ३-गृहपति अवग्रह, ४-सागारिक अवग्रह और ५-साधर्मिक अवग्रह*। इस प्रकार यह साधु और साध्वी का समग्र-सपूर्ण आचार वर्णन किया गया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पांच प्रकार के अवग्रह का वर्णन किया गया है— १-देवेन्द्र अवग्रह, २-राज अवग्रह, ३-गृहपति अवग्रह, ४-सागारिक अवग्रह और ५-साधर्मिक अवग्रह। दक्षिण भरत क्षेत्र मे विचरने वाले मुनियों को प्रथम देवलोक के सुधर्मेन्द्र की आज्ञा ग्रहण करना देवेन्द्र अवग्रह कहलाता है। इससे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि तिर्यक् लोक पर भी देवों का आधिपत्य है। आगम मे बताया गया है कि साधु जङ्गल में या अन्य स्थान मे जहां कोई व्यक्ति न हो देवेन्द्र की आज्ञा लेकर तृण, काष्ठ आदि ग्रहण कर सकता है†। आज भी साधु बाहर शौच के लिए बैठते समय या विहार के समय में रास्ते मे किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करना हो तो देवेन्द्र (शक्रेन्द्र) की आज्ञा लेकर बैठते हैं। इस तरह साधु कोई भी वस्तु बिना आज्ञा के ग्रहण नही करते।

भरत क्षेत्र के ६ खण्डों पर चक्रवर्ती का शासन होता है। अत उसकी आज्ञा से उन देशों में विचरना यह राज अवग्रह कहलाता है और उस युग मे एक देश अनेक भागों मे विभक्त था, जैसे आज भारत कई प्रान्तों मे बंटा हुआ है, परन्तु, इस समय सब प्रान्त केन्द्र से सम्बद्ध होने से वह अखण्ड कहलाता है। परन्तु, उस समय उन विभागों के स्वतन्त्र शासक थे; अतः उन विभिन्न देशों मे विचरते समय उनकी आज्ञा लेना गृहपति अवग्रह कहलाता है।

---

* उग्गहेत्ति—अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रह.। देविंदोग्गहेत्ति देवेन्द्र.—शक्र ईशानो वा तस्यावग्रहो—दक्षिणं लोकार्धमुत्तरवेति देवेन्द्रावग्रह.। राओग्गहेत्ति—राजा-चक्रवर्ती तस्यावग्रह षड्खण्डभरतादि क्षेत्र राजावग्रहः। गाहावई उग्गहेति–गृहपतिः–सागारिय-उग्गहेत्ति–सहागारेण गेहेन वर्तते इति सागार स एव सागारिकस्तस्यावग्रहो गृहमेवेति सागारिकावग्रहः। साहम्मिय उग्गहेत्ति समानेनवर्मेण चरन्तीति सार्धमिका साध्वपेक्षया साधव एव तेपामवग्रह —तदाभाव्य पञ्चक्रोशपरिमाणं क्षेत्रमृतुबद्धे मासमेकवर्षासु चतुरो मासान् यावदिति साधर्म्मिकावग्रहः।

—भवगती सूत्र, श० १६, उ० २ वृत्ति (आचार्य अभयदेव सूरि।)

† भगवती सूत्र।

जिस व्यक्ति के मकान में ठहरना हो उसकी आज्ञा ग्रहण करना सागारिक अवग्रह कहलाता है। आगार का अर्थ है— घर, अतः अपने घर या मकान पर आधिपत्य रखने वाले को सागारिय कहते हैं। और इसे शय्यातर अवग्रह भी कहते हैं। क्योंकि, साधु जिससे मकान की आज्ञा ग्रहण करता है, उसे आगमिक भाषा में शय्यातर कहते हैं।

जिस मकान में पहले से साधु ठहरे हों तो साधु उनकी आज्ञा से ठहर जाता है, यह साधर्मिक अवग्रह है। अपने साम्भोगिक साधुओं की किसी वस्तु को ग्रहण करना हो तो भी साधु को उनकी आज्ञा लेकर ही ग्रहण करना चाहिए। इस तरह साधु को बिना आज्ञा के सामान्य एवं विशेष कोई भी पदार्थ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'थेरेहिं भगवंतेहिं' पद में भगवान को ज्ञान स्वरूप मानकर उनके लिए स्थविर शब्द का प्रयोग किया गया है, जो सर्वथा उपयुक्त है। और 'सामग्गियं' शब्द से साधु के समग्र आचार की ओर निर्देश किया गया है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥ (प्रथम चूला समाप्त)

# अष्टम अध्ययन

यह हम पहले देख चुके हैं कि आचाराङ्ग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कन्ध चार चूलाओं में विभक्त है। पहली चूला और दूसरी चूला सात-सात अध्ययनों में विभक्त है और तीसरी और चौथी चूला में एक-एक अध्ययन है। प्रथम चूला के सातों अध्ययन विभिन्न विषयों एवं उद्देशों मे विभक्त थे। परन्तु, द्वितीय चूला के सातों अध्ययन उद्देशों मे विभक्त नहीं हैं, सबका विषय एक ही प्रवाह में गतिमान है। प्रथम चूला के अन्तिम अध्ययन (७वें अध्ययन) में अभिव्यक्त अवग्रहों से याचना किए गए स्थान में साधु को किस तरह से कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करनी चाहिए इसका वर्णन द्वितीय चूला में किया गया है। द्वितीय चूला के सातों अध्ययनों का सम्बन्ध अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गए स्थानों में साधना करने की विधि से है, इस लिए इसका नाम 'सप्तसप्तिकाख्या चूला' रखा गया है। इसके प्रथम अध्ययन में साधु को उपाश्रय में कायोत्सर्ग आदि किस प्रकार करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भिक्खू वा० अभिकंखेज्जा ठाणं ठाइत्तए, से अणुपविसिज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, से जं पुण ठाणं जाणिज्जा—सअंडं जाव मक्कडासंताणयं तं तह० ठाणं अफासुयं अणेस० लाभे संते नो प०, एवं सिज्जागमेण नेयव्वं जाव उदयपसूयाइंति ॥ इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइकम्म २ अह भिक्खू इच्छिज्जा चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए, तत्थिमा पढ़मा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जिज्जा अवलंबिज्जा काएण विप्परिकम्माइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि पढ़मा पडिमा ॥

अहावरा दुच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जिज्जा अव—

लंबिज्जा काएण विप्परिकम्माई नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि दुच्चा पडिमा ॥

अहावरा तच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा अवलंबिज्जा नो काएण विप्परिकम्माई नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामित्ति तच्चा पडिमा ॥

अहावरा चउत्था पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा नो अवलंबिज्जा काएण नो परकम्माई नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामित्ति वोसट्ठकाए वोसट्ठकेसमंसुलोमनहे संनिरुद्धं वा ठाणं ठाइस्सामित्ति चउत्था पडिमा ॥ इच्चेयासिं चउण्हं पडिमाणं जाव पग्गहियतरायं विहरिज्जा, नो किंचिवि वइज्जा, एयं खलु तस्स जाव तस्स० जाव जइज्जासि त्तिबेमि ॥१६३॥

छाया—स भिक्षुर्वा० अभिकांक्षेत् स्थानं स्थातुं स अनुप्रविशेद् ग्रामं वा यावत् राजधानी वा, स यत् पुनः स्थानं जानीयात्-साण्डं यावत् मर्कटासन्तानकं तत् तथाप्रकार स्थानमप्रासुकमणेषणीय लाभेसति नो प्रतिगृह्णीयात् । एव शय्यागमेन नेतव्यम्, यावत् उदकप्रसूतानि, इति, इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य २ अथ भिक्षुः इच्छेद् चतसृभिः प्रतिमाभिः स्थान स्थातुम्, तत्र, इय प्रथमा प्रतिमा—अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये कायेन विपरिक्रमिष्यामि सविचार स्थान स्थास्यामि प्रथमा प्रतिमा ॥१॥ अथापरा द्वितीया प्रतिमा—अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये कायेन विपरिक्रमिष्यामि नो सविचारं स्थानं स्थास्यामि द्वितीया प्रतिमा ।२॥ अथापरा

तृतीया प्रतिमा—अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये नो कायेन वि-परिक्रमिष्यामि नो सविचारं स्थानं स्थास्यामीति तृतीया प्रतिमा ॥३॥ अथा-परा चतुर्थीप्रतिमा-अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि नो अवलम्बयिष्ये कायेन नो परिक्रमिष्यामि नो सविचारं स्थानं स्थास्यामीति व्युत्सृष्टकायः व्युत्सृष्टकेश-श्मश्रुलोमनखः सनिरुद्ध वा स्थान स्थास्यामीति चतुर्थी प्रतिमा ॥४॥ इत्येता-सां चतसृणां प्रतिमानां यावत् प्रगृहीतान्यतरां विहरेत् नो किंचिदपि वदेत्। एवत् खलु तस्य यावद् तस्य० यावत् यतेत, इति ब्रवीमि। स्थानसप्तैकक: समाप्तः।

पदार्थ—से भिक्खू वा—वह साधु या साध्वी यदि। ठाणं—स्थान में। ठाइत्तए—स्थित होना। अभिकंखेज्जा–चाहे, तो। से—वह भिक्षु। गामं वा—ग्राम में, नगर में। जाव–यावत्। रायहाणिं वा—राजधानी मे। अणुपविसिज्जा—प्रवेश करे और वहा प्रवेश करके। से जं पुण०—वह जो फिर। ठाणं–स्थान को। जाणिज्जा—जाने-प्रर्थात् स्थान का अन्वेषण करे। स अंड—जो स्थान अण्डादि से। जाव—यावत्। मक्कडासन्ताणयं—मकडी आदि के जाले से युक्त है। तं—उस। तह०—तथाप्रकार के। ठाणं—स्थान को। अफासुयं—अप्रासुक तथा। अणेस०—अनेषणीय जानकर। लाभेसंते—मिलने पर भी। नो प०—ग्रहण न करे अर्थात् ऐसे स्थान में न ठहरे। एवं—इसी प्रकार अन्य सूत्र भी। सिज्जागमेण—शय्या अध्ययन के समान जान लेना। जाव-यावत्। उदयपसूयाइति—उदकप्रसूत कन्दादि, अर्थात् जिस स्थान मे कन्दादि विद्य-मान हो उसे भी ग्रहण न करे। इच्चेयाइ—ये पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण जो। आयतणाइं—कर्मो-पादान रूप दोष स्थान हैं इनको। उवाइक्कम्म—छोडकर अर्थात् इनका उल्लंघन करके। अह—अथ तदनन्तर। भिक्खू०—भिक्षु-साधु। चउहिं पडिमाहिं—वक्ष्यमाण-आगे कही जाने वाली चार प्रतिमाओ के अनुसार। ठाणं—स्थान में। ठाइत्तए—ठहरने की। इच्छिज्जा—इच्छा करे। तत्थ—उनमें से। इमा–यह। पढमा—पहली। पडिमा—प्रतिमा है; यथा। खलु—निश्चयार्थक है। अचित्तं—अचित्त स्थानक मे। उवसज्जिज्जा—आश्रय लूंगा और। अवलंबिज्जा—अचित भीत आदि का सहारा लूंगा। काएण—काया से। विप्परिकम्माइ—हाथ पैर आदि का सकोचन प्रसारण करूंगा तथा। सवियारं—थोडा सा पाद आदि का सप्रसारण-मर्यादित भूमि से बाहिर पैरो को थोडा सा भी नहीं फैलाऊगा इस प्रकार। ठाणं—खडे होकर। ठाइस्सामि—ठहरूंगा-अर्थात् मर्यादित भूमि में ही हाथ आदि का सचालन एव बैठने, उठने तथा खडे होने आदि की क्रियाएं करूंगा। पढमा पडिमा—यह पहली प्रतिमा का स्वरूप है। अहावरा—इसके अतिरिक्त अन्य। दुच्चापडिमा—दूसरी प्रतिमा के सम्बन्ध मे कहते हैं। अचित्तं खलु—अचित्त स्थान में। उवसज्जेज्जा—आश्रय लूंगा और। अवलंबिज्जा—भीत आदि का अवलम्बन करूंगा तथा। काएण—काया से। विप्परिकम्माइ—हाथ पैर आदि का संकोचन प्रसारण करूंगा किन्तु।

नो वियारं—पैरों से संक्रमणादि नही करूंगा अर्थात् भ्रमण नही करूंगा, इस प्रकार। ठाणंठाइस्सामि—स्थान मे ठहरूंगा या खडा रहूँगा। दुच्चापडिमा—यह दूसरी प्रतिमा का स्वरूप है। अहावरा—अब इससे भिन्न। तच्चापडिमा—तीसरी प्रतिमा यह है। खलु—पूर्ववत्। अचित्त—अचित्त स्थान का। उवसज्जेज्जा—आश्रय लूंगा और। अवलंबिज्जा—अचित भीत आदि का सहारा लूंगा किन्तु। काएण—काया से। नो विपरिकम्माई—संकोचन प्रसारण आदि क्रियाएं नही करूंगा। नो सवियारं—न पैर आदि से भूमि का संक्रमण करूंगा, इस प्रकार। ठाणंठाइस्सामि०—स्थान मे ठहरूंगा। इति—यह। तच्चापडिमा—तीसरी प्रतिमा कही है। अहावारा चउत्थीपडिमा—अब चौथी प्रतिमा कहते है। अचित्तं खलु—अचित स्थान पर। उवसज्जेज्जा—खड़े होकर कायोत्सर्गादि करूंगा। नो अवलंबिज्जा—अचित भीत आदि का आश्रय नही लूंगा। नो काएण विपरिकम्माई—काया से संकोचन प्रसारण नही करूंगा और। नोसवियारं—न हाथ पैर आदि को हिलाऊंगा। इति—इस प्रकार। ठाणं—स्थान पर। ठाइस्सामि—ठहरूंगा तथा। वोसट्ठकाये—कुछ काल के लिए काया के ममत्व भाव को त्याग कर और। वोसट्ठकेसमसुलोमनहे—केश, दाढी, मूंछ, रोम, नख के ममत्व भाव को छोड कर। वा—अथवा। संनिरुद्धं—सम्यक् प्रकार से काया का निरोध करके। इति—इस प्रकार। ठाणठाइस्सामि—स्थान में ठहरूंगा अर्थात् यदि कोई केशादि का भी उत्पाटन करे तो भी ध्यान से विचलित नही होऊंगा। चउत्थापडिमा—यह चौथी प्रतिमा का स्वरूप है। इच्चेयासिं—इन पूर्वोक्त। चउण्हं पडिमाणं—चार प्रतिमाओ। जाव—यावत् मे से। पग्गहियतरायं—किसी एक प्रतिमा को ग्रहण करके। विहरिज्जा—विचरे किन्तु। नो किंचिवि वइज्जा—अन्य किसी मुनि को—जिसने प्रतिमा ग्रहण नही की-न तो निन्दा करे और न उनके विषय मे कुछ कहे। वह यह न सोचे कि मैंने उत्कृष्ट भाव से अमुक प्रतिमा ग्रहण की है अत: मैं उत्कृष्ट वृत्ति वाला हूं और ये मुनि-जिन्होने प्रतिमा धारण नही की शिथिलाचारी हैं इस प्रकार न कहे। एयंखलु—निश्चय ही यह। तस्स०—उस भिक्षु का समग्रआचार-सम्पूर्ण आचार है। जाव—यावत्। जइज्जासि—इस का पालन करने मे यत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं। ठाणसत्तिक्कय सम्मत्तं—पहला स्थान सप्तक समाप्त हुआ।

मूलार्थ—किसी गांव या शहर में ठहरने का इच्छुक साधु-साध्वी पहले ग्रामादि मे जाकर उस स्थान को देखे, जो स्थान मकड़ी आदि के जालों से या अण्डे आदि से युक्त हो उसके मिलने पर भी उसे अप्रासुक और अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे। शेष वर्णन शय्या अध्ययन के समान जानना चाहिए।

साधु को स्थान के दोषो का छोड़ कर स्थान की गवेषणा करनी चाहिये और उसे उक्त स्थान पर चार प्रतिमाओ के द्वारा बैठे बैठे या खड़े होकर कायोत्सर्गादि क्रियाए करनी चाहिएं । १-मै अपने कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूगा, और अचित्त भीत आदि का सहारा लूगा, तथा हस्त पादादि का सकोचन प्रासरण भी करूंगा एवं स्तोक मात्र, पादादि से मर्यादित भूमि मे भ्रमण भी करूंगा ।

२-मैं कायोत्सर्ग के समय अचित स्थान मे ठहरूगा, अचित्त भीत आदि का आश्रय भी लूगा, तथा हस्त पाद आदि का संकोचन प्रसारण भी करूंगा किन्तु पादो से भ्रमण नही करूंगा ।

३—मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान मे रहूगा, अचित्त भोत आदि का सहारा भी लूंगा, परन्तु हस्तपादादि का सकोच प्रसारण एव पादो से भ्रमण नही करूंगा ।

४-मैं कायोत्सर्ग के समय अचित स्थान मे ठहरूगा, परन्तु भीत आदि का अवलम्बन नही लूगा तथा हस्त पाद आदि का सचालन और पादों से भ्र.ण आदि कार्य भी नहीं करूंगा, परन्तु एक स्थान में स्थित होकर कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर का सम्यक्तया निरोध करूंगा और परिमित काल के लिये शरीर के ममत्व का परित्याग कर चुका हूं अतः उक्त समय में यदि कोई मेरे केश,श्मश्रू और नख आदि का उत्पाटन करेगा तब भी मैं अपने ध्यान को नही तोड़ूंगा ।

इन पूर्वोक्त चार प्रतिमाओ में से किसी एक प्रतिमा का धारक साधु अन्य किसी भी साधु की–जो प्रतिमा का धारक नही—अहकार में आकर अवहेलना न करे किन्तु सब में समान भाव रखता हुआ विचरे । यही संयमशील साधु का समग्र आचार है, इसप्रकार मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे कायोत्सर्ग की विधि का उल्लेख किया गया है स्थान के संबन्ध

में पूर्व सूत्रों में बताई गई विधि को फिर से दुहराया गया है कि साधु को अण्डे एवं जालों आदि से रहित निर्दोष स्थान में ठहरना चाहिए और उसके साथ कायोत्सर्ग के चार अभिग्रहों का भी वर्णन किया गया है।

यह स्पष्ट है कि साधु की साधना मन, वचन और काया योग का सर्वथा निरोध करने के लिए है। परन्तु, यह कार्य इतना सुगम नहीं है कि साधु शीघ्रता से इसे साध सके। अतः उस स्थिति तक पहुंचने के लिए कायोत्सर्ग एक महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा साधक सीमित समय के लिए अपने योगों को रोकने का प्रयास करता है। इसमें भी सभी साधकों की शक्ति का ध्यान रखा गया है, जिससे प्रत्येक साधक सुगमता के साथ अपने लक्ष्य स्थान तक पहुंचने में सफल हो सके। इसके लिए कायोत्सर्ग करने वाले साधकों के लिए चार अभिग्रह बताए गए हैं।

पहले अभिग्रह में साधक अचित्त भूमि पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है, आवश्यकता पड़ने पर वह अचित्त दीवार का सहारा भी ले सकता है, हाथ-पैर आदि का संकुचन एवं प्रसारण भी कर सकता है और थोड़ी देर के लिए कुछ कदम चल भी सकता है।

दूसरे अभिग्रह में साधक कुछ आगे बढ़ता है। अचित्त भूमि पर खड़ा हुआ साधक आवश्यकता पड़ने पर अचित्त दीवार का सहारा ले लेता है, हाथ-पैर आदि का संकुचन-प्रसारण भी कर लेता है, परन्तु वह अपने स्थान से क्षण मात्र के लिए भी चलता नहीं है। वह अपनी शारीरिक गति को रोक लेता है।

तीसरे अभिग्रह में वह अपनी साधना में थोड़ा सा और विकास करता है। अब वह हाथ-पैर आदि के संकुचन-प्रसारण आदि को रोक कर स्थिर मन से खड़े रहने का प्रयत्न करता है और आवश्यकता पड़ने पर केवल अचित्त दीवार का सहारा लेता है।

चौथे अभिग्रह में साधक अपनी कायोत्सर्ग साधना की चरम-सीमा पर पहुंच जाता है। वह सीमित काल के लिए बिना किसी सहारे के एवं बिना हाथ-पैर आदि का संचालन किए अचित्त भूमि पर स्थिर मन से खड़ा रहता है। वह इस क्रिया के समय अपने शरीर से सर्वथा ममत्व हटा लेता है। यदि कोई डंस-मंस उसे काटता है या कोई अज्ञानी व्यक्ति उसके बाल, दाढ़ी, नख आदि उखाड़ता है या उसे किसी तरह का कष्ट देता है, तब भी वह अपने कायोत्सर्ग से, आत्म चिन्तन से विचलित नहीं होता है। उस समय उसके योग आत्म-चिन्तन में इतने संलग्न हो जाते हैं कि उसे अपने

शरीर पर होने वाली क्रियाओं का पता भी नहीं चलता है। वह उस समय अपने ध्यान को, चिन्तन को, अध्यवसाय को बाहर से हटा कर आत्मा के अन्दर केन्द्रित कर लेता है। अतः उस समय उसकी समस्त साधना आत्म हित के लिए होती है और निश्चय दृष्टि से उतने समय के लिए वह एक तरह से संसार से मुक्त होकर आत्म सुखों में रमण करने लगता है और अनन्त आत्म आनन्द का अनुभव करने लगता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'संनिरुद्ध' और 'वोसट्ठकाए' दो पद योग साधना के मूल हैं। जिनके आधार पर उत्तर काल में अनेक योग ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

# नवम अध्ययन

अष्टम अध्ययन में कायोत्सर्ग का वर्णन किया गया, और प्रस्तुत अध्ययन में स्वाध्याय पर विचार अभिव्यक्त किए गए हैं। इसी कारण प्रस्तुत अध्ययन का निषीधिका नाम रखा गया है। मूल पाठ में 'निसीहिय' शब्द का प्रयोग किया गया है, संस्कृत में इसके "निषीधिका और निशीथिका" दोनों रूप बनते हैं। आचारांग वृत्ति के संपादक ने इस बात को नोट में स्पष्ट कर दिया है*। परन्तु, निषीधिका पद अधिक प्रसिद्ध होने के कारण यह अध्ययन 'निषीधिका' के नाम से ही प्रसिद्ध है। अतः इस अध्ययन में स्वाध्याय भूमि कैसी होनी चाहिए तथा साधक को किस तरह से स्वाध्याय में संलग्न रहना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भिक्खू वा० अभिकं० निसीहियं फासुयं गमणाए, से पुण निसीहियं जाणिज्जा-सअंडं तह० अफा० नो चेइस्सामि। से भिक्खू० अभिकंखेज्जा निसीहियं गमणाए, से पुण नि० अप्पपाणं अप्पबीयं जाव संताणयं तह० निसीहियं फासुयं चेइस्सामि, एवं सिज्जागमेणं नेयव्वं जाव उदयप्पसूयाइं। जे तत्थ दुवग्गा तिवग्गा चउवग्गा पंचवग्गा वा अभिसंधारिंति निसीहियं गमणाए ते नो अन्नमन्नस्स कायं आलिंगिज्ज वा विलिंगिज्ज वा चुंबिज्ज वा दंतेहिं वा नहेहिं वा अच्छिंदिज्ज वा वुच्छिं०,

---

* निशीथनिषीधयो प्राकृते एकेन निसीहशब्देन वाच्यत्वात् एवं निक्षेपवर्णनं, तथा च निषीधिका निशीथिकेत्युभयमपि समतमभिधानयोः।

—आचाराग वृत्ति (टिप्पण)

अब सूत्रकार-जो साधु वहा पर स्वाध्याय करने के लिए गये हुए है उनके विषय में कहते है—जे—जो। तत्थ – वहाँ पर। दुवग्गा – दो साधु। तिवग्गा – तीन साधु। चउवग्गा—चार साधु। पचवग्गा – अथवा पाच साधु। अभिसधारिंति– सन्मुख हो। निसीहियं—स्वाध्याय भूमि में। गमणाए – जाने के लिए तैयार हो या वहा चले जाएं फिर। ते – वे साधु। अन्नमन्नस्स – परस्पर एक दूसरे के। काय – शरीर को। नो आलिंगिज्ज वा – आलिंगन न करे अथवा। विलिंगिज्ज वा – जिस से मोह का उदय होता हो इस प्रकार का आलिंगन न करे तथा। चुंबिज्ज वा – मुख चुम्बन न करे अथवा। दंतेहिं वा – दातो से। नहेहिं वा—नखो से। अच्छिदिज्ज वा—शरीर को परस्पर छेदन न करे। वुच्छि०—जिससे विशेष मोहानल प्रदीप्त हो इस प्रकार की पारस्परिक कुचेष्टा न करे। एवं खलु – इस प्रकार निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स – भिक्षु का समग्र आचार है। जाव – यावत्। ज—जो कि। सव्वट्ठेहिं – सर्व अर्थों से। सहिए – सहित है। समिए – पाच समितियों से युक्त है, इस मे। सया – सदा सयम पालन करने में। जएज्जा – यत्नशील हो तथा। सेयमिणं – इस आचार का पालन करना श्रेय है – कल्याण रूप है इस प्रकार। मन्निज्जासि – माने। त्तिबेमि – इस प्रकार मैं कहता हूं। निसीहिया सत्तिक्कय – निषीधिका अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—जो साधु या साध्वी प्रासुक अर्थात् निर्दोप स्वाध्याय भूमि में जाना चाहे तब वह स्वाध्याय भूमि को देखे और स्वाध्याय भूमि अण्डे आदि से युक्त हो तो इस प्रकार की अप्रासुक, अनेपणीय स्वाध्याय भूमि को जान कर कहे कि मैं इसमें नहीं ठहरूंगा। यदि स्वाध्याय भूमि में प्राणी, बीज यावत् जाला आदि नही है तो उसे प्रासुक एवं एषणीय जान कर कहे कि मैं यहां पर ठहरूंगा। शेष वर्णन शय्या अध्ययन के अनुसार जानना चाहिए। जैसे जहां पर उदक से उत्पन्न हुए कन्दादिक हों वहां पर भी न ठहरे।

उस स्वाध्याय भूमि में गए हुए दो, तीन, चार, पांच साधु परस्पर शरीर का आलिंगन न करें, न विशेप रूप से शरीर का आलिंगन करें, न मुख चुम्बन करें, दान्तो से या नखों से शरीर का छेदन भी न करें, और जिस क्रिया या चेष्टा से मोह उत्पन्न होता हो इस तरह की क्रियाएं भी न करें। यही साधु और साध्वी का समग्र आचार है। जो साधु

बहवे—बहुत से। समण माहण०—शाक्यादि श्रमण ब्राह्मण। कि०—कृपण। व०—भिखारी एवं। अतिहि—अतिथियों का। समुद्दिस्स—उद्देश रख कर। पाणाइं—प्राणी। भूयाइ—भूत। जीवाइं—जीव। सत्ताइ—सत्वों का विनाश करके। जाव—यावत्। उद्देसियं—औद्देशिक स्थंडिल साधु को। चेएइ—देता है। तह०—तथाप्रकार का। थंडिल्लं—स्थंडिल। अपुरिसंतरकड—अपुरुषान्तर कृत है। जाव—यावत्। बहिया अनीहडं—बाहर निकाला हुआ नहीं है अर्थात् भोगा हुआ नहीं है या। अन्नयरंसि वा—अन्य इसी प्रकार का सदोष स्थंडिल है तो; तह०—तथाप्रकार के। थंडिल्लंसि—स्थंडिल में। नो उच्चारपासवण०—मल मूत्र का त्याग न करे। अह—अथ। पुण—फिर। एवं—इस प्रकार। जाणिज्जा—जाने कि यदि वह। पुरिसंतरगडं—पुरुषान्तर कृत है। जाव—यावत्। बहिया नीहडं—किसी के द्वारा भोगा हुआ है। अन्नयरंसि वा—इसी प्रकार का अन्य कोई निर्दोष स्थंडिल है तो। तहप्पगारं—तथाप्रकार के। थ०—स्थंडिल में। उच्चार०—मलमूत्र का। वोसि०—त्याग करे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से जं—वह जो फिर स्थंडिल को जाने। अस्सिपडियाए—किसी गृहस्थ ने साधु के लिए। कयं वा—स्थंडिल किया अथवा। कारियं वा—कराया अथवा। पामिच्चियं वा—उधार लिया हो अथवा। छन्नं वा—उसके ऊपर छत डाली हो। घट्ठं वा—संवारा हो। मट्ठं वा—विशेष रूप से संवारा हो। लित्तं वा—लीपा पोता हो या। समट्ठं वा—समतल किया हो तथा। संपधूमियं वा—दुर्गन्ध दूर करने के लिए धूप से सुवासित किया हो। अन्नयरंसि वा—इस तरह का अन्य कोई सदोष स्थंडिल हो तो। तह०—तथाप्रकार के। थंडि०—स्थंडिल में। नो उ०—मल मूत्र को न परठे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। से ज०—वह जो। पुण—फिर। थ०—स्थंडिल को। जाणेज्जा—जाने, यथा। इह खलु—निश्चय ही इस संसार में। गाहावइ—गृहपति। वा—अथवा। गाहा० पुत्ता—गृहपति के पुत्र साधु के वास्ते। कंदाणि वा—कन्द अथवा। जाव—यावत्। हरियाणि वा—हरी वनस्पति इन को। अंतराओ वा—अन्दर से। बाहिं—बाहर। नीहरंति—निकालते हैं अथवा। बहियाओ—बाहर से। अंतो—अन्दर। साहरंति—रखते है अथवा। अन्नयरंसि—अन्य कोई इसी प्रकार का सदोष स्थंडिल है तो। तह० थं०—तथाप्रकार के स्थंडिल में। नो उच्चा०—मल मूत्र का परित्याग न करे।

से भि०—वह साधु अथवा साध्वी। से जं—वह जो। पुण०—फिर स्थंडिल को जाणेज्जा—जाने। खंधंसि वा—एक स्तम्भ पर स्थंडिल भूमि हो, अथवा स्तंभो पर हो। पीढंसि वा—पीठ पर हो अथवा। मचंसि वा—मच पर। मालंसि वा—माले पर। अट्टंसि वा—अटारी पर। पासायंसि वा—प्रासाद पर अथवा इसी कार के। अन्नयरंसि वा—किसी अन्य स्थान पर हो तो। तह०—तथाप्रकार के स्थंडिल पर। नो उ०—उच्चार प्रश्रवण—मल मूत्र का परित्याग न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। से जं—वह जो। पुण—फिर स्थंडिल को जाने। अणतरहियाए पुढवीए—सचित्त पृथ्वी पर। ससिणिद्धाए पु० — स्निग्ध-गीली पृथ्वी पर। ससरक्खाए पु० — सचित्तरज युक्त पृथ्वी पर तथा। मट्टियाए — कच्ची मिट्टी से युक्त पृथ्वी पर या। मक्कडाए — वहा पर सचित्त मिट्टी का काम किया हुआ हो अर्थात् सचित्त मिट्टी मसली हुई हो या। चित्तमताए — सचित्त। सिलाए — शिला पर। चित्तमंताए लेलुयाए — सचित्त शिला के टुकडे पर। कोलावाससि वा — जहा पर घुण आदि जीव हो अथवा। दारुयंसि — काठ पर अथवा। जीवपइट्ठियसि वा — जहा पर जीव रहते हैं। जाव — यावत्। मक्कडासंताणयंसि — मकडी के जालो से युक्त स्थान पर या। अन्न० — इस प्रकार अन्य कोई स्थान हो तो। तह० — तथाप्रकार के। थ० — स्थंडिल पर। नो उ० — मल मूत्रादि का परित्याग न करे।

मूलार्थ—साधु या साध्वी उच्चार प्रश्रवण मलमूत्र की बाधा हो तो स्वकीय पात्र मे उससे निवृत्त होकर मूत्रादि को परठ दे। यदि स्वकीय पात्र न हो तो अन्य साधर्मी साधु से पात्र की याचना करके उसमें अपनी बाधा का निवारण करके परठ दे, किन्तु मल-मूत्र का कभी भी निरोध न करे। परन्तु अण्डादि जीवों से युक्त स्थान पर मल मूत्रादि न परठे-त्यागे। जो भूमि द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित है, उस भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करे।

यदि किसी गृहस्थ ने एक साधु या बहुत से साधुओं का उद्देश रखकर स्थण्डिल बनाया हो अथवा एक साध्वी या बहुत सी साध्विओं का उद्देश्य रखकर स्थण्डिल बनाया हो अथवा बहुत से श्रमण ब्राह्मण, कृपण, भिखारी एव गरीबों को गिन गिन कर उनके लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्वो की हिंसा करके स्थण्डिल भूमि को तैयार किया हो तो इस प्रकार का स्थण्डिल पुरुषान्तर कृत हो या अपुरुषान्तर कृत हो किसी अन्य के द्वारा भोगा गया हो या न भोगा गया हो, उसमें साधु-साध्वी मलमूत्र का परित्याग न करे।

यदि किसी गृहस्थ ने श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, वनीपक-भिखारी, अतिथियो का निमित्त रखकर प्राणी, भूत, जीव, सत्वो की हिंसा करके

स्थण्डिल बनाया हो तो इस प्रकार का स्थण्डिल, जब तक वह अपुरुषान्तर कृत है अर्थात् किसी के भोगने मे नही आया है तब तक इस प्रकार के स्थण्डिल मे मल मूत्र का परित्याग न करे। यदि इस प्रकार जान ले कि यह पुरुषान्तर कृत है या अन्य के द्वारा भोगा हुआ है तो इस प्रकार के स्थण्डिल मे मल मूत्र का त्याग कर सकता है।

यदि साधु या साध्वी इसप्रकार जान ले कि गृहस्थ ने साधु की प्रतिज्ञा से स्थण्डिल बनाया या बनवाया है, उधार लिया है, उस पर छत डाली है- उसे सम किया है और संवारा है तथा धूप से सुगधित किया है तो इसप्रकार के स्थण्डिल मे मल मूत्र का त्याग न करे,

यदि साधु इस प्रकार जाने कि गृहपति या उसके पुत्र कन्द मूल और हरि आदि पदार्थों को भीतर से बाहर और बाहर से भीतर ले जाते या रखते है, तो इस प्रकार के स्थण्डिल मे मल मूत्रादि न परठे।

यदि साधु इसप्रकार जाने कि यह स्थण्डिल भूमि स्तम्भ पर है, पीठ पर है, मच पर है, माले पर है तथा अटारी और प्रासाद पर है अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य विषम स्थान पर है तो इस प्रकार की स्थण्डिल भूमि पर मल मूत्र का परित्याग न करे। तथा सचित्त पृथ्वी पर, स्निग्ध-गीली पृथ्वी पर, सचित्त रज से युक्त पृथ्वी पर, जहा पर सचित्त मिट्टी मसली गई हो ऐसी पृथ्वी पर, सचित्त शिला पर, सचित्तशिला खड पर, घुण युक्त काष्ठ पर, द्वीन्द्रियादि जीव युक्त काष्ठ पर, यावत् मकड़ी के जाला-आदि से युक्त भूमि पर मल मूत्रादि न परठे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में उच्चार-प्रश्रवण का त्याग करने की विधि बताई गई है। मल और मूत्र को क्रमशः उच्चार और प्रश्रवण कहते हैं। साधु को कभी भी इनका निरोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनके निरोध से शरीर में अनेक व्याधियें एवं भयकर रोग उत्पन्न हो सकते हैं, जिनके कारण आध्यात्मिक साधना में रुकावट पड़ सकती है। इसलिए साधु को यह आदेश दिया गया है कि वह अपने मल मूत्र का

त्याग करने के पात्र में उसकी बाधा को निवारण करले। यदि किसी समय उसके पास अपना पात्र नहीं है तो उसे चाहिए कि अपने साधर्मिक साधु से उसकी याचना करले। परन्तु, मल-मूत्र को रोक कर न रखे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि साधु को मल-मूत्र का त्याग करने के लिए एक अलग पात्र रखना चाहिए, जिसे मात्रक या समाधि भी कहते हैं।

साधु को ऐसे स्थान पर मल मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, जो हरियाली से, बीजों से, निगोद काय से, क्षुद्र जीव-जन्तुओं से युक्त हो या सचित हो, गीला हो, सचित्त मिट्टी वाला हो तथा सचित शिला एवं शिला खण्ड पर हो। इसके अतिरिक्त साधु को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो मल-मूत्र त्यागने का स्थान एक या अनेक साधु-साध्वियों को उद्देश्य से रखकर तथा श्रमण-ब्राह्मणों के साथ भी जैन श्रमणों को लक्ष्य में रखकर बनाया गया हो तो उस स्थान में भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए—चाहे वह स्थान पुरुषान्तरकृत भी क्यों न हो। यदि वह स्थान केवल अन्य मत के श्रमण-ब्राह्मणों के लिए बनाया गया है तो पुरुषान्तरकृत होने पर साधु उस स्थान में मल-मूत्र का त्याग कर सकता है।

जो स्थान अन्तरिक्ष में हो अर्थात् मंच, स्तंभ आदि पर हो तो ऐसे स्थानों पर भी मल मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। मार्ग की विषमता के कारण ही ऐसे स्थानों पर परठने का निषेध किया गया है, जैसेकि पूर्व के अध्ययनों में ऐसे स्थानों पर हाथ-पैर आदि धोने एवं वस्त्र आदि सुखाने का निषेध किया गया है। अतः यदि ऊपर के स्थानों पर जाने का मार्ग प्रशस्त हो, जीवों की विराधना न होती हो तो साधु उन स्थानों का उपभोग भी कर सकता है।

जिस स्थान से कन्द-मूल आदि भीतर से बाहर एवं बाहर से भीतर लाए जा रहे हों तो ऐसे स्थान पर भी साधु को मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सम्भवतः यह क्रिया स्थान को परठने योग्य बनाने के लिए की जा रही हो, अतः साधु को ऐसे स्थान का भी परठने के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए।

जिस स्थान पर साधु के उद्देश्य से कोई विशेष क्रियाएं की गई हों, जैसे—स्थान को सम बनाया गया हो, छायादार बनाया गया हो, सुवासित बनाया गया हो, तो जब तक ये स्थान पुरुषान्तर कृत न हो जाएं तब तक साधु को उनका उपयोग नहीं करना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को सचित्त, जीव जन्तु एवं हरियाली युक्त तथा सदोष भूमि पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। उसे सदा अचित्त जीव-

अगणिपडणट्ठा० अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्न० तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० पुण० जा० अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० । से भि० से जं० जाणे० तिगाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० जाणे० इंगालदाहेसु वा खारदाहेसु वा मडयदाहेसु वा मडयथूभियासु वा, मडयचेइएसु वा अन्नयरंसि वा तह० थं नो उ० ॥ से जं जाणे० नइयायतणेसुवा पंकाययणेसु वा ओघाययणेसु वा सेयणवहंसि वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० । से भि० से जं जाणे० नवियासु वा मट्टियखाणियासु वा नवियासु गोप्पहेलियासु वा गवाणीसु वा खाणीसु वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० ॥ से जं जा० डागवच्चंसि वा सागव० मूलग० हत्थंकरवच्चंसि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० वो० ॥ से भि० से जं असणवणंसि वा सणव० धायइव० केयइवणंसि वा अम्बव० असोगव० नागव० पुन्नागव० चुल्लागव० अन्नयरेसु तह० पत्तोवेएसु वा पुप्फोवेएसु वा फलोवेएसु वा बीओवेएसु वा

चतुर्मुखेषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्यु० ॥ स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात् अंगारदाहेषु वा क्षारदाहेषु वा मृतकदाहेषु वा मृतकस्तूपिकासु वा मृतकचैत्येषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थं० नो उ० व्यु० ॥ स भि० स यत् पुनः एव स्थं० जानीयात् नद्यायतनेषु वा पङ्कायतनेषु वा ओघायतनेषु वा सेचनपथे वा अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थ० नो उ० व्युत्सृजेत् । स भि० स यत् पुनः एव स्थ० जानीयात् नवासु वा मृतखानिषु वा नवासु गोप्रहेल्यासु वा गवादनीषु वा खनीषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले नो उच्चारप्रश्रवण व्यु० स भि० स यत् पुनः एवं स्थं० जानीयात् डालवर्चसि वा शाकवर्चसि वा मूलकवर्चसि वा हस्तकरवर्चसि वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले नो उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ॥ स भि० स यत् पुन: स्थ० जानीयात् अशनवने वा शणवने वा धातकीवने वा केतकीवने वा आम्रवने अशोकवने वा नागवने वा पुन्नागवने वा चुल्लगवने वा अन्यतरेषु वा तथाप्रकारेषु स्थंडिलेषु वा पत्रोपेतेषु वा पुष्पोपेतेषु वा फलोपेतेषु वा बीजोपेतेषु वा हरितोपेतेषु वा नो उ० व्यु० ।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी । स जं—वह जो फिर । थंडिल्लं जाणे—स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने । खलु—निश्चय । इह—इस संसार में । गाहावई वा—गृहपति । गाहावइ पुत्ता वा—या गृहपति के पुत्र ने । कंदाणि वा—कन्द मूल आदि । जाव—यावत् बीयाणि वा—बीज आदि । परिसाडिंसु वा—भूतकाल में रखे थे । परिसाडिंति—वर्तमान काल में रखते है । परिसाडिस्संति वा—और आगामी काल में रखेंगे । अन्नयरंसि वा—अथवा अन्य कोई । तह०—तथाप्रकार के स्थंडिल में । नो उ०—उच्चार प्रश्रवण का परित्याग न करे—परठे नहीं ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । से जं पुण थं० जाणे—वह पुनः स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने । इहखलु—निश्चय ही इस संसार में । गाहावई वा—गृहपति या । गा० पुत्ता वा—गृहपति के पुत्र ने । सालीणि—शाली-धान्य । वा—अथवा । वीहीणि वा—व्रीहि-धान्य विशेष । मुग्गाणि वा—मूग । मासाणि वा—उड़द । कुलत्थाणि वा—कुलत्थ—

पहाडी प्रदेश में उत्पन्न होने वाला धान्य विशेष तथा । जवाणि वा—यव अथवा। जवजवाणि वा—मोटे यव या ज्वार आदि को । पईरिंसु वा—भूतकाल मे वपन किया है। पईरिंति वा—अथवा वर्तमान काल में बो रहा है । पइरिस्सति वा—या भविष्यत् काल में बोएगा । अन्नयरंसि—अथवा अन्य कोई ऐसी क्रिया करता है । तह०—तथाप्रकार के । थंडि०—स्थंडिल में । नो उ०—उच्चार प्रश्रवण का व्युत्सर्ग न करे । से भि०—वह साधु या साध्वी । से ज०—वह पुनः स्थडिल के सम्बन्ध मे जाने कि । आमोयाणि वा—जहा पर कचरे का ढेर लगा हो । घासाणि वा—भूमि पर बडी बडी दरारें पडी हुई हों । भिलुयाणि वा—भूमि पर सूक्ष्म रेखाये पडी हुई हो । विज्जुलयाणि वा—या कीचड हो । खाणुयाणि वा—स्तम्भ और कीलकादि गाडे हुए हो या । कडयाणी वा—इक्षु आदि के डंडे पडे हों । पगडाणि वा—बडे एवं गहरे खड्डे हो । दरीणि वा—अथवा गुफाएं हो । पडुग्गाणि वा—किले की दीवार हो । समाणि वा विसमाणि वा—पूर्ववत स्थान सम हो अथवा विषम हो या । अन्नयरंसि—ऐसा ही अन्य कोई स्थान हो तो । तह०—तथाप्रकार के स्थंडिल मे । नो उ०—मल मूत्र आदि का त्याग न करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । से जं पुण—वह पुनः । थंडिल्लंजाणिज्जा—स्थंडिल के सम्बन्ध में जाने कि । माणुसरंधणाणि वा—जहां भोजन तैयार करने के लिए चूल्हा या भट्ठी आदि हो या । महिसकरणानि वा—जहा पर भैंस को रखने एव बान्धने का स्थान हो इसी प्रकार । वसह क०—वृषभ आदि के लिए स्थान हो या । अस्स क०—घोडो को बान्धने का स्थान हो या । कुक्कुडक०—मुर्गे कुक्कुड को रखने की जगह हो या । मक्कडक०—बन्दर को रखने का स्थान हो या । गय क०—हाथी को बाधने का स्थान हो या । लावय क०—लावक पक्षी को रखने का स्थान हो या । वट्टय क०—चटक-चिडिया को रखने का स्थान हो या । त्तित्तरी क०—तित्तर को रखने का स्थान हो या । कवोय क०—कपोत—कबूतर को रखने का स्थान हो या । कविंजल करणानि वा—कपिंजल (जीव विशेष) को रखने का स्थान । अर्थात् इन पूर्वोक्त जीवो के रहने के जो स्थान हो तथा इन जीवो का उद्देश्य रखकर जहाँ पर इनके लिए उक्त क्रियाएं की जाती हो अथवा । अन्नयरंसि वा—अन्य इसी प्रकार के स्थान हो तो उन स्थानों मे । नो उ०—मल मूत्रादि का त्याग न करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । से ज०जाणे—वह पुनः स्थंडिल के सम्बन्ध मे जाने कि । वेहाणसट्ठाणेसु वा०—जहा पर मनुष्य फासी लेते हो उन स्थानो मे । गिद्धपट्ठा० वा—जहा पर मरने की इच्छा से गृध्रादि पक्षियो के स्थान पर शरीर को रुधिर से संसृष्ट करके लेट जाते हों ऐसे स्थानो में । तरुपडनट्ठाणेसु वा०—जहा वृक्ष से गिर कर या । मेरुपडन ठा०—पर्वत से गिर कर मरते हो ऐसे स्थानो मे या । विसमक्खणय ठा०—

के स्थानो में तथा तालाब मे जल प्रवेश करने वाले मार्ग में। सेयणवहंसि वा—पानी के नाले पर जिससे खेतो को पानी दिया जाता हो या। अन्नयरंसि वा—अन्य कोई। तह०—इसी प्रकार का। थ०—स्थान हो तो उसमें। नो उ०—मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। से ज० पुण० जाणे०—वह जो फिर स्थंडिलादि भूमि को जाने। नवियासु वा—अथवा नई। मट्टियखणिआसु—मृत्तिका की खानों में। नवियासु वा०—नूतन। गोप्पहेलियासु वा—गौओं के चरने के स्थानो में। गवाणीसु वा—सामान्य गौओं के चरने के स्थानो में। खाणीसु वा—खानो के स्थानो मे तथा। अन्नयरंसि वा—अन्य किसी। तह०—ऐसे ही। थ०—स्थंडिल मे। नो उ०—मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०—यह साधु या साध्वी। से जं०—वह जो। पुण—फिर। जाणे—जाने। डागवच्चंसि वा—जिस सब्जी के पौदो मे डालियें अधिक हो या। सागवच्चंसि वा—जिस में पत्ते अधिक हों ऐसे स्थान पर या। मूलगवच्चंसि वा—मूली आदि के खेतो में। हत्थंकर वच्चंसि-वा—कपित्थ—वनस्पति विशेष के स्थानो में (कपित्थ—वनस्पति विशेष) तथा। अन्नयरंसि वा—अन्य। तह०—तथाप्रकार के स्थान हों तो उन में। नो उ०—मल मूत्रादि का त्याग न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। से जं०पुण० जाणे—वह फिर स्थडिल भूमि के सम्बन्ध में जाने। असणवणंसि वा—वीयक नामक वनस्पति के वनो में। सण व०—सण (Jute) के वन में। धायइ व०—धातकी वृक्ष के वनों में। केयइवणंसि—केतकी वृक्षों के वनों में। अंब व०—आम्रवृक्ष के वनो में। असोग व०—अशोक वृक्ष के वनों में। नाग व०—नाग वृक्ष के वनो में। पुन्नाग व०—पुन्नाग वृक्ष के वनों में। चुल्लग व०—चुल्लक वृक्ष के वनों में। अन्नयरेसु—तथा अन्य कोई। तह०—इसी प्रकार का स्थान उसमे अर्थात् स्थडिल में जो। पत्तोवेएसु वा—पत्रों से युक्त हो। पुप्फोवेएसु वा—पुष्पों से युक्त हो। फलोवेएसु वा—फलों से युक्त। बीओवेएसु वा—बीजों से युक्त और। हरिओवेएसु वा—हरि वनस्पति से युक्त ऐसे स्थानों में। नो ० वा०—मल मूत्रादि का परित्याग नही करे।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी स्थण्डिल के सम्बन्ध में यह जाने कि जिस स्थान पर गृहस्थ और गृहस्थ के पुत्रो ने कन्दमूल यावत् बीज आदि रखे हुए हैं, या रख रहे है या रखेंगे। तो साधु इस प्रकार के स्थानो मे मल-मूत्रादि का त्याग न करे। इसीप्रकार गृहस्थ लोगो ने जिस स्थान पर शाली, व्रीही, मूग, उड़द, कुलत्थ, यव और ज्वार आदि बोजे हुए है, बीज रहे है और बीजगे, ऐसे स्थानो पर भी साधु मल-मूत्रादि

मिट्टी की नई खानो मे, नई गोचर भूमि मे, सामान्य गौओ के चरने के स्थानो और खानो में, मल मूत्रादि का परित्याग न करे। डाल प्रधान शाक के खेतो मे, पत्र प्रधान शाक के खेतों मे, और मूलो गाजर आदि के खेतो मे तथा हस्तकर नामक वनस्पति के क्षेत्र मे, इस प्रकार के स्थानो मे भी मल-मूत्र को न त्यागे। बीयक के वन मे, शणी के वन मे, धातकी (वृक्ष विशेष) के वन मे, केतकी के वन मे, आम्र वृक्ष के वन मे, अशोक वृक्ष के वन मे, नाग और पुन्नाग वृक्ष के वन मे, चूलक वृक्ष के वन मे और इसीप्रकार के अन्य पत्र, पुष्प, फलो, पत्ते तथा बीज और हरी वनस्पति से युक्त वन मे मल मूत्र को न त्यागे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में सार्वजनिक उपयोगी एवं धर्म स्थानों पर मल-मूत्र के त्याग करने का निषेध किया गया है। साधु को शाली (चावल), गेहूँ आदि के खेत में, पशुशाला में, भोजनालय मे आम्र आदि के बगीचों में, प्याऊ में, देव स्थानों पर, नदी पर, कुएं आदि स्थानों पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। व्यवहारिक दृष्टि से भी यह कार्य अच्छा नहीं लगता है और उनके रक्षक के मन में क्रोध आजाने के कारण अनिष्ट होने की ही संभावना रहती है। देवालय, नदी, सरोवर आदि स्थानों को कुछ लोग पूज्य मानते हैं, केवल नदी के पानी को ही नहीं, कुछ लोग तो उसके कीचड़ को भी पवित्र मानते हैं। इसलिए ऐसे स्थानों पर साधु को मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।

कूड़े-कर्कट के ढ़ेर, खड्डे एवं फटी हुई जमीन पर भी न परठे। क्योंकि, वहा परठने से अनेक जीवों की हिंसा होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त साधु को ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, जहां लोगों को फासी दी जाती हो या अन्य तरह से वध किया जाता हो। क्योंकि, उनके मन में घृणा पैदा होने से संघर्ष हो सकता है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि साधु सभ्यता एवं स्वच्छता का पूरा ख्याल रखते थे। गांव एवं शहर की स्वच्छता नष्ट न हो तथा उनके प्रति किसी के मनमें घृणा की भावना पैदा न हो इसका भी परठते समय ध्यान रखा जाता था। इससे यह

सिद्ध होता है कि साधु अपनी साधना के लिए किसी भी प्राणी का अहित नहीं करता। वह प्रत्येक प्राणी की रक्षा करने का प्रयत्न करता है।

मल-मूत्र के त्याग के सम्बन्ध में कुछ और आवश्यक बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० सयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवक्कमे अणावायंसि असंलोयंसि अप्पपाणंसि जाव मक्कडासंताणयंसि, अहारामंसि वा उवस्सयंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा, से तमायाए एगंतमवक्कमे अणावाहंसि जाव संताणयंसि अहारामंसि वा झामथंडिल्लंसि वा अन्नयरंसि वा तह० थंडिल्लंसि अचित्तंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा. एयं खलु तस्स० सया जइज्जासि, त्तिबेमि ॥१६७॥

छाया—स भि० स्वकीय पात्रक वा पर पात्रक वा गृहीत्वा स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अनापाते असंलोके अल्पप्राणे यावत् मर्कटासन्ताने यथारामे वा उपाश्रये ततः संयतमेव उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत्, स तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अनाबाधे यावत् सन्तानके यथारामे वा दग्धस्थंडिले वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थंडिले अचित्ते ततः संयतमेव उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत्, एतत् खलु तस्य भिक्षोः २ सामग्र्य यत् सर्वार्थैः समितः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी। सयपाययं—स्वकीय पात्र अथवा। परपायय वा—परकीय पात्र को। गहाय—ग्रहण करके। से—वह भिक्षु। तमायाए—उस पात्र को लेकर। एगंतमवक्कमे—एकान्त स्थान में जाये और वहां जाकर। अणावायंसि—जहां पर

कोई आता जाता न हो तथा। असंलोयंसि—जहा पर कोई देखता न हो उस स्थान पर। अप्पपाणंसि—जहा पर द्वीन्द्रियादि जीवों का अभाव हो। जाव—यावत्। मक्कड़ासंताणयंसि—मकडी आदि के जाले न हो उस स्थान पर अथवा। अहारामंसिवा—आराम बगीचे आदि की निचली भूमि मे तथा। उवस्सयंसि—उपाश्रय मे। तओ—तत् पश्चात् साधु। संजयामेव—यतना पूर्वक। उच्चार पासवण—मल मूत्र का। वोसिरिज्जा—व्युत्सर्ग-त्याग करे फिर। से—वह भिक्षु। तमायाए—उस पात्र को लेकर। एगंतमवक्कमे—एकात स्थान मे चला जावे और वहां जाकर। अणावाहंसि—जहा किसी भी जीव की हिंसा न हो उस स्थान पर। जाव—यावत्। संताणयंसि—मकडी आदि का जाला न हो उस स्थान पर। अहारामंसि वा—उद्यान की अचित भूमि पर या। ज्झामथंडिल्लंसि वा—दग्ध भूमि पर या। अन्नयरंसि वा—अन्य कोई। तह०—इसी प्रकार का। थंडिल्लंसि—स्थंडिल हो तो। अचित्तंसि—जो कि अचित्त है तो उसमें। तओ—तत् पश्चात्। संजयामेव—साधु यतना पूर्वक। उच्चार पासवणं—उच्चार प्रश्रवण-मल मूत्रादि को। वोसिरिज्जा—त्यागे। खलु—निश्चयार्थक है। एवं—इस प्रकार। तस्स—उस साधु अथवा साध्वी का समग्र आचार है। जं—जो। सव्वट्ठेहिं—ज्ञानदर्शन और चारित्र रूप अर्थों से तथा। समिएहिं—समितियो से। सहिए—सहित होकर इसको। सया—सदा। जइज्जासि—पालन करने में यत्नशील हो। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी स्वपात्र अथवा परपात्र को लेकर बगीचे या उपाश्रय के एकान्त स्थान मे जाए और जहा पर न कोई देखता हो और न कोई आना जाता हो तथा जहा पर द्वीन्द्रियादि जीव जन्तु एवं मकड़ी आदि के जाले भी न हो, ऐसी अचित्त भूमि पर बैठकर साधु उच्चार प्रश्रवण का परिष्ठापन करे, उसके पश्चात् वह उस पात्र को लेकर एकान्त स्थान मे जाए जहां पर न कोई आता जाता हो और न कोई देखता हो, जहां पर किसी जीव की हिंसा न होती हो यावत् जल आदि न हो, उद्यान-बाग की अचित्त भूमि मे अथवा अग्नि से दग्ध हुए स्थंडिल में, इसी प्रकार के अन्य अचित्त स्थंडिल मे—जहा पर किसी भी जीव की विराधना न होती हो, साधु मल मूत्र का परित्याग करे। इस प्रकार साधु और साध्वी का समग्र आचार वर्णित हुआ है जो कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप अर्थों में और पांचो समितियो से

सप्तसप्तिकाख्या द्वितीया चूला—शब्दसप्तककः

# एकादश अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में यह अभिव्यक्त किया गया है कि निर्दोष स्वाध्याय भूमि में स्वाध्याय करते हुए या निर्दोष स्थान पर मल मूत्र का त्याग करते समय कोई साधु मधुर या मनोज्ञ शब्दों को सुनने का प्रयत्न न करे। वह सदा समभाव पूर्वक अपनी साधना में संलग्न रहे, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० मुइंगसद्दाणि वा नंदीस० झल्लरीस० अन्नयराणि वा तह० विरूवरूवाइं सद्दाइं विततइं कन्नसोयणपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं०—वीणासद्दाणि वा विपंची स० पिप्पी ( बद्धी ) सगस० तूणयसद्दा० पणयस० तुंबवीणीय सद्दाणि वा ढंकुणसद्दाइं अन्नयराइं तह० विरूवरूवाइं० सद्दाइं० विततइं कण्णसोयणपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं० —तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियसद्दा० गोधियस० किरिकिरियास० अन्नयरा० तह० विरूव० सद्दाणि कण्ण० गमणाए ॥ से भि० अहावेग० तं० —संखसद्दाणि वा वेणु० बंसस० खरमुहिस० परिपिरिया स० अन्नय० तह० विरूव० सद्दाइं झुसिराइं कन्न० ॥१६८॥

छाया—स भि० मृदंगशब्दान् वा नन्दीश० झल्लरीश० वा अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् शब्दान् विततान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेद् गमनाय ।। से भि० यथा वा एकक्कान् शब्दान् शृणोति तद्यथा वीणाशब्दान् वा विपचीश० वा विप्पीसक्कश० वा ( बद्धीसक्क शब्दान् वा ) तूणकश० वा पणकश० वा तुम्बवीणाश० वा ढंकुणश० वा अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् शब्दान् विततान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय ।। स भि० यथावैकक्कान् श० शृणोति तद्यथा-तालश० वा कंसतालश० वा लत्तिका( कंशिका ) श० वा गोहिकश० वा किरिकिरियाश० अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् विततान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय । स भि० यथा वैककान् शब्दान् शृणोति तद्यथा—शंखश० वेणुश० वा वंशश० वा खरमुखी श० वा पिरिपिरिया श० वा अन्यतरान् वा तथा० विरूपरूपान् श० शुषिरान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय ।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी । मुइंगसद्दाणि वा—मृदंग के शब्द । नंदीसद्दाणि वा—नन्दी नाम के वाद्यन्तर के शब्द । झल्लरीसद्दाणि वा—झल्लरी या छैणे के शब्द तथा । अन्नयराणि वा—अन्य किसी वाद्ययन्त्र के । तहप्पगाराणि—तथाप्रकार के शब्द । विरूवरूवाइ—नानाप्रकार के । विततांइं—शब्दो को । कण्णसोयणपडियाए—सुनने के लिए । गमणाए—जाने का । नो अभिसंधारिज्जा—मन में संकल्प न करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । अहावेगइयाइं—जैसे कई एक । सद्दाइं—शब्दों को । सुणेइ—सुनता है । तंजहा—जैसे कि । वीणासद्दाणि वा—वीणा के शब्द । विपचीसद्दाणि वा—विपंची-वीणा विशेष के शब्द । पिप्पीसगसद्दाणि वा—बद्धीसक नाम वाले वाद्य के शब्द । तूणयसद्दाणि वा—तूण नाम के वाद्यविशेष के शब्द । पणयसद्दाणि वा—पणक-ढोलक के शब्द । तुंबवीणियसद्दाणि वा—तुम्ब वीणा के शब्द । ढंकुणसद्दाणि वा—ढंकुण नाम के वाद्य के शब्द तथा । अन्नयराइं—अन्य कोई । तह०—तथाप्रकार के वाद्ययंत्र के । विरूवरूवाइं—नानाविध । सद्दाइं—शब्दों को । विततांइं—जोकि वितत हैं । कण्णसोयणपडियाए—सुनने की प्रतिज्ञा से । गमणाए—जाने का । नो अभिसंधारिज्जा—मन में संकल्प न करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । अहावेगइयाइं—कई एक । सद्दाइं—शब्दों को । सुणेइ—सुनता है । तंजहा—जैसे कि । तालसद्दाणि वा—ताल के शब्द । कंसतालसद्दाणि—कंस ताल—वाद्य विशेष के शब्द । लत्तियसद्दाणि वा—कंशिका नाम के वाद्य विशेष के शब्द ।

गोधियस०—कांख एव हाथ में रखकर बजाए जाने वाले वाद्ययंत्र के शब्द । किरिकिरिया स०—दशमयी कदम्बिका वाद्य विशेष के शब्द तथा । अन्नयरा०—अन्य कोई । तह०—इसी प्रकार के । विरूव०—विविध भांति के । सद्दाइं—शब्दों को । कण्ण०—श्रवण करने के लिए । गमणाए—जाने का । नो अभिसंधारिज्जा—मन में संकल्प न करे ।

से भि०—वह साधु या साध्वी । अहावेग०—कई एक शब्दों को सुनता है । तंजहा—जैसे कि । संखसद्दाणि वा—शंख के शब्द । वेणु०—वेणु के शब्द । वंस स०—वंश—बांस के शब्द । खरमुही स०—खरमुखी नामक वाद्य के शब्द । परिपिरिया स०—बांस की नली के शब्द तथा । अन्न०—अन्य कोई । तह०—तथाप्रकार के । झुसिराइं—शुशिर । सद्दाइं—शब्दों को । कन्नसो०—सुनने के लिए । गमणाए—जाने का । नो अभिसंधारिज्जा—मन मे संकल्प न करे । अर्थात् सुनने के लिए न जावे ।

मूलार्थ—संयमशील साधु या साध्वी मृदंग के शब्द, नन्दी के शब्द और झल्लरी के शब्द, तथा इसी प्रकार के अन्य वितत शब्दों को सुनने के लिए किसी भी स्थान पर जाने का मन मे संकल्प न करे ।

इसी प्रकार वीणा के शब्द, विपञ्ची के शब्द, बद्धीसवक के शब्द तूनक और ढोल के शब्द, तुम्ब वीणा के शब्द, ढुंकण के शब्द इत्यादि शब्दों को एवं ताल शब्द, कंशताल शब्द, कांसी का शब्द, गोधी का शब्द, किरिकरी का शब्द तथा शंख शब्द, वेणु शब्द, खरमुखी शब्द और परिपिरिका के शब्द इत्यादि नाना प्रकार के शब्दों को सुनने के लिए भी साधु न जावे तात्पर्य कि इन उपरोक्त शब्दों को सुनने की भावना से साधु कभी भी एक स्थान से दूसरे स्थान को न जाए ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वाद्ययंत्रों से निकलने वाले मनोज्ञ एवं मधुर शब्दों को श्रवण करने का निषेध किया गया है । इसमें चार प्रकार के वाद्ययंत्रों का उल्लेख किया गया है—१ वितत, २ तत, ३ घन और ४ सुषिर । मृदंग, नन्दी, झल्लर आदि के शब्द 'वितत' कहलाते हैं, वीणा, विपंची आदि वाद्य यंत्रों के शब्दों को 'तत' संज्ञा दी गई है, हस्तताल, कंस ताल आदि शब्दों को 'घन' कहा जाता है और शंख, वेणु आदि के शब्द 'सुषिर' कहलाते हैं । इसप्रकार सभी तरह के वाद्ययंत्रों से प्रस्फुटित शब्दों को सुनने के लिए साधु प्रयत्न न करे । सूत्रकार ने यहां तक निषेध किया है कि साधु को इन

शब्दों को सुनने के लिए मन में सकल्प भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये शब्द मोह एवं विकार भाव को जागृत करने वाले हैं। अतः साधु को इन से सदा बचकर रहना चाहिए।

शब्द के विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से भि० अहावेग० तं० वप्पाणि वा फलिहाणि वा जाव सराणि वा सागराणि वा सरसरपंतियाणि वा अन्न० तह० विरूव० सद्दाइं कराणा० ॥ से भि० अहावे० तं० कच्छाणि वा णूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अन्न० ॥ अहा० तं० गामाणि वा नगराणि वा निगमाणि वा रायहाणाणि वा आसमपट्टण-संनिवेसाणि वा अन्न० तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्नय० तहा० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंजहा—तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंजहा—महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभक० अस्सक० हत्थिक० जाव कविंजलकरणट्ठा० अन्न०

तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंज० महिसजुद्धाणि वा जाव कविंजलजु० अन्न० तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तं० जूहियठाणाणि वा हयजू० गयजू० अन्न० तह० नो अभि० ॥१६६॥

छाया—स भि० यथावैकक: तद्यथा वप्रान् वा परिखा वा यावत् सरांसि सागरान् वा सरः सरः पक्ती वा अन्य० तथा० विरू० श० कर्ण०॥ स भि० यथा वैकक: त० कच्छानि वा नूमानि वा गहनानि वा वनानि वा वनदुर्गाणि वा पर्वतान् वा पर्वतदुर्गाणि वा अन्य०॥ यथा वा एकक: त० ग्रामान् वा नगराणि वा निगमान् वा राजधानी: वा आश्रमपट्टनसन्निवेशान् वा अन्यतरान् वा अन्य० तथा० शब्दान् कर्ण० अभि०॥ स भि० यथा वैकक: आरामान् वा उद्यानानि वा वनानि वा वनषडानि वा देवकुलानि वा सभा वा प्रपा वा अन्य० तथा० शब्दान् नाभि०॥ स भि० यथा वैकक: त० अट्टानि वा अट्टालकानि वा चरिकानि वा द्वाराणि वा गोपुराणि वा अन्य० तथा० शब्दान् नाभि०॥ स भि० यथा वा एकक: त० त्रिकानि वा चतुष्कानि वा चच्चराणि वा चतुर्मुखानि वा अन्य० तथा० शब्दान् नाभि० ॥ स भि० यथा वैकक: त० महिषकरणस्थानानि वा वृषभ क० अश्व क० हस्ति क० यावत् कपिजलकरणस्थानानि वा अन्य० तथा० शब्दान् कर्ण० नाभि० गमनाय॥ स भि० यथा वैकक: त० महिषयुद्धानि वा यावत् कपिंजलयुद्धानि वा अन्य० तथा० नाभि०। स भि० यथा वैकक: तद्यथा यूथस्थानानि वा हययू० गज यू० अन्य० तथा० नाभि०।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी। अहावेग०—यथा कई एक। सद्दाण—शब्दों को। सुणेइ—सुनता है। तजहा—जैसे कि। वप्पाणि वा—खेत के क्यारो के विषय में कोई गाता हो अथवा वहा कोई वाद्य बजाता हो। फलिहाणि वा—खाई मे होने वाले शब्द। जाव—यावत्। सराणि वा—सरोवर के शब्द। सागराणि वा—समुद्र के शब्द। सरसरपंतियाणि वा—सरोवर की पक्तियो के शब्द। अन्न०—अन्य कोई। तह०—इसी प्रकार के। विरूव०—नानाविध। सद्दाइं—शब्दो को। कण्ण०—श्रवण करने के लिए। नो अभिसं—

धारिज्ज गमणाए—जाने का मनमें सकल्प न करे।

से भि०—यह साधु या साध्वी। अहावे०—कई तरह के। सद्दाण—शब्दो को। सुणेइ—सुनता है। तं०—जैसे कि। कच्छाणि वा—नदी के पानी से आवृत्त वन के। णूमाणि वा—वृक्षों के या। गहणाणि वा—वनस्पति के समूह। वणाणि वा—वन के या। वणदुग्गाणि वा—विषम वन के शब्दो को। पव्वयाणि वा—या पर्वत एवं। पव्वयदुग्गाणि वा—विषम पर्वत पर होने वाले शब्दो या। अन्न०—अन्य। तह०—इसी तरह के। विरूव०—नाना प्रकार के। सद्दाइं—शब्दो को। कण्ण०—कान से सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभिसंधारिज्ज-गमणाए—उस ओर जाने का मन मे विचार न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। अहावे०—कभी कई प्रकार के। सद्दाण—शब्दो को सुणेइ—सुनता है। तं०—जैसे कि। गामाणि वा—ग्राम के शब्द अथवा। नगराणि वा—नगर के शब्द। निगमाणि वा—निगम (जहा पर वहुत वणिक निवास करते हो) के शब्द। रायहाणाणि वा—राजधानी के शब्द। आसमपट्टणसंनिवेसाणि वा—आश्रम—तापस आदि के स्थान के शब्द, पत्तन के शब्द, सन्निवेश—सराय आदि के शब्द अर्थात् इन स्थानो में कोई गीत गाता हो या कोई वाजतर वजाता हो या। अन्न—अन्य कोई। तह०—इसीप्रकार के। विरूव० नाना विध। सद्दाइं—शब्दो को। कण्ण०—सुनने के लिए। नो अभिसधारिज्ज गमणाए—जाने का मनमे विचार न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। अहावे०—कभी कई तरह के शब्दो को सुनता है, जैसे कि। आरामाणि वा—आराम में होने वाले शब्द तथा। उज्जाणाणि वा—उद्यान में होने वाले शब्द और। वणाणि वा—वन मे होने वाले शब्द। वणसंडाणि वा—वनषंड मे होने वाले शब्द। देवकुलाणि वा—देव कुल मे होने वाले शब्द। सभाणि वा—सभा मे होने वाले शब्द। पवाणि वा—प्रपा-जलदान के स्थान में होने वाले शब्द। अन्नय० तह०—अन्य इसी तरह के। विरूव०—नाना प्रकार के शब्दो को सुनने के लिए। नो अभि सधा०—जाने का विचार न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। अहावे०—कभी कई। सद्दाण—शब्दो को। सुणेइ—सुनता है। तंजहा—जैसे कि। अट्टाणि वा—अटारी पर होने वाले शब्द। अट्टालयाणि वा—अटारी की फिरनी में होने वाले शब्द। चरियाणि वा—प्राकार और नगर के मध्य में होने वाले आठ हाथ प्रमाण राजमार्ग के शब्द। दाराणि वा—द्वार मे होने वाले शब्द। गोपुराणि वा—नगर के वडे द्वार पर होने वाले शब्द अथवा। अन्न०—अन्य। तह०—इसी प्रकार के। सद्दाइं—शब्दो को कान से सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभि०—जाने का मन में संकल्प न करे।

से भि० — वह साधु या साध्वी। अहावे० — कभी कई। सद्दाण — शब्दों को। सुणेइ — सुनता है। त० — जैसेकि। तियाणि वा — जहा पर नगर में तीन मार्ग मिलते हों वहा पर होने वाले शब्द। चउक्काणि वा — चौराहे पर होने वाले शब्द। चच्चराणि वा — जहा पर बहुत से मार्ग संमिलित होते हो वहा पर होने वाले शब्द तथा। चउम्मुहाणि वा — चतुर्मुख मार्ग में होने वाले शब्द। अन्न० — तथा अन्य। तह० — इसी प्रकार के। सद्दाइं — शब्दों को कान से सुनने के लिए। नो अभि० — जाने का मन मे विचार न करे।

से भि० — वह साधु या साध्वी। अहावे० — कभी कई तरह के। सद्दाण — शब्दों को। सुणेइ — सुनता है। तजहा — जैसे कि। महिसकरणट्ठाणाणि वा — भैंस शाला में होने वाले शब्द। वसभकरणट्ठाणाणि वा — वृषभ शाला में होने वाले शब्द। अस्सक० — घुड़शाला में होने वाले शब्द। हत्थिक० — हस्तीशाला मे होने वाले शब्द। जाव — यावत्। कविंजलकरणट्ठा० — जहा पर कपिंजल पक्षी के ठहरने का स्थान है वहा पर होने वाले शब्द तथा। अन्न — अन्य। तह० — तथाप्रकार के। सद्दाइ — शब्दो को कान से सुनने की प्रतिज्ञा से। नो०अभि० — जाने का मन मे विचार न करे।

से भि० — वह साधु या साध्वी। अहावे० — कई तरह के। सद्दाण — शब्दों को। सुणेइ — सुनता है। तजहा० — जैसेकि। महिसजुद्धाणि वा — भैंसों के युद्ध क्षेत्र में होने वाले शब्द। जाव — यावत्। कविंजल जु० — कपिंजल पक्षियो के युद्ध क्षेत्र में होने वाले शब्द। अन्न — तथा अन्य। तह० — तथाप्रकार के। सद्दाइ — शब्दो को सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभि० — सन्मुख होकर जाने के लिए मन मे विचार न करे।

से भि० — वह साधु या साध्वी। अहावे० — कई तरह के। सद्दाण — शब्दों को। सुणेइ — सुनता है। त० — जैसे कि। जूहियठाणाणि वा — वर वधु के मिलन स्थल पर होने वाले शब्द अर्थात् विवाह वेदी के समय पर होने वाले शब्द। हय जू० — घोडों के यूथ जहा पर रहते हों उन स्थानों मे होने वाले शब्द। गयजू० — हाथी के यूथ के स्थान मे होने वाले शब्द तथा। अन्न० — अन्य। तह० — इसी प्रकार के। सद्दाइ — शब्दों को सुनने की प्रतिज्ञा से। नो अभि० — जाने का मन में विचार न करे।

**मूलार्थ** — संयमशील साधु या साध्वी कभी कई तरह के शब्दो को सुनते हैं। परन्तु उन्हें खेत के क्यारो मे एवं खाई यावत् सरोवर, समुद्र और सरोवर की पंक्तियां इत्यादि स्थानो मे होने वाले शब्दो को सुनने के लिए जाने का मन मे संकल्प नही करना चाहिए। और साधु जल-बहुल प्रदेश, वनस्पति समूह, वृक्षो के सघन प्रदेश, वन, पर्वत और विषम

पर्वत इत्यादि स्थानो मे होने वाले शब्दो को सुनने के लिए जाने का भी सकल्प न करे।

इसी भाति ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, आश्रम, पत्तन और सन्निवेश आदि स्थानो में होने वाले शब्दो को सुनने के लिए जाने का भी मन मे सकल्प न करे। तथा आराम, उद्यान, वन, वन-खण्ड, देवकुल, सभा और प्रपा (जल पिलाने का स्थान) आदि स्थानो मे होने वाले शब्दो को सुनने की प्रतिज्ञा से वहां जाने के लिए मनमे विचार न करे। एव अट्टारी, प्राकार, प्राकार के ऊपर की फिरनी और नगर के मध्य का आठ हाथ प्रमाण राजमार्ग, द्वार तथा नगर मे प्रवेश करने का बडा द्वार इत्यादि स्थानों मे होने वाले शब्दो को सुनने के लिए भी जाने का मन मे भाव न लाए।

इसी तरह नगर के त्रिपथ, चतुष्पथ, बहुपथ और चतुर्मुख मार्ग, इत्यादि स्थानो मे होने वाले शब्दो को सुनने के लिए जाने का भी मन मे विचार न करे। इसी भांति भैंसशाला, वृषभशाला, घुड़शाला, हस्तीशाला और कपिजल पक्षी के ठहरने के स्थान आदि पर होने वाले शब्दो को सुनने के लिए भी जाने का विचार न करे। तथा वर-वधू के मिलने का स्थान (विवाह-वेदिका) घोडो के यूथ का स्थान, हाथी-यूथ का स्थान यावत् कपिजल पक्षी का स्थान इत्यादि स्थानो के शब्दो को सुनने के लिए भी जाने का विचार न करे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को खेतों में, जगल में, घरों में या विवाह आदि उत्सव के समय होने वाले गीतों को या पशुशालाओं एवं अन्य प्रसगों पर होने वाले मधुर एव मनोज्ञ गीतों को सुनने के लिए उन स्थानों पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। ये सब तरह के सांसारिक गीत मोह पैदा करने वाले हैं, इनके सुनने से मन में विकार भाव जागृत हो सकता है। अतः सयमनिष्ठ साधु-साध्वी को इनका श्रवण करने के लिए किसी भी स्थान पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस युग मे विवाहोत्सव मनाने की परम्परा थी और वर-वधू के मिलन के समय राग-रग को बढ़ाने वाले गीत भी गाए जाते थे।

प्रस्तुत सूत्र से उस युग की सभ्यता का स्पष्ट परिज्ञान होता है और विभिन्न उत्सवों एवं उन पर गीत आदि गाने की परम्परा का भी परिचय मिलता है। उस युग में भी जनता अपने मनोविनोद के लिए विशिष्ट अवसरों पर गीत आदि गाकर अपना मनो-विनोद करती थी। अत. साधु को इन गीतों को सुनने के लिए जाना तो दूर रहा, परन्तु उनके सुनने की अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं ..

मूलम्—से भि० जाव सुणेइ, तंजहा-अक्खाइयठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा महताऽऽहयनट्टगीयवाइयतंती-तलतालतुडियपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभिसं०॥ से भि० जाव सुणेइ, तं० कलहाणि वा डिंबाणि वा डमराणि वा दोरज्जाणि वा वेर० विरुद्धर० अन्न० तह० सद्दाइं नो०॥ से भि० जाव सुणेइ, खुड्डियं दारियं परिभुत्तमंडियं अलंकियं निवुज्झमाणिं पेहाए एगं वा पुरिसं वहाए नी-णिज्जमाणं पेहाए अन्नयराणि वा तह० नो अभि०॥ से० भि० अन्नयराइं विरूव० महासवाइं एवं जाणेज्जा तंजहा—बहुसगडाणि वा बहुरहाणि वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपच्चंताणि वा अन्न० तह० विरूव० महासवाइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए॥ से भि० अन्नयराइं विरूव० महुस्सवाइं एवं जाणिज्जा, तंजहा—इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि

वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा नच्चंताणि वा हसंताणि रमंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विछड्डियमाणाणि वा विगोवयमाणाणि अन्नय० तह० विरूव० महु० कन्नसाय०॥ से भि० नो इहलोइएहिं सद्देहिं नो परलोइएहिं स० नो सुएहिं स० नो असुएहिं स० नो दिट्ठेहिं स० नो अदिट्ठेहिं स० नो कंतेहिं स० सज्जिज्जा नो गिज्झिज्जा नो मुज्झिज्जा नो अज्झोववज्जिज्जा, एवं खलु जाव जएज्जासि त्तिबेमि ॥ सद्दसत्तिक्कओ सम्मत्तो ॥१७०॥

छाया—स भि० यावत् शृणोति, तद्यथा आख्यायिकास्थानानि वा मानोन्मानस्थानानि वा महान्ति आहतनाट्यगीतवादित्रतंत्रीतलतालत्रुटित—प्रत्युत्पन्नास्थानानि वा अन्य० तथा०शब्दान् नो अभिस०॥ स भि० यावत् शृणोति तद्यथा कलहानि वा डिम्बानि वा डमराणि वा द्विराज्यानि वा वैर० विरुद्धराज्यानि वा अन्य० तथा० शब्दान् नो०॥ स भि० यावत् शृणोति त० क्षुल्लिकां वा दारिकां वा परिभुक्तमंडितां, अलंकृतां (अश्वादिना) नीयमानां प्रेक्ष्य, एकं वा पुरुषं वधाय नीयमानं प्रेक्ष्य, अन्य० तथा० शब्दान् नो० अभि०॥ स भि० अन्य० विरूपरूपान् वा महाश्रवान् एवं जानीयात् तद्यथा—बहुशकटानि वा बहुरथानि वा बहुम्लेच्छानि वा बहुप्रात्यन्तिकानि वा अन्य० त० विरूप० महाश्रवान् वा कर्णश्रवणप्रतिज्ञया नो अभिसन्धारयेद् गमनाय॥ स भि० अन्य० विरूप० वा महोत्सवान् एवं जानीयात् तद्यथा-स्त्रीः वा पुरुषान् वा स्थविरान् वा बालान् वा मध्यमान् वा आभरणविभूषितान् वा गायतो वा वादयतो वा नृत्यतो वा हसतो वा रममाणान् वा मोहयतो वा विपुलम्

अशन पान खादिम स्वादिम परिभुजमाणान् वा परिभाजयतो वा विच्छर्दमानान् वा विगोपयतो वा अन्य० तथा० विरूव० मधु० कर्ण० स०॥ स भि० नो इहलौकिकैः शब्दैः नो पारलौकिकैः श० नो श्रुतैः श० नो अश्रुतैः श० नो दृष्टैः श० नो अदृष्टैः श० नो कान्तैः श० सज्जयेत नो गृध्येत् नो मुह्येत् नो अध्युपपद्येत एवं खलु तस्य भिक्षोः यावत् यतेत्। इति ब्रवीमि। शब्द सप्तैकक: समाप्तः॥

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी। जाव—यावत्। सुणेइ-शब्दों को सुनता है। तंजहा—जैसेकि। अक्खाइयठाणाणि वा—कथा करने के स्थान पर। माणुम्माणियट्ठाणाणि वा—तोल-माप करने के स्थान पर या घुड दौड आदि के स्थानो पर। महताऽऽ—महान। आहय—आहत। नट्ट—नृत्य। गीय—गीत। वाईय—वादित्र। तंती—तन्त्री। तल—कांसी का वाद्य। ताल—वाद्यविशेष। तुडिय—त्रुटित-ढोल आदि के। पडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा—उत्पन्न होते शब्दो को। अन्न० - तथा अन्य। तह०—तथाप्रकार के। सद्दाइ—शब्दो को सुनने के लिए। नो अभि स०—जाने का मनमे विचार न करे।

से भि०—साधु या साध्वी। जाव—यावत्। सुणेइ—शब्दो को सुनता है। त०—जैसेकि। कलहाणि वा—कलह के शब्द। डिंबाणि वा—स्वचक्र-राजा के स्वदेश में परस्पर होने वाले विरोध के शब्द। डमराणि वा—पर राज्य के विरोधी शब्द। दो रज्जाणि—दो राजाओ के परस्पर विरोधी शब्द। वेर०—परस्पर वैर विरोध के शब्द तथा। अन्न—अन्य, तह०—तथाप्रकार के। सद्दाइ—शब्दो को सुनने के लिए। नो अभि स०—जाने का मन मे विचार न करे।

से भि०—वह साधु या साध्वी। जाव सुणेइ—यावत् विभिन्न प्रकार के शब्दों को सुनता है। तं०—जैसेकि। परिभुत्तमंडिय—परिवार से घिरी हुई, आभूषणो से मंडित और अलंकिय—अलंकृत हुई। निवुज्झमाणि—घोडे आदि पर बैठाकर ले जाती हुई को। खुड्डियं वा—छोटी। दारियं—बालिका। पेहाए—देखकर। वा—अथवा। एगपुरिसं—किसी एक अपराधी पुरुष को। वहाए—वध के लिए। निणिज्जमाणं—वध्य भूमि में ले जाते हुए को। पेहाए—देखकर। वा—अथवा। अन्नयराणि—अन्य। तह०—तथाप्रकार के शब्दो को सुनने के लिए। नो अभि स०—जाने का मन म विचार न करे। से भि०—वह साधु अथवा साध्वी अन्न०—अन्य कोई। विरूव०—नाना प्रकार के। महासवाइ—महान आश्रव के स्थानों को। एवं—इस प्रकार। जाणिज्जा—जाने। तं०—जैसेकि। बहुसगडाणि वा—बहुत से शकटों के स्थान। बहुरहाणि वा—बहुत से रथों के स्थान अर्थात् जहा पर शकट और रथ दोनो बहुत संख्या में रहते हैं वह स्थान। वा०—या। बहुमिलक्खूणि—बहुत से म्लेछो के स्थान या

वाले शब्दो को सुनने के लिए जाने का मन मे विचार नही करना चाहिए।

इसी प्रकार कलह के स्थान, अपने राज्य के विरोधी स्थान, पर राज्य के विरोधी स्थान, दो राज्यो के परस्पर विरोध के 'स्थान, वैर के स्थान और यहा पर राजा के विरुद्ध वार्तालाप होता हो इत्यादि स्थानो मे होने वाले शब्दो को सुनने के लिए भी जाने का मन मे संकल्प न करे।

यदि किसी वस्त्राभूषणो से शृंगारित और परिवार से घिरी हुई छोटी बालिका को अश्वादि पर बिठा कर ले जाया जा रहा हो तो उसे देखकर तथा किसी एक अपराधी पुरुष को वध के लिए वध्यभूमि मे लेजाते हुए देखकर साधु उन स्थानो मे होने वाले शब्दो को सुनने की भावना से उन स्थानो पर जाने का मन मे विचार न करे।

जो महा आश्रव के स्थान है—जहा पर बहुत से शकट, बहुत से रथ, बहुन से म्लेच्छ, बहुत से प्रान्तीय लोग एकत्रित हुए हो तो साधु साध्वी वहां पर उनके शब्दो को सुनने को प्रतिज्ञा से जाने का मन मे सकल्प भो न करे।

जिन स्थानों मे महोत्सव हो रहे हो, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध और युवा आभरणो से विभूषित होकर गीत गाते हों, वाद्यन्तर बजाते हो' नाचते और हसते हो, एव आपस में खेलने और रतिक्रीड़ा करते हो. तथा विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थो को खाते हो, परस्पर बाटते हो, गिराते हो, तथा अपनी प्रसिद्धि करते हों तो ऐसे महोत्सवों के स्थानो पर होने वाले शब्दो को सुनने के लिए-साधु वहां पर जाने का कभी भी संकल्प न करे।

वह साधु या साध्वी स्वजाति के शब्दो और परजाति के शब्दो में आसक्त न बने, एवं श्रुत या अश्रुत तथा दृष्ट या अदृष्ट शब्दो और प्रिय शब्दों मे आसक्त न बने। उनकी आकांक्षा न करे और उनमे मूर्छित भी न होवे। यही साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है और इसी के पालन

में उसे सदा संलग्न रहना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को जहां बहुत से लोग एकत्रित होकर गाते-बजाते हों, नृत्य करते हों, रतिक्रीड़ा करते हों, हंसी-मजाक करते हों, रथ एवं घोड़ों की दौड़ कराते हों, बालिका को शृङ्गारित करके अश्व पर उसकी सवारी निकालते हों, किसी अपराधी को फांसी देते समय गधे पर बिठाकर उसकी सवारी निकाल रहे हों और इन अवसरों पर वे जो शब्द कर रहे हों उन्हें सुनने के लिए साधु को उक्त स्थानों पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। और जहां पर अपने देश के राजा के विरोध में, या अन्य देश के राजा के विरोध में या दो देशों के राजाओं के पारस्परिक संघर्ष के सम्बन्ध में बातें होती हों, तो साधु को ऐसे स्थानों में जाकर उनके शब्द सुनने का भी संकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन सब कार्यों से मनमें राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, चित्त अशांत रहता है और स्वाध्याय एवं ध्यान में विघ्न पड़ता है। अतः संयमनिष्ठ साधक को श्रोत्र इन्द्रिय को अपने वशमें रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे इन सब असंयम के परिपोषक शब्दों को सुनने का त्याग करके अपनी साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इस अध्ययन मे यह पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को राग-द्वेष बढ़ाने वाले किसी भी शब्द को सुनने की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। साधु का जीवन अपनी साधना को मूर्त रूप देना है, साध्य को सिद्ध करना है। अतः उसे अपने लक्ष्य के सिवाय अन्य विषयों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। राग-द्वेष पैदा करने वाले प्रेम-स्नेह एव विग्रह, कलह आदि के शब्दों की ओर उसे अपने मन को बिल्कुल नहीं लगाना चाहिए। यही उसकी साधुता है और यही उसका श्रेष्ठ आचार है।

॥ एकादश अध्ययन समाप्त ॥

सप्तसप्तिकाख्या द्वितीया चूला—रूपसप्तैकका

## द्वादश अध्ययन

एकादश अध्ययन मे श्रुतेन्द्रिय के विषय का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन मे चक्षु इन्द्रिय से संबद्ध विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

**मूलम्**—से भि० अहावेगइयाइं रूवाइं पासइ, तं - गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघाइमाणि वा कट्ठकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा चित्तक० मणिकम्माणि वा दंतक० पत्तछिज्जकम्माणि वा विविहाणि वा वेढिमाइं अन्नयराइं विरू० चक्खुदंसणपडियाए, नो अभिसंधारिज्ज गमणाए, एवं नायव्वं जहा सद्दपडिमा सव्वा वाइत्तवज्जा रूवपडिमावि त्तिबेमि पंचमंसत्तिक्कयं ॥१७१॥

छाया—स भि० अथाप्येककानि रूपाणि पश्यति, त० ग्रथितानि वा वेष्टिमानि वा पूरिमाणि वा संघातिमानि वा काष्ठ कर्माणि वा पुस्तककर्माणि वा चित्रकर्माणि वा मणिकर्माणि वा दन्तकर्माणि वा पत्रछेद्यकर्माणि वा विविधानि वा वेष्टिमानि अन्य० विरूप० चक्षुदर्शनप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गमनाय ॥ एव ज्ञातव्य यथा शब्दप्रतिमा सर्वा वादित्रवर्ज्या रूपप्रतिमाअपि । पचमं सप्तैककमध्ययनम् समाप्तम् ।

पदार्थ—से भि०—वह साधु या साध्वी । अहावेगइयाइ—कभी कई तरह के । रूवाइ—रूपो को। पासइ—देखता है । त०—जैसेकि । गंथिमाणि वा—गूथे हुए पुष्पो से निष्पन्न स्वस्तिकादि का । वेढिमाणि वा—वस्त्र से वेष्टित अथवा निष्पन्न पुत्तलिकादि का ।

पूरिमाणि वा—अनेक पदार्थों से निर्मित पुरुषाकृति । संघाइमाणि वा—नानाप्रकार के वर्णों को एकत्रित करके उनसे निर्मित चोलकादि या । कट्ठकम्माणि वा—काष्ठ के द्वारा निर्मित कई पदार्थ । पोत्थकम्माणि वा—पुस्तक कर्म-ताडपत्रादि से निष्पन्न पुस्तकादि वस्तु । चित्तक०—चित्रकर्म भीत आदि पर चित्रित चित्र आदि । मणिकम्माणि वा—नाना प्रकार की मणियों द्वारा निर्मित स्वस्तिकादि पदार्थ । दंतक०—दान्तों से निष्पन्न चूडियें आदि पदार्थ । पत्तछिज्जकम्माणि वा—पत्र छेदन क्रिया से उत्पन्न रूपादि तथा अन्य । विविहाणि—विविध प्रकार के । वेढिमाइं—वेष्टनों से निष्पन्न हुए । तह०—इसी तरह के । अन्नयराइं—कई एक । विरू०—विविध रूपों वाले पदार्थों के रूपों को । चक्खुदंसण पडियाए—चक्षु से देखने की प्रतिज्ञा से । नो अभिसंधारिज्जगमणाए—साधु उस ओर जाने का मन में विचार न करे । एवं—इस प्रकार । नायव्वं—जानना चाहिए । जहा—जैसेकि । सद्दपडियाए—शब्द सम्बन्धि प्रतिज्ञा का वर्णन किया गया है वह । सव्वा—सब । वाइत्तवज्जा—वादित्रों को छोड कर । रूवपडिमावि रूपप्रतिज्ञा के विषय में समझें । पंचमं सत्तिक्कयं—पांचवां सप्तैकका समाप्त । त्तिबेमि—ऐसा मैं कहता हूं ।

मूलार्थ—साधु या साध्वी फूलों से निष्पन्न स्वस्तिकादि, वस्त्रों से निष्पन्न पुत्तलिकादि, पुरिम निष्पन्न पुरुषाकृति और संघात निष्पन्न चोलकादि, इसीप्रकार काष्ठ से निर्मित पदार्थ, पुस्तक, चित्र, मणियों से, हाथी दांत से, पत्रों से तथा बहुत से पदार्थों से निर्मित सुन्दर एवं सुरूप पदार्थों के विविध रूपों को देखने के लिए जाने का मन से संकल्प भी न करे । शेष वर्णन शब्द अध्ययन की तरह जानना चाहिए । केवल वाद्यगन्त्र को छोड़ कर अन्य वर्णन रूप प्रतिज्ञा के समान ही जानना चाहिए । ऐसा मैं कहता हूं । पंचम सप्तैकका समाप्त ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में रूप-सौन्दर्य को देखने का निषेध किया गया है । इस में बताया गया है कि चार कारणों से वस्तु या मनुष्य के सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है—१ फूलों को गूंथकर उनसे माला गुलदस्ता आदि बनाने से पुष्पों का सौन्दर्य एवं उन्हें धारण करने वाले व्यक्ति की सुन्दरता भी बढ़ जाती है । २ वस्त्र आदि से आवृत्त व्यक्ति भी सुन्दर प्रतीत होता है । विविध प्रकार की पोशाक भी सौन्दर्य को बढ़ाने का एक साधन है । ३ विविध सांचों में डालने से आभूषणों का सौन्दर्य चमक उठता

हैं और उन्हें पहनकर स्त्री-पुरुष भी विशेष सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं । ४ वस्त्रों की सिलाई करने से उनकी सुन्दरता बढ़ जाती है और विविध फैशनों से सिलाई किए हुए वस्त्र मनुष्य की सुन्दरता को और अधिक चमका देते हैं । इससे यह स्पष्ट होगया है कि विविध संस्कारों से पदार्थों के सौन्दर्य मे अभिवृद्धि हो जाती है । साधारण सी लकड़ी एव पत्थर पर चित्रकारी करने से वह असाधारण प्रतीत होने लगती है । उसे देखकर मनुष्य का मन मोहित हो उठता है । इसी तरह हाथी दांत, कागज, मणि आदि पर किया गया विविध कार्य एव चित्रकला आदि के द्वारा अनेक वस्तुओं को देखने योग्य बना दिया जाता हे और कला कृतिए उस समय के लिए नहीं, बल्कि जब तक वे रहती हैं मनुष्य के मन को आकर्षित किए बिना नहीं रहती हैं । इससे उस युग की शिल्प की एक झाकी मिलती है, जो उस समय विकाश के शिखर पर पहुंच चुकी थी उस समय मशीनों के अभाव मे भी मानव वास्तु-कला एव शिलपकला में आज से अधिक उन्नति कर चुका था ।

इन सब कलाओं एव सुन्दर आकृतियों तथा दर्शनीय स्थानों को देखने के लिए जाने का निषेध करने का तात्पर्य यह है कि साधु का जीवन साधना के लिए है, आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त करने के लिए है । अत. यदि वह इन सुन्दर पदार्थों को देखने के लिए इधर उधर जाएगा या दृष्टि दौड़ाएगा तो उससे चक्षु इन्द्रिय का पोषण होगा, मन मे राग-द्वेष या मोह की उत्पत्ति होगी और स्वाध्याय एवं ध्यान की साधना मे विघ्न पड़ेगा । अत सयम निष्ठ साधु को सदा अध्यात्म चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए । उसे अपने मन एवं दृष्टि को इधर-उधर नही दौडाना चाहिए । चक्षु इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना साधना का मूल उद्देश्य है । अतः साधु को विविध वस्तुओं एवं स्थानों के रूप सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न नही करना चाहिए ।

॥ द्वादश अध्ययन समाप्त ॥

# त्रयोदश अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में साधु के लिए दूसरे व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाओं के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। अत. इस अध्ययन का नाम 'परक्रिया' रखा गया है। 'पर' शब्द का ६ प्रकार से कथन किया गया है—१ तत्पर, अन्यतर पर, ३ आदेश पर। ४ क्रम पर, ५ बहु पर और ६ प्रधान पर।

१ तत्पर—एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न होने के कारण उसे तत्पर कहते है अर्थात् वह परमाणु तत्—उस परमाणु से पर-भिन्न है।

२ अन्यतर पर—एक द्रव्य दो परमाणु से युक्त, दूसरा तीन परमाणु से युक्त है और इसी तरह अन्य द्रव्य अन्य अनेक परमाणु वाले परमाणुओं से युक्त हैं, इस तरह वे परस्पर एक दूसरे से अन्यतर हैं, यही अन्यतर पर कहलाता है।

३ आदेश पर—किसी व्यक्ति के आदेश पर कार्य करना आदेश पर कहलाता है। क्योंकि आदेश का परिपालक आदेश देने वाले से भिन्न है। जैसे—नौकर अपने स्वामी या अधिकारी के आदेश पर कार्य करते हैं।

४ क्रम पर—जैसे एक प्रदेशी द्रव्य से, द्वि प्रदेशी द्रव्य क्रम पर है। इसी प्रकार इस से आगे की सख्या की भी कल्पना की जा सकती है। सख्या के क्रम से जो पर हों उन्हें क्रम पर कहते हैं।

५ बहु पर—एक परमाणु से तीन या चार परमाणु वाले द्रव्य बहु पर हैं, क्योंकि उनकी भिन्नता एक से अधिक परमाणुओं मे हैं।

६ प्रधान पर—पद की प्रधानता के कारण जो अपने सजातीय पदार्थों से भिन्न है, उसे प्रधान पर कहते हैं। जैसे—मनुष्यों मे तीर्थंकर भगवान प्रधान हैं, पशुओं मे सिंह और वृक्षों मे अर्जुन, सुवर्ण और अशोक वृक्ष प्रधान माना गया है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो व्यक्ति अपने से भिन्न है, उसे पर कहते है। अत. साधु भिन्न गृहस्थ के द्वारा साधु के लिए की जाने वाली क्रिया को पर क्रिया कहते है। उक्त परक्रियाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—परकिरियं अज्झत्थियं संसेसियं नो तं सायए नो तं नियमे, सिया से परोपाए आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं सायए नो त नियमे। से सिया परो पायाइं संवाहिज्ज वा पलिमद्दिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे। से सिया परो पायाइं फुसिज्ज वा रइज्ज वा नो तं सायए नो त नियमे। से सिया परो पायाइं तिल्लेण वा घ० वसाए वा मक्खिज्ज वा अब्भिगिज्ज वा नो तं० २। से सिया परो पायाइं लुद्धेण वा कक्केण वा चुन्नेण वा वरणेण वा उल्लोढिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं० २। से सिया परो पायाइं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलिज्ज वा पहोलिज्ज वा नो तं० २। से सिया परो पायाइ अन्नयरेण विलेवणजायेण आलिंपिज्ज वा विलिंपिज्ज वा नो तं २। से सिया परो पायाइं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा पधू० नो तं २। से सिया परो पायाओ आणुयं वा कंटयं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं २। से सिया परो पायाओ पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा विसो० नो तं० २। से सिया परो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे। से सिया परो काय लोट्ठेण वा संवाहिज्ज वा पलिमद्दिज्ज वा नो तं० २। से सिया परो काय

तिल्लेण वा घ० वसा० मक्खिज्ज वा अब्भंगिज्ज वा नो तं० २। से सिया परो काय लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ज वा उव्वल्लिज्ज वा नो तं० २। से सिया परो काय सीओ० उसिणो० उच्छोलिज्ज वा प० नो तं० २। से सिया परो कायं अन्नयरेण विलेवणजाएण आलिंपिज्ज वा २ नो तं २। से० कायं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा प० नो तं० २। से० कायंसि वणं आमज्जिज्ज वा २ नो तं० २। से० वणं संवाहिज्ज वा पलि० नो तं० २। से० वणं तिल्लेण वा घ० २ मक्खिज्ज वा अब्भं० नो तं० २। से० वणं लुद्धेण वा ४ उल्लेढिज्ज वा उव्वलेज्ज वा नो तं० २। से सिया परो कायंसि वणं सीओ० उ० उच्छोलिज्ज वा प० नो तं० २। से सिया परो वणं वा गंडं वा अरइं वा पुलइयं वा भगंदलं वा अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिदिज्ज वा विच्छिदिज्ज वा नो तं० २। से सिया परो अन्न० जाएण अच्छिदित्ता वा विच्छिदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं० २। से० कायंसि गंडं वा अरइं वा पुलइयं वा भगंदलं वा आमज्जिज्ज वा २ नो तं० २। से० गंड वा ४ संवाहिज्ज वा पलि० नो तं० २। से० कायं० गंडं वा ४ तिल्लेण वा ३ मक्खिज्ज वा

२ नो तं० २। से० गंडं वा ४ लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ज वा उ० नो तं० २। से० गंडं वा ४ सीओदग २ उच्छोलिज्ज वा प० नो तं० २ ; से० गडं वा ४ अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिदिज्ज वा वि० अन्न० सत्थ० अच्छिदित्ता वा २ पूयं वा २ सोणियं वा नीह० विसो० नो तं० सायए २। से सिया परो कायंसि सेयं वा जल्लं वा नीहरिज्ज वा वि० नो त० २। से सिया परो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा नह म० नीहरिज्ज वा २ नो तं० २। से सिया परो दीहाइं वालाइं दीहाइं वा रोमाइं दीहाइं भमुहाइं दीहाइ कक्खरोमाइं दीहाइं बत्थिरोमाइं कप्पिज्ज वा संठविज्ज वा नो तं० २। से सिया परो सीसाओ लिक्खं वा जूयं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं० २। से सिया परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावित्ता पायाइं आमज्जिज्ज वा पम० एवं हिट्ठिमो गमो पायाइ भाणियव्वो। से सिया परो अकंसि वा २ तुयट्टावित्ता हारं वा अद्ध हारं वा उरत्थं वा गेवेयं वा मउडं वा पालंबं वा सुवन्नसुत्तं वा आविहिज्ज वा पिणहिज्ज वा नो तं० २। से० परो आरामंसि वा उज्जाणंसि वा नीहरित्ता वा पविसित्ता वा पायाइ आमज्जिज्ज वा प० नो त साएइ॥ एव नेयव्वा अन्नमन्नकिरियावि ॥१७२।

छाया—परक्रिया आध्यात्मिकी साश्लेषिकी नो ताम् अस्वादयेत् नो तां नियमयेत् । स्यात् तस्य परः पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो ताम् आस्वादयेत् नो ता नियमयेत् । तस्य स्यात् परः पादौ सवाहयेत् वा, परिमर्दयेत् वा नो तां आस्वादयेत् नो तां नियमयेत् । स्यात् तस्य परः पादौ स्पर्शयेत् वा रञ्जयेत् वा नो ता नियमयेत् । स्यात् तस्य परः पादौ तैलेन वा घृतेन वा वसया वा म्रक्षयेत् वा अभ्यणजयेत् वा नो ता० २ । तस्य स्यात् परः पादौ लोध्रेण वा करकेन वा चूर्णेन वा वर्णेन उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा नो तां० २ । तस्य स्यात् परः पादौ शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा नो ता० २ । तस्य स्यात् परः पादौ अन्यतरेण विलेपनजातेन आलिम्पेद् वा गिलियेद् वा नो ता ०२ । तस्य स्यात् परः पादौ अन्यतरेण धूपनजातेन धूपयेत् वा प्रधूपयेत् वा नो ता०२ । तस्य स्यात् परः पादौ खणुक वा कटकं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो तां० २ । तस्य स्यात् परः पादौ पूयं वा शोणित वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो ता० २ । तस्य स्यात् परः काय आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो तां०२ । तस्य स्यात् परः कायं लोध्रेण सवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा नो ता २ । तस्य स्यात् परः काय तैलेन वा घृतेन वा वसया वा म्रक्षयेत् वा अभ्यजयेत् वा नो तां० २ । तस्य स्यात् परः कायं लोध्रेण वा ४ उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा नो तां० २ । तस्य स्यात् परः काय शोतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा नो ता०२ । तस्य स्यात् परः काय अन्यतरेण विलपनजातेन आलिम्पेत् वा विलिम्पेत् वा नो तां० २ । तस्य स्यात् परः कायं अन्यतरेण धूपनजातेन धूपयेन् वा प्रधूपयेत् वा नो तां २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणमामृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो ता २ । तस्य स्यात् परः काये व्रणं सवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा नो ता २ । तस्य स्यात् परः काये व्रण तैलेन वा घृतेन वा वसया वा म्रक्षयेत् वा अभ्यजयेत् वा नो तां० २ ।

तस्य स्यात् परः काये व्रणं लोध्रेण वा ४ उल्लोलयेद् वा उद्वर्तयेद वा नो ता० २। तस्य स्यात् परः काये व्रणं शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् नो ता २। तस्य स्यात् परः काये व्रण गड वा अरतिं वा पुलकितं वा भगन्दर वा अन्यतरेण शस्त्रजातेन आच्छिन्द्यात् वा विच्छिन्द्यात् वा नो ता० २। तस्य स्यात् परः अन्यतरेण शस्त्रजातेन आच्छिन्द्य वा विच्छिन्द्य वा पूयं वा शोणितं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो ता० २। तस्य स्यात् परः काये गंडं वा अरतिं वा पुलकितं वा भगदर वा आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो ता० २॥ तस्य स्यात् परः काये गडं वा ४ सवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा नो ता०२ तस्य स्यात् परः काये गडं वा ४ तैलेन वा ३ म्रक्षयेत् वा अभ्यंजयेत् वा नो ता० २। तस्य स्यात् परः काये गंड वा ४ लोध्रेण । ४ उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा नो ता०२। तस्य स्यात् परः काये गडं वा ४ शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोजयेत् वा प्रधावयेत् वा ना ता० २। तस्य स्यात् परः कायेगंड वा ४ अन्यतरेण वा शस्त्रजातेन आच्छिन्द्यात् वा विच्छिन्द्यात् वा अन्यतरेण शस्त्रजातेन आछिन्द्य वा विच्छिन्द्य वा पूय वा शोणितं वा निहरेत् वा मिशोधयेत् वा नो ता०२। तस्य स्यात् परः काये स्वेदं वा जल वा निहरेत् वा विशोधयेन् वा नो ता २। तस्य स्यात् परः अक्षिमलं वा कर्णमल वा दन्तमलं वा नखमल वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो ता २। तस्य स्यात् परः दीर्घाणि वालानि दीर्घाणि वा रोमाणि दीर्घे भ्रुवौ दोर्घाणि कक्षरोमाणि दीर्घाणि वस्तिरोमाणि कृन्तेत् वा सस्थापयेत् वा नो ता २। तस्य स्यात् परः शीर्षतः लिक्षा वा यूका वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा नो ता २। तस्य स्यात् परः अङ्के वा पर्यङ्के वा स्वपायित्वा आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा, एवं अधोगमः पादादौ भणितव्य । तस्य स्यात् परः अङ्के वा पर्यङ्के वा स्वपयित्वा हार वा

अर्द्धहारं वा उरस्थ वा ग्रैवेयकं मुकटं वा प्रालम्ब वा सुवर्णसूत्रं वा आबध्नीयात् वा पिधापयेत् वा नो तां २। नस्य स्यात् परः आरामे वा उद्याने वा निहृत्य वा प्रविश्य वा पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा नो तामास्वादयेत् नो तां नियमयेत्। एव नेतव्या अन्योन्यक्रियापि।

पदार्थ—परकिरियं—अपने से भिन्न अन्य व्यक्ति की चेष्टा को परक्रिया कहते है, वह परक्रिया। अज्झत्थियं—अपनी आत्मा मे क्रिया करता हुआ, अर्थात् कोई व्यक्ति साधु के अगोपाग विषयक काय व्यापार रूप चेष्टा, यथा। संसेसियं—सांश्लेषिकी क्रिया अर्थात् पापकर्म की जनक। तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन से भी न चाहे। त—उस क्रिया को। नो नियमे—वाणी और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु के। पाए—पैरो को। आमज्जिज्ज वा—वस्त्र से थोडा सा झाडे पमज्जिज्ज वा—वस्त्रादि से अच्छी तरह प्रमार्जन करे अर्थात् पूंछ कर साफ करे तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—साधु मन से भी न चाहे। तं नो नियमे—और वचन एव शरीर से उस क्रिया को न कराए। से सिया परो—कदाचित् गृहस्थ उस साधु के। पायाइं—चरणो को। संवाहिज्ज वा—समर्दन करे अथवा। पलिमद्दिज्ज वा—सर्व प्रकार से मर्दन करे तो। त—साधु उस क्रिया को। नो सायए—मन से भी न चाहे और। त—उसको। नो नियमे—वचन और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु के। पायाइ—चरणो को। फुसिज्ज वा—स्पर्शित करे। रइज्ज वा—अथवा रगे तो। तं—उस क्रिया को नो सायए—मन से न चाहे। तं—उसको। नो नियमे—वचन और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—साधु के। पायाइं—चरणों को। तिल्लेण वा—तैल से। घए—घृत से। वसाए वा—अथवा वसा—औषधि विशेष से या सुगन्धित द्रव्य से। मखिज्ज वा—मसले। अभिगिज्ज वा—विशेष रूप से मर्दन करे तो। तं—साधु उस क्रिया को। नो सायए—मन से न चाहे और। तं—उस क्रिया को। नो नियमे—वाणी और शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसके-साधु के। पायाइ—चरणों को। लुद्धेण वा—लोध्र से। कक्केण वा—कर्क नामक द्रव्य विशेष से। चुन्नेण वा—चूर्ण से—गोधूमादि के चूर्ण से। वण्णेण वा—अबीर आदि वर्ण से। उल्लोडिज्ज वा—उद्वर्तन करे अथवा। उव्वलिज्ज वा—शरीर को मनुष्ट करे तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन से न चाहे तथा। त—उसको। नो नियमे—वाणी और शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसके—साधु के। पायाइं—पैरो को। सीओदगवियडेण वा—शीतल स्वच्छ एव निर्मल जल से वा। उसिणोदगवि०—उष्ण जल से। उच्छोलिज्ज वा—

छींटे दे या। पहोलिज्ज वा—धोए तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन में न चाहे और। तं—उसको। नो नियमे—वचन और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु के। पायाइं—पैरो को। अन्नयरेण—अन्य किसी। विलेवणजाएण—विलेपन से। आलिंपिज्ज वा—आलेपित करे। विलिंपिज्ज वा—विलेपित करे तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन से न चाहे। तं नो नियमे—उस क्रिया को वचन और काया से न करावे। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु के। पायाइं—पैरो को। अन्नयरेण—अन्य किसी। धूवण जाएण—धूप से। धूविज्ज वा—धूपित करे। विधूविज्ज वा—विधूपित करे तो। त नो सायए—उस क्रिया को मनमें न चाहे। तं नो नियमे—उसको वाणी और शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु के। पायाओ—पैरो से। खाणुयं वा—खानु या। कटयं—कटक-कांटे को। निहरिज्ज वा—निकाले या। विसोहिज्ज वा—चरण को कटक के शल्य से विशुद्ध करे तो। तं नो सायए—उसको मन से न चाहे। तं नो नियमे—उसको वचन और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसके-साधु के। पायाओ—चरणों से। पूयं वा—पीप-राध को। सोणियं वा—या शोणित-खून को। नीहरिज्ज—निकाल कर। विसोहिज्ज वा—चरणो को शुद्ध करे तो। तं नो सायए—उस क्रिया को मनमे न चाहे। तं नो नियमे—उनको वचन और शरीर से न कराए।

सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसके-साधु के। काय—शरीर को। आमज्जेज्ज वा—वस्त्रादि से पोंछे। पमज्जिज्ज वा—बार बार पोंछे तो। तं नो साए—उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे—उसे वचन और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसके। कायं—शरीर को। लोद्धेण वा—लोध्रादि से। संवाहिज्ज वा—संवाहन-समर्दन करे। पलिमद्दिज्ज वा—या पूरी तरह से मालिश करे तो। त नो सायए—उस क्रिया को साधु मन से न चाहे तथा। तं नो नियमे—वाणी और शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु के। कायं—शरीर को। तिल्लेण वा—तैल से। घ० वा—या घृत से। वसा०—या वसा-औषधि विशेष से या सुगन्धित द्रव्य से। मक्खिज्ज वा—मसले या। अब्भंगिज्ज वा—चोपड़े। त नो सायए—उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे—वाणी और शरीर से न कराए॥ सिया—कदाचित् परो—गृहस्थ। से—उस के-साधु के। कायं—शरीर को। लुद्धेण वा ४—लोध्रादि से। उल्लोढिज्ज वा—उद्वर्तन करे या। उव्वल्लिज्ज वा—संसृष्ट करे तो। तं नो सायए—उस क्रिया को साधु न तो मन से चाहे। तं नो नियमे—और न वचन तथा शरीर से कराए॥ सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु की। कायं—काया-शरीर को। सीओ—

शीतल निर्मल जल से या। उसिणो०—उष्ण जल से। उच्छोलिज्ज वा—उत्क्षालन करे-छींटे दे। प०—अथवा धोए तो। तं नो सायए—उस क्रिया को साधु न तो मन से चाहे। तं नो नियमे-और न वाणी और शरीर से कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु की। कायं—काया को। अन्नयरेण—अन्य किसी। विलेवण जाएण—विलेपन से। आलिपिज्ज वा—आलेपन करे। विलिपिज्ज वा—या विलेपित करे तो। तं नो सायए नो नियमे—उसको साधु न तो मन से चाहे और न वचन तथा काया से कराए॥ सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ से—उस साधु के। कायं—शरीर को। अन्नयरेण—अन्य किसी। धूवणजाएण—धूप से। धूपिज्ज वा—धूपित करे। पधूविज्ज वा—या प्रधूपित करे तो। तं नो सायए—उस क्रिया को मन से न चाहे तथा। तं नो नियमे—उस क्रिया को शरीर और वाणी से न कराए॥

सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु के। कायंसि—शरीर पर हुए। वणं—व्रण-फोडे को देखकर। आमज्जिज्ज वा २—वस्त्र से थोडा सा पोंछे या बार बार पोंछे तो साधु। तं नो सायए—उस क्रिया को मन से न चाहे। तं नो नियमे—तथा वाणी और शरीर से उक्त क्रिया को न कराए॥ सिया—कदाचित्। से—उस साधु के। कायंसि—शरीर गत। वणं—व्रण को देखकर। परो—अन्य गृहस्थ। संवाहिज्ज वा—उसका संवाहन करे या। पलि०—सर्व प्रकार से मर्दन करे तो साधु गृहस्थ को। तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन से न तो चाहे तथा। नो तं नियमे—न उसको वचन और काया से कराए॥ सिया—कदाचित्। से—उस साधु के। कायंसि—शरीर में होने वाले। वणं—व्रण को देख कर। परो—गृहस्थ उसे। तिल्लेण वा—तैल से। घ०- अथवा घृत से या। वसाए—वसा सुगन्धित द्रव्य से। मक्खिज्ज वा—मसले। अब्भं०—अथवा चोपडे तो। तं०—उस क्रिया को साधु मन से। नो सायए—न चाहे। तं नो नियमे—तथा वचन और काया से न कराए। सिया कदाचित्। से—उस साधु के। कायंसि—काया में होने वाले। वणं—व्रण को देख कर। परो—गृहस्थ। लुद्धेण वा ४—लोध्रादि से। उल्लोढिज्ज वा—उद्वर्तन करे। उव्वलेज्ज वा—अथवा संमृष्ट करे तो साधु गृहस्थ की। तं—इस क्रिया को। नो सायए—न तो मन से चाहे और। तं नो नियमे—न उसको वचन तथा काया से कराए। सिया—कदाचित्। से—उस साधु के। कायंसि—शरीर में हुए। वणं—व्रण को देखकर। परो—गृहस्थ। सीओ० उ०—शीतल निर्मल जल से या उष्ण जल से। उच्छोलिज्ज वा—उत्क्षालन करे या धोए तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए० २—न तो मन से चाहे, न वचन से कहे और न काया से कराए। सिया—कदाचित्। से—उस साधु के। कायंसि—शरीर में हुए। वणं—व्रण को देख कर। गंडं वा—अथवा विशेष जाति के व्रण को देखकर। परो—गृहस्थ तथा। अरइं वा—अरति-व्रण विशेष। पुलइयं वा—पुलक व्रण विशेष अथवा। भगंदलं वा—भगन्दर नाम के व्रण विशेष को देख कर उसे। अच्छिंदिज्ज वा—थोड़ा सा छेदन करे। विच्छि-

दिज्ज वा—विशेष रूप से छेदन करे तो। तं—गृहस्थ की इस क्रिया को साधु। नो सायए—न तो मन से चाहे। तं नो नियमे—न वाणी से कहे और न काया से कराए। सिया—कदाचित्। से—साधु के। कायसि—शरीर गत। वणं—व्रण आदि को देखकर, परो—गृहस्थ उसे। अन्न०—अन्य किसी। सत्यजाएण—शस्त्र विशेष में। अच्छिदित्ता वा—थोडा सा छेदन करके। विच्छिदित्ता वा—विशेष रूप मे छेदन करके उस में से। पूयं वा—पीप को। सोणियं वा—या शोणित खून को। नीहरिज्ज वा—निकाले। वि०—या विशुद्ध करे तो। तं—गृहस्थ की उक्त क्रिया को साधु। नो सायए—मन से न चाहे। त नो नियमे—उक्त क्रिया को वचन तथा काया से न कराए।

सिया—कदाचित्। से—उस साधु के। कायसि—शरीर में होने वाले 1. गंड वा—गड-व्रण विशेष को। अरइं वा—अरति-अर्श विशेष को। पुलइयं वा—पुलक-व्रण विशेष को भगंदल वा—अथवा भगन्दर नाम के व्रण विशेष को देखकर। परो—गृहस्थ यदि उसे। आमज्जिज्ज वा—वस्त्रादि से थोडा सा साफ करे। पमज्जिज्ज वा—अथवा विशेष रूप से प्रमार्जित करे तो साधु। त नो सायए नो नियमे—उसको मन से न चाहे, वाणी से न कहे और शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। से—साधु के। कायसि—शरीर में उत्पन्न हुए। गंडं वा ४—फोडे आदि को देखकर। परो—गृहस्थ उसे। संवाहिज्ज वा—सवाहन करे-थोडा सा मसले। पलि०—सर्व प्रकार से समर्दन करे-ममले तो साधु। तं नो सायए तं नो नियमे—गृहस्थ की इस क्रिया को न मन से चाहे, न वचन और काया से कराए। सिया—कदाचित्। से—साधु के। कायसि—शरीर मे उत्पन्न हुए। गड वा ४ — गंडादि व्रण को देख कर। परो—गृहस्थ उसे। तिल्लेण वा—तैल से। घ०—घृत से। वसा०—या वसा-किसी सुगन्धित द्रव्य से। मक्खिज्ज वा २—मसले तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन से न चाहे। तं नो नियमे—उसको वाणी और शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। से—साधु के। कायसि—शरीर मे उत्पन्न हुए। गडं वा ४—गडादि व्रण को देखकर। परो—गृहस्थ उसे। लुद्धेण वा४—लोध्रादि से। उल्लेढिज्ज वा—उद्वर्तन करे। उ०—अथवा समृष्ट करे। त नो सायए—उस क्रिया को मन से न चाहे। त नो नियमे—उस क्रिया को वचन और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। से—उसके साधु-के। कायंसि शरीर में से उत्पन्न हुए। गड वा—फोडे आदि को देख कर। परो—गृहस्थ उसे। सीओदग०—शीतोदक से। उ०—अथवा उष्णोदक से। उच्छोलिज्ज वा—उत्क्षालन करे-छीटे देवे। प०—अथवा प्रक्षालन करे-धोवे। त—उस क्रिया को साधु। नो सायए—मन से न चाहे। तं—उस क्रिया को साधु। नो नियमे—वाणी से न कहे तथा शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। से—उसके-साधु के। कायंसि—शरीर में उत्पन्न हुए। गंडं वा ४—गंडादि व्रणो को देख कर। परो—गृहस्थ उन्हे। अन्न-

यरेणे—किसी। सत्थजाएण—शस्त्र विशेष से। अच्छिंदिज्ज वा—थोडा सा छेदन करे। वि०—विशेष छेदन करे। तथा। अन्न०सत्थ०—अन्य किसी शस्त्र विशेष से उस व्रण को। अच्छिंदित्ता वा २—थोडा या अधिक छेदन करके उसमें से। पूय वा—पीप को। सोणियं वा—या शोणित को। नीहरि०—निकाल कर। विसोहि०—उसे विशुद्ध करे तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—साधु मन से न चाहे। त०—उस क्रिया को साधु। नो नियमे—वाणी से न कहे और शरीर से न कराए।

सिया—कदाचित्। से—उसके-साधु के। कायसि—शरीर में उत्पन्न हुए। सेय वा—स्वेद को देखकर। परो—गृहस्थ अथवा शरीर में उत्पन्न हुए। जल्लं वा—मलयुक्त जल को देखकर उसे। नीहरिज्ज वा—निकाले। वि०—विशुद्ध करे तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—साधु मन से न चाहे। त नो नियमे—उस क्रिया को वाणी और शरीर से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसके-साधु के। अच्छिमल वा—आंख के मैल को। कण्णमल वा—कान के मैल को। नहमलं वा—नखों के मैल को। नीहरिज्ज वा—दूर करे। वि०—अथवा विशुद्ध करे तो। तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन से न चाहे तथा। त नो नियमे—उस क्रिया को वचन और काया से न कराए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसके-साधु के। दीहाइं—दीर्घ। वालाइ—वालों को। दीहाइ—दीर्घ। रोमाइ—रोमों को। दीहाइं भमुहाइं—दीर्घ भ्रूवों को तथा। दीहाइ कक्खरोमाइ—दीर्घ कक्षा के रोमों को। दीहाइ—दीर्घ। वत्थिरोमाइं—वस्ति के रोमों को-गुह्य प्रदेश के रोमों को। कप्पिज्ज वा—काटे। संठविज्ज वा—अथवा सवारे अर्थात् कैंची उस्तरे आदि से काट कर संवारे, सुशोभित करे तो। त—उस क्रिया को। नो सायए—साधु मन से न चाहे। तं—उसको। नो नियमे—वाणी और शरीर से न करावे॥ सिया—कदाचित्। परो— गृहस्थ। से—उसके-साधु के। सीसाओ—सिर में से। लिक्खं—लीखों। वा—अथवा। जूय वा—जूंओं को। नीहरिज्ज वा—निकाले। वि०—अथवा विशुद्ध करे तो। त—उस को साधु। नो सायए—मन से न चाहे। तं नो नियमे—तथा उस क्रिया को वचन से और शरीर से न कराए।

सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस को-साधु को। अंकंसि वा—अपनी गोद में। पलियंकसि वा—अथवा पर्यंक पर। तुयट्टावित्ता—सुलाकर अर्थात् गोद आदि में लिटा कर उसके। पादाइ—चरणों को। आमज्जिज्ज वा—थोडा सा वस्त्रादि से झाडे अथवा। पम०—अच्छी तरह से प्रमार्जित करे तो। एवं—इस प्रकार। हिट्ठिमो—पूर्वोक्त। गमो—पाठ जो कि। पायाइं—पैरों के विषय में कहा है वह सब यहां पर भी। भाणियव्वो—कहना चाहिए। सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उस साधु को। अंकंसि वा—अपनी गोद में। पलियंकसि वा—पर्यंक में। तुयट्टावित्ता—लिटा कर। हार वा—१८ लडी के हार को। हार—नौ लडी के हार को। उरत्थ वा—छाती पर लटका कर। गेवेय वा—या गले में डाल कर। मउड वा—मुकुट तथा। पालव वा—झुमके आदि से युक्त करके या। सुवण्णसुत्तं

वा—सुवर्ण के सूत्र को। आविहिज्ज वा—बान्धे। पिणहिज्ज वा—या पहरावे तो। त—उस क्रिया को साधु। नो सायए—मन से न चाहे। त—तथा उसको। नो नियमे—वचन और काया से न कराए।

सिया—कदाचित्। परो—गृहस्थ। से—उसको-साधु को। आरामसि वा—आराम मे। उज्जाणसि वा—अथवा उद्यान में। नीहरित्ता वा—ले जाकर। पविसित्ता वा—अथवा प्रवेश कराकर उसके। पायाइ—चरणो को। आमज्जिज्ज वा—थोडा सा झाडे। पमज्जिज्ज वा—अथवा विशेष रूप से प्रमार्जित करे तो। त—उस क्रिया को साधु। नो सायए—न तो मन से चाहे तथा। नो तं—नाही उसको। नियमे—वाणी और शरीर द्वारा करावे। एव—इसी प्रकार। अन्नमन्नकिरियावि—परस्पर साधुओ की क्रिया के विषय में भी। नेयव्वा—जान लेना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार पर-गृहस्थ सम्बन्धि क्रिया के विषय में कथन किया है। उसी प्रकार साधुओ की परस्पर क्रिया के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए।

मूलार्थ—यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर कर्मबन्धन रूप क्रिया करे तो मुनि उसको मन से न चाहे और न वचन से तथा काया से उसे करावे। जैसे—कोई गृहस्थ मुनि के चरणो को साफ करे, प्रमार्जित करे, आमर्दन या समर्दन करे-तैल से, घृत से या वसा (औषधिविशेष) से मालिश करे। एव लोध्र से, कर्क से, चूर्ण से या वर्ण से उद्वर्तन करे या निर्मल शीतल जल से, उष्ण जल से प्रक्षालन करे या इसी प्रकार विविध प्रकार के विलेपनो से आलेपन और विलेपन करे। धूप विशष से धूपित और प्रधूपित करे, मुनि के पैर में लगे हुए कंटक आदि को निकाले और शल्य को शुद्ध करे तथा पैरो से पीप और रुधिर को निकाल कर शुद्ध करे तो मुनि गृहस्थ से उक्त क्रियाएं कदापि न कराए।

इसी तरह यदि कोई गृहस्थ साधु के शरीर मे उत्पन्न हुए व्रण-सामान्य फोडा, गड, अर्श, पुलक और भगदर आदि व्रणो को शस्त्रादि के द्वारा छेदन करके पूय और रुधिर को निकाले तथा उसको साफ करे एव जितनी भी क्रियाए चरणो के सम्बन्ध में कही गई है वे सब क्रियाए करे, तथा साधु के शरीर पर से स्वेद और मल युक्त प्रस्वेद को दूर करे, एव आख कान दात और नखो के मल को दूर करे तथा शिर के लम्बे केशों,

और शरीर पर के दीर्घ रोमों को अथच बस्ति ( गुदा आदि गुह्य प्रदेश ) गत दीर्घ रोमों को कतरे अथवा संवारे, तथा सिर मे पडी हुई लीखों और जुओ को निकाले। इसी प्रकार साधु को गोद मे या पलग पर बिठा कर या-लिटाकर उसके चरणो को प्रमार्जन आदि करे, तथा गोद मे या पलग पर बिठा कर हार( १८ लडीका) अर्द्धहार[९ लड़ी का] छाती पर पहना-नेवाले आभूषणो (गहने) गले में डालने के आभूषणो एव मुकुट,माला और सुवर्ण के सूत्र आदि को पहनाये, तथा आराम और उद्यान में ले जाकर चरण प्रमार्जनादि पूर्वोक्त सभी क्रियाए करे,तो मुनि उन सब क्रियाओं को न तो मन से चाहे और न वाणी अथच शरीर द्वारा उन्हें करवाने का प्रयत्न करे। तथा इसी प्रकार साधु भी परस्पर मे पूर्वोक्त क्रियाओ का आचरण न करें।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में परक्रिया के सम्बन्ध मे विस्तार से वर्णन किया गया है। इस में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ साधु के पैर आदि का प्रमार्जन करके उसे गर्म या ठण्डे पानी से धोए और उस पर तैल, घृत आदि स्निग्ध पदार्थों की मालिश करे या उसके घाव आदि को साफ करे या बवासीर आदि की विशेष रूप से शल्य चिकित्सा आदि करे, या कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलग पर बैठा मालिश कर उसे आभूषणों से सुसज्जित करे, या उसके सिर के बाल, रोम, नख एवं गुप्तांगों पर बढ़े हुए बालों को देखकर उन्हें साफ करे, तो साधु उक्त क्रियाओं को न मन से चाहे और न वाणी एवं काया से उनके करने की प्रेरणा दे। वह उक्त क्रियाओं के लिए स्पष्ट इनकार कर दे।

यह सूत्र विशेष रूप से जिन कल्पी मुनि से संबद्ध है, जो रोग आदि के उत्पन्न होने पर भी औषध का सेवन नहीं करते। स्थविर कल्पी मुनि निरवद्य एवं निर्दोष औषध ले सकते है। ज्ञातासूत्र में शैलक राजऋषि के चिकित्सा करवाने का उल्लेख है। परन्तु साधु को बिना किसी विशिष्ट कारण के गृहस्थ से तैल आदि का मर्दन नही करवाना चाहिए। और इसी दृष्टि से सूत्रकार ने गृहस्थ के द्वारा चरण स्पर्श आदि का निषेध किया है। यह निषेध भक्ति की दृष्टि से नहीं, बल्कि तैल आदि की मालिश करने की अपेक्षा से किया गया है। यदि कोई गृहस्थ श्रद्धा एवं भक्तिवश साधु

का चरण स्पर्श करे तो इसके लिए भगवान ने निषेध नहीं किया है । उपासकदशांग सूत्र में बताया गया है कि जब गौतम आनन्द श्रावक को दर्शन देने गए तो आनन्द ने उनके चरणों का स्पर्श किया था। इससे स्पष्ट होता है कि यदि कोई गृहस्थ वैयावृत्य करने या पैर आदि प्रक्षालन करने के लिए पैरों का स्पर्श करे तो साधु उसके लिए इन्कार करदे। यह वैयावृत्य करवाने का प्रकरण जिनकल्पी एवं स्थविर कल्पी सभी मुनियों से सम्बन्धित है अर्थात् किसी भी मुनि को गृहस्थ से पैर आदि की मालिश नहीं करवानी चाहिए और गृहस्थ से उनका प्रक्षालन भी नहीं करवाना चाहिए।

इसी तरह यदि कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलग पर बैठाकर उसे आभूषण आदि से सजाए या उसके सिर के बाल, रोम, नख आदि को साफ करे तो साधु ऐसी क्रियाएं न करवाए। इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि यह जिनकल्पी मुनि के प्रकरण का है, और वह केवल मुखवस्त्रिका और रजोहरण लिए हुए है। क्योंकि इस पाठ में बताया गया है कि कोई गृहस्थ मुनि के सिर के, कुक्षि क तथा गुप्तांगों के बढ़े हुए बाल देखकर उन्हें साफ करना चाहे तो साधु-ऐसा न करने दे। यहा पर मूंछ एवं दाढ़ी के बालों का उल्लेख नहीं किया गया है । इस से स्पष्ट होता है कि मुखवस्त्रिका के कारण उसके दाढ़ी एवं मूंछों के बाल दिखाई नहीं देते हैं और चादर एव चोलपट्टक नहीं होने के कारण कुक्षि एवं गुप्तांगों के बाल परिलक्षित हो रहे हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सर्वथा नग्न रहने वाले जिनकल्पी मुनि भी मुखवस्त्रिका और रजोहरण रखते थे अतः यदि कोई गृहस्थ कुक्षि आदि के बाल साफ करे तो साधु उससे साफ न कराए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को गृहस्थ से पैर दबाने आदि की क्रियाएं नहीं करवानी चाहिए। क्योंकि यह कर्म बन्ध का कारण है, इसलिए साधु मन, वचन और शरीर से इनका आसेवन न करे । और बिना किसी विशेष कारण के परस्पर मे भी उक्त क्रियाएं न करे। क्योंकि दूसरे साधु के शरीर आदि का स्पर्श करने से मन में विकार भाव जागृत हो सकता है और स्वाध्याय का महत्वपूर्ण समय यों ही नष्ट हो जाता है। अतः साधु को परस्पर में मालिश आदि करने में समय नहीं लगाना चाहिए। परन्तु विशेष परिस्थिति में साधु अपने साधर्मिक साधु की मालिश आदि कर सकता है, उसके घावों को भी साफ कर सकता है। अस्तु, यह पाठ उत्सर्ग मार्ग से सबद्ध है और उत्सर्ग मार्ग मे साधु को परस्पर में ये क्रियाएं नहीं करनी चाहिएं।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—से सिया परो सुद्धेणं असुद्धेणं वा वइबलेण वा तेइच्छं आउट्टे से० असुद्धेणं वइबलेणं तेइच्छं आउट्टे० । से सिया परो गिलाणस्स सचित्ताणि वा कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि वा हरियाणि वा खणित्तु वा कड्ढित्तु वा कड्ढावित्तु वा तेइच्छं आउट्टाविज्ज नो तं सा० २ कडुवेयणा पाणभूयजीवसत्ता वेयणं वेइंति, एयं खलु० समिए सया जए सेयमिणं मन्निज्जासि । त्तिबेमि ॥१७३॥

छाया—तस्य स्यात् परः शुद्धेन अशुद्धेन वा वाग्बलेन चिकित्साम् आवर्तेत (व्याध्युपशमकर्तुमभिलषेत्) तस्य स्यात् परः अशुद्धेन वाग्बलेन चिकित्सामावर्तेत ।। तस्य स्यात् परः ग्लानस्य सचित्तानि वा कन्दानि वा मूलानि वा त्वचो वा हरितानि वा खनित्वा कर्षित्वा वा कर्षयित्वा वा चिकित्सामावर्तेत (कर्तुमभिलषेत्) नो तामस्वादयेत् नो तां नियमयेत् । कटुकवेदना प्राणिभूतजीवसत्त्वा वेदना वेदयन्ति । एतत् खलु० समितः सदा यतेत श्रेयइद मन्येत । इति ब्रवीमि ।

पदार्थ—से—उस साधु को । सिया—कदाचित् । परो—गृहस्थ । सुद्धेणं—शुद्ध । असुद्धेणं— या अशुद्ध । वइबलेणं—मंत्रादि के बल से । तेइच्छ—चिकित्सा । आउट्टे—करनी चाहे । से—उस साधु को । सिया—कदाचित् । परो—गृहस्थ । असुद्धेण—अशुद्ध । वइबलेण—मंत्रादि के बल से । तेइच्छ—चिकित्सा । आउट्टे—करनी चाहे । से—उस साधु को । सिया—कदाचित् । परो—गृहस्थ । गिलाणस्स—रोगी जान कर । सचित्ताणि वा—सचित्त । कंदाणि वा—कन्द या । मूलाणि वा—मूल । तयाणि वा—त्वचा-वृक्ष की छाल या । हरियाणि वा—हरि-वनस्पति काय को । खनित्तु—खोद करके । कड्ढित्तु—निकाल कर या कड्ढावित्तु—निकलवा कर । तेइच्छं—चिकित्सा । आउट्टाविज्ज वा—करनी चाहे तो साधु । तं—उस क्रिया को । नो तायए— मन से न चाहे तथा । तं—उसको । नो नियमे—

वाणी से और शरीर से न कराए किन्तु मुनि यह भावना भावे कि। कडुवेयणा—यह जीव अशुभ कर्म का उपार्जन करके उसके फल स्वरूप कटुक वेदना का अनुभव करता है और सभी। पाणभूयजीवसत्ता—प्राणी भूत जीव और सत्व अपने किए हुए अशुभ कर्म के अनुसार। वेयण—वेदना का। वेईति—अनुभव करते हैं। इस प्रकार की विचारणा से उत्पन्न हुए रोगपरीषह की वेदना को सम भाव से सहन करे। एयं—इस प्रकार। खलु—निश्चय ही। तस्स—उस। भिक्खुस्स २—साधु और साध्वी का यह। सामग्गियं—सम्पूर्ण आचार है। जाव—यावत। समिए— पांच समितियों से युक्त साधु। सया—सदा इसके पालन करने मे। जएज्जासि—यत्न करे और। सेयमिणं—यह अनुप्रेक्षा मेरे लिए कल्याण प्रद है। मन्निज्जासि—ऐसा माने। त्तिवेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ — यदि कोई सद्गृहस्थ शुद्ध अथवा अशुद्ध मत्रबल से साधु की चिकित्सा करनी चाहे, इसी प्रकार किसी रोगी साधु की कन्द मूल आदि सचित्त वृक्ष, छाल और हरी बनस्पति का अवहनन करके चिकित्सा करनी चाहे तो साधु उसकी इस क्रिया को न तो मन से चाहे और न वाणी तथा शरीर से ऐसी सावद्य चिकित्सा कराए। किन्तु उस समय इस अनुप्रेक्षा से आत्मा को सान्त्वना देने का यत्न करे कि प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व जन्म के किए हुए अशुभ कर्मों के फलस्वरूप कटुकवेदना का उपभोग करते है। अतः मुझे भी स्वकृत अशुभकर्म के फलस्वरूप इस रोग जन्य वेदना को शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिए। मेरे लिए यही कल्याणकारी है और इस प्रकार का चिन्तन करते हुए समभाव से वेदना को सहन करने मे ही मुनि भाव का सरक्षण है। इसप्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ शुद्ध या अशुद्ध मंत्र से या सचित्त वस्तुओं से चिकित्सा करे तो साधु उसकी अभिलाषा न रखे और न उसके लिए वाणी एवं शरीर से आज्ञा दे। जिस मत्र आदि की साधना या प्रयोग के लिए पशु-पक्षी की हिंसा आदि। सावद्य क्रिया करनी पड़े उसे अशुद्ध मत्र कहते हैं। और जिसकी साधना एवं प्रयोग के लिए सावद्य अनुष्ठान न करना पड़े उसे शुद्ध मंत्र कहते हैं परन्तु साधु उभय प्रकार की मत्र चिकित्सा न करे और न अपने स्वास्थ्यलाभ के लिए

सचित्त औषधियों का ही उपयोग करे। वह प्रत्येक स्थिति में अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे। वेदनीय कर्म के उदय से उदित हुए रोगों को समभाव पूर्वक सहन करे। वह यह सोचे कि पूर्व में बन्धे हुए अशुभ कर्म के उदय से रोग ने मुझे आकर घेर लिया है। इस वेदना का कर्ता मैं ही हूँ। जैसे मैंने हंसते हुए इन कर्मों का बंध किया है उसी तरह हंसते हुए इनका वेदन करूंगा। परन्तु इनकी उपशान्ति के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं दूंगा और न तंत्र-मंत्र का सहारा ही लूंगा।

वृत्तिकार ने यही कहा है कि हे साधक, तुझे यह दुख समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि बन्धे हुए कर्म समय पर अपना फल दिए बिना नष्ट नहीं होते हैं। और इन सब कर्मों का कर्ता भी तू ही है। अतः उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख-दुख को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि सदसद् का ऐसा विवेक तुझे अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता है। इसलिए विवेक पूर्वक तुम्हें वेदना को समभाव से सहन करना चाहिए।*

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ त्रयोदश अध्ययन समाप्त ॥

* पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तवायं।
न खलु भवति नाशः कर्मणा संचितानाम्।
इति सहगणयित्वा यद्यदायाति सम्यक्।
सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्ते ॥१॥

— आचारांग वृत्ति।

वा—थोडा सा मसले। पमज्जिज्ज वा—अथवा विशेप रूप से मसले तो । तं—उस क्रिया को। नो सायए—मन से न चाहे। तंनो नियमे—तथा उस क्रिया को वचन और काया से न कराए। सेसं—शेप वर्णन। तचेव—पूर्ववत् ही जानना चाहिए। खलु—निश्चय मे है। एव—यह। तस्स भिक्खुस्स २—उस साधु और साध्वी का। सामग्गियं—सम्पूर्ण आचार है। जं०—जोकि। सव्वट्ठहिं—ज्ञानदर्शन और चारित्र रूप अर्थों से युक्त है। जाव—यावत्। सया—वह सदा इस का पालन करने का। जइज्जासि—यत्न करे। त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी परस्पर अपनी आत्मा के विषय में की हुई क्रिया-जोकि कर्म बन्धन का कारण है, को न मन से चाहे, न वचन से कहे, और न काया से कराए। जैसे कि परस्पर चरणों का प्रमार्जन आदि करना। शेष-वर्णन त्रयोदशव अध्ययन के समान जानना चाहिए। यह साधु का सपूर्ण आचार है, उसे सदा सर्वदा संयम को परिपालन मे प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसप्रकार मै कहता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पारस्परिक क्रिया का निषेध किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु एक दूसरे साधु को यह न कहे कि तू मेरे पैर आदि की मालिश कर और मैं तेरे पैर की मालिश करू। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि साधु किसी साधु की बीमारी आदि की अवस्था मे गुरु आदि की आज्ञा से उसकी सेवा भी नहीं करे। यह निषेध केवल बिना कारण ऐसी क्रियाएं करने के लिए किया गया है। जिससे जीवन में आरामतलबी एवं प्रमाद न बढ़े और स्वाध्याय का समय केवल शरीर को सजाने एवं सवारने मे ही पूरा न हो जाए। इससे स्पष्ट होता है कि विशेष कारण उपस्थित होने पर की जाने वाली सेवा-शुश्रषा का निषेध नहीं किया गया है। क्योकि आगम में वैयावृत्य करने से मिलने वाले फल का निर्देश करते हुए बताया है कि यदि वैयावृत्य करते हुए उत्कृष्ट भावना आ जाए तो आत्मा तीर्थंकर गोत्र

कर्म का बन्ध करता है*। इस प्रकार वैयावृत्य से महानिर्जरा का होना भी बताया गया है‡। इससे स्पष्ट होता है कि राग-द्वेष से ऊपर उठकर बिना स्वार्थ से की जाने वाली सेवा-शुश्रूषा का सूत्रकार ने निषेध नहीं किया है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्दश अध्ययन (द्वितीया चूला) समाप्त ॥

* वेयावच्चेण भंते जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेणं तित्थयर नामगोत्त कम्म निबधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र २९, ४३।

‡ व्यवहार सूत्र, उद्देशक १०।

# पञ्चदश अध्ययन

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के नवम अध्ययन में भगवान महावीर की साधना का महत्वपूर्ण वर्णन मिलता है। उसमें भगवान महावीर की उत्कट साधना का सजीव रूप देखने को मिलता है। उसमें साधना के वर्णन के साथ भगवान के जीवन का परिचय नहीं दिया है। अत उसकी पूर्ति प्रस्तुत अध्ययन में की गई है। इस में भगवान महावीर के जन्म एवं जीवन-चर्या का उल्लेख करके उनके द्वारा स्वीकृत ५ महाव्रतों की २५ भावनाओं का वर्णन किया गया है। इसमें भगवान को कुमार ग्राम से लेकर जंृभिका तक क्या २ कष्ट आए इसका वर्णन नहीं किया गया है। क्योंकि यह विवरण उपधान अध्ययन में किया जा चुका है, अतः उसे यहां फिर से नहीं दोहराया गया। इससे स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत अध्ययन तीसरी चूला के रूप में सन्निहित होने के कारण उपधान अध्ययन की सपूर्ति रूप कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन का महत्व भगवान के दिव्य, भव्य एवं कल्याण कारी जीवन की अलौकिकता को दिखाने में है और उस आदर्श जीवन की साधना से प्रेरणा लेकर साधक के जीवन में साधना का उज्जवल प्रकाश फैलाने में है। अतः भगवान महावीर के जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था, तंजहा-हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए हत्थुत्तराहिं जाए हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे अव्वाघाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, साइणा भगवं परिनिव्वुए ॥१७५॥**

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः

पचहस्तोत्तरश्चापि अभूत्। तद्यथा हस्तोत्तरासुच्युतः च्युत्वा गर्भे व्युत्क्रान्तः ।१। हस्तोत्तरासु गर्भाद् गर्भं सहृतः ।२। हस्तोत्तरासु जातः ।३। हस्तोत्तरासु मुण्डोभूत्वा अगारादनगारतां प्रव्रजितः ।४। हस्तोत्तरासु, कृत्स्नं प्रतिपूर्णं अव्याघात निरावरणमनन्तमनुत्तर केवलवरज्ञानदर्शन ममुत्पन्नम् ।५। स्वातौ भगवान्परिनिवृतः।

पदार्थ—तेण कालेण—उस काल और। तेणंसमएणं—उस समय। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान्। महावीरे—महावीर स्वामी के। पंचहत्थुत्तरा होत्था—पाच कल्याणक उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हुए। तजहा—जैसे। हत्थुत्तराहि चुए—उत्तराफाल्गुनी मे देवलोक से च्युत हुए। चइत्ता—च्युत होकर। गब्भंववकंते—गर्भ मे उत्पन्न हुए। हत्थुत्तराहि—उत्तरा फाल्गुनी में। गब्भाओ—गर्भ से। गब्भं—गर्भ में अर्थात् एक गर्भ से दूसरे गर्भ मे। साहरिए—सहरण किये गए। हत्थुत्तराहि—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे। जाए—उत्पन्न हुए। हत्थुत्तराहि—उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे। मुडे भवित्ता—मुण्डित होकर। आगाराओ—घर से निकल कर। अणगारियं-साधु वृत्ति मे। पव्वइए—प्रव्रजित हुए अर्थात् साधु बने। हत्थुत्तराहि—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे। अणते—अनन्त। अणुत्तरे—प्रधान। अव्वाघाए—निर्व्याघात-व्याघात रहित। निरावरणे—निरावरण-आवरण रहित। कसिणे—सम्पूर्ण। पडिपुण्ण—प्रतिपूर्ण। वर—प्रधान। केवलनाणे—केवल ज्ञान। दसणे—केवल दर्शन से। समुप्पण्णे—समुत्पन्न हुए और। साइणा—स्वाति नक्षत्र में। भगव—भगवान। परिनिव्वुए—मोक्ष को प्राप्त हुए।

मूलार्थ—उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के पाच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे हुए। जैसे कि-भगवान उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे देवलोक से च्यव कर गर्भ मे उत्पन्न हुए, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे ही गर्भ से गर्भान्तर मे सहरण किए गए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे ही भगवान ने जन्म लिया। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भगवान मुडित हो कर सागार से अनगार-साधु बने और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे ही भगवान ने अनन्त, प्रधान, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया और स्वाति नक्षत्र मे भगवान मोक्ष पधारे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि भगवान महावीर के पांच कल्याणक उत्तरा-

फाल्गुनी नक्षत्र में हुए और एक स्वाति नक्षत्र में हुआ। भगवान का गर्भ में आना, गर्भ का गर्भान्तर मे संहरण, जन्म, दीक्षा एव केवल ज्ञान की प्राप्ति ये पाचों कार्य उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे हुए और स्वाति नक्षत्र मे निर्वाण पद प्राप्त किया। इससे ६ कल्याणक सिद्ध होते हैं, परन्तु वस्तुतः देखा जाए तो कल्याणक ५ ही हुए हैं। गर्भ सहरण को नक्षत्र साम्य की दृष्टि से साथ मे गिन लिया गया है। परन्तु, इसे कल्याणक नहीं कह सकते। यह तो एक आश्चर्य जनक घटना है। यदि इसके उल्लेख मात्र से इसे कल्याणक माना जाए तो फिर भगवान ऋषभ देव के भी ६ कल्याणक मानने पड़ेंगे। क्योंकि आगम में लिखा है कि भगवान के पांच कार्य उत्तराषाढ़ा नक्षत्र मे और एक अभिजित् नक्षत्र में हुआ ❀। परन्तु इतना उल्लेख मिलने पर भी उनके ५ कल्याणक माने जाते हैं। क्योंकि विशिष्ट बात को कल्याणक नहीं माना जाता है। केवल नक्षत्र की समानता के कारण उसका साथ मे उल्लेख कर दिया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'उस काल और उस समय मे' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमे 'काल' चौथे आरे का बोधक है और 'समय' जिस समय भगवान गर्भ आदि में आए उस समय का संसूचक है। काल से पूरे युग का और समय से वर्तमान काल का परिज्ञान होता है।

भग-सपन्न व्यक्ति को भगवान कहा गया है❀। भग शब्द के १४ अर्थ होते है—१ अर्क, २ ज्ञान, ३ महात्मा, ४ यश, ५ वैराग्य, ६ मुक्ति, ७ रूप, ८ वीर्य (शक्ति), ९ प्रयत्न, १० इच्छा, ११ श्री, १२, धर्म, १३ ऐश्वर्य और १४ योनि। इनमें प्रथम और अन्तिम (अर्क और योनि) दो अर्थों को छोडकर शेष सभी अर्थ भगवान मे सघटित होते हैं।

'हत्थुत्तरे' शब्द का अर्थ है जिस नक्षत्र के आगे हस्त नक्षत्र है उसे 'हत्थुत्तरे' नक्षत्र कहते है। गणना करने से उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र ही आता है।

इस विषय को विस्तार से स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

**मूलम्—समणे भगवं महावीरे इमाए ओसप्पिणीए सुसम-सुसमाए समाए वीइक्कंताए सुसमाए समाए वीइक्कंताए सुसम-दुस्समाए समाए वीइक्कंताए दूसम सुसमाए समाए बहुविइक्कं-**

---

❀ पंच उत्तरासाढ अभीय छट्ठे।—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति।

❀ भगोऽस्यास्तीति भगवान।

ताए पन्नहत्तरीए वासेहिं मासेहि य अद्ध नवमेहिं सेसेहिं जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं महाविजयसिद्धत्थपुप्फुत्तरवरपुंडरीयदिसासोवत्थियवद्धमाणाओ, महाविमाणाओ वीसं सागरोवमाइं आउयं पालइत्ता आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं चुए चइत्ता इह खलु जंबुद्दीवे णं दीवे भारहेवासे दाहिणड्ढभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंमि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरस्सगुत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भं वक्कंते।

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरः अस्यां अवसर्पिण्या सुषमसुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां, सुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां, सुषमदुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां दुषम सुषमायां समायां बहुव्यतिक्रान्तायां पंचसप्तति वर्षेषु मासेषु च अर्द्धनवमेषु शेषेषु योऽसौ ग्रीष्मस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः-आषाढ शुद्धः (आषाढ शुक्लः) तस्य आषाढ शुद्धस्य षष्ठीपक्षेण हस्तोत्तराभिः नक्षत्रेण योगमुपागते महाविजयसिद्धार्थपुष्पोत्तरवरपुण्डरीकदिक् स्वस्तिक वर्द्धमानात् महाविमानात् विंशतिसागरोपमानि आयुष्कं पालयित्वा आयुःक्षयेण स्थिति क्षयेण भव क्षयेण च्युतः च्युत्वा इह खलु जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे दक्षिणार्द्ध भरते दक्षिणब्राह्मण कुण्डपुरसन्निवेशे ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य कुडाल गोत्रस्य देवानन्दाया ब्राह्मण्याः जालन्धरगोत्रायाः सिंहोद्भवभूतेन आत्मना कुक्षौ गर्भे व्युत्क्रान्तः।

**पदार्थ**— समणे—श्रमण । भगवं — भगवान । महावीरे—महावीर । इमाए—इस । ओसप्पिणीए—अवसर्पिणी काल के । सुसमसुसमाए—सुषम सुषम नाम वाले चार कोटा कोटी सागर प्रमाण वाले । समाए—प्रथम आरे के । वीइक्कंताए—व्यतीत हो जाने पर, तथा । सुसमाएसमाए वीइक्कंताए—सुषमा नाम वाले तीन कोटा कोटी सागर प्रमाण वाले दूसरे आरे के बीत जाने पर । सुसमदुस्समाए समाए वीइक्कंताए—सुषम दुषम नाम वाले दो कोटा कोटी सागर प्रमाण वाले तीसरे आरे के बीत जाने पर तथा । दुसमसुसमाए समाए बहुवीइक्कंताए— दुषम सुषम नाम वाले चतुर्थ आरे के बहुत बीत जाने पर, अर्थात् चतुर्थ आरक व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोटा कोटी सागरोपम प्रमाण का होता है, उसके केवल । पन्नहत्तरीए वासेहिं— ७५ वर्ष । य—और । अद्धनवमेहिमासेहि—साढे आठ मास । सेसेहिं—शेष रहने पर । जे— जो । से—यह । गिम्हाणं—ग्रीष्म ऋतु का । चउत्थेमासे—चौथा मास । अट्ठमेपक्खे— आठवा पक्ष । आसाढसुद्धे—आषाढ शुक्ल । ण—वाक्यालंकार मे है । तस्स—उस । आसाढसुद्धस्स—आषाढ शुक्ल पक्ष की । छट्ठीपक्खेणं—छठी रात्रि मे । हत्थुत्तराहिंनक्खत्तेणं— उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ । जोगमुवागएणं—चन्द्रमा का योग आजाने पर अर्थात् उत्तरा फाल्गुनी मे चन्द्रमा के आजाने पर । महाविजयसिद्धत्थपुप्फुत्तरवरपुण्डरीयदिसासोवत्थियवद्धमाणाओ—महाविजय सिद्धार्थ, पुष्पोत्तर प्रधान, पुंडरीक-कमलवत् श्वेत, दिक्, स्वस्तिक, वर्द्धमान नाम वाले । महाविमाणाओ—महा विमान से । वीससागरोवमाइं—वीस सागरोपम की । आउयं—आयु को । पालइत्ता—पूर्ण कर के । आउक्खएणं—देवायु को क्षय करके, ठिइक्खएण—वैक्रिय शरीर की स्थिति का क्षय करके । भवक्खएण—और देवगति नाम कर्म का क्षय करके अर्थात् देव भव को समाप्त करके । चुए—वहां से च्यवे । चइत्ता—च्यवकर । खलु—निश्चयार्थक है । इह—इस । जंबुद्दीवे ण दीवे—जम्बूद्वीप नाम के द्वीप में । भारहेवासे— भारत वर्ष के भरत क्षेत्र के । दाहिणड्ढभरहे—दक्षिणार्द्ध भरत खण्ड में । दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंमि—दक्षिण दिशा में ब्राह्मण कुंडपुर सन्निवेश में । कोडालगोत्तस्स—कोडाल गोत्री । उसभदत्तस्स—ऋषभ दत्त । माहणस्स—ब्राह्मण की । जालधरस्स गुत्ताए—जालन्धर गोत्रवाली । देवानन्दा ए—देवानन्दा । माहणीए—ब्राह्मणी की । कुच्छिंसि—कुक्षी में । सीहुब्भवभूएण—सिंह की तरह अर्थात् गुफा मे प्रवेश करते हुए सिंह की भांति । अप्पाणेणं— अपनी आत्मा से । गब्भ वक्कते—गर्भपने उत्पन्न हुए अर्थात् गर्भ में आए ।

**मूलार्थ**—श्रमण भगवान् महावीर इस अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषम नामक आरक, सुषम आरक, सुषम-दुषम आरक के व्यतीत होने पर और दुषम-सुषम आरक के बहु व्यतिक्रान्त होने पर, केवल ७५ वर्ष, साढे आठ मास शेष रहने पर ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवे पक्ष आषाढ

शुक्ला षष्ठी की रात्री को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, महाविजय सिद्धार्थ, पुष्पोत्तर वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक, वर्द्धमान नाम के महाविमान से वीस सागरोपम की आयु को पूरी करके देवायु, देवस्थिति और देव भव का क्षय करके, इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध भारत के दक्षिण ब्राह्मण कुन्ड पुर सन्निवेश मे कुडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जालन्धरगोत्रीय देवानन्दा नामकी ब्राह्मणी की कुक्षि मे सिंह की तरह गर्भ रूप मे उत्पन्न हुए।

हिन्दी विवेचन

इस सूत्र मे बताया गया है कि भगवान महावीर अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरक के ७५ वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहने पर ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में आए। यहा काल चक्र के सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख किया गया है। यह हम देखते हैं कि काल (समय) सदा अपनी गति से चलता है। और समय के साथ इस क्षेत्र मे (भरत क्षेत्र मे) परिस्थितियों एव प्रकृति मे भी कुछ परिवर्तन आता है। कभी प्रकृति मे विकास होता है, तो कभी ह्रास होता है। जिस काल मे प्रकृति उत्थान से ह्रास की ओर गतिशील होती है उस काल को अवसर्पिणी काल कहते है और जिसमें प्रकृति ह्रास से उन्नति की ओर बढ़ती है उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। प्रत्येक काल चक्र ६ आरक मे विभक्त है और १० कोटा-कोटी ( १० करोड़ X १० करोड़ ) सागरोपम का होता है। इस तरह पूरा काल चक्र २० कोटा कोटी सागरोपम का होता है। भगवान महावीर अवसर्पिणी कालचक्र के चौथे आरे के—जो ४२ हजार वर्ष कम एक कोटा कोटी सागर का है, ७५ वर्ष ८॥ महीने शेष रहने पर प्राण नामक १० वें स्वर्ग से जिसे महाविजय, सिद्धार्थ वर पुण्डरीक, दिक्स्वास्तिक और वर्द्धमान भी कहते है, अपने आयुष्य को पूरा करके भारतवर्ष के दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर मे ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुए।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों मे 'सीहब्भवभूएणं' के स्थान मे 'सीहइव भूतेणं' पलब्ध होता है और यह पाठ असदिग्ध प्रतीत होता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि हुत्था,

चइस्सामिति जाणइ, चुएमित्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ, सुहुमेणं से काले पन्नत्ते ।

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरः त्रिज्ञानोपगतश्चापि अभवत् च्योष्ये इति जानाति च्युतोस्मीति जानाति च्यवमानो न जानाति सूक्ष्मः स कालः प्रज्ञप्तः ।

पदार्थ—समणे—श्रमण । भगव—भगवान् । महावीरे—महावीर स्वामी। तिन्नाणोवगएयावि होत्था—तीन ज्ञानों से युक्त थे अतः । चइस्सामित्ति जाणइ—वे ऐसा जानते थे कि मैं यहा से च्यव कर मनुष्य लोक मे जाऊंगा तथा । चुएमित्ति जाणइ—वे यह भी जानते थे कि मैं स्वर्ग से च्यव कर गर्भ मे आया हू परन्तु । चयमाणे न जाणइ—वे यह नही जानते थे कि मै च्यव रहा हूँ क्योकि । सुहुमेणं से काले पन्नते—यह काल अर्थात् च्यवन काल अत्यन्त सूक्ष्म कहा गया है ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर तीन ज्ञान (मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधि ज्ञान) से युक्त थे वे यह जानते थे कि मै स्वर्ग से च्यवकर मनुष्य लोक मे जाऊगा, मै वहा से च्यव कर अब गर्भ मे आगया हूं । परन्तु वे च्यवन समय को नही जानते थे।' क्योंकि वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होता है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि भगवान महावीर गर्भ में आए उस समय तीन ज्ञान से युक्त थे—१ मतिज्ञान, २ श्रुत ज्ञान और ३ अवधि ज्ञान । मति और श्रुत ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से पदार्थों का ज्ञान कराता है । परन्तु, अवधि ज्ञान में मन और इन्द्रियों के बिना सहयोग के ही आत्मा मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को जान और देख सकता है। भगवान महावीर को भी स्वर्ग में एवं जिस समय गर्भ में आए तब से लेकर गृहस्थ अवस्था में रहे तब तक तीन ज्ञान थे । वे स्वर्ग के आयुष्य को पूरा करके मनुष्य लोक में आने के समय को जानते थे और गर्भ मे आने के बाद भी वे इस बात को जानते थे कि मै स्वर्ग से यहां आ गया हूँ । परन्तु जिस समय वे स्वर्ग से च्युत हो रहे थे उस समय को नहीं जान रहे थे । क्योंकि यह काल बहुत ही सूक्ष्म होता है, ऋजु गति मे एक समय लगता है और वक्रगति में आत्मा जघन्य दो और उत्कृष्ट ४ समय में अपने स्थान पर पहुंच जाता है। और इतने सूक्ष्म समय मे छद्मस्थ के ज्ञान का उपयोग नहीं लगता। अतः च्यवन के समय

वे अपने ज्ञान का उपयोग नहीं लगा सकते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान गर्भ काल में तीन ज्ञान से युक्त थे।

इस विषय में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तओ णं समणे भगवं महावीरे हियाणुकंपएणं देवेणं जीयमेयं तिकट्टु जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले तस्सणं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं बासीहिं राइदिएहिं वइक्कंतेहिं तेसीइमस्स राइंदियस्स परियाए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुंडपुरसन्निवेसाओ उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करित्ता सुभाणं पुग्गलाणं पक्खेवं करित्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरइ जे विय से तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे तंपि य दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंसि उस० को० देवा० जालन्धरायणगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भं साहरइ।

छाया—ततः श्रमणो भगवान् महावीरः हितानुकम्पकेन देवेन जीतमेतत् इति कृत्वा यः सः वर्षाणा तृतीयः मासः पचमः पक्षः आश्विनकृष्णः तस्य आश्विनकृष्णस्य त्रयोदशीपक्षेण उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रेण योगमुपागतेन द्व्यशीतौ रात्रिन्दिवे व्यतिक्रान्ते त्र्यशीतितमस्य रात्रिन्दिवस्य पर्याये वर्त्तमाने दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुरसंनिवेशात् उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर-

सन्निवेशे ज्ञाताना क्षत्रियाणां सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य काश्यपगोत्रस्य त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः वासिष्ठगोत्रायाः अशुभानां पुद्गलानां अपहार कृत्वा शुभानां पुद्गलानां प्रक्षेपं कृत्वा कुक्षौ गर्भं समाहरति ( मुञ्चति ) । योऽपिच तस्याः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भ. तमपिच दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुरसनिवेशे ऋषभदत्तस्य कोडालगोत्रस्य देवानदाया ब्राह्मण्याः जालन्धरायणगोत्रायाः कुक्षौ गर्भ समाहरति(मुञ्चति) ।

पदार्थ—णं—वाक्यालकार मे है। तओ—तत् पश्चात्। समण—श्रमण । भगवं–भगवान । महावीरे—महावीर स्वामी के। हियाणुकपएण देवेण—हित और अनुकम्पा करने वाले देव ने। जीयमेयंतिकट्टु—यह हमारा जीत आचार है इस प्रकार कहकर तथा इस प्रकार करके। जे से—जो यह। वासाण—वर्षा काल का। तच्चेमासे—तीसरा मास। पंचमे-पक्खे—पाचवा पक्ष। आसोयबहुले—आश्विन मास का कृष्ण पक्ष । णं—वाक्यालकार मे है। तस्स—उस। आसोय बहुलस्स—आश्विन कृष्ण पक्ष के । तेरसीपक्खेण—त्रयोदशी के दिन। हत्थुत्तराहिनक्खत्तेण—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ। जोगमुवागएण—चन्द्रयोग के होने पर। बासीहिं—८२। राइंदिएहिं—अहोरात्र-रातदिन के। वइक्कतेहिं—व्यतीत होने पर। तेसीइमस्स—८३ वें। राइंदियस्स—दिन के। परियाए—पर्याय के। वट्टमाणे—वरतने पर अर्थात् ८३ वें दिन की रात्रि मे । दाहिणमाहणकुण्डपुरसनिवेसाओ—दक्षिण ब्राह्मण कुण्ड पुर सनिवेश से । उत्तरखत्तियकुण्डपुरसंनिवेससि—उत्तर क्षत्रिय कुंड पुर सनिवेश में। खत्तियाण–क्षत्रियो में प्रसिद्ध। नायाणं—ज्ञात वंशीय। कासवगुत्तस्स—काश्यप गोत्र वाले । सिद्धत्थस्स—सिद्धार्थ । खत्तियस्स—क्षत्रिय की भार्या । वासिट्ठगुत्ताए—वासिष्ठ गोत्रवाली । तिसला खत्तियाणीए—त्रिशला क्षत्रियाणी के। असुभाणं पुग्गलाण—अशुभ पुद्गलो को । अवहारं करित्ता—दूर करके। सुभाणं पुग्गलाण—शुभ पुद्गलो का । पक्खेवकरित्ता—प्रक्षेपण करके उसकी। कुच्छिसि—कुक्षी गर्भाशय मे। गब्भ साहरइ—उस गर्भ को छोडता-प्रतिष्ठित करता है। य—और। जे वि—जो फिर। से—उस। तिसलाए—त्रिशला । खत्तियाणीए—क्षत्रियाणी की। कुच्छिसि—कुक्षि में। गब्भे—गर्भ था। य- और। तंपि—फिर उसको। दाहिण माहण कुण्डपुर संनिवेसंसि—दक्षिण ब्राह्मण कुण्ड पुर सनिवेश मे ले जाकर । कोडालगोत्तस्स—कोडाल गोत्रीय। उसभ दत्तस्स—ऋषभ दत्त । माहणस्स—ब्राह्मण की भार्या । जालंधरायणगुत्ताए—जालन्धर गोत्र वाली। देवनन्दामाहणीए—देवानन्दा ब्राह्मणी की । कुच्छिसि—कुक्षि मे। गब्भ साहारइ—उस गर्भ को छोडता —प्रतिष्ठित करता है।

मूलार्थ—देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आने के बाद श्रमण भगवान महावीर के हित और अनुकपा करने वाले देवने, यह जीत आचार है।

ऐसा कहकर वर्षाकाल के तीसरे मास, पाचवें पक्ष अर्थात्—आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर ८२ रात्रिदिन के व्यतीत होने और ८३वें दिन की रात को दक्षिण ब्राह्मण कुण्ड पुर सनिवेश से, उत्तर क्षत्रिय कुण्ड पुर सन्निवेश मे ज्ञात-वशीय क्षत्रियो मे प्रसिद्ध काश्यपगोत्री सिद्धार्थ राजा की वासिष्ठ गोत्र वाली पत्नी त्रिशला महारानी के अशुभपुद्गलो को दूर करके उनके स्थान मे शुभ पुद्गलो का प्रक्षेपण करके उसकी कुक्षि मे गर्भ को रखा, और जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षी मे गर्भ था उसको दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश में जाकर कोडालगोत्रीय ऋषभ दत्त ब्राह्मण की जालन्धर गोत्रवाली देवानन्दा ब्राह्मणी को कुक्षी मे स्थापित किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के गर्भ को स्थानान्तर मे रखने का वर्णन किया गया है। ८२ दिन तक भगवान महावीर देवानन्दा के गर्भ मे रहे थे। उसके बाद ब्राह्मण कुल को तीर्थंकरों के जन्म योग्य न जानकर इन्द्र की आज्ञा से भगवान महावीर के एक हितचिन्तक देव ने उन्हें देवानन्दा के गर्भ से निकाल कर त्रिशला के गर्भ मे रख दिया।

यह घटना आश्चर्यजनक अवश्य है, परन्तु असम्भव नही है। आज भी हम देखते हैं कि वैज्ञानिक आप्रेशन के द्वारा गर्भ का परिवर्तन करते हैं और इस क्रिया में गर्भ का नाश नहीं होता है। एक गर्भ स्थान से स्थानान्तरित किए जाने पर भी उसका विकास रुकता नही है। और भगवान महावीर के गर्भ का परिवर्तन करने का वर्णन आगमों में अनेक जगह मिलता है*। भगवती सूत्र में देवानन्दा ब्राह्मणी के सम्बन्ध मे गौतम के द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह मेरी माता है†। इसके अतिरिक्त कल्प सूत्र में गर्भ संहरण के संबन्ध मे

* स्थानाग सूत्र, स्थान ५: उ० १, स्था० १०, समावायांग सूत्र, ८२-८३, दशाश्रुतस्कंध सूत्र, दशा ८।

† तएण सा देवानन्दा माहणी आगयपण्हया पप्फुयलोयणा सवरिय वलिय बाहा, कचुय परिकिर वत्तिया धाराहतकलवपुप्फगपिव समुस्ससियरोमकूवा, समण भगव महावीरं

पदार्थ—समणाउसो ?—आयुष्मन् श्रमण ! । समणे—श्रमण । भगवं—भगवान् । महावीरे—महावीर । तिन्नाणोवगए यावि होत्था—तीन—मति श्रुत और अवधि ज्ञानों से युक्त थे । साहरिज्जिस्सामित्ति—मैं इस स्थान से अन्य स्थान में संहृत किया जाऊंगा यह जानते थे । साहरिज्जमाणे वि जाणइ—वर्तमान में संहृत किए जाने को भी जानते है तथा । संहरिए—मित्ति जाणइ—मैं संहृत हो चुका हूं एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थापित किया जा चुका हूं। अर्थात् देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी से त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षी मे प्रतिष्ठित किया जा चुका हूं यह भी जानते थे ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् श्रमणो ! श्रमण भगवान महावीर स्वामी गर्भावास मे तीन ज्ञान, मति श्रुत अवधि-से युक्त थे । मै इस स्थान से संहरण किया जाऊंगा, तथा मेरा संहरण हो रहा है और मै संहृत किया जा चुका हूं । यह सब जानते थे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि भगवान महावीर गर्भावास मे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से युक्त थे । वे अपने अवधिज्ञान से यह जानते थे कि मेरे गर्भ का संहरण किया जाएगा और जिस समय देव उनके गर्भ का संहरण कर रहा था उस समय भी वे जानते थे कि मुझे स्थानान्तरित किया जा रहा है और त्रिशला की कुक्षि में रखने के बाद भी जानते थे कि मुझे देवानन्दा की कुक्षि से यहां लाया गया है इस तरह वे अपने गर्भ संहरण के सम्बन्ध मे हुई समस्त क्रियाओं को जानते थे ।

आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचारांग सूत्र में एवं कल्प सूत्र में "साहरिज्जमाणे जाणइ" के स्थान पर "साहरिज्जमाणे नो जाणइ" पाठ छपा है। परन्तु प्राचीन हस्त लिखित एवं अन्य मुद्रित प्रतियों मे "साहरिज्जमाणे जाणइ" पाठ उपलब्ध होता है। आगमोदय समिति से प्रकाशित आचारांग का पाठ कल्पसूत्र एवं उसकी सुबोधिका व्याख्या के आधार पर रखा गया है । परन्तु यह पाठ उचित प्रतीत नहीं होता है । क्योंकि स्वर्ग से गर्भ में आते समय का काल बहुत सूक्ष्म होने के कारण वे उसे नहीं जानते हैं । परन्तु गर्भ संहरण काल इतना सूक्ष्म नहीं होता है । देवद्वारा की जाने वाली संहरण की क्रिया में अन्तर मुहूर्त का समय लग जाता है । अतः इस काल मे होने वाली क्रिया को वे जान सकते हैं। और कल्प सूत्र की 'सुबोधिका टीका' के लेखक उपाध्याय श्री विनय विजय जी उस पर विचार चर्चा करते हुए प्राचीन प्रतियों

के पाठ का ही समर्थन करते हैं*। इससे यह स्पष्ट होता है "साहरिज्जमाणे जाणइ" पाठ ही प्रामाणिक है।

इस प्रसंग पर यह प्रश्न हो सकता है कि गर्भ का सहरण करते समय गर्भ को कोई कष्ट तो नहीं होता ? आगम में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इस क्रिया से गर्भ को कोई कष्ट नहीं हुआ†। यह क्रिया देव द्वारा निष्पन्न हुई थी, इसलिए गर्भस्थ जीव को बिल्कुल त्रास नहीं पहुंचा। उसे सुख पूर्वक एक गर्भ से दूसरे गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया गया।

भगवान के जन्म के विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं तिसलाए खत्तियाणीए अहऽन्नया कयाई नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण राइंदियाणं वीइक्कंताणं जे से गिम्हाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे चित्तसुद्धे तस्स णं चित्तसुद्धस्स तेरसीपक्खेणं हत्थु० जोग० समणं भगवं महावीरं अरोग्गा अरोग्गं पसूया।**

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः अथ अन्यदा

* ननु संह्रियमाणो न जानातीति कथं युक्तं ? सहरणस्य असंख्य सामयिकत्वात्, भगवतश्च संहरण कर्तृ देवापेक्षया विशिष्टज्ञान वत्वात् ? उच्यते, इद वाक्यं संहरणस्य कौशल ज्ञापकम्, तथा तेन संहरण कृतं भगतः यथा भगवता ज्ञातमपि अज्ञातमिवाभूत् पीडाऽभावात्. यथाकश्चिद्वदवि त्वया मम पादात्तथा कंटक उद्धृतः यथा मया ज्ञात एवनेति, सौख्यति शयेच सत्ये वं विधो व्यपदेशः सिद्धान्तेऽपिदृश्यते, तथा हि—'तहिं देवा वतरीश्रा, वरतरुणी गीय वाइप रवेणं। निच्चं सुहिश्र पमुइश्रा, गयपिकाल न याण ति।

—कल्पसूत्र, सुबोधिका व्याख्या।

† पभूणं भंते! हरिणगमेसी सक्कदूए इत्थी गब्भं नह सिरसि वा रोम कूवसि वा साहरितए वा नीहरित्तए वा ? हंता पभू, नो चेव णं तस्स गब्भस्स आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएज्जा, छविच्छेयं पुण करिज्जा।

—श्री भगवती सूत्र, श० ५, सूत्र १८६।

कदाचित् नवसु मासेषु बहुप्रतिपूर्णेषु अर्धाष्टमरात्रिन्दिवे व्यतिक्रान्ते योऽसौ ग्रीष्माणां प्रथमो मासः द्वितीयः पक्षः चैत्रशुक्लः तस्य चैत्रशुक्लस्य त्रयोदशी पक्ष. (दिवसः) उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रेण समं योगमुपागते चन्द्रमसि आरोग्या आरोग्यं प्रसूता ।

पदार्थ—तेण कालेणं—उस काल मे । तेणं समएणं—उस समय में । तिसलाए—खत्तियाणीए—त्रिशला क्षत्रियाणी ने । अह—अथ । अन्नयाकयाई—अन्य किसी समय । नवण्हंमासाणं—नव मास । बहुपडिपुण्णाणं—परिपूर्ण होने पर । अद्धट्ठमाणराइंदियाणं—साढे सात अहोरात्र अधिक । विइक्ताणं—व्यतीत होने पर । जे—जो । से—वह । गिम्हाणं—ग्रीष्म ऋतु के । पढमेमासे—प्रथम मास । दुच्चेपक्खे—दूसरे पक्ष । चित्तसुद्धे—चैत्र शुक्ल पक्ष मे । णं—वाक्यलकार में है । तस्स—उस । चित्तसुद्धस्स—चैत्र शुक्ल की । तेरसी पक्खेणं—त्रयोदशी तिथि के दिन । हत्थु०—उत्तरा फाल्गुनी । णक्खत्ते—नक्षत्र के साथ । जोगमुवागएणं—चन्द्रमा का योग आजाने पर । समणं—श्रमण । भगवं—भगवान । महावीरं—महावीर को । आरोग्गा आरोग्गं पसूया—रोग रहित अर्थात् सुख पूर्वक माता ने प्रसव किया अर्थात् भगवान को सुख पूर्वक जन्म दिया ।

मूलार्थ—उस काल और उस समय मे त्रिशला क्षत्राणी ने अन्य किसी समय नव मास साढे सात अहोरात्र के व्यतीत होने पर ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के द्वितीय पक्ष में अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर श्रमण भगवान् महावीर को सुख पूर्वक जन्म दिया ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास और द्वितीय पक्ष अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे त्रिशला महाराणी ने बिना किसी प्रकार की पीड़ा के, सुख पूर्वक बाधा–पीड़ा से रहित पुत्र को जन्म दिया। भगवान के जन्म के समय माता एव पुत्र को कोई कष्ट नहीं हुआ। दोनों स्वस्थ, नीरोग एवं प्रसन्न थे ।

भगवान के जन्म से देव-देवियों के मन में होने वाले हर्ष का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं ।

मूलम्—जण्णं राइं तिसला ख० समणं० महावीरं अ-रोया अरोयं पसूया तण्णं राइं भवणवइवाणमंतरजोइसिय विमाणवासिदेवेहिं देवीहि य ओवयंतेहिं उप्पयंतेहि य एगे महं दिव्वे देवुज्जोए देवसन्निवाए देवकहक्कहए उप्पिंजलभूए यावि होत्था।

छाया—यस्यां रात्रौ त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्त महावीर अरोग्या अरोग्य प्रसूता ( सुषुवे ) तस्यां रात्रौ भवनपतिवाणव्यन्तरज्योतिषिक विमानवासिदेवैः देवीभिश्च अवपतद्भिः उत्पतद्भिश्च एको महान् दिव्यः देवोद्योतः देवसन्निपातः देवकहकहकः उत्पिंजलभूतश्चापि अभवत् ।

पदार्थ—जण्णं राइ—जिस रात्रि में। तिसलाखत्तियाणी—त्रिशला क्षत्रियाणी ने। समणं—श्रमण। भगवं—भगवान। महावीरं—महावीर को। अरोया अरोयं—सुखपूर्वक। पसूया—जन्म दिया। तण्ण राइं—उस रात्रि में। भवणवइवाणमतरजोइसियवेमाणवासि देवेहि—भवन पति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवो तथा। देविहि य—देवियो के। ओवयतेहि—स्वर्ग से भूमि पर आने। य—और। उप्पयतेहि—मेरु पर्वत पर जाने मे भूमि पर। एगे—एक। मह—महान। दिव्वे—प्रधान। देवुज्जोए—देव विमानो का उद्योत प्रकाश हुआ और। देवसन्निवाए—देवो के एकत्र होने से। देवकहक्कहए—देवो द्वारा अवर्णनीय कोलाहल करने से। उप्पिजलभूएयावि होत्था—वह रात्रि देवो के अट्टहास एवं उद्योत से युक्त हो गई।

मूलार्थ—जिस रात्रि मे रोगरहित त्रिशला क्षत्रियाणी ने रोग रहित श्रमण भगवान महावीर को जन्म दिया उस रात्रि मे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवो और देवियो के स्वर्ग से आने और मेरूपर्वत पर जाने से एक महान तथा प्रधान देवोद्योत और देव सन्निपात के कारण

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान के जन्म से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक चारों जाति के देवों के मन मे हर्ष एवं उल्लास छा गया और वे प्रसन्नता पूर्वक भगवान का जन्मोत्सव मनाने को आने लगे। उन देव देवियों के रत्न-जटित विमानों की ज्योति एव मधुर ध्वनि से वह रात्रि ज्योतिर्मय हो गई और चारों ओर मधुर ध्वनि सुनाई देने लगी।

देवों ने वहां आकर क्या किया इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जरांणं रयणिं तिसला ख० समणं० पसूया तरांणं रयणिं बहवे देवा य देवीओ य एगं महं अमयवासं च १ गंध-वासं च २, चुन्नवासं च ३ पुप्फवा० ४ हिरन्नवासं च ५ रयण-वासं च ६ वासिंसु।

छाया—यस्यां रजन्यां त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्त महावीर प्रसूता (प्रसूतवती) तस्यां रजन्या बहवो देवाश्च देव्यश्च एकं महद् अमृत-वर्षं च, गन्धवर्षं च चूर्णवर्षं च, पुष्पवर्षं च, हिरण्य वर्षं च, रत्नवर्षं च अवर्षयन्।

पदार्थ—जण्णं रयणिं—जिस रात्रि मे। तिसला ख०—त्रिशला क्षत्राणी ने। समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को। पसूया—जन्म दिया। तण्णं रयणिं—उसी रात्रि में। बहवे—बहुत से। देवा—देव। य—और। देवीओ—देवियो ने। एगंमहं—एक बडी भारी। अमयवासं च—अमृत वृष्टि की और। गंधवासं च—सुगन्धित द्रव्यो की। चुन्न वासं च—सुगन्धि मय चूर्ण की। पुप्फवासं च—पुष्पो की। हिरन्नवासं च—तथा हिरण्य सोने-चादी की और। रयणवासं च—रत्नो की। वासिंसु—वर्षा बरसाई।

मूलार्थ—जिस रात्रि मे त्रिशला क्षत्रियाणी ने श्रमण भगवान महावीर को जन्म दिया, उसी रात्रि मे बहुत से देव और देवियो ने अमृत, सुगन्धित पदार्थ, चूर्ण, पुष्प, चान्दी, स्वर्ण और रत्नो की बहुत भारी वर्षा की।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर के जन्म पर हर्षविभोर होकर देवो ने अमृत, सुवासित पदार्थ, पुष्प, चादी, स्वर्ण एवं रत्नों आदि की वर्षा की। उन्होंने उस क्षेत्र को सुवासित एवं रत्नमय बना दिया। महान आत्माओं के प्रबल पुण्य से यह सब सभव हो सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जण्णं रयणि तिसला ख० समणं० पसूया तण्णं रयणि भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो देवा य देवीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सूइकम्माइं तित्थयराभिसेयं च करिंसु।

छाया—यस्यां रजन्यां त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रसूता (प्रसूतवती) तस्यां रजन्यां भवनपति वाणव्यन्तर ज्योतिषिक विमानवासिनो देवाश्च देव्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य शुचिकर्माणि तीर्थङ्कराभिषेकं च अकार्षुः।

पदार्थ—जण्णं रयणि—जिस रात्रि में। तिसला ख०—त्रिशला क्षत्रियाणी ने। समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को। पसूया—जन्म दिया। तण्णं रयणि—उस रात्रि में। भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो—भवन पति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और विमान वासी। देवा य—देव और। देवीओ य—देवियो ने। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर का। सूइकम्माइं—शुचिकर्म। च—और। तित्थयराभिसेयं—तीर्थंकराभिषेक। करिंसु—किया।

मूलार्थ-जिस रात्रि मे त्रिशला क्षत्रियाणी ने श्रमण भगवान महावीर को जन्म दिया, उसी रात्रि मे भवन पति, वाणव्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक देव और देवियों ने श्रमण भगवान महावीर का शुचि कर्म और तीर्थंकराभिषेक किया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान के जन्मोत्सव का उल्लेख किया गया है । भगवान का जन्म होने पर ५६ दिशा कुमारियों ने भगवान का शुचि कर्म किया और ६४ इन्द्रों ने भगवान को मेरु पर्वत के पण्डक वन में ले जाकर उनका जन्म अभिषेक किया । इसका विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में किया गया है* और उसी के आधार पर कल्पसूत्र में भी उल्लेख किया गया है । प्रस्तुत सूत्र में तो केवल प्रासंगिक संकेत रूप से उल्लेख किया गया है ।

कुछ प्रतियों में "सूइकम्माइ" के स्थान पर "कोतुगभूति कम्माइ" पाठ उपलब्ध होता है । जिसका अर्थ है—देव-देवियों ने विभिन्न मांगलिक कार्य किए ।

भगवान के नाम संस्कार के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—जओ णं पभिइ भगवं महावीरे तिसलाए ख० कुच्छिंसि गब्भं आगए तओ णं पभिइ तं कुलं विपुलेणं हिरन्नेणं सुवन्नेणं धणेणं धन्नेणं माणिक्केणं मुत्तिएणं संखसिलप्पवालेणं अईव २ परिवड्ढइ, तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो एयमट्ठं जाणित्ता निव्वत्तदसाहंसि**

* खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चुल्लहिमवंताओ वासहरपव्वयाओ गोसीस चंदण कट्ठाइं साहरइ, तएण ते अभिओगा देवा बाहिरयग मज्झवत्थव्वाहिं चउहिं दिसाकुमारी महत्तरिआहिं एव वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा ! जाव विणएण वयण पडिच्छति २ त्ता खिप्पामेव चुल्ल हिमवताओ वासहरपव्वयाओ सरसाइं गोसीस चन्दण कट्ठाइं साहरन्ति, तएणं ताओ मज्झिमरुअगवत्थव्वाओ चत्तारि दिसाकुमारीमहत्तरिआओ सरग करेंति २ त्ता अरणिं अडेंति २ अरणिं घडिता सरएण अरणिं महिंति २ त्ता अग्गिं पाडेंति २ त्ता अग्गिं सधुक्खेंति २ त्ता गोसीस चंदण कट्ठे पक्खिवति २ त्ता अग्गिं उज्जालति २ त्ता समिहाकट्ठाइं पक्खिवंति २ त्ता अग्गिहोमं करेंति २ त्ता भूतिकम्मं करेंति २ त्ता रक्खापोट्टलिय बंधन्ति बन्धेत्ता णाणा मणिरयणभत्ति चित्ते दुविहे पाहाणवट्टगोलए गहाय भगवओ तित्थयरस्स कण्णमूलंभि टिट्टिआवेंति भगवओ भयवं पव्वयाओए २ ।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र ।

बुक्कंतंसि सुइभूयंसि विपुलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडाविंति २ त्ता मित्तनाइसयणसंबंधिवग्गं उवनिमंतंति मित्त० उवनिमंतित्ता बहवे समणमाहणकिवणवणीमगाहिं भिच्छुंडगपंडरगाईण विच्छड्डंति विग्गोविंति विस्साणिंति दायारेसु दाणं पज्जभाइंति विच्छड्डित्ता विग्गो० विस्साणित्ता दाया० पज्जभाइत्ता मित्तनाइ० भुंजाविंति मित्त० भुंजावित्ता मित्त० वग्गेण इममेयारूवं नामधिज्जं कारविंति—जओ णं पभिइ इमे कुमारे ति० ख० कुच्छिंसि गब्भे आहूए तओ णं पभिइ इमं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं० संखसिलप्पवालेणं अतीव २ परिवड्ढइ, ता होउ णं कुमारे वद्धमाणे।

छाया—यतः प्रभृति भगवान् महावीरः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भमागतः ततः प्रभृति तत् कुलं विपुलेन हिरण्येन सुवर्णेन धनेन, धान्येन माणिक्येन मौक्तिकेन शंखशिलाप्रवालेन अतीव २ परिवर्द्धते, तत. श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अम्बा पितरौ एतमर्थं ज्ञात्वा निर्वर्तितदशाहे व्युत्क्रान्ते शुचीभूते विपुल अशनपानखादिमस्वादिममुपस्कारयति उपस्कार्य मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गमुपनिमन्त्रयन्ति मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गमुपनिमन्त्र्य बहून् श्रमणब्राह्मणकृपणवनीपकान् भिक्षोडुगपडरगादीन् विच्छर्दयन्ति विगोपयन्ति विश्राणयन्ति, दातृषु दान परिभाजयन्ति, विच्छर्द्य विगोप्य विश्राण्य दातृषु परिभाज्य मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गं परिभोजयन्ति मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गं भोजयित्वा मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गेण, इदमेतद्रूपं नामधेय कारयन्ति, यतः प्रभृति अयं कुमारः त्रिश-

लाया क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भे आहूतः ततः प्रभृति इद कुलं विपुलेन हिरण्येन सुवर्णेन धनेन धान्येन माणिक्येन मौक्तिकेन शखशिलाप्रवालेन अतीव २ परिवर्द्धते तावत् भवतु कुमारः बर्द्धमानः।

पदार्थ- णं—वाक्यालकार में है। जओ पभिइ—जब से। समणे—श्रमण। भगव—भगवान। महावीरे महावीर। तिसलाए—त्रिशला। खत्तियाणीए—क्षत्रियाणी की। कुच्छिसि—कुक्षि मे। गब्भ—गर्भ रूप मे। आगए—आए है। ण—वाक्यालकार मे है। तओपभिइ—उसी दिन से लेकर। त कुल—वह ज्ञातवशीय कुल। विपुलेण—विशेप रूप से। हिरण्णेण—हिरण्य-चान्दी से। सुवण्णेणं—सुवर्ण से। धणेणं—धन से-रूप्यकादि से। धन्नेणं—शालि आदि धान्य से। माणिक्केणं—माणिक से। मोत्तिएण—मोतियो से। सखसिलप्पवालेण—शख शिला और प्रवाल से। अईव २—बहुत। परिवड्ढई—समृद्ध हो रहा है। णं—वाक्यालकार मे है। तओ—तदनन्तर। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के। अम्मापियरो—माता पिता ने। एयमट्ठं जाणित्ता—इस परमार्थ का जानकर। निव्वत्तदसाहसि—दश दिनो के निर्वर्तित होने तथा। वुक्कतंसि—व्युत्क्रान्त हो जाने एव। सूइभूयंसि—शुद्ध होने पर। विपुल—बहुत। असणपाणखाइमसाइम—अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थ। उवक्खडाविंति २ त्ता—तैयार करवा कर। मित्त—मित्र। नाइ—ज्ञाति। सयण—स्वजन। सबंधिवग्ग—सम्बन्धि वर्ग को। उवनिमततिं—निमन्त्रिण करते हैं। उवनिमंतित्ता—और उन्हे निमन्त्रण करके फिर। बहवे—बहुत से। समणमाहणकिवणवणीमगाहिं—शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, भिखारी तथा। भिच्छुडग पंडरगाईण—भस्म आदि को शरीर मे लगाकर भिक्षा मागने वाले अन्य भिक्षुगणो को। विच्छड्डंति—भोजन कराते हैं। विगोविंति—विगोपन करते है। विस्साणिंति—विशेष रूप से आस्वादन करते है। दायारेसुदाणपज्जभाइंति—याचक जनो मे बाटते हैं और सब को भोजन कराते हैं फिर। विच्छड्डित्ता—शाक्यादि को देकर। विग्गो०—विगोपन कर। विसाणित्ता—आस्वादन कर। दाया० पज्जभाइत्ता—याचक जनो में बाट करके। मित्त नाइ०—मित्र ज्ञाति जनो को। भुजाविंति—भोजन कर या। मित्त० भुजावित्ता—मित्रादि को भोजन करवा कर फिर। वग्गेण—वर्ग आदि के सन्मुख। इमेयारूवं—इस प्रकार। नामधिज्ज—नाम करण कारविंति—करते है। जओणपभिइ—जिस दिन से लेकर। इमे कुमारे—यह कुमार। ति० ख०—त्रिशला क्षत्रियाणी की। कुच्छिसि—कुक्षि मे। गब्भे—गर्भपने। आहूए—आया है। तओण—तब से। पभिइ—लेकर। इमकुल—हमारा यह कुल। विपुलेणं—विपुल विस्तीर्ण रूप से। हिरन्नेणं—हिरण्य-चान्दी। सुवण्णेणं—सुवर्ण। धनेण—धन। धन्नेण—धान्यादि से तथा। माणिक्केणं—माणिक्य से। मुत्तएण—मोतियो से और। संखसिलप्पवालेणं—शख शिला तथा प्रवाल-मूगा आदि से। अतीव २—अत्यन्त। परिवड्ढइ—वृद्धि को प्राप्त हुआ

है। णं—वाक्यलंकार मे है। ता—अतः। कुमारे वद्धमाणे— इस कुमार का नाम वर्द्धमान हो अर्थात् मैं इस कुमार का वर्द्धमान नाम रखता हू।

मूलार्थ—जिस रात को श्रमण भगवान महावीर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे आए उसी समय से उस ज्ञातवशीय क्षत्रिय कुल मे हिरण्य-चादी, स्वर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शखशिला और प्रवालादि की अभिवृद्धि होने लगी। श्रमण भगवान महावीर के जन्म के ग्यारहवें दिन शुद्ध हो जाने पर उनके माता पिता ने विपुल अशन, पान, खादिम, और स्वादिम पदार्थ बनवाए और अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि वर्ग को निमत्रित किया और बहुत मे शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, बनीपक तथा अन्य तापसादि भिक्षुओ को भोजनादि, पदार्थ दिए अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बधि वर्ग को प्रेमपूर्वक भोजन कराया। भोजन आदि कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् उनके सामने कुमार के नामकरण का प्रस्ताव रखते हुए सिद्धार्थ ने बताया कि यह बालक जिस दिन से त्रिशला देवी को कुक्षि मे गर्भ रूप से आया है तब से हमारे कुल मे हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शख, शिला और प्रवालादि पदार्थो की अत्यधिक वृद्धि हो रही है। अतः इस कुमार का गुण सम्पन्न 'वर्द्धमान' नाम रखते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के नामकरण का उल्लेख किया गया है। भगवान के जन्म के दस दिन के पश्चात् शुद्धि कर्म किया गया और अपने स्नेही-स्वजनों को बुलाकर उन्हें भोजन कराया और अनेक श्रमण-ब्राह्मणों एव भिक्षुओं को भी यथेष्ट भोजन दिया गया। उसके बाद सिद्धार्थ राजा ने सबको यह बताया कि इस बालक के गर्भ में आते ही हमारे कुल में धन-धान्य आदि की वृद्धि होती रही है। अत। इसका नाम 'वर्द्धमान' रखते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में केवल गुण संपन्न नाम देने का उल्लेख किया गया है। परन्तु नाम करण की परम्परा का अनुयोगद्वार सूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया

लाया. क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भे आहूतः ततः प्रभृति इद कुलं विपुलेन हिरण्येन सुवर्णेन धनेन धान्येन माणिक्येन मौक्तिकेन शखशिलाप्रवालेन अतीव २ परिवर्द्धते तावत् भवतु कुमारः वर्द्धमानः।

पदार्थ- णं—वाक्यालकार में है। जओ पभिइ—जब से। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान। महावीरे महावीर। तिसलाए—त्रिशला। खत्तियाणीए—क्षत्रियाणी की। कुच्छिसि—कुक्षि मे। गब्भ—गर्भ रूप मे। आगए—आए हैं। ण—वाक्यालकार मे है। तओपभिइ—उसी दिन से लेकर। त कुल—वह ज्ञातवंशीय कुल। विपुलेणं—विशेष रूप से। हिरण्णेण—हिरण्य-चान्दी से। सुवण्णेण—सुवर्ण से। धणेणं—धन से-रूप्यकादि से। धन्नेणं—शालि आदि धान्य से। माणिक्केणं—माणिक्य से। मोत्तिएण—मोतियो से। सखसिलप्पवलेण—शख शिला और प्रवाल से। अईव २—बहुत। परिवड्ढई—समृद्ध हो रहा है। ण—वाक्यालकार मे है। तओ—तदनन्तर। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के। अम्मापियरो—माता पिता ने। एयमट्ठं जाणित्ता—इस परमार्थ को जानकर। निव्वत्तदसाहसि—दश दिनो के निर्वर्तित होने तथा। वुक्कतंसि—व्युत्क्रान्त हो जाने एव। सूइभूयंसि—शुद्ध होने पर। विपुल—बहुत। असणपाणखाइमसाइम—अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थ। उवक्खडाविंति २ त्ता—तैयार करवा कर। मित्त—मित्र। नाइ—ज्ञाति। सयण—स्वजन। संबंधिवग्ग—सम्बन्धि वर्ग को। उवनिमतंति—निमन्त्रिण करते है। उवनिमंतित्ता—और उन्हे निमत्रण करके फिर। बहवे—बहुत से। समणमाहणकिवणवणीमगाहिं—शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, भिखारी तथा। भिच्छुडग पंडरगाईण—भस्म आदि को शरीर मे लगाकर भिक्षा मागने वाले अन्य भिक्षुगणो को। विच्छड्डति—भोजन कराते हैं। विगोविंति—विगोपन करते हैं। विस्साणिंति—विशेष रूप से आस्वादन करते है। दायारेसुदाणपज्जभाइंति—याचक जनो मे बाटते हैं और सब को भोजन कराते हैं फिर। विच्छड्डित्ता—शाक्यादि को देकर। विग्गो०—विगोपन कर। विसाणित्ता—आस्वादन कर। दाया० पज्जभाइत्ता—याचक जनो मे बाट करके। मित्त नाइ०—मित्र ज्ञाति जनो को। भुजाविंति—भोजन कर या। मित्त० भुंजावित्ता—मित्रादि को भोजन करवा कर फिर। वग्गेण—वर्ग आदि के सन्मुख। इमेयारूवं—इस प्रकार। नामधिज्ज—नाम करण कारविंति—करते है। जओणंपभिइ—जिस दिन से लेकर। इमे कुमारे—यह कुमार। ति० ख०—त्रिशला क्षत्रियाणी की। कुच्छिसि—कुक्षि में। गब्भे—गर्भपने। आहूए—आया है। तओण—तब से। पभिइ—लेकर। इमकुल—हमारा यह कुल। विपुलेण—विपुल विस्तीर्ण रूप से। हिरन्नेणं—हिरण्य-चान्दी। सुवण्णेणं—सुवर्ण। धनेण—धन। धन्नेण—धान्यादि से तथा। माणिक्केणं—माणिक्य से। मुत्तएण—मोतियो से और। संखसिलप्पवालेणं—शख शिला तथा प्रवाल-मूगा आदि से। अतीव २—अत्यन्त। परिवड्ढइ—वृद्धि को प्राप्त हुआ

है। णं—वाक्यलंकार मे है। ता—प्रनः। कुमारे वद्धमाणे— इस कुमार का नाम वर्द्धमान हो अर्थात् मैं इन कुमार का वर्द्धमान नाम रखता हूं।

मूलार्थ—जिस रात को श्रमण भगवान महावीर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में आए उसी समय मे उन ज्ञातवंशीय क्षत्रिय कुल मे हिरण्य-चांदी, स्वर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शखशिला और प्रवालादि की अभिवृद्धि होने लगी। श्रमण भगवान महावीर के जन्म के ग्यारहवें दिन शुद्ध हो जाने पर उनके माता पिता ने विपुल अशन, पान, खादिम, और स्वादिम पदार्थ बनवाए और अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि वर्ग को निमन्त्रित किया और बहुत मे शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, बनीपक तथा अन्य तापसादि भिक्षुओं को भोजनादि, पदार्थ दिए अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बधि वर्ग को प्रेमपूर्वक भोजन कराया। भोजन आदि कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् उनके सामने कुमार के नामकरण का प्रस्ताव रखते हुए सिद्धार्थ ने बताया कि यह बालक जिस दिन से त्रिशला देवी की कुक्षि में गर्भ रूप से आया है तब से हमारे कुल मे हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शख, शिला और प्रवालादि पदार्थों की अत्यधिक वृद्धि हो रही है। अतः इस कुमार का गुण सम्पन्न 'वर्द्धमान' नाम रखते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के नामकरण का उल्लेख किया गया है। भगवान के जन्म के दस दिन के पश्चात् शुद्धि कर्म किया गया और अपने स्नेही-स्वजनों को बुलाकर उन्हें भोजन कराया और अनेक श्रमण-ब्राह्मणों एव भिक्षुओं को भी यथेष्ट भोजन दिया गया। उसके बाद सिद्धार्थ राजा ने सबको यह बताया कि इस बालक के गर्भ मे आते ही हमारे कुल में धन-धान्य आदि की वृद्धि होती रही है। अतः इसका नाम 'वर्द्धमान' रखते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में केवल गुण संपन्न नाम देने का उल्लेख किया गया है। परन्तु नाम करण की परम्परा का अनुयोगद्वार सूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया

है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नाम संस्कार की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

भगवान महावीर के माता पिता भगवान पार्श्व नाथ के श्रावक थे। फिर भी उन्होंने अन्य मत के श्रमण भिक्षुओं आदि को बुलाकर दान दिया। इससे स्पष्ट होता है कि आगम में श्रावक के लिए अनुकम्पा दान आदि का निषेध नहीं किया गया है। गृहस्थ का द्वार बिना किसी भेद भाव के सब के लिए खुला रहता है। वह प्रत्येक प्राणी के प्रति दया एवं स्नेह भाव रखता है।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तओ णं समणे भगवं महावीरे पंचधाइपरिवुडे तं० १ खीरधाईए, २ मज्जणधाईए, ३ मंडणधाईए, ४ खेला-वणधाईए, ५ अंकधाईए, अंकाओ अंकं साहरिज्जमाणे रम्मे मणिकुट्टिमतले गिरिकंदरसमल्लीणेविव चंपयपायवे अहा-णुपुव्वीए संवड्ढइ, तओ ण समणे भगवं० विन्नायपरिणाय (मित्ते) विणियत्त बाल भावे अप्पुस्सुयाइ उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सद्दफरिसरसरूवगन्धाइं परियारेमाणे एवं च णं विहरेइ ॥१७६॥**

छाया—ततः श्रमणो भगवान् महावीरः पंचधात्रीपरिवृत्त. तद्यथा १ क्षीरधात्र्या, २ मज्जनधात्र्या, ४ मडन धात्र्या, ४ क्रीड़न धात्र्या, ५ अंक धात्र्या, अंकाद् अंकं समाह्रियमाणः रम्ये मणिकुट्टिमतले गिरिकन्दरसंलीन इव चम्पकपादपः यथानुपूर्व्या सवर्धते। ततः श्रमणो भगवान् महावीरः विज्ञातपरिणतः विनिवृत्तबालभाव अल्पौत्सुक्यान् उदारान् मानुष्यकान् पञ्चलक्षणान् कामभोगान् शब्दस्पर्शरसरूपगंधान् परि-चरन् एवं च विहरति।

पदार्थ—ण—वाक्यालंकार में है। तओ—तदनन्तर। समणे—श्रमण। भगव—भगवान। महावीरे—महावीर। पंचधाइपरिवुडे—पांच धाय माताओं से परिवृत्त हुए। तंजहा—जैसे कि। खीरधाईए—दूध पिलाने वाली धाय माता से। मज्जणधाईए—स्नान कराने वाली माता से। मंडणधाईए—वस्त्र और अलंकार पहराने वाली माता से। खेलावणधाईए—क्रीडा कराने वाली माता से और। अंकधाईए—गोद में खेलाने वाली माता से, इस प्रकार। अंकाओ अंकं साहरिज्जमाणे—एक गोद से दूसरी गोद में संहृत होते हुए। रम्मे—रमणीय। मणिकुट्टिमतले—मणिजटित आंगन में इस तरह वृद्धि को प्राप्त कर रहे हैं। गिरिकंदर समुल्लीणेविव—जैसे पर्वत की गुफा में उत्पन्न हुआ। चंपय पायवे—चम्पक नाम का प्रधान वृक्ष विघ्न बाधाओं से रहित हो कर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर भी। अहाणुपुव्वीए—यथानुक्रम। संवड्ढइ—निर्विघ्नतया वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। णं—वाक्यालंकार में है। तओ—तदनन्तर। समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर। विन्नायपरिणय—स्वयमेव विज्ञान को प्राप्त हुए। विणियत्तबालभावे—बाल भाव को त्याग कर यौवन में पदार्पण करते हुए। अप्पुस्सुयाइं—उत्सुकता से रहित अर्थात् उदासीनता से। उरालाइं—प्रधान। माणुस्सगाइं—मनुष्य सम्बन्धि। पंचलक्खणाइं—पांच प्रकार के। सद्दफरिसरसरूवगंधाइं—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से युक्त। कामभोगाइं—काम भोगों का। परियारेमाणे—उपभोग करते हुए। एवं—इस प्रकार से। विहरइ—विहरण करते हैं। च—समुच्चय अर्थ में है। णं—वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—जन्म के बाद भगवान महावीर का पांच धाय माताओं के द्वारा लालन-पालन होने लगा। दूध पिलाने वाली धाय माता, स्नान कराने वाली धाय माता, वस्त्रालंकार पहनाने वाली धाय माता, क्रीडा कराने वाली और गोद खिलाने वाली धाय माता, इन ५ धाय माताओं की गोद में तथा मणिमंडित रमणीय आंगन प्रदेश में खेलने लगे और पर्वत गुफा में स्थित चम्पक बेल की भान्ति विघ्न बाधाओं से रहित होकर यथाक्रम बढ़ने लगे। उसके पश्चात् ज्ञान-विज्ञान संपन्न भगवान महावीर बाल भाव को त्याग कर युवावस्था में प्रविष्ट हुए और मनुष्य सम्बन्धि उदार शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धादि से युक्त पांच प्रकार के काम भोगों का उदासीन भाव से उपभोग करते हुए विचरने लगे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान सुख पूर्वक बढ़ने लगे। उनके लालन-पालन के लिए ५ धाय माताएं रखी हुई थी। दूध पिलाने वाली, स्नान कराने वाली, वस्त्रालंकार पहनाने वाली, क्रीड़ा कराने वाली और गोद मे खिलाने वाली, इन विभिन्न धाय माताओं की गोद में आमोद-प्रमोद से खेलते हुए भगवान ने बाल भाव का त्याग कर यौवन वय में कदम रखा। यौवन का नशा बड़ा विचित्र होता है। परन्तु भगवान ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न थे। अतः प्राप्त भोगों मे भी वे आसक्त नहीं हुए। वे शब्द, रस स्पर्श आदि भोगों का उदासीन भाव से उपभोग करते थे। इस कारण वे सक्लिष्ट कर्मों का बन्धन नहीं करते थे। क्योंकि भोगों के साथ जितनी अधिक आसक्ति होती है, कर्म बन्धन भी उतना ही प्रगाढ़ होता है। भगवान उदासीन भाव से रहते थ, अत. उन का कर्म बन्धन भी शिथिल ही होता था।

अब भगवान के गुण निष्पन्न नाम एवं उनके परिवार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—समणे भगवं महावीरे कासवगुत्ते, तस्स णं इमे तिन्नि नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा-अम्मापिउसंति बद्धमाणे (१) सहसमुइए समणे (२) भीमं भयभेरवं उरालं अचलयं परीसहसहत्तिकट्टु देवेहिं से नामं कयं समणे भगवं महावीरे (३) समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिया कासवगुत्तेणं, तस्स णं तिन्नि नाम० तं०-सिद्धत्थे इ वा, सिज्जंसे इ वा, जसंसे इ वा, समणस्स णं अम्मा वासिट्ठस्सगुत्ता तीसे णं तिन्नि ना० तं०-तिसला इ वा, विदेहदिन्ना इ वा पियकारिणी इ वा, समणस्स णं भ० पित्तिअए सुपासे कासवगुत्तेणं, समण० जिट्ठेभाया नंदिवद्धणे कासवगुत्तेणं, समणस्स णं जेट्ठा भइणी

सुदंसणा कासवगुत्तेणं, समणस्स णं भग० भज्जा जसोया को-डिन्नागुत्तेणं, समणस्स णं धूया कासवगोत्तेणं, तीसेणं दो नामधिज्जा एवमा० —अणुज्जा इ वा, पियदंसणा इ वा, समणस्स णं भ० नत्तूई कोसियागुत्तेणं, तीसेणं दो नाम० तं० सेसवई इ वा, जसवई इ वा ॥१७७॥

छाया—श्रमणो भगवान् महावीरः काश्यपगोत्रः तस्य इमानि त्रीणि नामधेयानि एवमाख्यायन्ते, तद्यथा अम्बापितृसत्कं वर्द्धमान, सहसंमुदितः श्रमणः। भीमं भयभैरवं उदारमचलं परीषहसह इतिकृत्वा देवैः तस्यनाम कृत श्रमणो भगवान महावीरः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पिता काश्यप-गोत्रः तस्य त्रीणि नामधेयानि एवमाख्यायन्ते तद्यथा—सिद्धार्थ इति वा श्रेयांस इति वा यशस्वी इति वा, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अम्बा, वासिष्ठ गोत्रा तस्याः त्रीणि नामधेयानि एवमाख्यायन्ते, त्रिशला इति वा, विदेहदत्ता इति वा, प्रियकारिणी इति वा, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पितृव्यः. सुपार्श्वः काश्यपगोत्रः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठो भ्राता नन्दि-वर्द्धनः काश्यपगोत्रः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना काश्यपगोत्रा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य भार्या यशोदा कौडिन्य-गोत्रा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य दुहिता काश्यपगोत्रा, तस्याः द्वेनाम-धेये, एवमाख्यायेते, तद्यथा अनोज्जा इति वा प्रियदर्शना इति वा। श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य दौहित्री काश्यपगोत्रा तस्याः द्वे नामधेये एवमाख्यायेते तद्यथा-शेषवती इति वा यशस्वती इति वा।

पदार्थ—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर। कासवगुत्ते—काश्यप गोत्री। णं—वाक्यालंकार में है। तस्स—उसके। इमे—ये। तिन्नि—तीन। नामधिज्जा—नाम। एवमाहिज्जति—इस प्रकार कहे जाते हैं। तंजहा—जैसे कि। अम्मापिउसति—माता पिता की ओर से दिया गया। वद्धमान—वर्द्धमान नाम था। सह संमुइए समणे—स्वाभाविक

गुण से उत्पन्न हुआ श्रमण अर्थात् सम भाव धारण करने से तथा अत्यन्त घोर तप करने से श्रमण कहलाए एवं। भीम—रौद्र। भयभैरव—अत्यन्त भय के उत्पन्न करने वाला। उराल—प्रधान। अचलय—अचल। परीसहसहतिकट्टु—परीषहों के सहन करने से। देवेहिं—देवों ने। से—उनका-वर्द्धमान का। समणे भगव महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ऐसा। नामकयं—नाम रखा। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के। पिया—पिता। कासवगुत्तेण—काश्यप गोत्रीय थे। तस्स णं—उसके। तिन्नि—तीन। नाम०—नाम कहे गए हैं। तं०—जैसे कि। सिद्धत्थे इ वा—सिद्धार्थ यह। सिज्जंसे इ वा—श्रेयांस यह। जसंसे इ वा- और यशस्वी यह तीन नाम थे। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर की। अम्मा—माता। वासिट्ठस्सगुत्ता—वासिष्ठ गोत्र वाली। तीसे णं—उसके। तिन्नि नाम०—तीन नाम कहे गए हैं। तं०—जैसे कि। तिसला इ वा—त्रिशला इति। विदेहदिन्ना इ वा—विदेह दत्ता और। पियकारिणी इ वा—प्रियकारिणी इति। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के। पित्तिअए—पितृव्य-पिता के भाई। कासवगुत्तेणं—काश्यप गोत्री का। सुपासे—सुपार्श्व नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के। जिट्ठे भाया—ज्येष्ठ भ्राता। कासव गुत्तेणं—काश्यप गोत्री का। नंदिवद्धणे—नन्दीवर्द्धन नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान की। जेट्ठाभइणी--ज्येष्ठ बहन। कासव गुत्तेण—काश्यप गोत्रीया का। सुदंसणा—सुदर्शना नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर की। भज्जा—भार्या। कोडिन्नागुत्तेण—कौडिन्य गोत्रीया का। जसोया—यशोदा नाम था। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर की। धूया—पुत्री। कासवगोत्तेण-काश्यप गोत्रीया थी। तीसेणं—उसके। दो नामधिज्जा—दो नाम एवमाहिज्जाति—इस प्रकार कहे जाते है। अणुज्जा इ वा—अनोज्जा इति। पियदंसणा इ वा—प्रियदर्शना इति अर्थात् अनोज्जा और प्रियदर्शना ये दो नाम थे। समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर की। नत्तूए—दौहित्री। कोसियागुत्तेणं—कौशिक गोत्र वाली थी। तीसेण—उसके। दो नामधिज्जा एवमा०—दो नाम इस प्रकार कहे गए हैं। तं०—जैसे कि। सेसवई इ वा—शेष वती इति और। जसवई इ वा—यशवती इति।

**मूलार्थ**—काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के इस प्रकार से तीन नाम कहे गये है—माता पिता का दिया हुआ वर्द्धमान, स्वाभाविक समभाव होने से श्रमण और अत्यन्त भयोत्पादक परीषहो के समय अचल रहने एवं उन्हे समभाव पूर्वक सहन करने से देवों के द्वारा प्रतिष्ठित महावीर। श्रमण भगवान् महावीर के काश्यपगोत्रीय पिता के सिद्धार्थ,

श्रेयास और यशस्वी ये तीन नाम थे। श्रमण भगवान महावीर की वासिष्ठ गोत्र वाली माता के त्रिशला, विदेह दत्ता और प्रियकारिणी ये तीन नाम थे। श्रमण भगवान महावीर के पितृव्य—पिता के भाई का नाम सुपार्श्व था, श्रमण भगवान महावीर स्वामी के काश्यपगोत्री ज्येष्ठ भ्राता का नाम नन्दीवर्द्धन था। भगवान की ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना था। भगवान की भार्या-जो कि कौडिन्य गोत्रवाली थी-का नाम यशोदा था। भगवान की पुत्री के अनोजा और प्रियदर्शना ये दो नाम कहे जाते हैं तथा श्रमण भगवान महावीर की दौहित्री जिसका-कौशिक गोत्र था-के शेषवती और यशवती यह दो नाम थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान के नाम एवं परिवार का परिचय दिया गया है। भगवान के वर्द्धमान, श्रमण और महावीर इन तीन नामों का उल्लेख किया गया है। वर्द्धमान नाम माता-पिता द्वारा दिया गया था। और दीक्षा ग्रहण करने के बाद भगवान की समभाव पूर्वक तपश्चर्या करने की प्रवृत्ति थी, उससे उन्हें श्रमण कहा गया और देवों द्वारा दिए गए घोर परीषहों में भी वे आत्म चिन्तन से विचलित नहीं हुए तथा उन्हें समभाव पूर्वक सहते रहे, इससे उन्हें महावीर कहा गया। आगमों एवं जन साधारण मे उनका यही नाम अधिक प्रचलित रहा है। और आज भी वे महावीर के नाम से संसार मे विख्यात हैं।

भगवान महावीर के पिता के तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी। उनकी माता के त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी ये तीन नाम थे। उनके पिता के भाई का नाम सुपार्श्व था और उनके बड़े भाई का नाम नंदीवर्द्धन था। उनके सुदर्शना नाम की एक ज्येष्ठ बहन थी। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था। उनकी पुत्री के अनोजा और प्रियदर्शना ये दो नाम थे, जिसका विवाह जमाली के साथ किया गया है। उनके एक दौहित्री भी थी, जिसके शेषवती और यशवती ये दो नाम थे। इस तरह से भगवान महावीर का विशाल परिवार था।

अब उनके माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

मूलम्—समणस्स णं ३ अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि हुत्था, ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्ह जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निंदित्ता गरिहित्ता पडिक्कमित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंथारगं दुरूहित्ता भत्तं पच्चक्खायंति २ अपच्छिमाए मारणंतियाए संलेहणाए ज्झुसियसरीरा कालमासे कालंकिच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना. तओ णं आउक्खएणं भव० ठि० चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥१७८॥

छाया—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अम्बापितरौ पार्श्वापत्त्ये श्रमणोपासकौ चापि अभूताम्। तौ बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासक पर्याय पालयित्वा षण्णां जीवनिकायानां संरक्षणनिमित्तम् आलोच्य निन्दित्वा गर्हित्वा प्रतिक्रम्य यथार्ह उत्तरगुणप्रायश्चितानि प्रतिपद्य कुशसंस्तारक दुरूह्य भक्त प्रत्याख्यातः २ अपश्चिमया मारणन्तिकया संलेखनया ज्झोषितशरीरौ कालमासे काल कृत्वा तच्छरीर विप्रजह्य अच्युते कल्पे देवतया उपपन्नौ, ततः आयुः क्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण, च्युतौ त्यक्त्वा महाविदेहवर्षे चर्मेण उच्छ्वासेन सेत्स्यतः भोत्स्यतः मोक्ष्यतः परिनिर्वास्यतः सर्वदुखानामन्तं करिष्यतः।

पदार्थ—समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के। अम्मापियरो—माता पिता। पासावच्चिज्जा—भगवान पार्श्वनाथ के साधुओं के। समणोवासगा यावि हुत्था—

श्रमणोपासक थे। च — पुनरर्थक है। अवि — समुच्चयार्थक है। ण — वाक्यालंकार में है। ते — वे दोनो। बहूइं — बहुत। वासाइं — वर्षो की। समणोवासग परियाग — श्रमणोपासक की पर्याय को—श्रावक धर्म को। पालइत्ता — पालकर। छण्हंजीवनिकायाणं — छै प्रकार की जीवनिकाय-समूह की। सारक्खणनिमित्त — रक्षा के निमित्त। आलोइत्ता — आलोचना कर के। निंदित्ता — आत्मा की साक्षी से निन्दा कर के। गरिहिता — गुरु आदि की साक्षी से गर्हणा कर के। पडिक्कमित्ता — पाप कर्म से प्रतिक्रमण करके। अहारियं — यथा योग्य। उत्तरगुणपायच्छित्ताइं — उत्तर गुण सम्बन्धि प्रायश्चित को। पडिवज्जित्ता — ग्रहण करके। कुससंथारगं — कुशा के सस्तारक पर। दुरूहित्ता — वैठकर। भत्तपच्चक्खायति — भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करते है। भक्त प्रत्याख्यान के पश्चात्। अपच्छिमाए — अन्तिम। मारणंतियाए — मारणान्तिक। संलेहणाए — शरीर की सलेखना मे। झूसिय सरीरा — शरीर को सुखा कर। कालमासे — काल के समय। कालं किच्चा — काल करके। त सरीरं — उस शरीर को। विप्पजहित्ता — त्याग कर। अच्चुए कप्पे — अच्युत नामा बारहवे देवलोक मे। देवत्ताए — देवपने। उववन्ना — उत्पन्न हुए। ण — वाक्यालकार मे है। तओ — तदनन्तर। आउक्खएण — देवलोक की आयु का क्षय करक। भव० — देव भव का क्षय करके। ठि० — देव स्थिति का क्षय करके। चुए — वहा से च्यवे और। चइत्ता — च्यव कर-च्युत होकर। महविदेहावासे — महाविदेह क्षेत्र मे। चरमेणं — अन्तिम। उस्सासेण — श्वासोच्छ्वास से। सिज्झिस्सति — सिद्ध होगे। बुज्झिस्सति — बुद्ध होंगे। मुच्चिस्सति — कर्मो से मुक्त होगे। परिनिव्वाइस्संति — निर्वाण को प्राप्त होगे। सव्व दुक्खाणमंत करिस्सति — सर्व प्रकार के दुखो का अन्त करेंगे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के माता पिता भगवान पार्श्वनाथ के साधुओं के श्रमणोपासक-श्रावक थे। उन्होने बहुत वर्षो तक श्रावक धर्म का पालन करके छै जीवनिकाय की रक्षा के निमित्त आलोचना करके, आत्म-निन्दा और आत्मगर्हा करके पापो से प्रतिक्रमण कर के-पीछे हटकर के, मूल और उत्तर गुणो की शुद्धि के लिए प्रायश्चित ग्रहण करके, कुशा के आसन पर वैठकर, भक्त प्रत्याख्यान नामक अनशन को स्वीकार किया। और अन्तिम मारणान्तिक शारीरिक सलेखना द्वारा शरीर को सुखाकर अपनी आयु पूरी करके उस औदारिक शरीर को छोड़ कर अच्यत नामक १२ व देवलोक मे देवपने उत्पन्न हुए। तदनन्तर वहा से देव सम्बन्धि आयु, भव और स्थिति का क्षय करके

वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र मे चर्म श्वासोच्छ्वास द्वारा सिद्ध-बुद्ध मुक्त एवं परिनिर्वृत होगे और सर्वप्रकार के दु.खो का अन्त करेंगे ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि भगवान महावीर के माता-पिता जैन श्रावक थे, वे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के उपासक थे । इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के पूर्व भी जैन धर्म का अस्तित्व था । अतः भगवान महावीर उसके संस्थापक नहीं, प्रत्युत जैन धर्म के प्रचारक थे, अनादि काल से प्रवहमान धार्मिक प्रवाह को प्रगति देने वाले थे । उनका कुल जैनधर्म से सस्कारित था । अत भगवान के माता-पिता के लिए 'पार्श्वापत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । 'अपत्य' शब्द शिष्य एवं सन्तान दोनों के लिए प्रयुक्त होता रहा है ।

महाराज सिद्धार्थ एव महाराणी त्रिशला श्रावक धर्म का आराधन करते हुए अन्तिम समय में विधि पूर्वक आलोचना एवं अनशन ग्रहण करक १२ वें स्वर्ग में गए और वहां से महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर मोक्ष जाएंगे । इससे स्पष्ट है कि साधु एव श्रावक दोनों मोक्ष मार्ग के पथिक हैं । चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श करने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि वह आत्मा अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करेगा । यह ठीक है कि सम्यक्त्व एवं श्रावकत्व की साधना से ऊपर उठकर ही आत्मा निर्वाण पद को पा सकती है । श्रावक की साधना में मुक्ति प्राप्त नहीं होती । क्योंकि,उक्त साधना में आत्मा पचम गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ती और समस्त कर्म बन्धनों एवं कर्म–जन्य साधनों पे सर्वथा मुक्त होने के लिए१४वे गुणस्थान को स्पर्श करना आवश्यक है । और उस स्थान तक साधुत्व की साधना करके ही पहुंचा जा सकता है । अत. भगवान के माता-पिता यहां के आयुष्य को पूरा करके १२ वें स्वर्ग मे गए, वहां से महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्य भव करके दीक्षा ग्रहण करेंगे और श्रमणत्व की साधना करके समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ कर सिद्ध—बुद्ध एव मुक्त बनेंगे ।

कल्पसूत्र की सुबोधिका वृत्ति में लिखा है कि आवश्यक निर्युक्ति में बताया है कि भगवान के माता-पिता चौथे स्वर्ग में गए और आचाराग में १२ वां स्वर्ग बताया गया है॥ । यदि निर्युक्तिकार ने चौथे स्वर्ग का उल्लेख चतुर्थ जाति के (वैमानिक)

---

॥ अष्टाविंशति वर्षातिक्रमे भगवतो मातापितरौ आवश्यकाभिप्रायेण तूर्यं स्वर्गं आचाराङ्गाभिप्रायेण तु अनशनेन अच्युत गतौ । —कल्पसूत्र सुबोधिका वृत्ति ।

देवों के रूप में किया है, तब तो आचारांग से विपरीत नहीं कहा जा सकता । क्योंकि १२ वां स्वर्ग वैमानिक देवों मे ही समाविष्ट हो जाता है और यदि उनका अभिप्राय चौथे देवलोक से ही है तो वह मान्य नहीं हो सकता । क्योंकि आगम मे स्पष्ट रूप से १२ वें स्वर्ग का उल्लेख किया गया है । अत आगम का कथन ही प्रामाणिक माना जा सकता है।

अब भगवान के दीक्षा महोत्सव का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भ० नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसित्तिकट्टु अगारमज्झे वसित्ता अम्मापिऊहिं कालगएहिं देवलोगमणुपत्तेहिं, समत्तपइन्ने चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुवन्नं चिच्चा बलं चिच्चा वाहणं चिच्चा धणकणगरयण-संतसारसावइज्जं विच्छड्डित्ता विग्गोवित्ता विस्साणित्ता दायारेसु दाणं दाइत्ता परिभाइत्ता संवच्छरं दलइत्ता जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं, हत्थुत्तरा० जोग० अभिनिक्खमणाभिप्पाए यावि हुत्था ।**

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः ज्ञात. ज्ञातपुत्रः ज्ञातकुलनिर्वृत्तः विदेह. विदेहदत्तः विदेहार्चः विदेहसुकुमालः त्रिंशद् वर्षाणि विदेहे इति कृत्वा अगारमध्ये उषित्वा अम्बापित्रोः काल-गतयोः देवलोकमनुप्राप्तयोः समाप्तप्रतिज्ञः त्यक्त्वा हिरण्यं त्यक्त्वा सुवर्णं, त्यक्त्वा बलं, त्यक्त्वा वाहनं, त्यक्त्वा धनकनकरत्नसत्सारस्वा-पतेयं विच्छर्द्य विगोप्य विश्राण्य दातृषु दानं दत्वा परिभाज्य सम्वत्सरं दत्त्वा

यः स हेमन्तानां प्रथमो मासः प्रथमः पक्षः मार्गशीर्षबहुलः तस्य मार्गशीर्ष-बहुलस्य दशमीपक्षेण हस्तोत्तरानक्षत्रेण योगमुपागतेन अभिनिष्क्रमणाभिप्रायश्चापि अभवत्।

**पदार्थ—तेण कालेणं तेणं समएणं**—उस काल और उस समय में। **समणे भगवं महावीरे**—श्रमण भगवान महावीर। **नाए** ज्ञात-प्रसिद्ध। **नायपुत्ते**—ज्ञात पुत्र। **नाय कुल निव्वते**—ज्ञात कुल में चन्द्रमा के समान आल्हाद उत्पन्न करने वाले। **विदेहे**—वज्र नाराच-सहनन तथा समचतुरस्र संस्थान के अति सुन्दर होने से विदेह-अर्थात् विशिष्ट देह-शरीर वाले। **विदेहदिन्ने**—त्रिशला देवी के पुत्र होने से विदेह दिन्न अर्थात् भगवान को विदेह दिन्न या विदेह दत्त कहते हैं। **विदेहजच्चे**—विदेहार्चे-अर्थात् त्रिशला माता के शरीर से उत्पन्न होने या कामदेव पर विजय प्राप्त करने से भगवान को विदेहार्च कहा गया है। **विदेहसूमाले**—विदेहसुकुमाल अर्थात् गृहस्थावास में अतिसुकुमार होने से विदेह सुकुमाल भी कहते हैं ऐसे भगवान। **तीसं वासाइं**—तीस वर्ष पर्यन्त। **विदेहंसित्तिकट्टु**—घर में इस प्रकार से किया। **अगार मज्झे**—घर के मध्य में। **वसित्ता**—निवास कर के। **अम्मा पिऊहिं**—माता पिता के। **कालगएहिं**—स्वर्गवास होने और। **देवलोगमणुपत्तेहिं**—देवलोक को प्राप्त करने से। **समत्त-पइन्ने**—भगवान की प्रतिज्ञा समाप्त होगई। भगवान ने गर्भ में यह प्रतिज्ञा की थी कि माता पिता के रहते हुए मैं दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा। अत एव इस प्रतिज्ञा के समाप्त होने पर। **चिच्चा-हिरन्न**—भगवान हिरण्य को छोड कर। **चिच्चा सुवण्णं**—सुवर्ण को छोड कर। **चिच्चा बल**—बल सेना को छोड कर। **चिच्चा वाहण**—वाहन को छोड कर अर्थात् पालकी आदि की सवारी का त्याग कर के तथा। **धणकणगरयणसंतसारसावइज्ज**—धन, कनक, रत्न आदि सार भूत लक्ष्मी को। **विच्छड्डित्ता**—छोड कर। **विग्गोवित्ता**—धन को प्रकट कर तथा। **विसा-णित्ता**—दान देकर। **दायारेसु दाणं दाइत्ता**—याचकों को देकर। **परिभाइत्ता**—ज्ञाति जनों में बांट कर और। **संवच्छरं दलइत्ता**—साम्वत्सरिक दान देकर। **जे**—जो। **से**—वह। **हेमंताण**—हेमन्त ऋतु का। **पढमे मासे**—प्रथम मास। **पढमे पक्खे**—प्रथम पक्ष। **मग्गसिर बहुले**—मार्ग शीर्ष कृष्ण पक्ष। **तस्सणं**—उस। **मग्गसिरबहुलस्स**—मार्ग शीर्ष कृष्ण पक्ष की। **दसमीपक्खेण**—दशमी के दिन। **हत्थुत्तरा०**—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ। **जोग०**—चन्द्रमा का योग आने पर। **अभिनिक्खमणभिप्पाए यावि होत्था**—भगवान के मन में दीक्षा लेने का संकल्प उत्पन्न हुआ।

**मूलार्थ**—उस काल और उस समय में श्रमण भगवान महावीर प्रसिद्ध ज्ञात पुत्र, ज्ञात कुल में चन्द्रमा के समान, वज्रऋषभनाराच संहनन के धारक, त्रिशला देवी के पुत्र, त्रिशला माता के अंगजात, घर में सुकुमाल अवस्था में रहने वाले तीस वर्ष तक घर में निवास करके माता

कल्प सूत्र की वृत्ति मे विस्तार से वर्णन किया गया है ।‡

अब भगवान द्वारा दिए गए सांवत्सरिक दान का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सवच्छरेण होहिइ अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदस्स ;
तो अत्थसंपया णं, पवत्तई पुव्वसूराओ ।१।

एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा ।
सूरोदयमाईयं दिज्जइ जा पायरासुत्ति ।२।

तिन्नेव य कोडिसया अट्ठासीइं च हुंति कोडीओ ।
असिइं च सयसहस्सा, एयं संवच्छरे दिन्नं ।३।

वेसमणकुंडधारी, देवा लोगंतिया महिड्ढीया ।
बोहिंति य तित्थयरं पन्नरससु कम्मभूमीसु ।४।

बंभंमि य कप्पंमी बोद्धव्वा कण्हराइणो मज्झे ।
लोगंतिया विमाणा, अट्ठसु वत्था असंखिज्जा ।५।

---

‡ विच्छड्डइत्ता-विच्छर्द्य—विशेषेण त्यक्त्वा, पुन. किं कृत्वा ? विगोवइत्ता-विगोप्य-तदेव गुप्त सज्ज्ञानातिशयात् प्रकटीकृत्येति भावः, अथवा विगोप्य—कुत्सनीयमेतदस्थिरत्वादित्युक्त्वा, पुनः किं कृत्वा ? दाण दायारेहिंपरिभाइत्ता-दीयते इति दानं तत् दायाय-दानार्थं आच्छंति आगच्छन्तीति दायारा-याचकास्तेभ्य परिभाज्य विभागैर्दत्वा, यद्वा परिभाव्य—आलोच्य, इदं अमुकस्य देय, इदं अमुकस्यैव विचार्येत्यर्थं. पुनः किंकृत्वा ? दाण दाइयाणं परिभाइत्ता—दानं धनं दायिका-गोत्रिकास्तेभ्य· परिभाज्य-विभागशो दत्त्वा इत्यर्थः ।

—कल्पसूत्र, सुबोधिका वृत्ति ।

एए देवनिकाया भगवं बोहिंति जिणवरं वीरं ।
सव्वजगज्जीवहियं अरिहं ! तित्थं पवत्तेहि ।६।

छाया—सम्वत्सरेण भविष्यति अभिनिष्क्रमण तु जिनवरेन्द्रस्य ।
ततः अर्थसम्पदा प्रवर्तते पूर्वं सूर्यात् ।१।
एकाहिरण्यकोटिः अष्टैव अन्यूनकाः शतसहस्राः ।
सूर्योदयादादौ दीयते या प्रातराश इति ।२।
त्रीण्येव च कोटि शतानि, अष्टाशीतिश्च भवन्ति कोटयः ।
अशीतिश्च शत सहस्राणि एतत् सम्वत्सरे दत्तम् ।३।
वैश्रमणकुण्डलधरा देवाः, लोकान्तिका महर्धिकाः ।
बोधयन्ति च तीर्थकर, पंचदशसु कर्मभूमिषु ।४।
ब्राह्मे च कल्पे बोधव्याः कृष्णराजेः मध्ये ।
लोकान्तिका विमानाः अष्टसु विस्ताराः असंखेयाः ।५।
एते देवनिकायाः भगवन्तं बोधयन्ति जिनवरं वीरम् ।
सर्वजगज्जीवहित, अर्हन् ! तीर्थं प्रवर्तय ।६।

पदार्थ—अभिनिक्खमणतु—दीक्षा लेने का समय । जिणवरिंदस्स—जिनेन्द्र देव का । संवच्छरेण होहिइ—आज से एक वर्ष पश्चात् होगा । तो—तत् पश्चात् । अत्थ संपयाणं-अर्थ संपदा-धन सम्पति का दान । पुव्वसूराओ पवत्तइ—जब पूर्व दिशा में सूर्य का उदय होता है तब से आरम्भ होता है ।

मूलार्थ—श्री भगवान दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले साम्वत्सरिक दान-वर्षी दान देना आरम्भ कर देते हैं, और वे प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन चढने तक दान देते हैं।

पदार्थ—एगाहिरण्ण कोडी—एक क्रोड़ मुद्रा और । अणूणगा—सम्पूर्ण । अट्ठेव—आठ ही । सयसहस्सा—लाख अधिक मुद्रा का दान । सूरोदयमाईयं—सूर्योदय से लेकर । जा—जो । पायरासुति—एक प्रहर पर्यन्त । दिज्जइ—दिया जाता है ।

मूलार्थ—एक क्रोड आठ लाख मुद्रा का दान सूर्योदय से लेकर एक पहर पर्यन्त दिया जाता है।

पदार्थ—तिन्नेव—तीन। य—पुनः। कोडिसया—सौ क्रोड। च—और। अट्ठासीइं हुंति कोडीओ—अठासी ८८ क्रोड होते है। च—पुनः-फिर। असिइसयसहस्सा—अस्सी ८० लाख एव। संवच्छरेदिन्नं—भगवान ने एक वर्ष मे इतनी स्वर्ण मुद्रा दान मे दी।

मूलार्थ—भगवान ने एक वर्ष मे ३८८ क्रोड ७० लाख मुद्राका दान दिया।

पदार्थ—वेसमण कुण्डधारी देवा—कुण्डल धारण करने वाले वैश्रमण देव और। महिड्ढिया—महा ऋद्धि वाले। लोगंतिया—लोकान्तिक देव। पन्नरससुकम्मभूमिसु—१५ कर्म भूमि में होने वाले। तित्थयर—तीर्थंकर भगवान को। य—पुनः। बोहिंति—प्रतिबोधित करते हैं।

मूलार्थ—कुण्डल के धारक वैश्रमण देव और महाऋद्धि वाले लोकातिक देव १५ कर्म भूमि में होने वाले तीर्थंकर भगवान को प्रतिबोधित करते है।

पदार्थ—य—पुनः। बंभमिकप्पमी—ब्रह्म कल्प में। कण्हराइणोमज्झे—कृष्ण राजि के मध्य में। अट्ठसु—आठ प्रकार के। असंखिज्जा—असंख्यात। वत्था—विस्तार वाले। लोगंतिया विमाणा—लोकान्तिक देवो के विमानो को। बोधव्वा—जानना चाहिए।

मूलार्थ—ब्रह्मकल्प मे कृष्णराजि के मध्य मे आठ प्रकार के लोकान्तिक विमान असंख्यात विस्तार वाले जानने चाहिए।

पदार्थ—एएदेव निकाया—यह सब देवो का समूह। भगवं—भगवान। जिनवर—जिनवर। वीरं—वीर को। बोहिंति—बोध देते हैं। अरिह—हे अर्हन्! सव्वजगज्जीवहियं—सर्व जगत के जीवों को हितकारी। तित्थ—तीर्थ की। पवत्तेहि—प्रवृत्ति करो? अर्थात् संसारवर्ति समस्त जीवो के हित के लिए धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करो।

मूलार्थ—यह सब देवो का समूह जिनेश्वर भगवान महावीर को बोध देने के लिए सविनय निवेदन करते है कि हे अर्हन् देव! आप जगत् वासी जीवो के हितकारी तीर्थ-धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करो।

हिन्दी विवेचन

पहली तीन गाथाओं मे यह बताया गया है कि भगवान एक वर्ष तक प्रतिदिन सूर्योद[illegible] एक पहर तक एक करोड़, आठ लाख स्वर्ण मुद्रा का दान करते

हैं। उन्होंने एक वर्ष में ३८८ क्रोड़ ८० लाख स्वर्ण मुद्रा का दान दिया था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल साधु को दिया जाने वाला आहार-पानी वस्त्र-पात्र आदि का दान ही महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि अनुकम्पा दान भी अपना महत्व रखता है। यदि दीन दुःखी एवं अपाहिज को दान देना पाप का एवं संसार बढ़ाने का कार्य होता, तो संसार का त्याग करने वाले तीर्थंकर ऐसा क्यों करते। भगवान द्वारा दिया गया दान इस बात को स्पष्ट करता है कि अनुकम्पादान भी पुण्य बन्ध एवं आत्म विकास का साधन है। इससे आत्मा की दया एवं अहिंसक भावना का विकास होता है और इस वृत्ति का विकास आत्मा के लिए अहितकर नहीं हो सकता। आगमों में भी अनेक स्थलों पर अनुकम्पा दान का उल्लेख मिलता है। तुंगिया नगरी के श्रावकों की धर्म भावना एवं उदारता का उल्लेख करते हुए उनके लिए 'अभंगद्वारे' का विशेषण दिया गया है। अर्थात् उनके घर के दरवाजे अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। इससे स्पष्ट होता है कि वे बिना किसी सांप्रदायिक एवं जातीय भेद भाव के अपने द्वार पर आने वाले प्रत्येक याचक को यथाशक्ति दान देते थे। अतः तीर्थंकरों के द्वारा दिए जाने वाले दान को केवल प्रशंसा प्राप्त करने के लिए दिया जाने वाला दान कहना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि, महापुरुष कभी भी प्रशंसा के भूखे नहीं होते। वे जो कुछ भी करते हैं, दया एवं त्याग भाव से प्रेरित होकर ही करते हैं। अतः भगवान के दान में उनकी उदारता, जगत्वत्सलता एवं अनुकम्पा दान के महत्व का उज्ज्वल आदर्श हमारे सामने उपस्थित होता है, जो प्रत्येक धर्म-निष्ठ सद्गृहस्थ के लिए अनुकरणीय है।

चौथी गाथा में दो बातों का उल्लेख किया गया है—१ भगवान एक वर्ष में जितना दान करते हैं, उस धन की व्यवस्था वैश्रमण देव करते हैं। उनके आदेश से उनकी आज्ञा में रहने वाले लोकपाल देव उनके कोष को भर देते हैं। यह परंपरा अनादि काल से चली आ रही है। प्रत्येक तीर्थंकर के लिए ऐसा किया जाता है। २ प्रत्येक तीर्थंकर भगवान के हृदय में जब दीक्षा लेने की भावना पैदा होती है, तब लोकान्तिक देव अपनी परंपरा के अनुसार आकर उन्हें धर्म तीर्थ की स्थापना करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

कुछ प्रतियों में 'वेसमण कुण्डधारी' के स्थान पर 'वेसमण कुण्डलधरा' पाठ भी उपलब्ध होता है।

पांचवीं गाथा में लोकान्तिक देवों के निवास स्थान का उल्लेख किया गया है। अरुणोदधि समुद्र से उठकर तमस्काय ब्रह्म (५ वें) देवलोक तक गई है और उस

में नव तरह की कृष्ण राजिएं हैं वे ही नव लौकान्तिक देवों के विमान माने गए । उन्हीं विमानों में लौकान्तिक देवों की उत्पत्ति होती है । ब्रह्म देवलोक के समीप होने से उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि लोक ससार का अन्त करने वाले अर्थात् एक भव करके मोक्ष जाने वाले होने के कारण इन्हें लौकान्तिक कहते हैं*। ये नव प्रकार के होते हैं—१ सारस्वत, २ आदित्य, ३ वन्हय, ४ वरुण, ५ गर्दतोय, ६ त्रुटित, ७ अव्याबाध, ८ आग्नेय और ९ अरिष्ट।

छठी गाथा में यह बताया गया है कि लौकान्तिक देव अपने आवश्यक आचार का पालन करने के लिए तीर्थंकर भगवान को तीर्थ की स्थापना करने की प्रार्थना करते हैं। यह तो स्पष्ट है कि गृहस्थ अवस्था में भी भगवान तीन ज्ञान से युक्त होते हैं और अपने दीक्षा काल को भली-भांति जानते है । अत: उन्हें सावधान करने की आवश्यकता ही नहीं, है। फिर भी जो लौकान्तिक देव उन्हें प्रार्थना करते हैं, वह केवल अपनी परम्परा का पालन करने के लिए ही ऐसा करते हैं।

साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका चारों को तीर्थ कहा गया है और इस चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही भगवान को तीर्थंकर कहते हैं‡।

इसके आगे का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्—तओ णं समणस्स भ० म० अभिनिक्खमणाभिप्पायं जाणित्ता भवणवइवा० जो० विमाणवासिणो देवा य देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं सएहिं २ नेवत्थेहिं सए० २ चिंधेहिं सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबलसमुदएणं सयाइं २ जाणविमाणाइं दुरूहंति सया० दुरूहित्ता अहाबायराइं पुग्गलाइं**

---

* लोकान्ते—ससारान्ते भवा' लोकान्तिका एकावतारत्वात्।

—कल्पसूत्र, सुबोधिका वृत्ति (उपा० विनय विजय जी)

‡ तित्थं भंते ! तित्थे तित्थंकरे तित्थे ? गोयमा ! अरहा ताव नियमा तित्थगरेति । तित्थे पुण चउवण्ण इण्णे समणसंघे, तंजहा-समणा, समणीओ, सावगा, सावियाओ ।

भगवती सूत्र २०, ८

परिसाडाते २ अहासुहमाइं पुग्गलाइं परियाइंति २ उड्ढं उप्पयंति उड्ढं उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए सिग्घाए चवलाए तुरियाए दिव्वाए देवगईए अहे णं ओवयमाणा २ तिरिएणं असंखिज्जाइं दीवसमुद्दाइं वीइक्कममाणा २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे तेणेव उवागच्छंति २ जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसे तेणेव उवागच्छंति, उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तेणेव झत्ति वेगेण ओवइया।

छाया—ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अभिनिष्क्रमणाभिप्रायं ज्ञात्वा भवनपतिवाणव्यन्तरज्योतिषिविमानवासिनो देवाश्च देव्यश्च स्वकैः २ रूपैः स्वकैः २ नेपथ्यैः स्वकैः २ चिन्हैः सर्वर्द्ध्या सर्वद्युत्या सर्वबलसमुदयेन स्वकानि २ यानविमानानि आरोहन्ति स्वकानि यानविमानानि आरुह्य यथा-बादरान् (असारान्) पुद्गलान् परिशातयन्ति परिशात्य यथासूक्ष्मान् पुद्ग-लान् पर्याददते पर्यादाय ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति ऊर्ध्वम् उत्पत्य तया उत्कृष्टया शीघ्रया चपलया त्वरितया दिव्यया देवगत्या अधः अवपतन्तः तिर्यग् असंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रमन्तः २ यत्रैव जम्बूद्वीपो द्वीपः तत्रैवोपागच्छन्ति, उपागत्य यत्रैव उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसन्निवेशः तत्रैव उपागच्छन्ति उत्तर-क्षत्रियकुण्डपुरसन्निवेशस्य उत्तरपौरस्त्यो दिग्भागः तत्रैव झटिति वेगेन अवपतिताः।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकारार्थक है। तओ—तत् पश्चात्। समणस्स—श्रमण। भगवओ—भगवान। महावीरस्स—महावीर के। अभिनिक्खमणाभिप्पायं—दीक्षा लेने के अभिप्राय को। जाणित्ता—जानकर। भवणवइ—भवनपति। वा०—वाणव्यन्तर। जो०—ज्योतिषी। विमाणवासिणो—वैमानिक। देवा—देव। य—और। देवीओ—देवियें। सएहिं २—अपने २। रूवेहिं—रूपों से। सएहिं २—अपने २। नेवत्थेहिं—वेशों से। सए० २ चिंधेहिं—

अपने २ चिन्हो से युक्त होकर तथा। सव्विड्ढीए - सर्व ऋद्धि से। सव्वजुईए—सर्व ज्योति से। सव्वबलसमुदएण—सर्व बल समुदाय से। सयाइं २ जाण विमाणाइं—अपने २ विमनो पर। दुरूहति—चढते हैं। सया०—अपने २ विमानो पर। दुरुहित्ता—चढकर। अहाबाय-राइं—यथा बादर अर्थात् स्थूल-निस्सार। पुग्गलाइ—पुद्गलो को। परिसाडति—गिरा कर। अहासुहमाइ—सूक्ष्म। पुगलाइ—पुद्गलो को। परियाइति २—ग्रहण करते हैं और उन्हे ग्रहण करके। उड्ढ—ऊपर ऊंचे। उप्पयति—उत्पतन करते हैं। उड्ढउप्पइत्ता—ऊचे उत्पतन कर के। ताए—उस। उक्किट्ठाए—उत्कृष्ट। सिग्घाए—शीघ्र। चवलाए—चपल। तुरियाए—त्वरित। दिव्वाए—दिव्य। देवगईए—देव गति से। अहेण—नीचे की ओर। ओवयमाणा २—उतरते हुए। तिरिएण—तिर्यक् लोक मे स्थित। असखिज्जाइ—असख्यात। दीवसमुद्दाइं—द्वीप समुद्रो को। वीइक्कममाणा—व्यतिक्रम करते हुए—उल्लघते हुए। जेणेव—जहा पर। जंबुद्दीवे दीवे—जम्बू द्वीप नामा द्वीप है। तेणेव—वहा पर। उवागच्छति—आते हैं, आकर। जेणेव—जहा पर। उत्तरखत्तियकण्डपुरसंनिवेसे—उत्तर क्षत्रिय कुंड पुर सन्निवेश है। तेणेव—वहा। उवागच्छति—आते हैं फिर। उत्तरखतियकुडपुरसनिवेसस्स—उत्तर क्षत्रिय कुड पुर सन्निवेश के। उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए—उत्तर पूर्व दिशा के मध्य भाग अर्थात् ईशान कोण मे जो स्थान है। तेणेव—वहा पर। झत्तिवेगेण—बडे तीव्र वेग से। ओवइया—उतरते है।

मूलार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान महावीर स्वामी के दीक्षा लेने के अभिप्राय को जानकर भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव और देविय अपने अपने रूप, वेष और चिन्हो से युक्त होकर तथा अपनी २ सर्वप्रकार की ऋद्धि, द्युति और बल समुदाय से युक्त होकर अपने २ विमानो पर चढ़ते है और उनमें चढ़कर बादर पुद्गलो को छोड़कर सूक्ष्म पुद्गलो को ग्रहण करके ऊंचे होकर उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित और दिव्य प्रधान देवगति से नीचे उतरते हुए तिर्यक् लोक मे स्थित असंख्यात द्वीप समुद्रो को उल्लघन करते हुए जहां पर जम्बूद्वीप नामक द्वीप है वहा पर आते हैं। जम्बूद्वीप मे भी उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में आकर उसके ईशान कोण में जो स्थान है वहा पर बडी शीघ्रता से उतरते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि भगवान के दीक्षामहोत्सव में सम्मिलित

सीसरत्तचंदणाणं अणुलिंपइ २ ईसि निस्सासवायवोज्झं वरनयर-पट्टणुग्गयं कुसलनरपसंसियं अस्सलालापेलवं छेयारियकणग-खइयंतकम्मं हंसलक्खणं पट्टजुयलं नियंसावेइ २ हारं अद्धहारं उरत्थं नेवत्थं एगावलि पालंबसुत्तं पट्टमउडरयणमालाउ आविं-धावेइ आविंधावित्ता गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं मल्लेणं कप्प-रुक्खमिव समलंकरेइ २ त्ता दुच्चंपि महया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ २ एगं महं चंदप्पहं सिवियं सहस्सवाहणियं विउव्वति, तंजहा-ईहा-मिग-उसभ-तुरग-नर-मकर-विहग- वानर कुंजर – रुरु-सरभ-चमर-सद्दूलसीह-वणलय-भत्तिचित्तलय-विज्जाहर - मिहुणजुय-लजंतजोगजुत्तं अच्चीसहस्समालिणीयं सुनिरूवियं मिसिमिसिंत—रूवगसहस्स कलियं ईसिं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयण लेसं मुत्ताहलमुत्ताजालंतरोवियं तवणीयपवरलंबूसगपलंबतमुत्त-दामं हारद्धारभूसणसमोणयं अहियपिच्छणिज्जं पउमलयभत्तिचित्तं असोगवणभत्तिचित्तं कुंदलयभत्तिचित्तं नाणालयभत्ति० विरइयं सुभं चारुकंतरूवं नाणामणिपंचवन्नघंटापडायपडिमंडियग्ग-सिहर पासाईयं दरिसणिज्जं सुरूवं ।

छाया—ततः शक्रः देवेन्द्रः देवराजः शनैः २ यान विमानं प्रस्थापयति शनैः २ यान विमान प्रस्थाप्य शनैः २ यानविमानतः प्रत्यवतरति २, शनैः २ एकातमपक्रामति एकान्तमपक्रम्य महता वैक्रियेण समुद्घातेन समव-

प्रासादीयां दर्शनीया सुरूपाम् ।

पदार्थ—ण—वाक्यालंकारार्थक है । तओ—तदनन्तर । सक्के—शक्र । देविंदे—देवेन्द्र । देवराया—देवराज । सणियं २—शनैः-शनैः-धीरे धीरे । जाण विमाण—विमान । पट्ठवेति—स्थापित करता है फिर । सणियं २—धीरे धीरे । जाण विमाणं—विमान को । पट्ठवेत्ता—चार अंगुल प्रमाण भूमि से ऊंचा स्थापित करके फिर । सणिय—शनैः २ । जाणविमाणाओ—विमान से । पच्चोरुहति—नीचे उतरता है और वहा उतर कर । सणिय २—शनैः २ । एगंतमवक्कमइ—एकान्त मे अपक्रमण करता है । एगंतमवक्कमित्ता—एकान्त मे अपक्रमण करके । महया—महान् । वेउव्विएण—वैक्रिय । समुग्घाएणं—समुद्घात को । समोहणइ—फोडता है अर्थात् वैक्रिय समुद्घात करता है और वैक्रिय समुद्घात करके । एगं—एक । महं—महान-वडा । नानामणिकणगरयणभत्तिचित्त—नाना प्रकार के मणि, कनक, रत्नादि से चित्रित दीवार वाले । सुभं—शुभ । चारु—मनोहर । कतरूवं—कान्त रूप वाले । देवच्छदयं—देवच्छन्दक को । विउव्वइ—बनाता है । तस्सण—उस । देवच्छंदगस्स—देवच्छदक के—चौंतरे के । बहुमज्झदेसभाए—मध्यम देश भाग में अर्थात् मध्य में । एगमहं—एक वडा भारी । सपायपीढं—पाद पीठ से युक्त । नानानमणिकणगरयणभत्तिचित्त—नाना विध मणि, स्वर्ण, रत्नादि से चित्रित भित्ति वाले । सुभं—शुभ । चारुकंतरूव—मनोहर कान्त स्वरूप । सिंहासण विउव्वइ—सिंहासन को बनाता है उसे बनाकर । जेणेव—जहां पर । समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर हैं । तेणेव—वहा पर । उवागच्छइ—आता है और वहां आकर । समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को । तिक्खुत्तो—तीनबार । आयाहिण—प्रादक्षिण । पयाहिणं—प्रदक्षिणा । करेइ—करता है और प्रदक्षिणा करके । समण भगव महावीर—श्रमण भगवान महावीर को । वंदइ—वन्दना करता है । णमसइ—नमस्कार करता है फिर वन्दना नमस्कार करके । समण भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को । गहाय—लेकर । जेणेव—जहा पर । देवच्छदए—देवच्छंदक है । तेणेव—वहा पर । उवागच्छइ-आता है और वहा आकर । सणियं २ शनैः २ । पुरत्थाभिमुहं—पूर्वाभिमुख-पूर्व दिशा को मुख करवा कर भगवान को । सीहासणे—सिंहासन पर । निसीयावेइ—बैठाता है फिर । सणियं सणिय—शनैः २ । निसीयावित्ता—उन्हे वहा बैठा कर । सयपागसहस्सपागेहिं—शत और सहस्र औषधियो के योग से बने हुए शतपाक, सहस्रपाक नाम से प्रसिद्ध । तिल्लेहिं—तैलो की । अब्भगेइ—मालिश करता है और मालिश करके । गंधकासाईएहिं—सुगन्धि युक्त द्रव्यो से । उल्लोलेइ—उद्वर्तन करता है और उद्वर्तन करने के पश्चात् । सुद्धोदएण—शुद्ध-निर्मल जल से । मज्जावेइ २—स्नान कराता है उन्हे स्नान कराकर फिर सुगन्ध युक्त वस्त्र से शरीर को पोछता है और शरीर पोछ कर । जस्स मुल्लं—जिसका मूल्य । णं—वाक्यालकार में है । सयसहस्सेणं

साहिएणं—एक लख सुवर्ण मुद्रा से भी अधिक है। तिपडोलातित्तिएणं—इस प्रकार बहुमूल्य रूप सीतेण—अत्यन्त शीतल। गोसीसरत्तचदणेणं—गोशीर्ष रक्त चन्दन से। अणुलिपइ—लेपन करता है गोशीर्ष चन्दन का लेपन करके। ईसिं—थोडा। निस्सासवायवोज्झं—नाक की हवा से उडने वाले। वर नयरपट्टणुग्गय—विशिष्ट शहर में निर्मित एव। कुसलनरपसंसियं—कुशल पुरुषो द्वारा प्रशंसित। अस्सलालापेलव—अश्व की लाला के समान श्वेत और मनोहर। छेयारिय कणगखइयत कम्म—विद्वान शिल्पाचार्य द्वारा जिस वस्त्र के किनारे सुवर्ण की तारो से खचित हैं। हंसलक्खण—हंसके समान श्वेत वर्ण वाला ऐसा। पट्टजुयल—वस्त्र युगल को। नियसावेइ—पहनाता है उसे पहनाकर। हार अद्धहारं—हार-अठारह लडी का, अर्द्धहार-नौ लडी का। उरत्य—वक्षस्थल मे। नेवत्थं—सुन्दर वेष। एगावलिं—एकावली हार। पालंबसुत्तं—प्रालम्बसूत्र अर्थात लटकते हुए झुमके। पटटमउडरयणमालाउ—कटि सूत्र, मुकुट, रत्न मालाएं आदि। आविधावेइ—पहनाता है। अविंध विता—उन्हें पहना कर फिर। गथिमवेढिमपुरिमसंघ इमेणं-ग्रन्थित, वेष्टित, पूरिम, और संघातिम इन चार प्रकार के पुष्पो की। मल्लेणं—मालाओ से विभूषित। कप्परुक्खमिव—कल्पवृक्ष की भाति। अलंकरेइ २ त्ता—भगवान को अलकृत करता है उन्हे अलंकृत करने के अनन्तर। दुच्चंपि—द्वितीय वार। महया—बहुत विस्तृत। वेउव्विय समुग्घाएणं—वैक्रिय समुद्घात। समोहणइ—करता है वह वैक्रिय समुद्घात करके। एगमहं—एक बडी। चंदप्पहं—चन्द्रप्रभा नाम की। सिवियं—शिविका। सहस्स वाहणियं—सहस्र वाहनिका अर्थात् हजार पुरुषो द्वारा उठाई जाने वाली पालकी को। विउव्वति—वैक्रिय समुद्घात से वनाता है जोकि विविध भाति के चित्रों से चित्रित की गई है। तं—जैसे कि। ईहा—वृक विशेष। मृग—हिरण। उसभ—वृषभ-वैल। तुरग—अश्व-घोड़ा। नर—मनुष्य। मकर—मगर मच्छ। विहग—पक्षी। वानर—बन्दर। कुंजर—हाथी। रुरु—मृग विशेष। सरभ—शरभ-अष्टपाद जीव विशेष और। चमर—चमरी गाय। सद्दूल—शार्दूल। सीह—सिंघ-शेर। वणलय—वनलता। भत्तिचित्तलय—भक्ति चित्र लता—नाना प्रकार की वन लताओ से चित्रित, अर्थात् इन चित्रो से वह शिविका चित्रित हो रही है, इसी प्रकार। विज्जाहर—विद्याधर तथा। मिहुणजुयल—मिथुन युगल अर्थात् स्त्री पुरुष का जोडा। जंत—यन्त्र विशेष का चित्र। जोगजुत्त—योगयुक्त अर्थात् युगलों से युक्त। अच्चीसहस्समालिणीयं—सहस्र सूर्य की किरणो से युक्त। सुनिरूविय—भली प्रकार से निरूपण किया है। मिसिमिसितरूवगसहस्सकलिय—प्रदीप्त सहस्ररूपो से युक्त जो। ईसिं—थोडा। भिसमाण—देदीप्यमान। भिब्भिसमाण-और अत्यन्त देदीप्यमान। चक्खुलोयणलेसं—चक्षुओ द्वारा जिसका तेज देखा नहीं जा सकता इस प्रकार की वह शिविका तथा। मुत्ताहल मुत्ताजालंतरोवियं—मुक्ताफल-मोती और मुक्ताजाल-मोतियो के जालो से युक्त तथा। तवणीयपवरलंबूसपलंवंतमुत्तदामं—सुवर्णमय पालडो युक्त चारो ओर लटकती हुई मोतियो की माला जिस मे दीख रही हैं और। हारद्धहार भसणसमोणयं—हार, अर्द्धहार आदि भूषणों से विभूषित। अहियपिच्छणिज्ज—अधिक प्रेक्षणीय

देखने योग्य। पउमलयभत्तिचित्तं—पद्मलता की भांति चित्रित। असोगवनभत्तिचित्तं—अशोक वन की भाति चित्रित। कुदलयभत्तिचित्त—कुन्दलता की भांति चित्रित। नाणालयभत्ति—चित्तं—नाना प्रकार की पुष्पलताओं की भाति चित्रित। विरइय—विरचित। सुभ—शुभ। चारुकतरूवं—मनोहर कान्त रूप, तथा। नाणामणिपचवन्नघटापडाय पडिमडियग्गसिहरं—नाना प्रकार की पाचवर्ण वाली मणियो, घण्टा तथा पताकाओ से जिसका शिखर भाग मडित हो रहा है अर्थात् पाच वर्ण की मणियो, घण्टियो और ध्वजा तथा पताकाओ से जिसका शिखर भाग सुशोभित हो रहा है इस प्रकार की। पासाइय—प्रासादीय। दरिसणिज्ज—दर्शनीय। सुरूवं—वह शिविका सुन्दर एव सुरूप वाली है।

**मूलार्थ**—तत् पश्चात् शक्र देवो का इन्द्र देवराज शनैः २ अपने विमान को स्थापित करता है, फिर शनै. २ विमान से नीचे उतरता है और एकान्त मे जाकर वैक्रिय समुद्घात करता है। उससे नाना प्रकार की मणियो तथा कनक, रत्नादि से जटित एक बहुत बड़े कान्त मनोहर रूप वाले देवछदक का निर्माण करता है। उस देवछन्दक के मध्य भाग मे नाना विध मणि, कनक, रत्नादि से खचित, शुभ, चारु और कान्तरूप एक विस्तृत पादपीठ युक्त सिहासन का निर्माण किया। उसके पश्चात् जहां पर श्रमण भगवान महावीर थे वहां वह आया और आकर भगवान को वन्दन—नमस्कार किया और श्रमण भगवान महावीर को लेकर देवछन्दक के पास आया और धीरे २ भगवान को उस देवछन्दक में स्थित सिहासन पर बैठाया और उनका मुख पूर्व दिशा की ओर रखा। शतपाक और सहस्र पाक तैलो से उनके शरीर की मालिश की और सुगन्धित द्रव्य से शरीर को उद्वर्तन करके शुद्ध निर्मल जल से भगवान को स्नान कराया, उसके बाद एक लाख की कीमत वाले विशिष्ट गोशीर्ष चन्दनादि का उनके शरीर पर अनुलेपन किया, उसके बाद भगवान को नासिका की वायु से हिलने वाले, तथा विशिष्ट नगरों मे निर्मित, प्रतिष्ठित व्यक्तियो द्वारा प्रशसित और कुशल कारीगरो के द्वारा स्वर्णतार से विभूषित, हस के समान श्वेत, वस्त्र युगल को पहनाया। फिर हार, अर्द्धहार पहनाए तथा एकावली हार, लटकती हुई मालायें, कटि सूत्र, मुकुट और

रत्नों की मालाये पहनाई । तदनन्तर ग्रन्थिम, वेष्टिम, पुरिम और संघातिम इन चार प्रकार की पुष्प मालाओं से कल्पवृक्ष की भान्ति भगवान को अलकृत किया ।

इस प्रकार अलकृत करने के पश्चात् इन्द्र ने पुनः वैक्रियसमुद्घात किया और उसमे चन्द्रप्रभा नाम की एक विराट् सहस्त्र वाहिनो शिविका (पालकी) का निर्माण किया । वह शिविका ईहामृग, वृषभ, अश्व, मगरमच्छ, पक्षो, बन्दर, हाथो, रुरु, शरभ, चमरो, शार्दूल और सिह आदि जोवो तथा वनलताओ एवं अनेक विद्याधरो के युगल, यत्र योग आदि से चित्रित थी । सूर्य ज्योति के समान तेजवालो, तथा रमणोय जगमगाती हुई, हजारो चित्रों से युक्त और देदीप्यमान होने के कारण मनुष्य उसको ओर देख नही सकता था, वह स्वर्णमय शिविका मोतियो के हारों से सुशोभित थी। उस पर मोतियों की सुदर मालाये भूल रही थी तथा पद्मलता, अशोकलता, कुन्दलता एव नाना प्रकार को अन्य बन लताओ से चित्रित थी । पाच प्रकार के वर्णोवाली मणियो, घटियो और ध्वजा पताकाओ से उसका शिखर भाग सुशोभित हो रहा था इसप्रकार वह शिविका दर्शनीय और परम सुन्दर थी ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे भगवान की दीक्षा के पूर्व शकेन्द्र द्वारा की गई प्रवृत्ति का दिग्-दर्शन कराया गया है । शक्रेन्द्र ने उत्तर वैक्रिय करके एक देवछन्दक बनाया और उस पर सिंहासन बनाकर भगवान को बैठाया और शतपाक एवं सहस्रपाक ( सौ या हजार विशिष्ट औषधियों एवं जड़ी-बूटियों से बनाया गया ) तैल स भगवान के शरीर की मालिश की, सुगन्धित द्रव्यों से उबटन किया और उसके बाद स्वच्छ, निर्मल एवं सुवासित जल से भगवान को स्नान कराया । उसके पश्चात् भगवान को बहुमूल्य एवं श्रेष्ठ श्वेत वस्त्र युगल पहनाया॥ और विविध आभूषणों से विभूषित करके हजार व्यक्तियों

---

॥ इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में पुरुष सिलाई किया हुआ वस्त्र कम पहनते थे । उपाशक दशाग मे श्रावको की वस्त्र मर्यादा में रखे गए वस्त्रों मे क्षेम युगल वस्त्र

द्वारा उठाई जाने वाली शक्रेन्द्र द्वारा बनाई गई विशाल शिविका ( पालकी ) पर भगवान को बैठाया। उस तरह शक्रेन्द्र ने अपनी भक्ति एवं श्रद्धा को अभिव्यक्त किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि महान पुरुषों को सेवा के लिए मनुष्य तो क्या देव भी सदा उपस्थित रहते हैं।

कुछ प्रतियों मे 'मज्जावेइ' के पश्चात 'गन्धकासाएहिं गायाइ लूहेइ लूहित्ता' पाठ भी उपलब्ध होता है और यह शुद्ध एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है। इसी तरह 'मुल्ल सवमहस्सेण तियडोल निक्तिएण' के स्थान पर 'पलसयसहस्सेणं तिफलो लाभितएण' पाठ भी उपलब्ध होता है।

इस विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सीया उवणीया जिणवरस्स, जरमरणविप्पमुक्कस्स।
ओसत्तमल्लदामा, जलथलयदिव्वकुसुमेहिं ।१।
सिबियाइ मज्झयारे दिव्वं वररयणरूवचिंचइयं।
सीहासणं महरिहं सपायपीढं जिणवरस्स ।२।
आलइयमालमउडो, भासुरबुंदी वराभरणधारी।
खोमियवत्थनियत्थो, जस्स य मुल्लं सयसहस्सं ।३।
छट्ठेण उ भत्तेणं अज्झवसाणेण सुंदरेण जिणो।
लेसाहिं विसुज्झंतो आरुहइ उत्तमं सीयं ।४।
सीहासणे निविट्ठो सक्कीसाणा य दोहि पासेहिं।
वीयंति चामराहिं, मणिरयणविचित्तदंडाहिं ।५।

---

का उल्लेख मिलता है एक वस्त्र पहनने के लिए और दूसरा चादर के रूप में ओढने के लिए। अन्य मत के ग्रथो में कृष्ण के लिए पीताम्बर का उल्लेख मिलता है। यह सूत्र उस युग की वस्त्र परम्परा पर प्रकाश डालता है।

पुव्विं उक्खित्ता, माणुसेहिं साहट्टु रोमकूवेहिं ।
पच्छा वहंति देवा, सुरअसुरगरुलनागिंदा ।६।

पुरओ सुरा वहंति असुरा पुण दाहिणंमि पासंमि ।
अवरे वहंति गरुला नागा पुण उत्तरे पासे ।७।

वणसडं व कुसुमियं पउमसरो वा जहा सरयकाले ।
सोहइ कुसुमभरेणं, इय गगणयलं सुरगणेहिं ।८।

सिद्धत्थवणं व जहा कणयारवणं व चंपयवणं वा ।
सोहइ कुसुमभरेणं इय गगणयलं सुरगणेहिं ।९।

वरपडहभेरिझल्लरिसंखसयसहस्सिएहिं तूरेहिं ।
गगणयले धरणियले तूरनिनाओ परमरम्मो ।१०।

ततविततं घणझुसिरं आउज्जं चउव्विहं बहुविहीयं ।
वाइंति तत्थ देवा, बहूहिं आनट्टगसएहिं ।११।

छाया—शिविका उपनीता, जिनवरस्य जरामरणविप्रमुक्तस्य ।
अवसक्तमाल्यदामा, जलस्थलजदिव्यकुसुमैः ।१।

शिविकाया मध्यभागे, दिव्य वररत्नरूपप्रतिविम्बितं ।
सिंहासनं महार्हं सपादपीठं जिनवरस्य ।२।

अलंकृतमालामुकुट भासुरशरीरो वराभरणधारी ।
परिहितक्षौमिकवस्त्र , यस्य च मूल्यं शतसहस्रम् ३।

षष्ठेन तु भक्तेन, अध्यवसानेन सुन्दरेण जिनः ।
लेश्याभिः विशुद्धान्तः, आरोहति उत्तमा शिविकां ।४।

सिंहासने निविष्टः शक्रेशानौ च द्वाभ्यां पार्श्वाभ्याम् ।
वोजयत. चामरैः मणिरत्नविचित्रदण्डैः ।५।

पूर्वम् उत्क्षिप्ता मानुषैः संहृष्टरोमकूपैः ।
पश्चाद् वहन्ति देवाः, सुरासुरगरुडनागेन्द्राः ।६।
पुरतः सुरा वहन्ति असुराः पुनः दक्षिणे पार्श्वे ।
अपरे वहन्ति गरुडाः नागाः पुनरुत्तरे पार्श्वे ।७।

वनषड मिव कुसुमितं, पद्मसर इव यथा शरत्काले ।
शोभते कुसुमभरेण, इति गगनतलं सुरगणैः ।८।

सिद्धार्थवनमिव यथा, कर्णिकारवनमिव चम्पकवनमिव ।
शोभते कुसुमभरेण, इति गगनतलं सुरगणैः ।९।

वरपटहभेरिझल्लरीशखशतसहस्त्रैः तूर्यः ।
गगनतले धरणीतले, तूर्य निनाद परमरम्यः ।१०।

ततविततं घनझुषिरम्, आतोद्यं चतुर्विध बहुविधं वा ।
वादयन्ते तत्र देवा., बहुभिः आनर्तक शतैः ।११।

पदार्थ—जिनवरस्स—जिनेश्वर की । जरमरणविप्पमुक्कस्स—जरा और मृत्यु से विमुक्ति के लिए । सीया—शिविका । उवणीया—लाई गई । जयलय दिव्वकुसुमेहिं—उसमे जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले दिव्य पुष्पो के समान वैक्रियलब्धि से उत्पन्न किए गए। पुष्पो से । ओसत्तमल्लदामा—गूथी हुई मालाये बान्धी गई । कहने का तात्पर्य यह है कि वैक्रियलब्धि जन्य पुष्पो की मालाओ से वह शिविका अलकृत हो रही है ।

सिवियाइ—शिविका के । मज्झयारे—मध्य भाग में । जिणवरस्स—जिनेश्वर का । दिव्वं–दिव्य तथा । वर रयण रूव चिंचइयं श्रेष्ठ रत्नो से प्रतिविम्बित तथा । महरिह–वहुमूल्यवान । सपायपीढ—पाद पीठिका सहित । सीहासण—सिंहासन है । अर्थात् शिविका के मध्य भाग मे भगवान के लिए एक दिव्य सिंहासन का निर्माण किया गया ।

आलयमालमउडो—मालाओं तथा मुकुट से अलंकृत होने से। भासुरबुंदी—जिनका शरीर देदीप्यमान हो रहा है। वराभरणधारी—उन्हों ने श्रेष्ठ आभूषणों को धारण कर रखा है। खोमियवत्थ नियत्थो—जो क्षौमिक-कपास से उत्पन्न हुए बस्त्र को पहने हुए है। य—और। जस्स—जिसका। मुल्लं—मूल्य। सयसहस्सं—एक लाख है।

छट्ठेण भत्तेणं—षष्ट भक्त के साथ तथा। सुंदरेण—सुन्दर। अज्झवसाणेण—अध्यवसाय और। लेसाहिं—लेश्याओं से युक्त। विसुज्झतो—विशुद्ध ऐसे। जिणो—जिनेन्द्र भगवान। उत्तमंसीय—उत्तम शिविका में। आरुहई—बैठते है-शिविका गत सिंहासन पर बैठते हैं।

सीहासणे निविट्ठो—जब भगवान शिविका में रक्खे हुए सिंहासन पर विराजमान हो गए तब। य—पुनः। सक्कीसाणा—शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र। दोहिं पासेहिं—दोनो ओर। चमराहिं—चामरों को। वीयंति—डुलाते हैं। मणिरयणविचित्तदंडाहिं—चामरों के दण्ड मणिरत्नादि से चित्रित है।

साहट्टुरोमकूवेहिं—जिनके रोम कूप हर्ष वश विकसित हो रहे है ऐसे। माणुसेहिं—मनुष्यों ने। पुव्वि—प्रथम - उक्खित्ता—उस शिविका को उठाया और। पच्छा—पीछे। देवा—देव। सुर—वैमानिक देव। असुर—असुर कुमार देव। गरुल—गरुड़ कुमार देव। नागिंदा—नाग कुमारों के इन्द्र। वहंति—उठातें हैं।

चारों दिशाओं से जिसप्रकार देवों ने शिविका को उठाया है उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—पुराओ—पूर्व दिशा में। सुरा—वैमानिक देव। वहंति—उठाते हैं। पुण—फिर। असुरा दाहिणंमि पासंमि—दक्षिण दिशा की ओर से असुर कुमार देव उठाते हैं। अवरे—पश्चिम दिशा में। गरुला—सुवर्ण कुमार देव। वहंति—वहन करते हैं। पुण—फिर। नागा उत्तरेपासे—उत्तर दिशा की ओर नाग कुमार देव वहन करते हैं।

व—जैसे। कुसुमियं—विकसित हुआ। वणसंडं—बनषंड शोभता है। वा—या। जहा—जैसे। सरयकाले—शरत् काल मे। कुसुम भरेणं—विकसित पुष्प समूह से युक्त। पउमसरो—पद्म सरोवर। सोहइ—सुशोभित होता है। इय—इसी प्रकार। सुरगणेहिं—देवों के समूह से। गगणयलं—आकाश मडल सुशोभित हो रहा है।

व—अथवा। कुसुम भरेण—पुष्पो से समूह से। सिद्धत्थवणं—सरसों का वन। जहा—जैसे। कणियार वणं—कचनार अथवा कनेर का वन। वा—अथवा। चंपय वणं—चम्पक वन। सोहइ—सुशोभित होता है। इय—इसी प्रकार। गगणयल—आकाश मंडल।

सुरगणेहिं—देवो के समूह से शोभा पा रहा है।

वरपडह—प्रधान पटह। भेरी—भेरी। ज्झल्लरी—झाज एक प्रकार का वाद्यन्तर। संख—शख। सयसहसोहिं—लाखों। तूरेहिं—वाद्यो-वाजन्तरो से। गगणयले—आकाश मडल तथा। घरणियले—अवनी तल। तूरनिनाओ—वाद्य ओं के शब्दो से। परमरम्मो। परमरमणीक हो रहा है।

तत्थ—वहा पर। ततवितत—तत- वीणा आदि, वितत-मृदगादि वाद्य। घण—ताल आदि। ज्झुसिर—वश और श खादि। आउज्ज—वाद्यन्तर। चउव्विहं—चार प्रकार के अथवा। बहुविहीय—बहुत प्रकार के वाद्यन्तर को। देव—देव। वायंति—बजाते हैं और। बहूहिं—वे विविध प्रकार के। आनट्टगसएहिं—नाटक करनेवालो के साथ है।

**मूलार्थ**—जरा मरण से विप्रमुक्त जिनवर के लिए शिविका लाई गई, जोकि जल और स्थल पर पैदा होने वाले श्रेष्ठ फूलो और वैक्रिय लब्धि से निर्मित पुष्प मालाओ से अलंकृत थी।

उस शिविका के मध्य में प्रधान रत्नो से अलकृत यथा योग्य पाद पीठिकादि से युक्त, जिनेन्द्र देव के लिए सिंहासन का निर्माण किया गया था।

जिनेन्द्र भगवान महावीर एक लाख रुपए की कीमत वाले क्षौम युगल (कार्पास) के वस्त्र को धारण किए हुए थे और आभूषणो, मालाओ तथा मुकुट से अलकृत थे।

उस समय प्रशस्त अध्यवसाय एव लेश्याओं से युक्त भगवान षष्ट भक्त बेले की तपश्चर्या ग्रहण करके उस शिविका-पालकी मे बैठे।

जब श्रमण भगवान महावीर शिविका पर आरूढ हुए तो शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र शिविका के दोनो तरफ खड़े होकर मणियो से जटित डंडे वाली चामरो को भगवान के ऊपर झुलाने लगे।

सब से पहले मनुष्यो ने हर्ष एव उल्लास के साथ भगवान की शिविका उठाई। उसके पश्चात् देव, सुर, असुर, गरुड़ और नागेन्द्र आदि देवो

ने उसे उठाया था।

शिविका को पूर्व दिशा से सुर-वैमानिक देव उठाते है, दक्षिण से असुर कुमार, प.श्चम से गरुड कुमार और उत्तर दिशा से नाग कुमार उठाते है।

उस समय देवो के आगमन से आकाश मडल वैसा ही शुशोभित हो रहा था जैसे खिले हुए पुष्पों से युक्त उद्यान या शरद् ऋतु मे कमलो से भरा हुआ पद्म सरोवर शोभित होता है।

जिस प्रकार से सरसो, कचनार तथा चम्पक वन फूलो से सुहावना प्रतीत होता है, उसी तरह उस समय आकाश मडल देवो से सुशोभित हो रहा था।

उस समय पटह, भेरी, झाझ शख आदि श्रेष्ठ वादित्रों से गुजायमान आकाश एव भूभाग बड़ा ही मनोहर एव रमणीय प्रतीत हो रहा था।

उस समय देव तत, वितत, घन और झुषिर इत्यादि अनेक तरह के बाजे बजा रहे थे तथा विभिन्न प्रकार के नृत्य कर रहे थे एव नाटक दिखा रहे थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथाओ मे यह अभिव्यक्त किया गया है कि भगवान देव निर्मित सहस्र वाहिका शिविका मे बैठे और देवों एव मनुष्यों ने उस शिविका को उठाया। शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र उस शिविका के दोनों ओर खड़े थे और भगवान के ऊपर रत्न एवं मणियों से विभूषित डडो से युक्त चमर झुला रहे थे। उस समय देव एवं मनुष्य सभी के चेहरों पर उल्लास एव हर्ष परिलक्षित हो रहा था और आज सब अपने आपको धन्य मान रहे थे।

जिस समय भगवान शिविका मे बैठकर जा रहे थे, उस समय, देव, असुर, किन्नर, गन्धर्व आदि बड़े हर्ष के साथ बाजे बजा रहे थे और विभिन्न प्रकार के नृत्य कर रहे थे। सारा वातावरण हर्ष एव उल्लास से भरा हुआ था।

इतने हर्ष एवं आनन्द के वातावरण में भी भगवान प्रशस्त अध्यवसायों के साथ शान्त बैठे हुए थे। उस समय भगवान ने षष्ठ भक्त-बेले का तप स्वीकार कर रखा था।

अब भगवान की दीक्षा से संबंधित विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तरानक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए विइयाए पोरिसीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं एगसाडगमायाए चंदप्पभाए सिवियाए सहस्सवाहिणियाए सदेव मणुयासुराए परिसाए समणिज्जमाणे उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निगच्छइ २ जेणेव नायसंडे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ २ ईसिं रयणिप्पमाणं अच्छोप्पेणं भूमिभाएणं सणियं २ चंदप्पभं सिवियं सहस्सवाहिणिं ठवेइ २ सणियं २ चंदप्पभाओ सीयाओ सहस्सवाहिणीओ पच्चोयरइ २ सणियं २ पुरत्थाभिमुहे सीहासणे निसीयइ आभरणालंकारं ओमुयइ, तओ णं वेसमणे देवे जन्नुव्वायपडिओ भगवओ महावीरस्स हंसलक्खणेणं पडेणं आभरणालंकारं पडिच्छइ, तओणं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, तओणं सक्के-

देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स जन्नुवायपडियाए वइरामएणं थालेणं केसाइं पडिच्छइ २ अणुजाणेसि भंतेत्तिकट्टु खीरोयसागरं साहरइ, तओ णं समणे जाव लोयं करित्ता सिद्धाणं नमुक्कारं करेइ २ सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मंति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ २ देवपरिसं च मणुयपरिसं च, आलिक्खचित्तभूयमिव ठवेइ।

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये यः स हेमन्तस्य प्रथमो—मासः प्रथमः पक्षः मार्गशीर्षबहुलः तस्य मार्गशीर्षबहुलस्य दशमीपक्षे सुव्रतेदिवसे विजयमुहूर्त्ते हस्तोत्तरानक्षत्रेण योगोपगते प्राचीनगामिन्या छायाया द्वितीयायां पौरुष्यां षष्ठेन भक्तेन अपानकेन एकशाटकमादाय चन्द्रप्रभाया शिविकाया सहस्रवाहिन्यां सदेवमनुजासुरया परिषदा समन्वीयमानः उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसन्निवेशस्य मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य च यत्रैव ज्ञातखण्डमुद्यान तत्रेव उपागच्छति उपागत्य ईषत् रत्निप्रमाणम् अस्पर्शेन भूमिभागेन शनैः २ चन्द्रप्रभा शिबिका सहस्रवाहिनी स्थापयति स्थापयित्वा शनैः २ चन्द्रप्रभातः शिविकात सहस्रवाहिनिकात: प्रत्यवतरति प्रत्यवतीर्य शनैः २ पूर्वाभिमुखः सिंहासने निषीदति, आभरणालंकारमवमुञ्चति,ततो वैश्रमणो देवः जानुपादपतितः भगवतो महावीरस्य हंसलक्षेण पटेन आभरणालंकारान् प्रतीच्छति, ततः श्रमणो भगवान् महावीरः दक्षिणेन दक्षिण वामेन वामं पञ्चमुष्टिकं लोच करोति ततः शक्रो देवेन्द्रो देवराज. श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य जानुपादपतितः वज्रमयेन स्थालेन केशान् प्रतीच्छति प्रतीच्छ्य अनुजानीहि भदन्त इति कृत्वा क्षीरोदकसागरे संहरते,तत. श्रमणो यावत् लोच कृत्वा सिद्धेभ्यः नम-

स्कार करोति, कृत्वा सर्वं मे अकरणीयं पाप कर्म, इति कृत्वा सामायिक-चारित्र प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य देवपरिषदं च मनुजपरिषद च आलेख्यचित्र-भूतमिवस्थापयति ।

**पदार्थ**—**तेणं कालेण तेणं समएण**—उस काल और उस समय में । **जे से**—जो वह । **हेमंताण**—हेमन्तऋतु का—शीतकाल का । **पढ़मे मासे**—प्रथम मास । **पढ़मे पक्खे**—पहला पक्ष । **मग्गसिर बहुले**—मार्गशीर्ष का पहला पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष का । **ण**—वाक्यालकारार्थक है । **तस्स**—उस । **मग्गसिर बहुलस्स**—मार्ग शीर्ष कृष्ण पक्ष के । **दसमी पक्खेण**—दशमी के दिन । **सुव्वए ण**—सुव्रत नाम वाले । **दिवसेणं**—दिन में । **विजएण मुहुत्तेणं**—विजय मुहूर्त में तथा । **हत्थुत्तरा नक्खत्तेणं**—उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ । **जोगोवगएण**—चन्द्रमा का योग आने पर । **पाईण गामिणीए छायाए**—पूर्व दिशा गामी छाया के होने पर । **विइयाए पोरिसीए**—द्वितीय पहर के बीत जाने पर । **अपाणएण**—निर्जल-बिना पानी के । **छट्ठेणं भत्तेणं**—षष्ट भक्त दो उपवास से युक्त । **एगसाडगमायाए**—केवल एक देवदूष्य वस्त्र को लेकर । **चदप्पभायाए**—चन्द्रप्रभा नामक । **सिवियाए**—शिविका जोकि । **सहस्स वाहिणीयाए**—सहस्त्र पुरुषो से उठाई जा सकती है, उस में बैठकर । **सदेवमणुयासुराए**—देव मनुष्य और असुर कुमारो की । **परिसाए**—परिषद् के साथ । **समणिज्जमाणे**—निकलते हुए । **उत्तर खत्तियकुडपुर संनिवेसस्स**—उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश के । **मज्झमज्झेण**—मध्य २ मे से होकर । **निगच्छइ २**—निकलते हैं और वहा से निकल कर । **जेणेव**—जहाँ पर । **नायसंडे उज्जाणे**—ज्ञात खण्ड नामक उद्यान था । **तेणेव**—वहा पर । **उवागच्छइ २**—आते हैं और वहा आकर । **ईसिं**—थोडी सी । **रयणिप्पमाणं**—हाथ प्रमाण । **अच्छोप्पेणं**—ऊंची । **भूमि भाएण**—भूमि भाग से । **सणियं २**—शनैः २ । **चदप्पभं**—चन्द्रप्रभा नाम की । **सिवियं**—शिविका । **सहस्सवाहिणिं**—सहस्र वाहिनी को । **ठवेइ २**—स्थापन करते हैं उसे स्थापन करने के बाद फिर । **सणिय २**—शनैः २ । **चदप्पभाओ**—भगवान उस चन्द्रप्रभा । **सीयाओ**—शिविका । **सहस्सवाहिणिओ**—सहस्र वाहिनी से । **पच्चोरुहइ २**—नीचे उतरते हैं और उस से उतर कर फिर । **सणिय २**—शनैः २ । **पुरत्थाभिमुहे**—पूर्वाभिमुख होकर । **सीहासणे**—सिंहासन पर । **निसीयइ २**—बैठते हैं उस पर बैठने के अनन्तर । **आभरणालकारं**—भगवान आभरण और अलकारो को । **ओमुयइ**—उतारते हैं । **ण**—वाक्यालकारार्थक है । **तओ**—तत् पश्चात् । **वेसमणे देवे**—वैश्रमण देव । **जन्नुवाय पडिओ**—भक्ति पूर्वक जानुको नीचे कर विनय पूर्वक । **भगवओ महावीरस्स**—भगवान महावीर के । **आभरणालंकारं**—आभरण और अलकारो को । **हसलक्खणेणं**—हसलक्षण-हस के समान श्वेत उज्ज्वल हस चिन्ह युक्त । **पडेणं**—पट के द्वारा । **पडिच्छइ**—ग्रहणकरता है । **तओणं**—तदनन्तर । **समणे**—श्रमण ।

**भगवं**—भगवान । **महावीरे**—महावीर । **दाहिणेण**—दक्षिण हाथ से । **दाहिणं**—दक्षिण दिशा के । **वामेण**—और वाम हाथ से । **वामं**—वाम दिशा के केशो का । **पंचमुट्ठियं**—पाच मौष्टिक । **लोयं करेइ**—लोच करते है । **तओ**—तदनन्तर । **सक्के**—शक्र । **देविंदे**—देवेन्द्र । **देवराया**—देवराज । **समणस्स**—श्रमण । **भगवओ**—भगवान । **महावीरस्स**—महावीर के । **जन्नुवाय पडियाए**—जानु नीचे करके चरण कमलो मे पडकर अर्थात् विनय पूर्वक । **वइरामए ण**—वज्रमय । **थालेण**—थाल मे । **केसाइं**—भगवान के केशो को । **पडिच्छइ २**—ग्रहण करता है, वह उन्हे ग्रहण करके कहता है । **भंते**—हे भगवन् ! **अणुजाणेसि**—आपकी आज्ञा हो तो मैं इन्हे ग्रहण करूं । **त्तिकट्टु**—ऐसा कहकर उन केशो को । **खीरोय सागर**—क्षीरोदधि समुद्र मे ले जाकर । **साहरइ**—प्रवाहित कर देता है । **तओणं**—तदनन्तर । **समणे**—श्रमण । **जाव**—यावत् । **लोयकरित्ता**—लोचकर अर्थात् केशो का लुंचन करके फिर । **सिद्धाण**—सिद्धो को । **नमुक्कारं**—नमस्कार । **करेइ २**—करते है उन्हे नमस्कार करके फिर । **मे**—मझे । **सव्वं**—सर्व प्रकार से । **पावकम्मं**—पाप कर्म । **अकरणिज्जं**—अकरणीय है । **तिकट्टु**—ऐसा कहकर भगवान । **सामाइयं चरित्त**—सामायिक चारित्र को । **पडिवज्जइ**—ग्रहण करते है और सामायिक चारित्र को ग्रहण करके फिर उस समय भगवान ने । **देवपरिसच**—देव परिषद् और । **मणुयपरिसच**—मनुज परिषद् को । **आलिक्खचित्त भूयमिव**—भीत पर लिखे हुए चित्र की भांति । **ठवेइ**—बना दिया अर्थात् भगवान को दीक्षित होते देख कर देवो की और मनुष्यो की परिषदा भिति-चित्र की तरह चेष्टा रहित स्तब्ध सी हो गई ।

**मूलार्थ**—उस काल और उस समय मे जब हेमन्त ऋतु का प्रथम मास प्रथमपक्ष अर्थात् मार्गशीर्ष मास का कृष्ण पक्ष था, उसकी दशमी तिथि के सुव्रत दिवस विजय मुहूर्त मे उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर पूर्वगामिनी छाया और द्वितीय प्रहर के बीतने पर निर्जल-बिना पानी के दो उपवासों के साथ एक मात्र देवदूष्य वस्त्र को लेकर चन्द्रप्रभा नामकी सहस्र वाहिनी शिविका में बैठे । उसमे बैठकर वे देव मनुष्य तथा असुर कुमारों की परिषद् के साथ उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश के मध्य २ में से होते हुए जहां ज्ञात खण्ड नामक उद्यान था वहा पर आते हैं । वहां आकर देव थोड़ी सी-हाथ प्रमाण ऊंची भूमि पर भगवान की शिविका को ठहरा देते है । तब भगवान उसमें से शनै: २ नीचे उतरते है और पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ जाते

है। उसके पश्चात् भगवान अपने आभरणालकारो को उतारते है। तब वैश्रमण देव भक्ति पूर्वक भगवान के चरणो मे बैठकर उनके आभरण और अलकरो को हस के समान श्वेत वस्त्र मे ग्रहण करता है। तत् पश्चात् भगवान ने दाहिने हाथ से दक्षिण को ओर के केशो का और वाम कर से बाय पासे के केशो का पाच मुष्टिक लोच किया, तब देवराज शक्रेन्द्र श्रमण भगवान महावीर के चरणो मे पड कर घुटनो को नीचे टेक कर वज्र मय थाल मे उन केशो को ग्रहण करता है और हे भगवन् ! आपकी आज्ञा है, ऐसा कहकर उन केशो को क्षीरोदधि-क्षीर समुद्र मे प्रवाहित कर देता है। इसके पश्चात् भगवान सिद्धो को नमस्कार करके सर्वप्रकार के सावद्यकर्म का परित्याग करते हुए सामायिक चारित्र ग्रहण करते है। उस समय देव और मनुष्य दोनो भीत पर लिखे हुए चित्र की भाति अवस्थित हो गए, अर्थात् चित्रवत् निश्चेष्ट हो गए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान की दीक्षा के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। जब भगवान की शिविका ज्ञात खण्ड बगीचे में पहुंची तो भगवान उससे नीचे उतर गए और एक वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर मुह करके बैठ गए और क्रमशः अपने सभी वस्त्राभूषणों को उतार कर वैश्रमण देव को देने लगे। सभी आभूषणों को उतारने के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को तृतीय पहर के समय विजय मुहूर्त मे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग होने पर भगवान ने स्वय पञ्च मुष्टि लुंचन करके सिद्ध भगवान को नमस्कार करते हुए सामायिक चारित्र ग्रहण किया। समस्त सावद्य योगों का त्याग करके भगवान ने साधना के पथ पर कदम रखा। उस समय भगवान ने केवल देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया। भगवान के केशों को शक्रेन्द्र ने ग्रहण किया और उन्हें क्षीरोदधि समुद्र में विसर्जित कर दिया।

इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में भी दिवस, मुहूर्त एवं नक्षत्र आदि देखने की परम्परा थी। और पच मुष्टि लोच एव अलंकारों आदि के उतारने का उल्लेख करके भगवान की सहिष्णुता, त्याग एवं तप भावना को दिखाया गया है।

कुछ प्रतियों मे 'जन्नु वाय पडियाए' के स्थान पर 'भत्तुव्वाय पडियाए' पाठ

उपलब्ध होता है।

भगवान की दीक्षा के समय वातावरण को शान्त बनाए रखने के लिए इन्द्र के द्वारा सभी वादित्रों को बन्द करने का आदेश देने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—दिव्वो मणुस्सघोसो, तुरियनिनाओ य सक्कवयणेणं।
खिप्पामेव नीलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ।१।
पडिवज्जित्तु चरित्तं अहोनिसं सव्वपाणभूयहियं।
साहट्टु लोमपुलया सव्वे देवा निसामिंति ।२।

छाया—दिव्यो मनुष्यघोषः, तूर्यनिनादश्च शक्रवचनेन।
क्षिप्रमेव निर्लुप्तः यदा प्रतिपद्यते चरित्रम् ।१।
प्रतिपद्य चरित्रं अहर्निशं सर्वप्राणिभूतहितम्।
संहृत्य रोमपुलकाः सर्वे देवा, निशामयंति ।२।

पदार्थ—जाहे—जब भगवान। चरित्तं—चारित्र को। पडिवज्जइ—ग्रहण करने लगे तो। दिव्वो—देवों के श्रेष्ठ शब्द तथा। मणुस्सघोसो—मनुष्यों के शब्द। य—और। तुरियनिनाओ—वाजन्त्रों के शब्द। सक्कवयणेणं—शक्रेन्द्र के वचन से। खिप्पामेव—शीघ्र ही। नीलुक्को—बन्द कर दिये गए।

चरित्तं—चारित्र को। पडिवज्जित्तु—ग्रहण करके। अहोनिसं—रात दिन। सव्वपाणभूयहियं—भगवान ने सर्व प्राण, भूत, जीवों के हित के लिए चारित्र ग्रहण किया। साहट्टुलोमपुलया—जिनकी रोम राजी पुलकित हो रही है ऐसे। सव्वेदेवा—सभी देव। निसामिंति—इसे सुनते हैं अर्थात् सहर्ष श्रवण करते हैं।

मूलार्थ—जिस समय भगवान सामायिक चारित्र ग्रहण करने लगे, उस समय शक्रेन्द्र की आज्ञा से सभी वादित्रों आदि से होने वाले शब्द बन्द कर दिए गए।

सामायिक चारित्र ग्रहण करके भगवान रात-दिन सब प्राणियों

के हित मे संलग्न हुए अर्थात् वे सभी प्राणियो की रक्षा करने लगे। सभी देवो ने हर्षित भाव से यह सुना कि भगवान ने संयम स्वीकार कर लिया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं में यह अभिव्यक्त किया गया है कि जिस समय भगवान सामायिक चारित्र ग्रहण करने लगे उस समय शक्रेन्द्र ने सभी प्रकार के वादित्रों को बन्द करने का आदेश दिया और उसके आदेश से सभी देव एवं मानव शान्त चित्त से भगवान के चारित्र ग्रहण करने के उद्देश्य को सुनने लगे। इस में यह स्पष्ट बताया गया है कि चारित्र सर्व प्राणियों का हितकारक है, प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव को अभिव्यक्त करने तथा प्राणिमात्र की रक्षा करने के उद्देश्य से ही साधक साधना के या साधुत्व के पथ पर कदम रखता है।

समस्त सावद्य योगों का त्याग करके संयम स्वीकार करते ही भगवान को चतुर्थ मनः पर्यव ज्ञान हो गया, इस का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं...

मूलम्—तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सामाइयं खओवसमियं चरित्तं पडिवन्नस्स मणपज्जवणाणे नामं नाणे समुप्पन्ने अड्ढाइज्जेहिं दीवेहिं दोहि य समुद्देहिं सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं वियत्तमणसाणं मणोगयाइं भावाइं जाणेइ।

छाया—ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सामायिकं क्षायोपशमिकं चरित्रं प्रतिपन्नस्य मनःपर्यवज्ञान नाम ज्ञानं समुत्पन्नं, अर्द्धतृतीये द्वीपे द्वयोः च समुद्रयोः संज्ञिनां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां व्यक्तमनसां मनोगतान् भावान् जानाति।

पदार्थ—णं—प्राग्वत्। तओ—तत् पश्चात्। समणस्स—श्रमण। भगवओ—भगवान। महावीरस्स—महावीर को। सामाइयं—सामायिक। खओवसमिय—क्षायोपशमिक। चरित्तं—चारित्र। पडिवन्नस्स—ग्रहण करते ही। मणपज्जव नाण—मन. पर्याय ज्ञान। नाम—नाम का। नाणे—ज्ञान। समुप्पन्ने—उत्पन्न हुआ, उस ज्ञान से भगवान। अड्ढाइज्जेहिं—

अढाई। दीवेहिं—द्वीपो मे। य—और। दोहिंसमुद्देहिं—दो समुद्रो में। सन्निणं—मनयुक्त। पज्जत्ताणं—पर्याप्त। पंचिंदियाणं—पञ्चेन्द्रिय। वियत्तमणसाण—व्यक्त मन वालो के। मणोगयाइ—मनोगत। भावाइं—भावो को। जाणेइ—जानते हैं।

मूलार्थ—क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र ग्रहण करते ही श्रमण भगवान महावीर को मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। जिसके द्वारा वे अढाई द्वीप, दो समुद्रो मे स्थित संज्ञीपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को स्पष्ट जानने लगे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में मनः पर्याय ज्ञान का वर्णन किया गया है। इस ज्ञान से व्यक्ति ढाई द्वीप और दो समुद्रों में स्थित पर्याप्त सन्नी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जान सकता है जिस समय भगवान ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया उसी समय उन्हें यह ज्ञान प्राप्त हो गया और वे मन वाले प्राणियों के मानसिक भावों को देखने जानने लगे।

इस से यह स्पष्ट हो गया कि मनः पर्याय ज्ञान क्षेत्र एव विषय की दृष्टि से ससीम है और इससे उन्हीं प्राणियों के मानसिक भावों को जाना जा सकता है, जिन के मन है। क्योंकि मन वाले प्राणी ही स्पष्ट रूप से मानसिक चिन्तन कर सकते हैं। अतः उनके चिन्तन से मनोवर्गणा के पुद्गलों के बनते हुए आकारों के द्वारा उनके चिन्तन का, उनके मानसिक विचारों का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

इस में दूसरी बात यह बताई गई है कि सामायिक चारित्र की प्राप्ति क्षयोपशम भाव में हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक साधना का ग्रहण क्षायोपशमिक भाव में ही किया जा सकता है, औदयिक भाव में नहीं। क्योंकि सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई आध्यात्मिक क्रियाएं ही सम्यग् होती हैं और सम्यग् ज्ञान क्षयोपशम भाव में ही प्राप्त होता है। अतः सामायिक चारित्र को क्षायोपशमिक भाव में माना गया है।

भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जो अभिग्रह ग्रहण किया, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तओ णं समणे भगवं महावीरे पव्वइए समाणे-मित्तनाइं सयणसंबंधिवग्गं पडिविसज्जेइ, २ इमं एयारूवं

अभिग्गहं अभिगिराहइ-वारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुपज्जंति तंजहा—दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि, ।

छाया—ततः श्रमणो भगवान् महावीर प्रव्रजितः सन् मित्रज्ञाति-स्वजनसम्बन्धिवर्गं, प्रतिविसर्जयति प्रतिविसर्ज्य इमं एतद्रूपं अभिग्रह अभिगृण्हाति, द्वादश वर्षाणि व्युत्सृष्टकायः त्यक्तदेहः ये केचिद् उपसर्गा. समुत्पद्यन्ते, तद्यथा-दिव्याः वा मानुष्या वा तैरिश्चिका वा तान् सर्वान् उपसर्गान् समुत्पन्नान् सतः सम्यक् सहिष्ये क्षमिष्ये अधिसहिष्ये ।

पदार्थ—णं—वाक्यालकार में है । तओ—तदनन्तर । समणे—श्रमण । भगवं—भगवान । महावीरे—महावीर । पव्वइए समाणे—प्रव्रजित-दीक्षित होने पर । मित्तनाइ—मित्र ज्ञाति और । सयण संबंधि वग्गं—स्वजन सम्बन्धि वर्ग को । पडिविसज्जेइ—विसर्जित करके । इम—यह । एयारूवं—एतादृश इस प्रकार के । अभिग्गह—अभिग्रह-प्रतिज्ञा विशेष को । अभिगिण्हइ—ग्रहण करते हैं । वारस वासाइं—बारह वर्ष पर्यन्त । वोसट्ठकाए काया शरीर का व्युत्सर्ग तथा । चियत्त देहे—शरीर गत ममत्व को छोडते हुए । जे केइ—जो कोई भी । उवसग्गा—उपसर्ग । समुप्पज्जति—उत्पन्न होगा । तजहा—जैसे कि । दिव्वा वा—देवसम्बन्धि । माणुस्सा वा—अथवा मनुष्य सम्बन्धि । तेरिच्छिया वा—अथवा तिर्यंच सम्बन्धि । ते सव्वे—उन सभी । उवसग्गे—उपसर्गों के । समुप्पन्ने समाणे—उत्पन्न होने पर उन सब को । सम्मं—सम्यक् प्रकार से । सहिस्सामि—सहन करूंगा । खमिस्सामि—क्षमा करूंगा । अहियासइस्सामि—खेदरहित हो कर सहन करूंगा ।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने प्रव्रजित होने के पश्चात् अपने मित्र ज्ञाति और स्वजन सम्बन्धि वर्ग को विसर्जित किया और उन सब के चले जाने के बाद भगवान ने इस प्रकार का अभिग्र प्रतिज्ञा धारण किया कि मैं आज से लेकर बारह वर्ष तक अपने शरीर पर ममत्व नही रखूंगा और देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धि जो भी उपसर्ग उत्पन्न

होंगे, उन सभी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करूंगा, सदा क्षमा भाव रखूंगा, और स्थिरता पूर्वक उन कष्टो पर विजय प्राप्त करूंगा अर्थात् उनके सहन करने में किसी प्रकार से खिन्न एव अप्रसन्न नही होऊगा।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर की महान साधना एव सहिष्णुता का उल्लेख किया गया है। भगवान ने दीक्षा ग्रहण करते ही अपने शरीर पर से सर्वथा आसक्ति हटा दी। उन्होंने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि मै १२ वर्ष तक अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होने तक देव-दानव, मानव और तिर्यञ्च—पशु पक्षी एवं क्षुद्र जन्तुओं द्वारा होने वाले किसी भी परीषह का, उपसर्ग का प्रतिकार नहीं करूंगा, आने वाले समस्त कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करूंगा, सब प्राणियों के प्रति क्षमा एवं मैत्री भाव रखूंगा। अपने को कष्ट देने वाले किसी भी प्राणी के अहित का संकल्प नहीं करूंगा। वस्तुत: यह भावना उनकी उत्कट साधना एवं महान् शक्ति की परिचायक है। इसी विशिष्ट शक्ति के कारण आप वर्द्धमान एवं श्रमणत्व से आगे बढ़कर महावीर बने। भगवान की महावीरता प्राणियों को दण्डे से दबाने में नहीं, प्रत्युत महान् कष्टों को समभाव पूर्वक सहने, दुखों की संतप्त दोपहरी में भी शान्त एवं अटल भाव से आत्म चिन्तन में सलग्न रहने, आततायियों को भी मित्र समझ कर उन्हें क्षमा करने तथा राग-द्वेष एवं कषाय रूप आध्यात्मिक शत्रुओं का नाश करने में थी।

इस प्रकार अनेक उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करते हुए भगवान विहार करते हैं, उनकी विहारचर्या का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तओ णं स० भ० महावीरे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हित्ता वोसिट्ठचत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कुम्मारगामं समणुपत्ते।**

छाया—ततः श्रमणो भगवान महावीरः, इमम् एतद्रूपम् अभिग्रहम् अभिगृह्य व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः दिवसे मुहूर्तशेषे कुमारग्रामं समनुप्राप्तः।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकारार्थक है। तओ—तत् पश्चात्। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान। महावीरे—महावीर। इम—यह। एयारूव—एतादृग्रूप। अभिग्गह—अभिग्रह—प्रतिज्ञा विशेष को। अभिगिण्हित्ता—ग्रहण करके। वोसिट्ठचत्तदेहे—जिसने शरीर के ममत्व और

देह का संस्कार करने का भी त्याग कर दिया है । मुहुत्तसेसे दिवसे— एक मुहूर्त दिन के रहने पर । कुम्मार गाम — कुमार नामक ग्राम को । समणुपत्ते — प्राप्त हुए-पहुचे ।

मूलार्थ-शरीर पर से ममत्व त्याग के अभिग्रह से युक्त श्रमण भगवान महावीर- जिस दिन दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन शाम को एक मुहूर्त (४८ मिन्ट) दिन रहते कुमार ग्राम पहुंचे ।

हिन्दी विवेचन

इसमें यह बताया गया है कि भगवान ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन पहला विहार कुमार ग्राम की ओर किया और सूर्यास्त से एक मुहूर्त (४८ मिन्ट) पहले कुमार ग्राम पहुंच गए।

विहार के समय भगवान की क्या वृत्ति थी, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तओ णं स० भ० म० वोसिट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं बंभचेरवासेणं खंतीए मुत्तीए समिईए गुत्तीए तुट्ठीए ठाणेणं कमेणं सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।**

छाया—ततः श्रमणो भगवान् महावीरः व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः अनुत्तरेण आलयेन अनुत्तरेण विहारेण एव संयमेन प्रग्रहेण सवरेण तपसा ब्रह्मचर्यवासेन क्षान्त्या मुक्त्या समित्या गुप्तया तुष्ट्या स्थानेन क्रमेण सुचरितफलनिर्वाण-मुक्तिमार्गेण आत्मानं भावयन् विहरति ।

पदार्थ — णं — वाक्यालंकारार्थक है । तओ — तदनन्तर । स० भ० म० — श्रमण भगवान महावीर । वोसिट्ठचत्तदेहे — जिस ने देह के ममत्व और शरीर के सस्कार का परित्याग किया हुआ है । अणुत्तरेण — प्रधान अथवा अनुपम । आलएण — स्त्री, पशु, पडक (नपुंसक) आदि से रहित वसती के सेवन से । अणुत्तरेणं — प्रधान-अनुपम । विहारेणं — विहार से । एव — इसी प्रकार । सजमेणं — अनुपम संयम से । पग्गहेणं — अनुपम प्रयत्न से । संवरेणं —

अनुपम संवर से । तवेणं—अनुपम तप से । बम्भचेरवासेणं—अनुपम ब्रह्मचर्य वास । खंतीए—अनुपम क्षमा से । मुत्तीए—अनुपम निर्लोभता से । समिईए—अनुपम समिति से । गुत्तीए—अनुपम गुप्ति से । तुट्ठीए—अनुपम तुष्टि से । ठाणेण—एक स्थान में कायोत्सर्गादि करके ध्यान करने में । कम्मेणं—अनुपम क्रियानुष्ठान करने से । सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं—सदाचरण से-जिनका फल निर्वाण है, और मुक्ति जिसका लक्षण है-तथा ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप मुक्ति मार्ग के सेवन से युक्त होकर । अप्पाणं—आत्मा को । भावेमाणे—भावित करते हुए । विहरइ—विचरते हैं ।

मूलार्थ—तदनन्तर शरीर के ममत्व और संस्कार का परित्याग करने वाले श्रमण भगवान महावीर अनुपम वसती के सेवन से, अनुपम विहार से, एवं अनुपम संयम, संवर, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, निर्लोभता, समिति, गुप्ति, सन्तोष, कायोत्सर्गादि स्थान और अनुपम क्रियानुष्ठान से तथा सच्चरित के फल रूप निर्वाण और मुक्ति मार्ग-ज्ञान दर्शन चारित्र के सेवन से युक्त होकर आत्मा को भावित करते हुए विचरते है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर की महान् एवं विशुद्ध साधना का उल्लेख किया गया है । वे सदा निर्दोष, प्रासुक एवं एषणीय स्थानों में ठहरते थे और वे ईर्या के सभी दोषों से निवृत्त होकर सदा अप्रमत्त भाव से विहार करते थे और उत्कृष्ट तप, संयम, समिति-गुप्ति, क्षमा, स्वाध्याय-कायोत्सर्ग आदि से आत्मा को शुद्ध बनाते हुए विचर रहे थे । कहने का तात्पर्य यह कि भगवान महावीर । प्रत्येक क्षण आत्मा को राग-द्वेष एवं कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त बनाने में लगता था ।

भगवान की सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार करते हैं—

मूलम्—एवं वा विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा ते, सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अद्दीणमाणसे तिविहमणवयणायगुत्ते सम्मं सहइ, खमइ तितिक्खइ अहियासेइ ।।

छाया—एवं वा विहरमाणस्य ये केचित् उपसर्गाः समुत्पद्यन्ते दिव्या

वा मानुष्या वा तैरश्चिका वा तान् सर्वान् उपसर्गान् समुत्पन्नान् सतः अनाकुलः अव्यथितः अदीनमानसः त्रिविधमनोवचनकायगुप्तः सम्यक् सहते क्षमते तितिक्षते अध्यास्ते।

पदार्थ—एवं—इस प्रकार। वा—समुच्चय अर्थ में आया है। विहरमाणस्स—विचरते हुए भगवान को। जे केइ—जो कोई। उवसग्गा—उपसर्ग। समुप्पज्जति—उत्पन्न होते हैं। दिव्वा वा—देव सम्बन्धि। माणुस्सा वा—अथवा मनुष्य सम्बन्धि। तिरिच्छिया वा—तिर्यक् सम्बन्धि। ते—उन। सव्वे—सब। उवसग्गे—उपसर्गों को। समुप्पन्ने सन्नाणे—प्राप्त होने पर उन्हें। अणाउले—अनाकुलता से-शान्त चित्त से। अव्वहिए—स्थिरता पूर्वक। अद्दीणमाणसे—अदीन चित्त होकर तथा। तिविह मण वयकायगुत्ते—मन वचन और काया से गुप्त होकर। सम्म—सम्यक् प्रकार से। सहइ—उन उपसर्गों को सहन करते हैं। खमइ—उपसर्ग प्रदाताओं को क्षमा करते हैं। तितिक्खइ—अदीन मन से सहन करते है। अहियासेइ—निश्चल भावों से सहन करते हैं।

मूलार्थ—इस प्रकार विचरते हुए श्रमण भगवान महावीर को देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धि जो कोई भी उपसर्ग प्राप्त हुए वे उन सब उपसर्गों को खेद रहित बिना दीनता के समभाव पूर्वक सहन करते रहे। और वे मन वचन तथा काया से गुप्त होकर उन उपसर्गों को भली भान्ति सहन करते और उपसर्ग दाताओं को क्षमा करते तथा सहिष्णुता और स्थिर भावों से उनपर विजय प्राप्त करते थे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान की सहिष्णुता, क्षमा एवं आध्यात्मिक साधना के विकास का वर्णन किया गया हैं। वे सदा समभाव पूर्वक विचरते थे। कभी भी कष्टों से विचलित नहीं हुए और न भयंकर वेदना देने वाले व्यक्ति के प्रति उन्होंने द्वेष भाव रखा वे क्षमा के अवतार प्रत्येक प्राणी को तन, मन और वचन से क्षमा ही करते रहे। वह अभय का देवता सब प्राणियों को अभय दान देता रहा। यही भगवान महावीर की साधना थी कि दुःख देने वाले के प्रति द्वेष मत रखो, सब के प्रति मैत्री भाव रखो, सब को क्षमा दो और आने वाले प्रत्येक दुःख सुख को समभाव पूर्वक सहन करो।

इस महान् साधना एवं घोर तपश्चर्या के द्वारा राग-द्वेष एवं चार घातिक

कर्मों का क्षय करके भगवान ने केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त किया। इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारस वासा वीइक्कंता, तेरसमस्स य वासस्स परियाए वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दुच्चे मासे चउत्थे पक्खे वइसाहसुद्धे तस्स णं वेसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं-दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए वियत्ताए पोरिसीए जंभियगामस्स नगरस्स बहिया नईए उज्जुवालियाए उत्तरकूले सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणंसि उड्ढंजाणूअहोसिरस्स झाणकोट्ठोवगयस्स वेयावत्तस्स चेइयस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सालरुक्खस्स अदूरसामंते उक्कुडुयस्स गोदोहियाए आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं सुक्कज्झाणंतरियाए वट्टमाणस्स निव्वाणे कसिणे पडिपुन्ने अव्वाहए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने।

छाया—ततः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य एतेन विहारेण विहरमाणस्य द्वादश वर्षा व्यतिक्रान्ताः त्रयोदशस्य च वर्षस्य पर्याये वर्तमानस्य योऽसौ ग्रीष्मस्य द्वितीयो मासः चतुर्थः पक्षः वैशाखशुक्लः तस्य वैशाखशुक्लस्य दशमीपक्षे सुव्रते दिवसे विजये मुहूर्ते हस्तोत्तरेण नक्षत्रेण योगोपगते प्राचीन गामिन्यां छायायां व्यक्तायां पौरुष्याम् (पाश्चात्य पौरुष्यां) जृम्भिकग्रामस्य

नगरस्य बहिस्तात् नद्याः ऋजुवालुकायाः उत्तरकूले श्यामाकस्य गृहपतेः ऊर्ध्वजानु अधः शिरसः ध्यानकोष्ठोपगतस्य व्यावृत्तस्य चैत्यस्य उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे शालवृक्षस्य अदूरसामन्ते उत्कटुकस्य गोदोहिकया आतापनया आतापयतः षष्ठेन भक्तेन अपानकेन शुक्ल ध्यानान्तरे वर्तमानस्य निर्वाणे कृत्स्ने प्रतिपूर्णे अव्याहते निरावरणे अनन्ते अनुत्तरे केवलवरज्ञानदर्शने समुत्पन्ने।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकारार्थक है। तओ—तदनन्तर। समणस्स—श्रमण। भगवओ—भगवान। महावीरस्स—महावीर को। एएणं—इस प्रकार के। विहारेणं—विहार से। विहरमाणस्स—विचरते हुओ को। बारस वासा—द्वादश वर्ष। वीइक्कता—व्यतीत हो गए। य—पुनः। तेरसमस्स—तेरहवें। वासस्स—वर्ष के। परियाए—मध्य में। वट्टमाणस्स—वर्तते हुए। जे—जो। से—यह। गिम्हाण—ग्रीष्म ऋतु के। दुच्चेमासे—दूसरे मास मे। चउत्थेपक्खे—चतुर्थ पक्ष मे। वइसाहसुद्धे—वैशाख शुक्ल पक्ष मे। ण—प्राग्वत्। तस्स—उस। वेसाहसुद्धस्स पक्खस्स—वैशाख शुक्ल पक्ष को। दसमी पक्खेण—दशमी के दिन। सुव्वएण दिवसेण—सुव्रत नामक दिवस मे। विजएणं मुहुत्तेणं—विजय मुहूर्त में। हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ। जोगोवगएण—चन्द्रमा का योग आने पर। पाईण गामिणीए छायाए—दिन से पिछले पहर में। वियत्ताए पोरिसीए—वियत नाम वाली पौरुषी के आने पर अर्थात् पाश्चात्य पौरुषी में। जम्भियगामस्स—जृम्भकग्राम नाम के। नगरस्स—नगर के बहिया—बाहिर। उज्जुवालियाए—ऋजू वालुका नामक। नईए—नदी के। उत्तरकूले—उत्तर तटपर। सामागस्स—श्यामाक नाम के। गाहावइस्स—गृहपति के। कट्ठकरणंसि—क्षेत्र मे। उड्ढंजाणु अहोसिरस्स—ऊपर को जानु और नीचे को सिर इस प्रकार। झाणकोट्ठोवगयस्स—ध्यान रूपी कोष्ट मे प्रविष्ट हुए भगवान को। वेयावत्तस्स—वैयावृत्य नामक। चेइयस्स—चैत्य-यक्ष मंदिर के। उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे—उत्तर पूर्व दिग् भाग अर्थात् ईशान कोण मे। साल रुक्खस्स—शाल वृक्ष के। अदूरसामंते—न अति दूर न अति समीप। उक्कुडुयस्स—उत्कटुक और। गोदोहियाए—गोदोहिक आसन से। आतावणाए—आतापना। आयावेमाणस्स—लेते हुए। अपाणएणं—निर्जल—पानी रहित। छट्ठेणं भत्तेणं—षष्ठभक्त-दो उपवास पूर्वक। सुक्कज्झाणंतरियाए—शुक्ल ध्यान में। वट्टमाणस्स—आरूढ हुए भगवान को। निव्वाणे—निर्दोष। कसिणे—संपूर्ण अर्थ का ग्राहक। पडिपुन्ने—प्रतिपूर्ण। अव्वाहए—व्याघात रहित। निरावरणे—आवरण रहित। अणंते—अनन्त। अणुत्तरे सब से प्रधान। केवलवरनाण दंसणे—सर्व श्रेष्ठ केवल ज्ञान और केवल दर्शन। समुप्पन्ने—उत्पन्न हुए।

मूलार्थ—श्रमण भगवान् महावीर को इस प्रकार के विहार से विचरते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गए। तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास और चौथे पक्ष में अर्थात् वैशाख शुक्ला दशमी के दिन सुव्रत नामक दिवस मे विजय मुहूर्त में, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर दिन के पिछले पहर, जृम्भक ग्राम नगर के बाहर ऋजु बालिका नदी के उत्तर तट पर, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र मे वैयावृत्य नामक यक्ष मन्दिर के ईशान कोण मे शाल वृक्ष के कुछ दूरी पर ऊंचे गोडे और नीचा शिर कर के ध्यान रूप कोष्ट मे प्रविष्ट हुए तथा उत्कटुक और गोदोहिक आसन से सूर्य की आतापना लेते हुए, निर्जल छट्ठ भक्त तप युक्त शुक्ल ध्यान ध्याते हुए भगवान को निर्दोष, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, निर्व्याघात, निरावरण, अनत, अनुत्तर, सर्वप्रधान केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वताया है कि साधना के वारह वर्ष कुछ महीने बीतने पर वैशाख शुक्ला १० को जृम्भक ग्राम के वाहिर, ऋजु वालिका नदी के तट पर, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र (खेत) में, जहां जीर्ण व्यन्तरायतन था, दिन के चतुर्थ पहर में, सुव्रत नामक दिन, विजय मुहूर्त एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने पर उक्कडु और गोदुह आसन से शुक्ल ध्यान* में संलग्न भगवान ने राग-द्वेष एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिक कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त किया।

प्रस्तुत प्रसंग में मुहूर्त आदि के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय लौकिक पचांग की ज्योतिष गणना को स्वीकार किया जाता था। ग्राम, नदी आदि के नाम के साथ देश (प्रान्त) के नाम का उल्लेख कर दिया जाता तो वर्तमान में उस स्थान का पता लगाने मे कठिनाई नहीं होती और इससे लोगों में स्थान सम्बन्धी भ्रान्तियां नहीं फैलतीं और ऐतिहासिकों मे विभिन्न मतभेद पैदा नहीं होता। परन्तु इसमे देश का नामो-

* शुक्ल ध्यान के चार भेद है —१ पृथकत्व वितर्क सविचार, २ एकत्व वितर्क अविचार, ३ सूक्ष्म क्रियं अप्रतिपत्ति और, ४ उच्छिन्न क्रिय अनिवर्ति। इसमें से भगवान पहले दो भेदो के चिन्तन मे, ध्यान में संलग्न थे।

—आचाराग वृत्ति।

ल्लेख नहीं होने से यह पाठ विद्वानों के लिए चिन्तनीय एवं विचारणीय है।

केवल ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्**—से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ, तं-आगइं गइं ठिइं चवणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलाए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ ॥

छाया—स भगवान अर्हन् जिनः केवली सर्वज्ञः सर्व भाव दर्शी सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पर्यायान् जानाति, तद्यथा-आगतिं गतिं स्थितिं च्यवनं उपपातं भुक्त पीत कृत प्रतिसेवितं आविःकर्म रहःकर्म लपित कथितं मनोमानसिक सर्वलोके सर्वजीवाना सर्वभावान् जानन् पश्यन् एव च विहरति-विचरति।

पदार्थ—से—वह। भगवं—भगवान। अरहं—अर्हन्-पूज्य। जिणे—जिन-राग द्वेष को जीतने वाले। केवली—सम्पूर्ण ज्ञान वाले। सव्वन्नू—सर्वज्ञ-सब कुछ जानने वाले। सव्वभावदरिसी—सर्व भावो-पदार्थों को देखने वाले। सदेवमणुयासुरस्स—देव मनुष्य और असुर कुमार देवो के। लोगस्स—तथा सर्व लोक के। पज्जाए—पर्यायो को। जाणइ—जानते हैं। तंजहा—जैसा कि। आगइं—जीवो की आगति को। गइं—गति को। ठिइं—स्थिति को। चवण—च्यवन अर्थात् देव लोक से देवों के च्यवन को। उववायं—उपपात अर्थात् नारकी और देव के जन्म स्थान को। भुत्तं—खाद्य। पीयं—पेय पदार्थों को। कडं—किये हुए कार्य को अर्थात् चौर्यादि कर्म को। पडिसेवियं—मैथुनादि सेवन को। आविकम्मं—प्रकट कार्य को। रहोकम्म—गुप्त कार्य को। लवियं—प्रलाप करते हुए को। कहियं—गुप्त वार्ता को। मणोमाणसियं—जीवो के चित्त और मन के भावो को। सव्वलोए—सर्व लोक के विषय को। सव्वजीवाणं—सर्व जीवो के। सव्वभावाइं—सर्व भावो को। जाणमाणे—जानते हुए। पासमाणे—देखते हुए। एवं—इस प्रकार। विहरइ—विचरते हैं। चणं—प्राग्वत्।

मूलार्थ—वे भगवान अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वभावदर्शी, देव, मनुष्य और असुरकुमार तथा लोक के सभी पर्यायो को जानते है, जैसेकि—जीवो की आगति, गति, स्थिति, च्यवन, उत्पाद तथा उनके द्वारा खाए पीए गए पदार्थो एव उनके द्वारा सेवित प्रकट एव गुप्त सभी क्रियाओं को तथा अन्तर रहस्यो को एवं मानसिक चिन्तन को प्रत्यक्ष रूप से जानते देखते है। वे सम्पूर्ण लोक में स्थित सर्व जीवो के सर्व भावो को तथा समस्त पुद्गलो-परमाणुओ को जानते देखते हुए विचरते है ।

हिन्दी विवेचन

इसमे बताया गया है कि भगवान समस्त लोकालोक को तथा लोक में स्थित समस्त जीवों को, उनकी पर्यायों को, संसारी जीवों के प्रत्येक प्रकट एव गुप्त कार्यों तथा विचारों को तथा अनन्त-अनन्त परमाणुओं एव उन से निर्मित पुद्गलो एवं उनकी पर्यायों को जानते-देखते है। उनके ज्ञान में दुनिया का कोई भी पदार्थ छिपा हुआ नही है। लोक के साथ-साथ अलोक में स्थित अनन्त आकाश प्रदेशों को भी वे जानते देखते हैं।

केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन संपन्न आत्मा को अर्हन्त, जिन सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि कहते हैं। केवल ज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान जो पदार्थों की जानकारी के लिए पूर्ववर्ती मति, श्रुत, अवधि एवं मनः पर्याय चारों ज्ञानो में से किसी की अपेक्षा नही रखता है। वह केवल अर्थात् अकेला ही रहता है, और किसी अन्य ज्ञान की सहायता के बिना ही समस्त पदार्थों के समस्त भावों को जानता देखता है।

प्रस्तुत सूत्र में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शब्द का प्रयोग किया गया है । इसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ को पहले समय में ज्ञान होता है और दूसरे समय दर्शन होता है। जब कि छद्मस्थ को प्रथम समय मे दर्शन और द्वितीय समय ज्ञान होता है। इस पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे विस्तार से विचार किया गया है और वृत्तिकार ने उस पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है*।

---

* अतएव सर्वज्ञो-विशेषांश पुरस्कारेण सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी—सामान्यांशपुरस्कारेण सर्वज्ञाता, नन्वर्हता केवल ज्ञान केवल दर्शनावरणयो क्षीणमोहान्त्यसमय एव क्षीणत्वेन युगपदुत्पत्तिकत्वेनोपयोगस्वभावात् क्रमप्रवृत्तौ च सिद्धाया "सव्वन्नू सव्वदरिसी" इतिसूत्र यथा ज्ञान-प्राधान्य सूचकमुपन्यस्त तथा "सव्वदरिसी सव्वन्नू" इत्येव दर्शनप्राधान्यसूचक कि न ?तुल्यन्या-

भगवान को केवल ज्ञान होने के बाद देवों ने उसका महोत्सव मनाया, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

**मूलम्—जरगं दिवसं समणस्स भगवओ महावीरस्स निव्वाणे कसिणे जाव समुप्पन्ने तरणं दिवसं भवणवइवाणमंतर-जोइसियविमाणवासि देवेहिं य देवीहि य उवयंतेहिं जाव उप्पिं-जलगभूए यावि होत्था ।**

छाया—यद् दिवसं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य निर्वाणः कृत्स्नः यावत् समुत्पन्नः तद् दिवसं भवनपतिवाणव्यन्तरज्योतिषिकविमानवासिदेवैश्च देवी-भिश्च उत्पतद्भिः यावद् उत्पिंजलक भूतश्चापि अभवत् ।

पदार्थ—जण्णं दिवसं—जिस दिन । समणस्स—श्रमण । भगवओ—भगवान । महावीरस्स—महावीर स्वामी को। निव्वाणे—निर्वाण-निर्मल । कसिणे—सम्पूर्ण । जाव—यावत् केवल-ज्ञान केवल दर्शन । समुप्पन्ने—उत्पन्न हुआ । तण्णं दिवसं—उसी दिन । भवण-वइवाणमंतर जोइसिय विमाणवासि देवेहि—भवनपति वानव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवो । य—और । देवीहि—देवियो से । य—पुन । उवयंतेहि—आकाश से देवो और देवियो के आने जाने से । जाव—यावत् । उप्पिजलगभूए यावि होत्था—आकाश में उद्योत और देवो से आकाश आकीर्ण हो गया था ।

मूलार्थ—जिस दिन श्रमण भगवान महावीर स्वामी को केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ उसी दिन भवनपति, वाण व्यन्तर- ज्योतिषी और वैमानिक देवो के आने जाने से आकाश आकीर्ण हो रहा था और वहा का सारा आकाश प्रदेश जगमगा रहा था ।

---

यत्वात्, नैवं, "सव्वओ लद्धीओ सागारोवउत्तस्स उववज्जति, णो अणगारोवउत्तस्स"—( सर्वा लब्धय: साकारोपयुक्तस्योत्पद्यन्ते नानाकारोपयुक्तस्य ) इत्यागमादुत्पत्तिक्रमेण सर्वदा जिनाना प्रथमे समये ज्ञानं ततो द्वितीये दर्शनं भवतीति ज्ञापनार्थत्वादित्थमुपन्यासस्येति, छद्मस्थानां प्रथमे समये दर्शनं द्वितीये ज्ञानमि ति प्रसगाद् बोध्यम् ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वृत्ति, द्वितीय वक्षस्कार ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जब भगवान को केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त हुआ तो उनके द्वारा होने वाले अनन्त उपकार का स्मरण करके तथा उस पूर्ण आत्मा के चरणों में अपनी श्रद्धा अर्पण करने के लिए भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव वहां आए और उन्होंने कैवल्य महोत्सव मनाया।

अब भगवान द्वारा दी गई धर्मदेशना (उपदेश) का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्नवरनाणदंसणधरे अप्पाणं च लोगं च अभिसमिक्ख पुव्वं देवाणं धम्ममाइक्खइ, तओ पच्छा मणुस्साणं।**

छाया—ततः श्रमणो भगवान् महावीरः उत्पन्नवरज्ञानदर्शनधरः आत्मानं च लोकं च अभिसमीक्ष्य पूर्वं देवानां धर्ममाख्याति ततः पश्चात् मनुष्याणाम्।

पदार्थ—णं—वाक्यालंकार में है। तओ—तदनन्तर। 'उप्पन्नवरनाणदंसणधरे'—उत्पन्न प्रधान ज्ञान दर्शन के धारक। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान। महावीरे—महावीर ने। अप्पाणं च—अपनी आत्मा को और। लोगं च—लोक को। अभिसमिक्ख—केवल ज्ञान द्वारा जान कर। पुव्वं देवाण—पहले देवों को। तओ पच्छा—तदनन्तर। मणुस्साणं—मनुष्यों को। धम्ममाइक्खइ—धर्म का उपदेश दिया।

मूलार्थ—तदनन्तर उत्पन्न प्रधान ज्ञान और दर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने केवल ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा तथा लोक को भली भांति देखकर पहले देवों को और पश्चात् मनुष्यों को धर्म का उपदेश दिया।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान ने अपनी सेवा में उपस्थित चारों जाति के देवों को धर्मोपदेश दिया। उसके बाद उन्होंने जनता (मनुष्यों) को धर्मोपदेश दिया। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि महापुरुष अपने पास आने वाले

देव, मानव आदि प्रत्येक व्यक्ति को धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग बताते हैं, उन्हें समस्त बन्धनों से मुक्त होने की राह बताते हैं। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही उपदेश देते हैं। वे जब संपूर्ण पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने-देखने लगते हैं, तभी वे प्रवचन करते हैं। जिससे उनके प्रवचन में विरोध एवं विपरीतता को अवकाश नहीं रहता और उसमें यथार्थता होने के कारण जनता के हृदय पर भी उसका असर होता है।

स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि भगवान के प्रथम प्रवचन में केवल देव ही उपस्थित थे, उस समय कोई मानव वहां उपस्थित नहीं था। और देव त्याग, व्रत, नियम आदि को स्वीकार नहीं कर सकते। इस कारण भगवान का प्रथम प्रवचन व्रत स्वीकार करने की (आचार की) अपेक्षा से असफल रहा था। इसलिए इस घटना को आगम में अन्य आश्चर्यकारी घटनाओं के साथ आश्चर्य जनक माना गया है*।

अब मानव को दिए गए धर्मोपदेश के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्—तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्ननाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं पंच महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकाया आतिक्खति भासइ परूवेइ, तं०—पुढविकाए जाव तसकाए।**

छाया—ततः श्रमणो भगवान् महावीरः उत्पन्नज्ञानदर्शनधरः गौतमादीनां श्रमणानां पंचमहाव्रतानि सभावनानि षड्जीवनिकायान् आख्याति भाषते प्ररूपयति तद्यथा पृथिवीकायः यावत् त्रसकाय.।

पदार्थ—ण—वाक्यालंकारार्थक है। तओ—तदनन्तर। उपन्न नाणदसणधरे—उत्पन्न हुए प्रधान ज्ञान और दर्शन को धरने वाले। समणे—श्रमण। भगवं—भगवान। महावीरे—महावीर ने। गोयमाई ण—गौतमादि। समणाणं—श्रमणो को। समावणाइ—भावनाओ से युक्त। पचमहव्वयाइ—पाच महाव्रत और। छज्जीवनिकाया—षट् जीव निकाय का। आतिक्खति—सामान्य रूप से उपदेश दिया। भासइ—भगवान ने अर्द्धमागधी भाषा में भाषण किया। परूवेइ—विस्तार से तत्वो का प्रतिपादन किया। तं जहा—जैसेकि। पुढवीकाए—पृथिवीकाय

* स्थानांग सूत्र, स्थान १०।

जाव—यावत् । तसकाए—त्रसकाय ।

मूलार्थ—तत् पश्चात् केवल ज्ञान और दर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर ने गौतमादि श्रमणों को भावना सहित पाच महाव्रतों और पृथिवी आदि षट् जीव निकाय स्वरूप का सामान्य प्रकार से तथा विशेष प्रकार से अर्द्धमागधोभाषा मे प्रतिपादन किया ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भगवान द्वारा दिए गए उपदेश का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि देवों को उपदेश देने के बाद भगवान ने गौतम आदि गणधरों, साधु-साध्वियों एवं श्रावक श्राविकाओं के सामने ५ महाव्रत एवं उसकी २५ भावनाओं तथा षट्जीवनिकाय आदि का उपदेश दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान को सर्वज्ञता प्राप्त होने के बाद इन्द्रभूति गौतम आदि विद्वान उनके पास आए और विचार-चर्चा करने के बाद भगवान के शिष्य बन गए। अतः उन्हें एव अन्य जिज्ञासु मनुष्यों की मोक्ष का यथार्थ मार्ग बताने के लिए संयम साधना के स्वरूप को बताना आवश्यक था। जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति में भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में कहा गया है कि भगवान ऋषभदेव कहते हैं कि जैसे यह संयम साधना या मोक्ष मार्ग मेरे लिए हितप्रद, सुखप्रद, एवं सर्व दुखों का नाशक है, उसी तरह जगत के समस्त प्राणियों के लिए भी अनन्त सुख-शान्ति का द्वार खोलने वाला है[1]।

---

[1] तस्स ण भगवंतस्स एतेणं विहारेण विहारमाणस्स एगे वास सहस्से वीइक्कते समाणे पुरिमतालस्स नगरस्स बहिया सगडमुहसि उज्जाणसि णिग्गोहवरपायवस्स अहे ज्भाणंतरियाए वट्टमाणस्स फग्गुणबहुलस्स इक्कारसीए पुव्वण्हकालसमयसि अट्ठमेणं भत्तेण अपाणएणं उत्तरासाढा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अणुत्तरेणं नाणेणं जाव चरित्तेणं अणुत्तरेणं तवेण बलेणं वीरिएणं आलएण विहारेण भावणाए खतीए मुत्तीए गुत्तीए तुट्ठीए अज्जवेण मद्दवेणं लाघवेणं सुचरिअसोवचिअ फल निव्वाणमग्गेण अप्पाण भावेमाणस्स अणते अणुत्तरे णिव्वाघाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवल वरनाणदंसणे समुप्पन्ने, जिणे जाए केवली सव्वन्नूसव्वदरिसी सणेरइअ तिरिअनरामरस्स लोगस्स पज्जवे जाणइ पासइ तजहा—आगइ गइ ठिइ उववायं भूत कड पडिसेविय आवीकम्म रहोकम्मं तत काल मणवयकाये जोगे एवमादी जीवाणवि सव्वभावे अजीवाणवि सव्वभावे मोक्ख मग्गस्स विसुद्धतराए भावे जाणमाणे पासमाणे एस खलु मोक्खमग्गे ममअण्णेसि च जीवाणं हियसुह णिस्सेस करे सव्वदुक्ख विमोक्खणे परमसुहसमाणणे भविस्सइ। तते ण से भगव समणाण निग्गथाण य णिग्गथीण य पच महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकाए धम्मं देसमाणे विहरति, तजहा पुढविकाइए भावणागमेण पच महव्वयाइ सभावणगाइ भाणिअव्वाइति। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र।

अतः सभी तीर्थंकर जगत के सभी प्राणियों की रक्षा रूप दया के लिए उपदेश देते हैं‡। उनका यही उद्देश्य रहता है सभी प्राणी साधना के यथार्थ स्वरूप को समझकर उस पर चलने का प्रयत्न करे।

इसी दृष्टि से भगवान महावीर गौतम आदि सभी साधु साध्वियों एवं अन्य मनुष्यों के सामने उपदेश देते हैं और साधना के प्रशस्त पथ का-जिस पर चलकर आत्मा अनन्त शान्ति को पा सके, प्रसार एवं प्रचार करने के लिए चार तीर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की स्थापना करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर सर्वज्ञ बनने के बाद तीर्थ की स्थापना करतें हैं, इसे संघ भी कहते हैं। जिसके द्वारा विश्व में धर्म का, अहिंसा का शान्ति का प्रचार किया जा सके।

इस तरह साधना के मार्ग का यथार्थ रूप बताते हुए भगवान महावीर प्रथम महव्रात के सम्बन्ध में कहते हैं—

**मूलम्—पढमं भंते ! महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा ३ जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।**

छाया—प्रथमं भदन्त ! महाव्रतं प्रत्याख्यामि सर्वं प्राणातिपातं तत् सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणातिपातं कुर्यात्-करोमि ३ यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

पदार्थ—भंते—हे भगवन्। पढ़मं—मैं प्रथम। महव्वयं—महाव्रत को। पच्चक्खामि—ज्ञ प्रज्ञा से प्राणातिपात को अनिष्ट जानकर प्रत्याख्यान प्रज्ञा से उस का प्रत्याख्यान

‡ सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए भगवया पावयण सुकहियं।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार।

करता हू। सव्वं—सर्व प्रकार के। पाणाइवायं—प्राणातिपात का त्याग करता हू। से—वह। सुहुमं वा—सूक्ष्म जीव अथवा। बायर व—बादर-स्थूल जीव। तसं वा—त्रस या। थावरं वा-स्थावर जीव। वा—समुच्चयार्थ मे है। एव—निश्चय ही। सय—स्वय-अपने आप। पाणाइवाय-प्राणातिपात-प्राणियो का वध। न करिज्जा ३—नही करू गा, न अन्य से वध कराऊ गा। वध करने वाले का अनुमोदन भी नही करू गा। जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त। तिविहं—तिन करण। तिविहेणं—तीन योग जैसे कि। मणसा—मन से। वयसा—वचन से। कायसा-काया से। भंते—हे भगवन्! तस्स—उस पाप से। पडिक्कमामि—निवृत्ति करता हू। पीछे हटता हू। निंदामि—आत्मा की साक्षी से उसकी निन्दा करता हू। गरिहामि—गुरु की साक्षी से गर्हणा करता हू। अप्पाणं—अपनी आत्मा को पाप से। वोसिरामि—पृथक् करता हू।

मूलार्थ—हे भगवन् मै प्रथम महाव्रत मे प्राणतिपात से सर्वथा निवृत होता, हू, मै सूक्ष्म, वादर, त्रस-स्थावर समस्त जीवो का न तो स्वय प्राणातिपात-हनन करू गा, न दूसरो से कराऊंगा, और न उनका हनन करने वालो की अनुमोदना करू ंगा। हे भगवन् ! मै यावज्जीव अर्थात् जीवनपर्यन्त के लिए तीन करण और तीन योग से-मनसे वचन से और काया से इस पाप से प्रतिक्रमण करता हू-पीछे हटता हू, आत्म साक्षी से इस पाप की निन्दा करता हू और गुरु साक्षी से गर्हणा करता हू। तथा अपनी आत्मा को हिंसा के पाप से पृथक करता हू।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे प्रथम महाव्रत का वर्णन किया गया है। उस महाव्रत को स्वीकार करते समय साधक गुरु के सामने हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है। वह जीवन पर्यन्त के लिए सूक्ष्म या बादर (स्थूल), त्रस या स्थावर किसी भी प्राणी की मन, वचन और काया से किसी भी तरह की हिंसा नहीं करता, न अन्य प्राणी से हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले प्राणी का अनुमोदन—समर्थन ही करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'प्राणातिपात' का अर्थ है, प्राणों का नाश करना। क्योंकि, प्रत्येक प्राणी में स्थित आत्मा का अस्तित्व सदा काल बना रहता है। अत प्राणी की हिंसा का अर्थ है, उनके प्राणों का नाश कर देना। और प्राणों की अपेक्षा से ही ससारी जीव को प्राणी कहा जाता है। क्योंकि, वह प्राणों को धारण किए हुए है,

महाव्रतों का निर्दोष परिपालन करने के लिए उनकी भावनाओं का आचरण

करना आवश्यक है। इसलिए प्रथम महाव्रतों की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थिमा पढमा भावणा इरियासमिए से निग्गंथे नो अणइरियासमिएत्ति, केवली बूया० अणाइरियासमिए से निग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्ज वा वत्तिज्ज वा परियाविज्ज वा लेसिज्ज वा उद्दविज्ज वा, इरियासमिए से निग्गंथे नो अणइरियासमिइत्ति पढमा भावणा ॥१॥**

छाया--तस्य इमा: पञ्च भावना भवन्ति, तत्र इयं प्रथमा भावना--ईर्यासमितः स निर्ग्रन्थः नो अनीर्यासमितः इति केवली ब्रूयात् आदानमेतत् अनीर्यासमित: सः निर्ग्रन्थ: प्राणिनः भूतानि, जीवान् सत्त्वानि अभिहन्याद् वा वर्तयेद् वा परितापयेद् वा श्लेषयेत् वा अपद्रापयेद् वा, ईर्यासमितः स निर्ग्रन्थ: नो अनीर्यासमितः इति प्रथमा भावना।

पदार्थ—तस्स—उस प्रथम महाव्रतकी। इमा—ये-आगे कही जाने वाली। पच—पाच। भावणाओ—भावनायें। भवति—होती हैं। तत्थिमा—उन पाँचो में से यह–जोकि आगे। कही जाती हैं। पढमा—प्रथम। भावणा—भावना है। इरियासमिए—ईर्यासमिति से युक्त। से—वह। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ। नो अणइरिया समिएत्ति—ईर्यासमिति से रहित साधु नही कहा जाता, इस प्रकार से। केवली बया०—केवली भगवान कहते है और यह कर्म आने का कारण है क्योकि। अणइरियासमिए—ईर्या समिति से रहित। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ-साधु। पाणाइ-प्राणियो को। भूयाइ—भूतो को। जीवाइ—जीवो को। सत्ताइं—सत्त्वो को। अभिहणिज्ज वा - अभिहनन करता है। वत्तिज्ज वा—एकत्रित करता है तथा। परियाविज्ज वा—परितापना देता है। लेसिज्ज वा—भूमि से संश्लिष्ट करता है। उद्दविज्ज वा—जीवन से रहित करता है, अतः वह निर्ग्रन्थ नही, परन्तु। इरियासमिए—ईर्या समिति से युक्त साधु। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ होता है अर्थात् वह किसी जीव की हिंसा नही करता है। नो अण इरियासमिइत्ति—वह ईर्या समिति से रहित नही होता है इस प्रकार। पढमाभावना—यह प्रथम भावना है।

मूलार्थ—प्रथम महाव्रत की ५ भावनाए होती है उनमे से पहली भावना यह है—निर्ग्रन्थ ईर्या समिति से युक्त होता है, न कि उससे रहित। भगवान कहते है कि ईर्या समिति का अभाव कर्म आने का द्वार है। क्योकि इससे रहित निर्ग्रन्थ प्राणी, भूत, जीव और सत्व की हिसा करता है उन्हे एक स्थान से स्थानान्तर मे रखता है, परिताप देता है, भूमि से सश्लिष्ट करता है और जीवन से रहित करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को ईर्या समिति युक्त होकर सयम का आराधन करना चाहिए, यह प्रथम भावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पहले महाव्रत की प्रथम भावना का उल्लेख किया गया है। भावना साधक की साधना को शुद्ध रखने के लिए होती है। प्रथम महाव्रत की प्रथम भावना ईर्यासमिति से संबद्ध है। इस में बताया गया है कि साधु को विवेक एवं यतना पूर्वक चलना चाहिए। यदि वह विवेक पूर्वक ईर्या समिति का पालन करते हुए चलता है, तो पाप कर्म का वन्ध नहीं करता है❀। और इसके अभाव में यदि अविवेक से गति करता है तो पाप कर्म का बन्ध करता है। अत: साधक को ईर्या समिति के परिपालन में सदा सावधान रहना चाहिए। इससे वह प्रथम महाव्रत का सम्यक्तया परिपालन कर सकता है। ईर्या समिति गति से संबद्ध है†। अत: चलने-फिरने में विवेक एव यतना रखना साधु के लिए आवश्यक है।

अब सूत्रकार द्वितीय भावना के सम्बन्ध में कहते हैं।

**मूलम्—अहावरा दुच्चा भावणा—मणं परियाणाइ से निग्गंथे, जे य मणो पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे**

---

❀ जय चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जय सए। जय भुञ्जन्तो भासन्तो पावकम्मं न बधई॥
—दशवैकालिक सूत्र, ४, ८।

† ईरण-गमनं ईर्या तस्या समितो-दत्तावधान: पुरतो—
युगमात्रभूभागन्यस्तदृष्टिगामीत्यर्थः॥

—आचाराग वृत्ति।

अहिगरणिए पाउसिए पारियाविए पाणाइवाइए भूओवघाइए, तहप्पगारं मणं नो पधारिज्जा गमणाए, मणं परियाणइ से निग्गन्थे, जे य मणे अपावएत्ति दुच्चा भावणा ॥२॥

छाया—अथापरा द्वितीया भावना मनः परिजानाति सः निर्ग्रन्थः यच्च मनः पापक सावद्य सक्रियं आश्रवकरं छेदकरं भेदकरं आधिकरणिकं प्राद्वेषिक पारितापिकं प्राणातिपातकं भूतोपघातिकं तथाप्रकारं मनः नो प्रधारयेत् गमनाय, मनः परिजानाति स निर्ग्रन्थः यच्च मनः अपापकम् इति द्वितीया भावना।

पदार्थ—अहावरा—अब इससे भिन्न। दुच्चाभावणा—दूसरी भावना को कहते हैं। मणं परियाणइ—जो पाप मयी विचारणा से मनको हटावे। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ है। य—पुनः। जे—जो। मणे—मन। पावए—पापयुक्त। सावज्जे—सावद्य-पापरूप। सकिरिए—क्रियायुक्त। अण्हयकरे—आश्रव के करने वाला। छयकरे—प्राणियो के छेदन करने वाला। भेयकरे—भेदन करने वाला। अहिगरणिए—कलह करने वाला। पाउसिए—द्वेष करने वाला। परियाविए—परिताप का देने वाला। पाणाइवाइए—प्राणातिपात के करने वाला। भूओवघाइए—भूतो का उपघात करने वाला है तो साधु। तहप्पगारं—तथाप्रकार के। मण—मन को। नो पधारिज्जा—धारण न करे। मणं परिजाणइ—जो मन को हिंसा से हटाता है। य—पुनः। जे—जिसका। मणे—मन। अपावएति—पाप से रहित है। से निगंथे—वह निर्ग्रन्थ है। दुच्चाभावणा—यह दूसरी भावना है।

मूलार्थ—अब दूसरी भावना को कहते हैं-जो मनको पापो से हटाता है वह निर्ग्रन्थ है। साधु ऐसे मन (विचारों) को धारण न करे, पापकारी, सावद्यकारी, क्रिया युक्त, आश्रव करने वाला, छेदन तथा भेदन करने वाला, कलह कारी, द्वेषकारी, परितापकारी, प्राणो का अतिपात करने वाला और जीवो का उपघानक है। जो अपने मनको पाप से हटाता है वह निर्ग्रन्थ है, यह दूसरी भावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में मन शुद्धि का वर्णन किया गया है। पहले महाव्रत को निर्दोष एवं शुद्ध बनाए रखने के लिए मन को शुद्ध रखना आवश्यक है। मन के बुरे संकल्प विकल्पों से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है और उसके कारण साधक की प्रवृत्ति में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि कर्म बन्ध का मुख्य आधार मन (परिणाम) है क्रिया से कर्म वर्गणा के पुद्गल आते हैं, परन्तु उनका बन्ध परिणामों की शुद्धता एवं अशुद्धता या तीव्रता एवं मन्दता पर आधारित है*। अन्य दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी मन को बन्धन एवं मुक्ति का कारण माना है†। बुरे मन से आत्मा पाप कर्मों का संग्रह करके संसार में परिभ्रमण करता है और शुभ संकल्प एवं मानसिक चिन्तन मनन से अशुभ कर्म बन्धनों को तोड़ कर आत्मा मुक्ति की ओर बढ़ता है। अस्तु, साधक को सदा मानसिक संकल्प एवं चिन्तन को शुद्ध बनाए रखना चाहिए। क्योंकि, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति को विशुद्ध बनाए रखने के लिए मन के चिन्तन को विशेष शुद्ध बनाए रखना आवश्यक है। मानसिक चिन्तन जितना अधिक शुद्ध होगा, प्रवृत्ति उतनी ही अधिक निर्दोष होगी।

अतः मानसिक चिन्तन की शुद्धता के बाद वचन शुद्धि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार तीसरी भावना के सम्बन्ध में कहते हैं—

**मूलम्-अहावरा तच्चा भावणा-वइं परिजाणइ से निग्गंथे जा य वई पाविया सावज्जा सकिरिया जाव भूओवघाइया तहप्पगारं वइं नो उच्चारिज्जा, जे वइं परिजाणइ से निग्गंथे, जा य वई अपावियत्ति तच्चा भावणा॥३॥**

छाया—अथापरा तृतीया भावना वाचं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः या च वाक् पापिका सावद्या सक्रिया यावत् भूतोपघातिका तथाप्रकारां वाचं नो उच्चारयेत् यो वाचं परिजानाति स निर्ग्रन्थः या च वाक् अपापिकेति तृतीया भावना।

---

* परिणामे बन्धः।

† कर्म एव कारणं बन्ध-मोक्षयोः।

पदार्थ—अहावरा—अब दूसरी के बाद। तच्चा—तीसरी। भावणा—भावना को कहते हैं। वइ परिजाणइ—पापमय वचन को जो छोडता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। जा य—और जो। वई—वाणी। पाविया—पाप युक्त है। सावज्जा—सावद्य है। सकिरिया—क्रिया युक्त। जाव—यावत्। भूओवघाइया—भूतो-जीवो का उपघात करने वाली है। तहप्पगारं—तथाप्रकार की। वइं—वाणी-वचन का। नो उच्चारिज्जा—उच्चारण न करे। जे—जो। वइ परिजाणइ—सदोष वाणी वचन को 'ज्ञ' प्रज्ञा से जान कर और 'प्रत्याख्यान' प्रज्ञा से त्याग करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। जाव—यावत्। वइ—साधु की वाणी। अपावियत्ति—पाप से रहित हो इस प्रकार यह। तच्चा भावणा—तीसरी भावना है।

मूलार्थ—अब तीसरी भावना का स्वरूप कहते है-जो साधक सदोष वाणी-वचन को छोडता है, वह निर्ग्रन्थ है। जो वचन पापमय, सावद्य और सक्रिय यावत् भूतो-जीवो का उपघातक, विनाशक हो, साधु उस वचन का उच्चारण न करे। जो वाणी के दोषो को जानकर उन्हें छोडता है और पाप रहित निर्दोष वचन का उच्चारण करता है उसे निर्ग्रन्थ कहते है। यह तीसरी भावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वाणी की निर्दोषता का वर्णन किया गया है। इसमे स्पष्ट कर दिया गया है कि सावद्य, सदोष एवं पापकारी भाषा का प्रयोग करने वाला व्यक्ति निर्ग्रन्थ नहीं हो सकता। क्योंकि सदोष एव पापयुक्त भाषा से जीव हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। अत: साधु को अपने वचन का प्रयोग करते समय भाषा की निर्दोषता पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। उसे कर्कश, कठोर, व्यक्ति-व्यक्ति में छेद-भेद एव फूट डालने वाले, हास्यकारी, निश्चयकारी, अन्य प्राणियों के मन मे कष्ट, वेदना एव पीड़ा देने वाली, सावद्य एव पापमय भाषा का कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रथम महाव्रत की शुद्धि के लिए भाषा की शुद्धता एव निर्दोषता का परिपालन करना आवश्यक है।

अब चौथी भावना का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहावरा चउत्था भावणा-आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे, नो अणायाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए, केवली बूया०-आयाणभंडमत्तनिक्खेवणा असमिए से

**निग्गंथे, पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्जा वा जाव उद्दविज्ज वा, तम्हा आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे नो आयाणभंडमत्तनिक्खेवणा असमिएत्ति चउत्था भावणा ।४।**

छाया—अथापरा चतुर्थी भावना-आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितः स निर्ग्रन्थः नो अनादानभांडमात्रनिक्षेपणाऽसमितः केवली ब्रूयात् आदानमेतत् आदानभांडमात्रनिक्षेपणाअसमितः स निर्ग्रन्थः प्राणिनः भूतानि, जीवान् सत्वानि अभिहन्याद् वा यावत् अपद्रावयेद् वा तस्मात् आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समितः स निर्ग्रन्थः नो आदान भाण्डमात्रनिक्षेपणा असमितः इति चतुर्थी भावना ।

पदार्थ—अहावरा—तीसरी भावना से आगे अब । चउत्था भावणा—चौथी भावना को कहते हैं यथा । आयाण भंडमत्त निक्खेवणा समिए—भण्डोपकरण समिति से युक्त है अर्थात् यतना पूर्वक वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को ग्रहण करना है तथा यतना पूर्वक उन्हें उठाना एवं रखना है । से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है । नो आणायाण भंडमत्त निक्खेवणा असमिए—साधु आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा असमिति वाला न हो क्योंकि । केवली—केवली भगवान । बूया—कहते हैं कि यह कर्म बन्धन का कारण है अत. जो साधु । आयाण भंडमत्त निक्खेवणा असमिए—भाण्डोपकरण लेता हुआ और रखता हुआ समिति से रहित होता है । से निग्गंथे—वह साधु । पाणाइं—प्राणी । भूयाइं—भूत । जीवाइं—जीव और । सत्ताइं—सत्वों को । अभिहणिज्ज वा—अभिहनन करता है । जाव—यावत् । उद्दविज्ज वा—प्राणों से पृथक करता है । तम्हा—इस लिए । आयाण भंडमत्तनिक्खेवणा समिए—जो आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से युक्त है । से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ साधु है । नो आयाण भंडमत्त निक्खेवणा असमिएत्ति-अतः साधु आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा असमिति से युक्त न हो अर्थात् समिति से युक्त हो यह । चउत्थीभावणा—चौथी भावना कही गई है ।

मूलार्थ—अब चतुर्थ भावना को कहते हैं-जो आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से युक्त होता है वह निर्ग्रन्थ है । अतः साधु आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से रहित न हो, क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि जो इससे रहित होता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणी भूत, जीव, और सत्वों का हनन

होता है यावत् उनको प्राणों से रहित करने वाला होता है। अतः जो साधु इस समिति से युक्त है वह निर्ग्रन्थ है। यह चौथी भावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में शारीरिक क्रिया की शुद्धि का उल्लेख किया गया है। साधु को मन, वचन की शुद्धि के साथ शारीरिक प्रवृत्ति को भी सदा शुद्ध रखना चाहिए। उसे अपनी साधना में आवश्यक भंडोपकरण आदि ग्रहण करना पड़े या कहीं रखने एवं उठाने की आवश्यकता पड़े तो उसे यह कार्य विवेक एवं यतना पूर्वक करना चाहिए। अयतना से कार्य करने वाला साधु प्रथम महाव्रत को शुद्ध नहीं रख सकता और वह पाप कर्म का बन्ध करता है। क्योंकि अविवेक से जीवों की हिंसा का होना संभव है और जीव हिंसा पाप बन्धन का कारण है तथा इससे प्रथम महाव्रत का भी खण्डन होता है। अत: साधु को प्रत्येक उपकरण विवेक से उठाना एवं रखना चाहिए।

अब पांचवीं भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहावरा पंचमा भावणा—आलोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणालोइयपाणभोयणभोई, केवली बूया०-अणालोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे पाणाणि वा ४ अभिहणिज्ज वा जाव उद्दविज्ज वा, तम्हा आलोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे, नो अणालोईयपाणभोयणभोईत्ति पंचमा भावना ॥५॥

छाया—अथापरा पंचमी भावना आलोकितपानभोजनभोजीसः निर्ग्रन्थः नो अनालोकितपानभोजनभोजी केवली ब्रूयात् आदानमेतत् अनालोकितपानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः प्राणिनः वा ४ अभिहन्याद् वा यावत् अपद्रापयेद् वा तस्मात् आलोकितपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः नो अनालोकितपानभोजन भोजी इति पंचमी भावना।

पदार्थ—अहावरा पंचमा भावना—अब पांचवीं भावना को कहते हैं। आलोइयपाण-भोयणभोई—जो विवेक पूर्वक देखकर आहार-पानी करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। नो अणालोइय पाण भोयणभोई—और विना देखे आहार पानी करने वाला निर्ग्रन्थ नहीं है क्योंकि। केवली बूया०—केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म बन्ध का हेतु है। अणालोईयपाण भोयणभोई—जो विना देखे आहार पानी करता है। से—वह। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ पाणाणि वा ४—प्राणि भूत जीव और सत्वों का। अभिहणिज्ज वा—अभिहनन करने। जाव—यावत्। उद्दविज्ज वा—प्राणों से रहित करने वाला होता है। तम्हा—इसलिए। आलोइय-पाणभोयण भोई—जो देखकर आहार पानी करता है। से—वह। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ है। नो अणालोइय पाण भोयण भोईति—न कि विना देखे आहार, पानी करने वाला, इस प्रकार। पंचमा भावणा—यह पांचवी भावना है।

मूलार्थ—अब चौथी के बाद पांचवीं भावना को कहते हैं-जो विवेक पूर्वक देख कर आहार-पानी करता है वह निर्ग्रन्थ है और जो विना देखे आहार पानी करता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणि आदि जीवों की हिंसा करता है, उन्हें प्राणों से पृथक् करता है। इसलिए देखकर आहार पानी करने वाला ही निर्ग्रन्थ होता है। यह पांचवी भावना है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को बिना देखे खाने-पीने के पदार्थों का उपयोग नहीं करना चाहिए। आहार को जाने के पूर्व मुनि को अपने पात्र भी भली-भांति देख लेने चाहिएं और उसके बाद प्रत्येक खाद्य एवं पेय पदार्थ सम्यक्तया देख कर ही ग्रहण करना चाहिए और उन्हें देख कर ही खाना पीना चाहिए। बिना देखे पदार्थ लेने एवं खाने से जीवों की हिंसा होने एवं रोग आदि उत्पन्न होने की संभावना है। अतः साधु को इस में पूरा विवेक रखना चाहिए। ये पांचों भावनाएं प्रथम महाव्रत को शुद्ध एवं निर्दोष रखने के लिये आवश्यक हैं। इनके सम्यक् आराधन से साधक अपनी साधना में तेजस्विता ला सकता है।

प्रथम महाव्रत का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एयावता महव्वए सम्मं काएण फासिए पालिए तीरिए किट्टिए अवट्ठिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पढमे

भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ॥

छाया—एतावता महाव्रत सम्यक् कायेन स्पर्शितं पालितं तीर्णं कीर्तितम् अवस्थितं आज्ञया आराधित चापि भवति, प्रथमे भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद् विरमणम् ।

पदार्थ—एतावता—इस प्रकार । महव्वए—प्रथम महाव्रत को । सम्मं—सम्यक्तया । कायेण—काया से । फासिए—स्पर्शित किया । पालिए—पालन किया । तीरिए—पार पहुचाया । किट्टिए—कीर्तन किया । अवट्ठिए—अवस्थित रखा जाता है और । आणाए—उसका आज्ञा पूर्वक । आराहिए—आराधन किया । यावि भवइ—जाता है । च, पुनः और अपि-समुच्चय अर्थ में जानना । भंते—हे भगवन् । पढमेमहव्वए—मैं प्रथम महाव्रत में । पाणाइवायाओ-प्राणातिपात से । वेरमणं—निवृत्त होता हू अर्थात् प्रथम महाव्रत प्राणातिपात विरमण रूप है ।

मूलार्थ—साधक द्वारा स्वीकृत प्राणातिपात (हिंसा) के त्याग रूप प्रथम महाव्रत को इस प्रकार काया से स्पर्शित करके उसका पालन किया जाता है, उसे तीर पर पहुचाया जाता है, उसका कीर्तन किया जाता है, उसे अवस्थित रखा जाता है और उसका आज्ञा के अनुरूप आराधन किया जाता है । इस प्रकार प्रथम महाव्रत मे साधु प्राणातिपात से निवृत्त होता है ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह अभिव्यक्त किया गया है कि प्रत्येक साधना का महत्त्व उसका परिपालन करने में है । प्रथम महाव्रत का सम्यक्तया आचरण करने से ही आत्मा का विकास हो सकता है । जब तक वह जीवन में साकार रूप ग्रहण नहीं करता तब तक साधक की साधना में तेजस्विता नही आसकती । इसलिए साधक को चाहिए कि वह आगम मे दिए गये आदेश के अनुसार प्रथम महाव्रत को आचरण मे उतारकर जीवन पर्यन्त उसका परिपालन करे, सम्यक् सम्यक्तया आराधन करे ।

अब द्वितीय महाव्रत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहावरं दुच्चं महव्वयं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं वइदोसं, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं

मुसं भासिज्जा नेवन्नेणं मुसं भासाविज्जा अन्नंपि मुसं भासंतं न समणुमन्निज्जा तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि जाव वोसिरामि ॥

छाया—अथापर द्वितीयं महाव्रतं प्रत्याख्यामि सर्वं मृषावादं वाग्दोषं सः क्रोधाद् वा लोभाद् वा भयाद् वा हासाद् वा नैव स्वयं मृषा भाषेत नैवान्येन मृषा भाषयेत् अन्यमपि मृषा भाषमाणं न समनुजानीयात् त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि यावत् व्युत्सृजामि ।

पदार्थ—अहावरं—अब अन्य । दुच्चं—दूसरे । महव्वय—महाव्रत को कहते हैं । सव्वं मुसावायं—सर्व प्रकार के मृषावाद । वइदोसं—वाणी-वचन के दोषों का । पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं अर्थात् ज्ञ प्रज्ञा से उन्हे जानकर प्रत्याख्यानप्रज्ञा से उनका प्रत्याख्यान करता हूं-त्याग करता हू । से—वह साधु । कोहा वा—क्रोध से । लोहा वा—लोभ से । भयावा—भय से । हासा वा—हास्य से । एय—निश्चयार्थक है । सय—स्वय अपने आप । मुस—मृषा झूठ । न भासिज्जा—न बोले । अन्नेण—दूसरों से । मुसं—मृषा-झूठ । न भासविज्जा—न बुलावे तथा । मुस-मृषा । भासंत—भाषण करते हुए । अन्नपि—अन्य व्यक्ति का । न समणुमन्निज्जा—अनुमोदन भी न करे । तिविहं—तीन करण और । तिविहेण—तीन योग से । मणसा—मन से । वयसा—वचन से । कायसा—काया से । भंते—हे भगवन् मैं । तस्स—उस मृषा वाद रूपी पाप से । पडिक्कमामि—पीछे हटता हू । जाव—यावत् आत्म साक्षी से उसकी निन्दा और गुरुसाक्षी से गर्हणा करता हुआ । वोसिरामि—मृषा वाद से अपने आत्मा को पृथक करता हूं ।

मूलार्थ—इस द्वितीय महाव्रत मे साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! मै आज से मृषावाद और सदोष वचन का सर्वथा परित्याग करताहूं । अतः साधु क्रोध से, लोभ से, भय से, और हास्य से न स्वयं झूठ बोलता है न अन्य व्यक्ति को असत्य बोलने की प्रेरणा देता है और न मृषा भाषण करने वालों का अनुमोदन करता है इस तरह साधक तीन करण एव तीन योग से मृषावाद का त्याग करके यह प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! मैं मृषावाद से पीछे हटता हूं, आत्म साक्षी से उसकी निन्दा करता हू और गुरु साक्षी

से उसकी गर्हणा करता हू और अपनी आत्मा को मृषावाद से सर्वथा पृथक् करता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में दूसरे महाव्रत का वर्णन किया गया है। असत्य आत्मा के लिए पतन का कारण है। उससे आत्मा में अनेक दोष आते हैं और पाप कर्म का बन्ध होता है। इस लिए साधक उसका सर्वथा त्याग करता है और उसके साथ उसके कारणों का भी त्याग करता है। इसमें बताया गया है कि व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ के वश होकर झूठ बोलता है। अतः साधक को इन कषायों का त्याग कर देना चाहिए। और यदि कर्मोदय से कभी कषाय का उदय हो रहा हो तो मौन ग्रहण करके पहले कषाय को उपशान्त करना चाहिए, उसके बाद भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि जो साधक असत्य भाषा का सर्वथा त्याग नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ नहीं कहला सकता। वस्तुतः असत्य से पूर्णत निवृत्त साधक ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है।

उक्त महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तस्सेमाओ पंच भावणाओ भवंति। तत्थिमा पढमा भावणा-अणुवीइभासी से निग्गंथे, नो अणणुवीइभासी, केवली बूया०-अणणुवीइभासी से निग्गंथे समावज्जिज्ज मोसं वयणाए, अनुवीइभासी से निग्गंथे नो अणणुवीइभासित्ति पढमा भावणा ॥१॥

अहावरा दुच्चा भावणा-कोहं परियाणइ से निग्गंथे, न य कोहणे सिया, केवली बूया-कोहपत्ते कोहत्तं समावइज्जा मोसं वयणाए, कोहं परियाणइ से निग्गंथे, न य कोहणे सियत्ति दुच्चा भावणा ॥२॥

अहावरा तच्चा भावणा लोभं परियाणइ से निग्गंथे नो अ लोभणाए सिया,केवली बूया०-लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए. लोभं परियाणइ से निग्गंथे, नो य लोभणए सियत्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा-भयं परिजाणइ से निग्गंथे, नो भयभीरुए सिया, केवली बूया०-भयपत्ते भीरू समावइज्जा मोसं वयणाए, भयं परिजाणइ से निग्गंथे, नो भयभीरुए सिया, चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा-हासं परियाणइ से निग्गंथे, नो य हासणए, सिया केव० हासपत्ते हासी समावइज्जा मोसं वयणाए, होसं परिजाणइ से निग्गंथे, नो हासणए सियत्ति पंचमी भावणा ॥५॥

छाया—तस्येमाः पच भावना भवन्ति—

तत्र इय प्रथमा भावना–अनुविचित्यभाषी म निर्ग्रन्थः नो अननुविचिन्त्य भाषी. केवली ब्रूयात् आदानमेतत् अननुविचिंत्यभाषी स निर्ग्रन्थः समापद्येत मृषावचनं अनुविचिन्त्यभाषो स निर्ग्रन्थः नो अननुविचिन्त्यभाषीति प्रथमा भावना।

छाया—अथापरा द्वितीया भावना-क्रोधं परिजानाति स निर्ग्रन्थः न च क्रोधनः स्यात् केवलो ब्रूयात्आदानमेतद् क्रोधप्राप्तः क्रोधत्वं समावदेत् मृपा वचन क्रोध परिजानाति स निर्ग्रन्थः न च कोधनः स्यात् इति द्वितीभया ावना

अथापरा तृतीया भावना-लोभं परिजानाति स निर्ग्रन्थः न च लोभनः स्यात् केवली ब्रूयात् आदानमेतत् लोभप्राप्त लोभी समावदेत् मृषावचनं लोभ परिजानाति स निर्ग्रन्थः न च लोभनः स्यात् इति तृतीया भावना।

अथापरा चतुर्थी भावना-भय परिजानाति सः निर्ग्रन्थः नो भयभीरुकः स्यात् केवली ब्रूयाद् आदानमेतत्, भयप्राप्तः भीरुः समावदेत् मृषावचनम्, भय परिजानाति सः निर्ग्रन्थः नो भयभीरुकः स्यात् चतुर्थी भावना।

अथापरा पचमी भावना-हासं परिजानाति स निर्ग्रन्थः न च हसनकः स्यात् केवली ब्रूयात् आदानमेतत् हासं प्राप्तः हासी समावदेत् मृषावचनं हासपरिजानाति स निर्ग्रन्थः नो हसनकः स्यादिति पचमी भावना।

पदार्थ—तस्स—उस द्वितीय महाव्रत की। इमा—ये आगे कही जाने वाली। पच भावणाओ—पाच भावनायें। भवन्ति—होती हैं। तत्थिमा—उन पाच भावनाओ मे से यह। पढ्मा भावणा—पहली भावना है। अणुवीइ भासी—जो विचार कर भाषण करता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ है। नो अणणुवीइभासी—जो बिना विचारे भाषण करता है। केवली बूया०—केवली भगवान कहते है कि यह कर्म बन्ध का हेतु है। अणणुवीइभासी—बिना विचार किये बोलने वाला। से—वह। निग्गथे—निर्ग्रन्थ-साधु। मोसं—मृषावाद। वयणाए—वचन को। समावज्जिज्ज—प्राप्त होता है, अतः। अणुवीइभासी—जो विचार पूर्वक बोलता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ है। नोअणणुवीइ भासित्ति—न कि जा विना विचारे बोलता है। पढ्मा भावणा—यह प्रथम भावना है।

अहावरा—अब अन्य। दुच्चा भावणा—दूसरी भावना को कहते हैं। कोह—क्रोध का। परियाणइ—ज्ञ प्रज्ञा से-इस के कटु परिणाम को जान कर प्रत्याख्यान प्रज्ञा से उसका जो त्याग करता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ है। नो कोहणे सिया—साधु क्रोधी-क्रोधशील न हो। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं यह कर्म बन्ध का कारण है। कोहप्पत्ते—क्रोध को प्राप्त हुआ। कोहत्त—साधु क्रोध भाव को प्राप्त कर। मोसवयणाए—मृषा वचन। समावइज्जा—बोलता है अतः साधु क्रोध न करे। कोहं परियाणइ—जो क्रोध के कटुफल को जान कर उसे छोडता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ है। य—पुनः। न कोहणे सियत्ति—साधु क्रोधी-क्रोध करने वाला न हो। दुच्चा भावणा—यह दूसरी भावना है।

अहावरा तच्चा भावणा—अब तीसरी भावना को कहते है। लोभं परियाणइ—जो

लोभ के कटुफल को जानकर लोभ का परित्याग करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है । य—और। नो लोभणए सिया—साधु लोभ शील न होवे। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं। लोभपत्ते—लोभ को प्राप्त हुआ। लोभी—लोभी-लोभ करने वाला। मोसं वयणाए समावइज्जा-मृषा वचन बोलता है अतः। लोभंपरियाणइ—जो साधु लोभ के कटुफल को जान कर लोभ का परित्याग करता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ। नो य लोभणए सियत्ति—साधु लोभ शील-लोभी न हो इस प्रकार यह। तच्चा भावणा—तीसरी भावना है।

अहावरा चउत्था भावणा—अब चतुर्थ भावना को कहते है। भय परिजाणइ—भय को जानकर उसका परित्याग करता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ है । नो भवभीरुए सिया—साधु भय से भीरु न बने। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं। भयपत्ते-भय को प्राप्त हुआ भीरू-डरने वाला साधु। मोस वयणाए-मृषा वचन । समावइज्जा-बोल देता है अतः। भय परियाणइ-जो भय का परित्याग करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है इसलिए । नो भयभीरुएसिया-भय से भीरु न हो। त्ति-इस प्रकार। चउत्था भावणा-यह चतुर्थ भावना है।

अहावरा पंचमा भावणा-अब पाचवी भावना को कहते है । हासं परियाणइ-हास्य को जान कर जो हास्य का परित्याग करता है । से निग्गथे-वह निर्ग्रन्थ है । नो य हासणए सिया-और फिर वह निर्ग्रन्थ हसन शील न हो क्योकि । केवली०-केवली भगवान कहते है,यह कर्म बन्धन का हेतु है। हासपत्ते-हास्य को प्राप्त होकर। हासी-हास्य करने वाला मोसं-मृषा। वयणाए-वचन। समावइज्जा-बोलने वाला होता है अर्थात् वह झूठ भी बोल देता है अतः जो। हास परियाणइ-हास्य का परित्याग करता है। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है। नो हासणएसियत्ति-न कि हास्य शील होने वाला। पंचमा भावणा-यह पाचवी भावना कही है।

मूलार्थ—इन द्वितीय महाव्रत की ये पाच भावनाएं है—

उन पाच भावनाओ मे से प्रथम भावना यह है जो विचार पूर्वक भाषण करता है वह निर्ग्रन्थ है, बिना विचारे भाषण करने वाला निर्ग्रन्थ नही है। केवली भगवान कहते है कि बिना विचारे बोलने वाले निर्ग्रन्थ को मृषा भाषण की सप्राप्ति होती है अर्थात् मिथ्या भाषण का दोष लगता है अत. विचार पूर्वक बोलने वाला साधक ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है।

द्वितीय महाव्रत की दूसरी भावना यह है कि जो साधक क्रोध के कटु फल को जानकर उसका परित्याग करता है, वह निर्ग्रन्थ है। केवली भगवान का कहना है कि क्रोध एवं आवेश के वश व्यक्ति असत्य वचन का प्रयोग कर देता है। अत: क्रोध से निवृत्त साधक ही निर्ग्रन्थ होता है।

तीसरी भावना यह है कि लोभ का परित्याग करने वाला साधक निर्ग्रन्थ होता है। लोभ के वश होकर भी व्यक्ति झूट बोल देता है, अतः साधक को लोभ नही करना चाहिए।

चौथी भावना यह है कि भय का सर्वथा परित्याग करने वाला व्यक्ति निर्ग्रन्थ कहलाता है। भय से युक्त व्यक्ति अपने बचाव के लिए झूठ बोल देता है। अत: मुनि को सदा पूर्णतः भय से रहित रहना चाहिए।

पांचवी भावना यह है कि हास्य का त्याग करने वाला साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है। हास्यवश भो व्यक्ति असत्य भाषण कर सकता है। इस लिए मुनि को हास्य-हंसी-मजाक का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रथम महाव्रत की तरह द्वितीय महाव्रत की भी ५ भावनाएं हैं—१ विवेक-विचार से बोलना, २ क्रोध के वश, ३ लोभ के वश, ४ भय के वश और ५ हास्य के वश असत्य नहीं बोलना चाहिए। भाषा बोलने के पूर्व विवेक रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितकर है। परन्तु असत्य का सर्वथा त्याग करने वाले साधक के लिए यह अनिवार्य है कि वह विवेक पूर्वक एवं भाषा की सदोषता तथा निर्दोषता का विचार करके बोले। वह सदा इस बात का ख्याल रखे कि किसी भी तरह असत्य एवं सदोष भाषा का प्रयोग न होने पाए।

यह भी स्पष्ट है कि क्रोध और लोभ के वश भी व्यक्ति झूठ बोल जाता है। उस समय उसे बोलने का विवेक नहीं रहता है। इसी तरह भय भी मनुष्य के विवेक को विलुप्त कर देता है। उससे छुटकारा पाने के लिए भी असत्य का सहारा ले लेता है। अतः साधु को इन सब दोषों से मुक्त रहना चाहिए। उसे क्रोध लोभ, एवं भय आदि विकारों से उन्मुक्त होकर विचरना चाहिए।

हम देखते हैं कि हंसी-मजाक के वश भी लोग झूठ बोलते हैं। अत: साधक को इससे भी दूर रहना चाहिए। हंसी-मजाक से एक तो जीवन की गम्भीरता नष्ट होती है। दूसरे में वह लोगों की दृष्टि में छिछला सा व्यक्ति प्रतीत होता है। स्वाध्याय एवं ध्यान का समय भी व्यर्थ ही नष्ट होता है और साथ में असत्य का भी प्रयोग हो जाता है। इसलिए साधक को हंसी मजाक का परित्याग करके सदा आत्म साधना में संलग्न रहना चाहिए।

अब द्वितीय महाव्रत का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एतावता दोच्चे महव्वए सम्मं काएण फासिए जाव आणाए आराहिए यावि भवइ, दुच्चे भंते! महव्वए॥

छाया—एतवाता द्वितीयं महाव्रतं सम्यक् कायेन स्पर्शितं यावत् आज्ञया आराधित चापि भवति द्वितीय भदन्त महाव्रतम्।

पदार्थ—एतावता—इस प्रकार। दोच्चे महव्वए—द्वितीय महाव्रत को। सम्मं—सम्यक् प्रकार से। काएण—काया से। फासिए—स्पर्शित कर। जाव—यावत्। आणाए—आज्ञा का। आराहिए—आराधक। भवइ—होता है। भंते!—हे भगवन्! दोच्चे—दूसरा। महव्वए—महाव्रत स्वीकार करता हू।

मूलार्थ—इस प्रकार दूसरे महाव्रत को सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्शितकर यावत् आज्ञा पूर्वक आराधित करने से हे भदन्त! यह दूसरा महाव्रत होता है। अर्थात् उक्त महाव्रत की सम्यक्तया अराधना होती है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि द्वितीय महाव्रत का महत्त्व उसके आराधन में है। आगम में दिए गए-आदेश के अनुसार काया से उसका आचरण करना ही दूसरे महाव्रत का परिपालन करना है। अतः वचन के बताए गए समस्त दोषों का परित्याग करके दूसरे महाव्रत का पालन करने वाला साधक ही वास्तव में निर्ग्रन्थ एवं आराधक कहलाता है।

अब सूत्रकार तीसरे महाव्रत के संबंध में कहते हैं—

मूलम्—अहावरं तच्चं भंते! महव्वयं पचक्खामि सव्वं

अदिन्नादाणं, से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं अन्नंपि गिण्हत्तं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए जाव वोसिरामि॥

छाया—अथापरं तृतीय भदन्त ! महाव्रतं प्रत्याख्यामि सर्वम् अदत्तादानं तद् ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूल वा चित्तवद् वा अचित्तमद् वा नैव स्वयं अदत्त गृह्णीयात् नैवान्यै अदत्तं ग्राहयेत अदत्तं अन्यमपि गृह्णन्त न समनुजानामि यावज्जीवं यावत् व्युत्सृजामि।

पदार्थ—अहावरं—अथ अपर। भंते—हे भगवन्। तच्च—तृतीय। महव्वयं—महाव्रत के विषय मे। सव्वं—सर्व प्रकार के। अदिन्नादाण—अदत्तादान का। पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हू। से—वह। गामे वा—ग्राम मे। नगरे वा—नगर मे अथवा। रन्ने वा—अरण्य में। अप्पं वा—स्वल्प या। बहुं वा—बहुत या। अणुं वा—सूक्ष्म या। थूल वा—स्थूल पदार्थ या। चित्तमत वा—सचित्त या। अचित्त मत वा—अचित्त पदार्थ। एव—निश्चयार्थक है। अदिन्नं—किसी के दिए बिना। सय—स्वय-अपने आप। न गिण्हिज्जा—ग्रहण नही करूगा तथा। अन्नेहिं—औरो से। नेवगिण्हाविज्जा—ग्रहण नही कराऊगा। अदिन्न—अदत्त को। गिण्हंतं—ग्रहण करने वाले। अन्नंपि—अन्य व्यक्ति का। न समणुजाणिज्जा—अनुमोदन नहीं करूंगा। जावज्जीवाए—जीवन पर्यन्त। जाव—यावत् (शेष पाठ पूर्ववत जानना)। वोसिरामि अदत्तादान से अपने को पृथक् करता हू।

मूलार्थ—हे भगवन्! मैं तृतीय महाव्रत के विषय मे सर्वप्रकार से अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हू। वह अदत्तादान-चोरी से ग्रहण किया जाने वाला पदार्थ चाहे ग्राम मे, नगर मे अरण्य-अटवी मे हो, स्वल्प हो, बहुत हो, स्थूल हो, एव सचित अथवा अचित्त हो उसे न तो स्वयं ग्रहण करूंगा, न दूसरो से ग्रहण कराऊगा और न ग्रहण करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करूंगा, मै जीवन पर्यन्त

के लिए इस महाव्रत को तीन करण और तीन योग से ग्रहण करता हूं। और इस अदत्तादान (चौर्य कर्म) के पाप से मैं अपनी आत्मा को सर्वथा पृथक करता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे स्तेय (चौर्य कर्म) के त्याग का उल्लेख किया गया है। चोरी आत्मा को पतन की ओर ले जाती है। इस कार्य को करने वाला व्यक्ति साधना मे सलग्न होकर आत्म शान्ति को नहीं पा सकता। क्योंकि इससे मन सदा अनेक सकल्प विकल्पों में उलझा रहता है। अत: साधक को कभी भी अदत्त ग्रहण नहीं करना चाहिए चाहे वह पदार्थ साधारण हो या मूल्यवान हो, छोटा हो या बड़ा हो, कैसा भी क्यों न हो, साधु को बिना आज्ञा के या बिना दिया हुआ कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। वह न स्वयं चोरी करे, न दूसरे व्यक्ति को चोरी करने के लिए कहे और न चोरी करने वाले का समर्थन ही करे। इस तरह वह सर्वथा इस पाप से निवृत्त होकर सयम में संलग्न रहे।

इस महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति।

तत्थिमा पढमा भावणा-अणुवीइ मिउग्गहं जाई से निग्गंथे नो अणणुवीइमिउग्गहंजाई से निग्गंथे, केवली बूया०—अणणुवीइमिउग्गहंजाई निग्गंथे अदिन्नगिराहेज्जा, अणुवीईमिउग्गह-जाई से निग्गंथे नो अणणुवीइमिउग्गहजाइत्ति पढमा भावणा ॥१॥

मूलम्—अहावरा दुच्चा भावणा—अणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे, नो अणणुन्नविय पाणभोयणभोई, केवलीबूया०—अणणुन्नवियपाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्न भुंजिज्जा,

तम्हा अणुन्नवियपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणणुन्न-वियपाणभोयणभोई त्ति दुच्चा भावणा ॥२॥

अहावरा तच्चा भावणा-निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया०-निग्गंथेणं उग्ग-हंसि अणुग्गहियंसि एतावताव अणुग्गहणसीले अदिन्न ओगि-ण्हिज्जा, निग्गंथेणं उग्गहं उग्गहियंसि एतावताव उग्गहण-सीलए त्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा-निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया०—निग्गंथेणं उग्गहंसि उ' अभिक्खणं २ अणुग्गहणसीले अदिन्नं गिण्ह-ज्जा, निग्गंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहण-सीलए त्ति चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा—अणुवीइ मिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु, नो अणणुवीईमिउग्गहजाई, केवली बूया० अणणुवीइ मिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु अदिन्नं उग्गिण्हिज्जा अणुवीइ मिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु नो अणणुवीइमिउग्गह जाई इइ पचमा भावणा ॥५॥

छाया— तस्येमाः पच भावनाः भवन्ति—

तत्र इयं प्रथमा भावना-अनुविचिन्त्य मितावग्रहंयाची स निर्ग्रन्थः न अननुविचिन्त्यमितावग्रहंयाची स निर्ग्रन्थः केवली ब्रूयात् अननुविचिन्त्य—मितावग्रहंयाची निर्ग्रन्थः अदत्तं गृह्णीयात् अनुविचिन्त्य मितावग्रहंयाची स निर्ग्रन्थः नो अननुविचिन्त्य मितावग्रहंयाचीति प्रथमा भावना।

अथापरा द्वितीया भावना-अनुज्ञाप्य पानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः नो अननुज्ञाप्यपानभोजनभोजी। केवली ब्रूयात्-अननुज्ञाप्यपानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः अदत्तं भुञ्जीत, तस्मात् अनुज्ञाप्य पानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः न अननुज्ञाप्य पानभोजनभोजीति द्वितीया भावना।

अथापरा तृतीया भावना-निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते एतावता अवग्रहणशीलः स्यात्, केवली ब्रूयात् निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अनवगृहीते एतावता अनवग्रहणशीलः अदत्तम् अवगृह्णीयात्, निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते एतावता अवग्रहणशीलक इति तृतीया भावना।

अथापरा चतुर्थी भावना-निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते अभीक्ष्णं २ अवग्रहणशीलकः स्यात् केवली ब्रूयात् निर्ग्रन्थेन अवग्रहे तु अभीक्ष्णं २ अनवग्रहणशीलः अदत्तं गृह्णीयात्, निर्ग्रन्थः अवग्रहे अवगृहीते अभीक्ष्णं २ अवग्रहणशीलक इति चतुर्थी भावना।

अथापरा पंचमी भावना अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची स निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु नो अननुविचिन्त्य मितावग्रह याची, केवली ब्रूयात् अननुविचिन्त्य मितावग्रह याची सः निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु अदत्तम् अवगृह्णीयात्, अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची स निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु नो अननुविचिन्त्य मितावग्रह याचीति पंचमी भावना।

पदार्थ—अभिलावो—इस तीसरे महाव्रत की। पंच—पांच। भावणाओ—भावनायें। भवंति—हैं।

तत्थिमा—उन पांच भावनाओं में से यह। पढमा—प्रथम। भावणा—भावना है।

अणुवीइ—जो विचार कर। मिउग्गहं—मित-प्रमाण पुरस्सर अवग्रह की। जाई—याचना करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। नो अणणुवीइ—जो विना विचारे। मिउग्गह—मितावग्रह की। जाई—याचना करने वाला नहीं होता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ। केवली बूया०—केवली भगवान कहते हैं। अणणुवीइ—विना विचारे। मिउग्गह—मित अवग्रह की। जाई—याचना करने वाला। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ। अदिन्न—अदत्तादान का। गिण्हेज्जा—ग्रहण करता है, अतः जो। अणुवीइ—विचार कर। मिउग्गहजाई—मित अवग्रह की याचना करता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ होता है। नो अणणुवीइ मिउग्गहजाई—न कि बिना विचारे मितावग्रह की याचना करने वाला भी। त्त—इस प्रकार। पढ़माभावना—यह प्रथम भावना कही गई है।

अहावरा दुच्चा भावणा—अथ अपर द्वितीय भावना को कहते हैं। अणुन्नविय—गुरु आदि की आज्ञा ले कर। पाण भोयण भोई—जो आहार पानी करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। नो अणणुन्नविय पाणभोयण भोई—न कि गुरुजनो की आज्ञा के बिना आहार पानी करने वाला। केवली बया—केवली भगवान कहते है। अणणुन्नविय—गुरुजनो की आज्ञा प्राप्त किये विना जो। पाण भयोण भोइ—आहार पानी करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ। अदिन्न—अदत्तादान का। भुजिज्जा—भोगने वाला होता है। तम्हा—इस लिए। अणुन्नविय—गुरुजनो की आज्ञा ले कर जो। पाण भोयण भोई—आहार पानी करता है। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ है। नो अणणुन्नविय पाण भोयण भोई—न कि विना आज्ञा के आहार पानी करने वाला। त्ति—इसप्रकार। दुच्चा भावणा—यह दूसरी भावना कही गई है।

अहावरा तच्चा भावणा—अब तीसरी भावना को कहते हैं। निग्गंथेण—निर्ग्रन्थ साधु। उग्गहंसि-अवग्रह मागने पर। उग्गहियंसि—प्रमाण पूर्वक क्षेत्र औरकाल प्रमाण अवग्रहण को। एतावताव—इस प्रकार। उग्गहणसीलएसिया—प्रमाण पूर्वक अवग्रह के ग्रहण करने के स्वभाव वाला हो। केवली बूया०—केवली भगवान कहते हैं। निग्गथेणं—निर्ग्रन्थ। उग्गहंसि—अवग्रह के। अणुग्गहियंसि—प्रमाण पूर्वक ग्रहण न करने से। एतावता—इस प्रकार। अणुग्गहणसीले—आज्ञा न लेने के स्वभाव वाला होने से। अदिन्न—अदत्त का। ओगिण्हिज्जा—ग्रहण करता है अर्थात् अदत्तादान का सेवन करने वाला होता है। निग्गथेणं—निर्ग्रन्थ-साधु। उग्गहं—अवग्रह के। उग्गहियंसि—प्रमाण पूर्वक ग्रहण करने पर। एतावताव—इस प्रकार। उग्गहणसीलएत्ति—अवग्रहण शील होता है इस प्रकार यह। तच्चा भावणा—तीसरी भावना कथन की गई है।

अहावरा चउत्था भावणा—अब चौथी भावना को कहते हैं। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ। उग्गहंसि—अवग्रह के। उग्गहियंसि—लेने पर। अभिक्खणं २—वारबार। उग्गहण सीलए सिया—अवग्रहण शील से अर्थात् पदार्थों की बार बार आज्ञा लेने के स्वभाव वाला हो क्योंकि।

केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं। निग्गथेगं—निर्ग्रन्थ-साधु । उग्गहंसि- अवग्रह के। उग्गहियंसि—ग्रहण कर लेने पर। अभिक्खणं—बार बार। अणुग्गहसीले—आज्ञा न लेने वाला। अदिन्नं गिण्हिज्जा—अदत्त का ग्रहण करता है अत:। निग्गथे—निर्ग्रन्थ। उग्गहंसि—अवग्रह की। उग्गहियंसि—याचना करे किन्तु। अभिक्खणं २—बार बार। उग्गहणसीलएत्ति—अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो इस प्रकार। चउत्था भावणा—यह चौथी भावना कही गई है।

अहावरा पचमा भावणा—अब पांचवीं भावना को कहते हैं। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ। साहम्मिएसु—सार्धमिकों से। अणुवीइ—विचार कर। मिउग्गहजाई—मितावग्रह को याचना करे। नो अणुवीइ—न कि बिना विचारे। मिउग्गहं—मित-प्रमाण पूर्वक अवग्रह की। जाई—याचना करे। केवली बूया०—केवली भगवान कहते हैं। अणणुवीई—बिना विचार। मिउग्गहंजाई—मितावग्रह की याचना करने वाला। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ। साहम्मिएसु—सधर्मियों से। अदिन्नं—अदत्त का। उगिण्हिज्जा—ग्रहण करता है अत:। अणुवीइ मिउग्गह जाई—विचार कर मितावग्रह की जो याचना करता है। से निग्गन्थे—वह निर्ग्रन्थ है। साहम्मिएसु—सार्धमिकों से। नो अणणुवीइ—विचार न करके। मिउग्गह जाती—मितावग्रह की याचना करने वाला निर्ग्रन्थ नहीं होता। इइ-इस प्रकार यह। पचमा भावणा—पांचवीं भावना कही गई है।

मूलार्थ—इस तीसरे महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—जो विचार कर मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला है, वह निर्ग्रन्थ है, न कि बिना विचार किए मितावग्रह की याचना करने वाला। केवली भगवान कहते हैं कि बिना विचार किये अवग्रह की याचना करने वाला निर्ग्रन्थ अदत्त को ग्रहण करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को विचार पूर्वक ही अवग्रह की याचना करनी चाहिए।

अब दूसरी भावना को कहते हैं—गुरु जनों की आज्ञा लेकर आहार पानी करने वाला निर्ग्रन्थ होता है, न कि बिना आज्ञा के आहार-पान करने वाला। केवली भगवान् कहते हैं कि जो निर्ग्रन्थ गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त किये बिना आहार-पानी आदि करता है वह अदत्तादान का भोगने वाला होता है। इसलिए आज्ञा पूर्वक, आहार-पानी करने वाला ही निर्ग्रन्थ होता है।

अब तृतीय भावना का स्वरूप कहते है—निर्ग्रन्थ-साधु क्षेत्र और काल के प्रमाण पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला होता है। केवली भगवान कहते है कि जो साधु मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला नही होता वह अदत्तादान को सेवन करने वाला होता है, अत: प्रमाण पूर्वक अवग्रह का ग्रहण करना यह तीसरी भावना है।

अब चौथी भावना को कहते है—निर्ग्रन्थ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो। केवली भगवान कहते है कि निर्ग्रन्थ बार २ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो यदि वह ऐसा न होगा तो उसको अदत्तादान का दोष लगेगा। अतः जो बार २ मर्यादा पूर्वक अवग्रह को याचना करने वाला होता है, वही इस व्रत की आराधना करने वाला होता है।

पांचवी भावना यह है कि जो साधक साधर्मिकों से भी विचार पूर्वक मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करता है वह निर्ग्रन्थ है, न कि बिना विचारे आज्ञा लेने वाला। केवली भगवान कहते है कि साधर्मियो से भी विचार कर मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेने वाला निर्ग्रन्थ ही तृतीय महाव्रत की आराधना कर सकता है। यदि वह उनसे विचार पूर्वक आज्ञा नही लेता है तो उसे अदत्तादान का दोष लगता है। इसलिए मुनि को सदा विचार पूर्वक ही आज्ञा लेनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे तृतीय महाव्रत की ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। पहले और दूसरे महाव्रत की तरह तीसरे महाव्रत की भी पांच भावनाएं होती हैं—१ साधु किसी भी आवश्यक एव कल्पनीय वस्तु को विना आज्ञा ग्रहण न करे। २ प्रत्येक वस्तु के ग्रहण करने को जाने के पूर्व गुरु की आज्ञा ग्रहण करना, ३ क्षेत्र और काल की मर्यादा को ध्यान में रखकर वस्तु ग्रहण करने जाना, ४ बार बार आज्ञा ग्रहण करना और ५ साधर्मिक साधु की कोई वस्तु ग्रहण करनी हो तो उसकी (साधर्मिक की) आज्ञा लेना। इस तरह साधु को विना आज्ञा के कोई भी पदार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए।

अब तृतीय भावना का स्वरूप कहते है—निर्ग्रन्थ-साधु क्षेत्र और काल के प्रमाण पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला होना है । केवली भगवान कहते है कि जो साधु मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला नही होना वह अदत्तादान को सेवन करने वाला होता है, अत. प्रमाण पूर्वक अवग्रह का ग्रहण करना यह तीसरी भावना है।

अब चौथी भावना को कहते है—निर्ग्रन्थ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो। केवली भगवान कहते है कि निर्ग्रन्थ बार २ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो यदि वह ऐसा न होगा तो उसको अदत्तादान का दोप लगेगा। अतः जो बार २ मर्यादा पूर्वक अवग्रह को याचना करने वाला होता है, वही इस व्रत की आराधना करने वाला होता है।

पाचवी भावना यह है कि जो साधक साधर्मिको से भो विचार पूर्वक मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करता है वह निर्ग्रन्थ है, न कि बिना विचारे आज्ञा लेने वाला । केवली भगवान कहते है कि साधर्मियो से भी विचार कर मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेने वाला निर्ग्रन्थ हो तृतीय महाव्रत की आराधना कर सकता है। यदि वह उनसे विचार पूर्वक आज्ञा नही लेता है तो उसे अदत्तादान का दोष लगता है । इसलिए मुनि को सदा विचार पूर्वक ही आज्ञा लेनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में तृतीय महाव्रत की ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। पहले और दूसरे महाव्रत की तरह तीसरे महाव्रत की भी पांच भावनाएं होती हैं—१ साधु किसी भी आवश्यक एवं कल्पनीय वस्तु को बिना आज्ञा ग्रहण न करे। २ प्रत्येक वस्तु के ग्रहण करने को जाने के पूर्व गुरु की आज्ञा ग्रहण करना, ३ क्षेत्र और काल की मर्यादा को ध्यान मे रखकर वस्तु ग्रहण करने जाना, ४ बार बार आज्ञा ग्रहण करना और ५ साधर्मिक साधु की कोई वस्तु ग्रहण करनी हो तो उसकी ( साधर्मिक की ) आज्ञा लेना । इस तरह साधु को बिना आज्ञा के कोइ भी पदार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए।

अब तृतीय भावना का स्वरूप कहते है—निर्ग्रन्थ-साधु क्षेत्र और काल के प्रमाण पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला होता है । केवली भगवान कहते है कि जो साधु मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला नही होता वह अदत्तादान को सेवन करने वाला होता है, अतः प्रमाण पूर्वक अवग्रह का ग्रहण करना यह तीसरी भावना है।

अब चौथी भावना को कहते है—निर्ग्रन्थ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो। केवली भगवान कहते है कि निर्ग्रन्थ वार २ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो यदि वह ऐसा न होगा तो उसको अदत्तादान का दोष लगेगा। अतः जो बार २ मर्यादा पूर्वक अवग्रह को याचना करने वाला होता है, वही इस व्रत की आराधना करने वाला होता है।

पांचवी भावना यह है कि जो साधक साधर्मिको से भी विचार पूर्वक मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करता है वह निर्ग्रन्थ है, न कि विना विचारे आज्ञा लेने वाला । केवली भगवान कहते है कि साधर्मियो से भी विचार कर मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेने वाला निर्ग्रन्थ ही तृतीय महाव्रत की आराधना कर सकता है। यदि वह उनसे विचार पूर्वक आज्ञा नही लेता है तो उसे अदत्तादान का दोष लगता है । इसलिए मुनि को सदा विचार पूर्वक ही आज्ञा लेनी चाहिए।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे तृतीय महाव्रत की ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। पहले और दूसरे महाव्रत की तरह तीसरे महाव्रत की भी पांच भावनाएं होती हैं—१ साधु किसी भी आवश्यक एव कल्पनीय वस्तु को विना आज्ञा ग्रहण न करे। २ प्रत्येक वस्तु के ग्रहण करने को जाने के पूर्व गुरु की आज्ञा ग्रहण करना, ३ क्षेत्र और काल की मर्यादा को ध्यान में रखकर वस्तु ग्रहण करने जाना, ४ बार बार आज्ञा ग्रहण करना और ५ साधर्मिक साधु की कोई वस्तु ग्रहण करनी हो तो उसकी ( साधर्मिक की ) आज्ञा लेना । इस तरह साधु को विना आज्ञा के कोइ भी पदार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए।

सकता है। क्योंकि इसका त्याग करके वह मोह कर्म को गांठ से छूटने का, मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इसलिए साधक न तो स्वयं विषय-भोग का सेवन करे, न दूसरे व्यक्ति को विषय-वासना की ओर प्रवृत्त करे और न उस ओर प्रवृत्त व्यक्ति का समर्थन ही करे। इस तरह साधु प्रतिज्ञा करता है कि भगवान मैं गुरु एवं आत्म साक्षी से उसका त्याग-प्रत्याख्यान करता हूं एवं उसकी निन्दा एवं गर्हणा करता हूं।

अब चौथे महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तस्सेमाओ पंच भावणाओ भवंति।

तत्थिमा पढमा भावणा-नो निग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहित्तए सिया, केवली बूया०, निग्गंथेणं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेमाणे संतिभेया संतिविभंगा संति—केवलीपन्नताओ धम्माओ भंसिज्जा, नो निग्गंथेणं अभिक्खणं—२ इत्थीणं कहं कहित्तए सियत्ति पढमा भावणा ॥१॥

अहावरा दुच्चा भावणा-नो निग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए निज्झाइत्तए सिया, केवली बूया-निग्गंथे णं इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोएमाणे निज्झाएमाणे संतिभेया संतिविभंगा, जाव धम्माओ भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइ आलोइत्तए निज्झाइत्तए सियत्ति दुच्चा भावणा ॥२॥

अहावरा तच्चा भावणा-नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए सिया, केवली बूया०-निग्गंथे णं

इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सियत्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा-नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे न पणीयरसभोयणभोइ से निग्गंथे, केवली बूया०-अइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे, पणियरसभोयणभोई संति-भेया जाव भंसिज्जा, नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो पणीयरसभोयणभोइत्ति चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा-नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसस-त्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया, केवली बूया—निग्गंथे णं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवेमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा० नो निग्गथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सियत्ति पंचमा भावणा ॥५॥

एतावया चउत्थे महव्वए सम्मं कायेण फासिए जाव आराहिए यावि भवइ चउत्थं भंते! महव्वयं ।

छाया— तस्येमाः पंच भावनाः भवन्ति—

तत्र य प्रथमा भावना-नो निर्ग्रन्थः अभीक्ष्णं २ स्त्रीणां कथां कथयिता

स्याद्, केवली ब्रूयात् निर्ग्रन्थः अभीक्ष्णं २ स्त्रीणां कथां कथयन् शान्ति-भेदाः शान्तिविभगाः शान्तिकेवलिप्रज्ञप्ताद्धर्माद् भ्रश्येत् नो निर्ग्रन्थः अभीक्ष्णं स्त्रीणां कथां कथयिता स्यादिति प्रथमा भावना ।

अथापरा द्वितीया भावना-नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि २ इन्द्रियाणि आलोकयिता निर्ध्याता स्यात् केवली ब्रूयात्-निर्ग्रन्थः स्त्रीणा मनोहराणि २ इन्द्रियाणि आलोकयन् निर्ध्यायन् शान्तिभेदाः शान्तिविभगा यावत् धर्माद् भ्रश्येत् नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि २ इन्द्रियाणि आलोकयिता, निर्ध्याता स्यादिति द्वितीया भावना ।

अथापरा तृतीया भावना-नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरतानि पूर्वक्रीडितानि स्मरन् स्यात्, केवली ब्रूयात् निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरतानि पूर्वक्रीडितानि स्मरन् शान्तिभेदा यावत् भ्रश्येत्, नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणा पूर्वरतानि पूर्व-क्रीडितानि स्मर्ता स्यात् इति तृतीया भावना ।

अथापरा चतुर्थी भावना—नातिमात्रपानभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः न प्रणीतरसभोजनभोजी स निर्ग्रन्थः केवली ब्रूयाद् अतिमात्रपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः प्रणीतरसभोजनभोजी शान्तिभेदा यावत् भ्रश्येत्. नातिमात्रपान-भोजनभोजी स निर्ग्रन्थः नो प्रणीतरसभोजनभोजीति चतुर्थी भावना ।

अथापरा पचमी भावना-नो निर्ग्रन्थःस्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयना-सनानि सेविता स्यात् केवली ब्रूयात् आदानमेतत् निर्ग्रन्थः स्त्रीपशुपण्डक-ससक्तानि शयनासनानि सेवमानः शान्तिभेदाः यावत् भ्रश्येत् नो निर्ग्रन्थः स्त्रीपशुपण्डकससक्तानि शयनासनानि सेविता स्यादिति पचमी भावना ।

एतावता चतुर्थं महाव्रत सम्यक् कायेन स्पर्शित यावत् आराधितं चापि भवति चतुर्थं भदन्त महाव्रतम् ।

पदार्थ—तस्स—उस महाव्रत की। इमाओ—ये। पच—पाच। भावणाओ—भावनायें। भवन्ति—होती है।

तत्थिमा—उन पाच भावनाओ मे से यह। पढना—प्रथम। भावणा—भावना कही गई है। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ-साधु। अभिक्खणं—वार-वार। इत्थीणं—स्त्रियो की। कह—कथा। कहित्तए—करने वाला। नो सिया—न हो अर्थात् वार २ स्त्रियो की कामोपादक कथा न करे, क्योकि। केवली बूया०—केवलीभगवान कहते है। णं—वाक्यालंकारार्थक है। निग्गंथे—निग्रन्थ साधु। अभिक्खणं—वार २। इत्थीणं—स्त्रियो की। कहं—कथा। कहेमाणे—करता हुआ। संति भेया—शान्ति-चारित्र समाधि का भेद करता है तथा। सतिविभंगा—शाति-ब्रह्मचर्य का भग करता है। सति केवलि पन्नताओ—शातिरूप केवली भगवान के प्रतिपादन किए हुए। धम्माओ—धर्म से। भंसिज्जा भ्रष्ट हो जाता है। णं—वाक्यालकारार्थक है अतः। निग्गथे—निर्ग्रन्थ साधु। अभिक्खणं २—पुनः पुन। इत्थीण—स्त्रियो की। कहं—कथा को। कहित्तए—करने वाला। नो सिए—न हो। त्ति—इस प्रकार। पढमा भावणा—यह प्रथम भावना कही गई है।

अहावरा अथ अपर। दुच्चा भावणा—दूसरी भावना को कहते हैं। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थीणं—स्त्रियो की। मणोहराइ २—मनोहर तथा मनोरम। इंदियाइं—इन्द्रियो को। आलोइत्तए—काम दृष्टि से अवलोकन तथा। निज्झाइत्तए—ध्यान या स्मरण करने वाला। नो सिया—न हो। केवली बूया—केवली भगवान कहते है। ण—वाक्यालकार मे है। निग्गंथे—जो निर्ग्रन्थ। इत्थीण—स्त्रियों की। मणोहराइं २—मनोहर तथा मनोरम। इंदियाइं-इन्द्रियों को। आलोएमाणे—देखता हुआ। निज्झाएमाणे—आसक्ति पूर्वक देखता हुआ विचरता है वह। संति भेया—शाति रूप चारित्र का भेदन करता है और। सति विभगा—शाति रूप ब्रह्मचर्य का भग करता हुआ। जाव—यावत्। धम्माओ—केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भी। भंसिज्जा-भ्रष्ट हो जाता है अत.। निग्गथे—निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थीणं-स्त्रियो की। मणोहराइ २-मनोहर तथा मनोरम-मन को लुभाने वाली। इंदियाइ-इन्द्रियो को। आलोइत्तए—अवलोकन करने। निज्झाइत्तए—विशेष रूप से देखने या ध्यान करने की वृत्ति वाला। नो सिया— न बने। ति—इस प्रकार। दुच्चा भावणा—यह दूसरी भावना कही गई है।

अहावरा—अथ द्वितीय भावना से आगे अब। तच्चा भावणा—तीसरी भावना को कहते है। निग्गथे—निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थीण—स्त्रियो की। पुव्वरयाइ—पूर्व रति को। पुव्वकीलियाइं—तथा पूर्व क्रीडा को। सुमरित्तए—स्मरण करने वाला। नो सिया—न हो, क्योकि। केवली बूया—केवली भगवान कहते है। ण—प्राग्वत्। निग्गथे—निर्ग्रन्थ। इत्थीणं—स्त्रियो की। पुव्वरयाइ—पूर्व रति का। पुव्वकीलियाइ—पूर्व क्रीडा का। सरमाणे—स्मरण करता हुआ। सतिभेया—शाति का भेदक। जाव—यावत्। भंसिज्जा—केवली भाषित धर्म स

भ्रष्ट हो जाता है अतः। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थीणं—स्त्रियों की। पुव्वरयाइं—पूर्व रति और। पुव्वकीलियाइं—पूर्व क्रीडा का। सरित्तए—स्मरण करने वाला। नो सियत्ति—न बने इस प्रकार यह। तच्चाभावणा—चतुर्थ महाव्रत की तीसरी भावना कही गई है।

अहावरा—अथ अपर। चउत्था भावणा—चौथी भावना को कहते हैं। नाइमत पाणभोयणभोई—जो साधु मात्रा-प्रमाण से अधिक आहार पानी नहीं करता है। से निग्गंथे-वह निर्ग्रन्थ है। न पणीयरसभोयणभोई—जो प्रणीत रस-प्रकाम भोजन का उपभोग करने वाला नहीं है, अर्थात् सरस आहार नहीं करता है। से निग्गथे—वह निर्ग्रन्थ है-साधु है। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं, कि यह कर्म बन्धन का हेतु है। अइमत्तपाणभोयण भोई—प्रमाण से अधिक आहार पानी करने वाला। से निग्गंथे—वह निर्ग्रन्थ-साधु। पणीयरस भोयणभोई—प्रणीत रस युक्त भोजन करने वाला। संति भेया—शान्ति रूप ब्रह्मचर्य व्रत का विघातक। जाव—यावत्। भंसिज्जा—धर्म से भ्रष्ट हो जाता है अतः। नाइमत्तापाणभोयण भोई—जो प्रमाण से अधिक आहार-पानी करने वाला नहीं है। से—वह। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ है। नो पणीयरसभोयणभोई—जो प्रणीत रस युक्त भोजन को भोगने वाला भी नहीं है। से-वह। निग्गंथे— निर्ग्रन्थ है। त्ति—इस प्रकार। चउत्था भावणा—यह चौथी भावना का स्वरूप कहा गया है।

अहावरा पंचमा भावणा—अब पांचवीं भावना को कहते है। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ-साधु। इत्थी—स्त्री। पसु—पशु। पण्डग—पंडक-नपुंसक आदि से। संसत्ताइ—संसक्त-संयुक्त सयणासणाइं—शय्या आसनादि के। सेवित्तए—सेवन करने वाला। नो सिया—न हो। केवली०—केवली भगवान कहते हैं कि। इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं—स्त्री पशु और नपुंसक आदि से युक्त। सयणासणाइं—शय्या-उपाश्रय आसनादि का। सेवेमाणे—सेवन करने वाला। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ। संति भेया—शान्ति का भेदक अर्थात् ब्रह्मचर्य का भंग करने वाला। जाव—यावत् धर्म से। भंसिज्जा—भ्रष्ट हो जाता है इस लिए। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ। इत्थिपसुपंडग संसत्ताइं—स्त्री पशु और नपुंसक आदि से युक्त। सयणासणाइं—उपाश्रय और आसनादि को। सेवित्तए—सेवन करने वाला। नो सिया—न हो। त्ति—इस प्रकार यह। पंचमा—पांचवीं। भावणा—भावना कही गई है।

एतावता—इस प्रकार। चउत्थे महव्वए—चतुर्थ महाव्रत को। काएण—काया से। फासिए—स्पर्शित करता हुआ। जाव—यावत्। आराहिए यावि भवइ—आराधित होता है। भंते!—हे भगवन्! चउत्थे—चतुर्थ। महव्वए—महाव्रत को मैं स्वीकार करता हूं।

मूलार्थ—चतुर्थ महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ साधु बार-बार स्त्रियों की काम जनक कथा न कहे। केवली भगवान कहते है कि बार २ स्त्रियों की कथा कहने वाला साधु शान्ति रूप चारित्र और ब्रह्मचर्य का भग करने वाला होता है तथा शान्ति रूप केवलि प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः साधु को स्त्रियो की बार २ कथा नही करनी चाहिए यह प्रथम भावना है।

अब चतुर्थ महाव्रत की दूसरी भावना कहते है—निर्ग्रन्थ-साधु काम-राग से स्त्रियों की मनोहर-तथा मनोरम इन्द्रियो को सामान्य अथवा विशेष रूप से न देखे। केवली भगवान कहते है—जो निर्ग्रन्थ—साधु स्त्रियों की मनोहर-मनको लुभाने वाली इन्द्रियों को आसक्ति पूर्वक देखता है वह चारित्र और ब्रह्मचर्य का भग करता हुआ सर्वज्ञ प्रणीत धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ-साधु को स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियो को काम दृष्टि से कदापि नही देखना चाहिए। यह दूसरो भावना का स्वरूप है।

अब तीसरी भावना का स्वरूप कहते हैं—निर्ग्रन्थ-साधु स्त्रियो के साथ की हुई पूर्व रति और क्रीडा-काम [illegible] । स्मरण न करे। केवलो भगवान कहते है जो निर्ग्रन्थ साधु [illegible] के साथ की गई पूर्व रति और क्रोडा आदि का स्मरण करता है वह शान्तिरूप चारित्र का भेद करता हुआ यावत् सर्वज्ञ प्रणीत धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए सयमशील मुनि को पूर्व रति और क्रीडा आदि का स्मरण नही करना चाहिए। यह तोसरी भावना का स्वरूप है।

अब चतुर्थ भावना का स्वरूप वर्णन करते है—वह निर्ग्रन्थ प्रमाण से अधिक आहार-पानी तथा प्रणीत रस प्रकाम भोजन न करे। क्योकि केवली भगवान कहते हैं कि इस प्रकार के आहार-पानी एवं प्रणीत-रस

साधु को पूर्व में भोगे गए भोगों का भी चिन्तन-मनन नहीं करना चाहिए। क्योंकि, इससे मन की परिणति मे विकृति आती है और उससे उपशान्त विकारों को जागृत होने का अवसर भी मिल सकता है। इसी तरह साधक को शृङ्गार रस से युक्त या वासना को उद्दीप्त करने वाले उपन्यास, नाटक आदि का भी अध्ययन, श्रवण एवं मनन नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को सदा प्रमाण से अधिक एवं सरस तथा प्रकाम भोजन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रतिदिन अधिक आहार करने से तथा प्रकाम आहार करने से शरीर में आलस्य की वृद्धि होगी, आराम करने की भावना जागेगी, स्वाध्याय एवं ध्यान से मन हटेगा। इससे उसकी भावना मे विकृति भी आ जाएगी। अत इन दोषों से बचने के लिए उसे सदा सरस आहार नहीं करना चाहिए तथा प्रमाण से भी अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। सादे एव प्रमाण युक्त भोजन से वह ब्रह्मचर्य का भी ठीक २ परिपालन कर सकेगा और साथ में प्रायः बिमारियों से भी बचा रहेगा और आलस्य भी कम आएगा जिससे वह निर्बाध रूप से स्वाध्याय एव ध्यान आदि साधना में सलग्न रह सकेगा।

यह उत्सर्ग सूत्र है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ही सरस आहार का निषेध किया गया है। अपवाद मार्ग मे अर्थात् साधना के मार्ग में कभी आवश्यकता होने पर साधु सरस आहार स्वीकार भी कर सकता है। जैसे-अरिष्ट नेमिनाथ के ६ शिष्यों ने महाराणी देवकी के घर से सिंह केसरी मोदक ग्रहण किए थे। काली आदि महाराणियो ने अपने तप की प्रथम परिपाटी मे पारणे में सभी तरह की विगय (दूध, दही आदि) ग्रहण की थी❀। भगवान महावीर ने एक महीने की तपस्या के पारणे के दिन सरस आहार ग्रहण किया था†। और आशातना के विषय का वर्णन करते हुए आगम में बताया गया है कि यदि शिष्य गुरु के साथ आहार करने बैठे तो वह सरस अहार को शीघ्रता से न खाए‡। और छेद सूत्रों मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि साधु मैथुन सेवन की दृष्टि से घी, दूध आदि विगय का सेवन करता है तो उसे प्रायश्चित आता है❀।

---

❀ अन्तगड सूत्र। † भगवती सूत्र शतक १५।

‡ समवायाग सूत्र, ३३, दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, दशा ३।

❀ जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण वडियाए खीर वा दहिं वा णवणीयं वा सप्पिं वा गुड वा खडं वा सक्कर वा मच्छंडियं वा अण्णयरं वा पणीय आहार आहारेइ आहरंतं वा साइज्जइ।

निशीथ सूत्र ७९।

इससे स्पष्ट होता है कि अपवाद मार्ग में साधु सरस आहार ग्रहण कर सकता है। परन्तु उत्सर्ग मार्ग में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उसे सरस आहार नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को स्त्री, पशु एवं नपुसक से रहित मकान में ठहरना चाहिए। क्योंकि स्त्री आदि का अधिक संसर्ग रहने से मन में विकारों की जागृति होना संभव है। इससे उसकी साधना का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा। अत. साधु को इनसे रहित स्थान में ही ठहरना चाहिए।

इस तरह चौथे महाव्रत के सम्बन्ध में दिए गए आदेशों का आचरण करना तथा उनका सम्यक्तया परिपालन करना ही चौथे महाव्रत की आराधना करना है और इस तरह उसका परिपालन करने वाला निर्ग्रन्थ ही आत्मा का विकास कर सकता है।

अब पांचवें महाव्रत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—अहावरं पंचमं भंते ! महव्वयं सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं गिरिहज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं गिराहाविज्जा अन्नंपि परिग्गहं गिराहंतं न समणुजाणिज्जा जाव वोसिरामि॥**

छाया—अथापरं पंचमं भदन्त ! महाव्रतं, सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यामि तद् अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तं वा नैव स्वयं परिग्रहं गृहीयात् नैवान्यैः परिग्रहं ग्राहयेत् अन्यमपि परिग्रहं गृण्हन्तं न समनुजानीयात् यावत् व्युत्सृजामि।

पदार्थ—अहावरं अथ अपर। पंचमं—पांचवां। महव्वयं—महाव्रत कहते है। भंते—हे भगवन्! सव्वं—सर्व प्रकार के। परिग्गहं—परिग्रह का। पच्चक्खामि—परित्याग करता हूं। से—वह-साधु। अप्पं वा—अल्प। बहुं वा—बहुत। अणुं—अणु-सूक्ष्म। वा—अथवा। थूलं वा—स्थूल। चित्तमंतमचित्तं वा—सचित्त या अचित्त अर्थात् चेतना युक्त शिष्यादि अथवा अचित-चेतना रहित वस्तु। एव—निश्चयार्थक है, इस प्रकार के। परिग्गहं—परिग्रह

को। सयं—स्वयं। न गिण्हिज्जा—ग्रहण नहीं करूंगा। नेवन्नेहिं—न अन्य व्यक्ति से। परिग्गहं—परिग्रह को। गिण्हाविज्जा—ग्रहण कराऊंगा। परिग्गहं—परिग्रह को। गिण्हंतं—ग्रहण करने वाले। अन्नंपि—अन्य व्यक्ति का। न समणुजाणिज्जा—अनुमोदन भी नहीं करूंगा। जाव—यावत्। वोसिरामि—परिग्रह से अपनी आत्मा को पृथक् करता हूं-परिग्रह रूप आत्मा का व्युत्सर्जन करता हूं।

मूलार्थ-हे भगवन्! पांचवें महाव्रत के विषय में सर्व प्रकार के परिग्रह का परित्याग करता हूं। मैं अल्प,बहुत,सूक्ष्म, स्थूल तथा सचित्त और अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को न स्वयं ग्रहण करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूंगा। मैं अपनी आत्मा को परिग्रह से सर्वथा पृथक् करता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधक को परिग्रह से निवृत्त होने का आदेश दिया गया है। परिग्रह से आत्मा में अशान्ति बढ़ती है। क्योंकि, रात दिन उस के बढ़ाने एवं सुरक्षा करने की चिन्ता बनी रहती है। जिससे साधक निश्चिन्त मन से स्वाध्याय आदि की साधना भी नहीं कर सकता है। इसलिए भगवान ने साधक को परिग्रह से सर्वथा मुक्त रहने का आदेश दिया है। साधु को थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल किसी भी तरह का परिग्रह नहीं रखना चाहिए। इसके साथ आगम में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु साधना में सहायक उपकरणों को स्वीकार कर सकता है। वस्त्र का परित्याग करने वाले जिन कल्पी मुनि भी कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपकरण अवश्य रखते हैं। वर्तमान में दिगम्बर मुनि भी मोर पिच्छी और कमण्डल तो रखते ही हैं। इससे[1] यह सिद्ध होता है कि संयम में सहायक होने वाले पदार्थों को रखना या ग्रहण करना परिग्रह नहीं है। परन्तु उन पर ममता, मूर्छा एवं आसक्ति रखना परिग्रह है। आगम में स्पष्ट कहा गया है कि संयम एवं आध्यात्मिक साधना में तेजस्विता लाने वाले उपकरण (वस्त्र-पात्र आदि) परिग्रह नहीं हैं। मूर्छा एवं किन्तु उन पर आसक्ति करना परिग्रह है। तत्वार्थ सूत्र में भी वस्त्र रखने को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने भी आगम में

[1]न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥

—श्री दशवैकालिक सूत्र।

अभिव्यक्त मूर्छा, या ममत्व को ही परिग्रह माना है‡। वस्त्र एवं पात्र ही क्यों, यदि अपने शरीर पर भी ममत्व है, अपनी साधना पर भी ममत्व है तो वह भी परिग्रह का कारण बन जायगा। अतः साधक को मूर्छा ममता एवं आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

अब पंचम महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति।

तत्थिमा पढ़मा भावणा-सोयओ णं जीवे मणुन्नामणुन्नाइं सद्दाइं सुणेइ मणुन्ना मणुन्नेहिं सद्देहिं नोसज्जिज्जा नोरज्जिज्जा नो गिज्झेज्जा नो मुज्झिज्जा नो अज्झोववज्जिज्जा नो विणिघायमावज्जेज्जा, केवली बूया॰—निग्गंथेणं मणुन्नामणुन्नेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलिपन्नताओ धम्माओ भंसिज्जा, न सक्का न सोउसद्दा, सोतविसयमागया। रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए।१। सोयओ जीवे मणुन्नामणुन्नाइं सद्दाइं सुणेइ पढमा भावणा ॥१॥

अहावरा दुच्चा भावणा—चक्खुओ जीवो मणुन्नमणुन्नाइं रूवाइं पासइ, मणुन्नामणुन्नेहिं रूवेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा—नो सक्कारूवमद्दट्ठुं,

‡ मूर्छाः परिग्रहः। —तत्त्वार्थ सूत्र।

चक्खु विसयमागयं । राग दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए, चक्खुओ जीवो मणुन्ना २ रूवाइं पासइ, दुच्चा भावणा ।

अहावरा तच्चा भावणा-घाणओ जीवे मणुन्नामणुन्ना इं गंधाइं अग्घायइ मणुनामणुन्नेहिं गंधेहिं नो सज्जिज्जा नो रज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिजज्जा, केवली बूया-मणुन्नामणुन्नेहिं गंधेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा—न सक्का गंधमग्घाउं, नासाविसयमागयं । राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।१। घाणओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइ गंधाइं अग्घायइत्ति तच्चा भावणा ॥३॥

अहावरा चउत्था भावणा-जिब्हाओ जीवो मणुन्नामणुयाइं रसाइं अस्साएइ, मणुन्नामणुन्नेहिं रसेहि नो सज्जिज्जा जाव विणिघायमावज्जिजज्जा, केवली बूया-निग्गथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा-न सक्का रसमस्साउं, जीहा विसय मागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ।१। जीहाओ जीवो मणुन्नामणुआइं रसाइं अस्साएइत्ति चउत्था भावणा ॥४॥

अहावरा पंचमा भावणा—फासओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं

फासाइं पडिसेवेइ मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं नो सज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया—निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खु परिवज्जए ।१। फासओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं फासाइं पडिसेवेएति पंचमा भावणा ॥५॥

एतावयाव पंचमे महव्वते सम्मं अवट्ठिए आणाए अराहिए यावि भवइ, पंचमं भंते ! महव्वयं । इच्चेएहिं पंचमहव्वएहिं पणवीसाहि व भावणाहिं संपन्ने अणगारे अहासुयं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आणाए आराहित्ता यावि भवइ।

छाया— तस्येमाः पच भावनाः भवन्ति—

तत्र इयं प्रथमा भावना-श्रोत्रतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् शब्दान् शृणोति मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु नो सज्जेत नो रज्जेत नो गृध्येत् नो मूर्च्छेत् नो अध्युपपद्येत नो विनिघतमापद्येत, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्,निर्ग्रन्थः मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु सज्जमानः रज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः, शान्तिभेदाः शान्ति-विभंगाः शान्ति केवलि प्रज्ञप्ताद् धर्मात् भ्रश्येत्, न शक्याः न श्रोतुं शब्दाः श्रोत्रविषयमागताः रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् श्रोत्रतः जीवः

मनोज्ञामनोज्ञान् शब्दान् शृणोति प्रथमा भावना।

अथापरा द्वितीया भावना-चक्षुष्टो जीवः मनोज्ञामनोज्ञानि रूपाणि पश्यति मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु सज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदा. यावद् भ्रश्येत् न शक्यं रूपमद्रष्टुं चक्षुर्विषयमागत रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत्। चक्षुष्टो जीवो मनोज्ञामनोज्ञानि रूपाणि पश्यति द्वितीया भावना।

अथापरा तृतीया भावना—घ्राणतो जीवो मनोज्ञामनोज्ञान् गधान् आजिघ्रति, मनोज्ञामनोज्ञेषुगन्धेषु नो मज्जेत यावत् नो रज्जयेतयावत् नो विनिघातमापद्येत केवली ब्रूयान्-आदानमेतत् मनोज्ञामनोज्ञेषु गधेषु सज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदा यावत् भ्रश्येत्। न शक्योगन्धोघ्रातु, नासाविषय मागतः, रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् सिचुः परिवर्जयेत्। घ्राणतो जीवः मनोज्ञमनोज्ञान् गधान् आजिघ्रति इति तृतीया भावना।

अथापरा चतुर्थी भावना—जिह्वातो जोवः मनोज्ञामनोज्ञान् रसान् आस्वादयति, मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु नो सज्जेत यावत् नो विनिघात मापद्येत केवली ब्रूयात्-निर्ग्रन्थः मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु सज्जमानः यावद् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदा यावत् भ्रश्येत्। न शक्यः रसआवादयितुं जिह्वाविषयमागतः। रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् जिह्वातो जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् रसान् आस्वदते इति चतुर्थी भावना।

अथापरा पंचमी भावना—स्पर्शतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् स्पर्शान् प्रतिसेवते मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु न सज्जेत यावत् नो विनिघातमपाद्येत केवली ब्रूयात् आदानमेतत्, निर्ग्रन्थ. मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु सज्जमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः, शान्ति विभगाः केवलिप्रज्ञप्ताद्

धर्माद् भ्रश्येत् न शक्यः स्पर्शोऽवेदितुं स्पर्शविषयमागतः। रागद्वेषास्तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् स्पर्शतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् स्पर्शान् प्रति संवेदयति, इति पंचमी भावना।

एतावता पचमे महाव्रतं सम्यक् अवस्थितः आज्ञाया आराधकश्चापि भवति, पंचमं भदन्त महाव्रतम्। इत्येतैः पंच महाव्रतैः पचविंशत्या च भावनाभिः सम्पन्नः अनागार यथाश्रुतं यथाकल्पं यथामार्गं कायेन स्पृष्ट्वा पालयित्वा तीर्त्वा कीर्तयित्वा आज्ञाया आराधिता चापिभवति।

पदार्थ—तस्सिमाओ—उस महाव्रत की ये। पंच—पाच। भावणाओ—भावनायें भवंति—हैं।

तत्थिमा—उन पांच भावनाओ में से। पढमा भावणा—प्रथम भावना यह है। णं—वाक्यालंकारार्थक है। जीवे—जीव। सोयओ—श्रोत इन्द्रिय से। मणुन्नामणुन्नाइं—मनोज्ञामनोज्ञ अर्थात् प्रिय और अप्रिय। सद्दाइं—शब्दो को। सुणेहि—सुनता है किन्तु। मणुन्नामणुन्नेहिं—प्रिय और अप्रिय। सद्देहिं—शब्दो में। नो सज्जिज्जा—आसक्त न हो। नो रज्जिज्जा—अनुरक्त-राग युक्त न हो। नो गिज्झेज्जा—गृद्धि वाला न हो। नो मुज्झिज्जा—मोहित या मूर्छित न हो। नो अज्झोववज्जिज्जा—अत्यन्त आसक्त न हो। नो विणिघाय मावज्जिज्जा—और विनाश को प्राप्त न हो अर्थात् राग द्वेष न करे कारण कि। केवली बूया—केवली भगवान कहते है कि यह कर्म बन्ध का हेतु है। ण—पूर्ववत्। निग्गंथे—निर्ग्रन्थ-साधु मणुन्नामणुन्नेहिं—मनोज्ञामनोज्ञ-प्रिय और अप्रिय। सद्देहिं—शब्दो में। सज्जमाणे—आसक्त होता हुआ। रज्जमाणे—राग करता हुआ। जाव—यावत्। विणिघायमावज्जमाणे—राग द्वेष करता हुआ। संतिभेया—शाति का भेदक। संतिविभंगा—शान्ति रूप अपरिग्रहव्रत का भेदक। संति केवली पन्नताओ—शान्ति रूप केवलि प्रणीत-केवली भाषित। धम्माओ—धर्म से। भंसिज्जा—भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् धर्म से पतित हो जाता है। सोतविसयमागया—श्रोत्र विषय में आए हुए। सद्दा—शब्द। न सक्का—समर्थ नही। न सोउं—न सुनने को अर्थात् आने वाले शब्द अवश्य सुने जाते है किन्तु। जे—जो। तत्थ—यहा पर। रागदोसा—राग द्वेष है। उ—वितर्क में है। तं—उसको अर्थात् राग द्वेष को। भिक्खू—भिक्षु-साधु। परिवज्जए—छोड दे। सोयओ—श्रोत्र से। जीवे—जीव-साधु। मणुन्नामणुन्नाइं—प्रिय और अप्रिय। सद्दाइं—शब्दो को। सुणेइ—सुनता है किन्तु उन पर रागद्वेष नहीं लाता। पढमा भावणा—यह प्रथम भावना है।

अहावरा दुच्चा भावणा—अब दूसरी भावना को कहते है। जीवो—जीव। चक्खुओ-

चक्षु से-चक्षु द्वारा। मणुन्नामणुन्नाइं—मनोज्ञामनोज्ञ प्रिय और अप्रिय। रूवाइ—रूपों को। पासइ—देखता है, फिर। मणुन्नामणुन्नेहिं—मनोज्ञामनोज्ञ। रूवेहिं—रूपो मे। सज्जमाणे—आसक्त होता हुआ। जाव—यावत्। विणिघायमावज्जमाणे—राग-द्वेष के वशी भूत हो कर विनाश को प्राप्त होता हुआ। सति भेया—शान्ति भेद। जाव—यावत्। भंसिज्जा—धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। चक्खुविसयमागय—चक्षु विषय को प्राप्त हुआ। रूवं—रूप। अदट्ठु न सक्का—अदृष्ट नही रह सकता अर्थात् वह दिखाई देगा ही किन्तु। तत्थ—वहा पर। जे—जो। रागदोसा—रागद्वेष उत्पन्न होता है। त—उसको। भिक्खू—भिक्षु-साधु। परिवज्जए—त्याग-दे छोड दे। उ—वितर्क मे है।

अहावरा तच्चा भावणा—अथ अपर तीसरी भावना यह है। जीवे—जीव। घाणओ-घ्राण इन्द्रिय से। मणुन्ना २ इ—मनोज्ञामनाज्ञ प्रिय और अप्रिय। गंधाइ—गंधो को। अग्घायइ-सूघता है। मणुन्नामणुन्नेहिं—मनोज्ञामनोज्ञ। गधेहिं—गंधो में। नो सज्जिज्जा—आसक्त न हो। नोरज्जिज्जा—राग भाव न करे। जाव—यावत्। नो विणिघायमावज्जिज्जा—द्वेष से विनाश को प्राप्त न हो। केवली बूया—केवली भगवान कहते है। मणुन्नामणुन्नेहिं—प्रिय तथा अप्रिय। गधेहिं—गधो मे। सज्जमाणे—आसक्त होता हुआ। जाव—यावत्। विणिघायमावज्जमाणे—विनिघात-विनाश को प्राप्त होता हुआ। सतिभेया—शाति रूप चारित्र का भेद करता है। जाव—यावत्। भंसिज्जा—धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। नासाविसयमागयं—नासिका के विषय को प्राप्त हुआ। गधं—गन्ध। न सक्का अग्घाउं-अगन्ध नही हो सकता अर्थात् नासिका के सन्निधान को प्राप्त हुआ गन्ध नासिका के छिद्रो में प्रविष्ट होता है किन्तु। तत्थ—उस में। जे—जो। रागदोसा—रागद्वेष उत्पन्न होता है। ते—उसे। भिक्खू—साधु। परिवज्जए—त्याग दे अर्थात् उसमे राग-द्वेष न करे। घाणओ—घ्राणेन्द्रिय से। जीवो—जीव। मणुन्ना २ इं गंधाइ-प्रिय और अप्रिय गन्ध को। अग्घायइ—ग्रहण करता है, सूघता है। त्ति—इस प्रकार यह। तच्चा भावणा—तीसरी भावना कही गई है।

अहावरा चउत्था भावणा—अब यह चौथी भावना कही जाती है। जीवो—जीव। जिब्भाओ—जिव्हा से। मणुन्ना २ इं—मनोज्ञामनोज्ञ-प्रिय तथा अप्रिय। रसाइं—रसो का। अस्साएइ—आस्वादन करता है-स्वाद लेता है किन्तु। मणुन्नामणुन्नेहिं—प्रिय और अप्रिय। रसेहिं—रसो में। नो सज्जिज्जा—आसक्त न हो। जाव—यावत्। विणिघायमावज्जिज्जा—विनिघात-विनाश को प्राप्त न होवे। केवली बूया—केवली भगवान कहते हैं। णं—वाक्यालकार अर्थ में है। निग्गथे—निर्ग्रन्थ-साधु। मणुन्नामणुन्नेहिं—प्रिय तथा अप्रिय। रसेहिं—रसो में।

सम्मं – अच्छी तरह से। काएण – काया द्वारा। फासित्ता—स्पर्शित कर। पालित्ता—पालन कर। तीरित्ता—तीरित कर। किट्टित्ता—कीर्तित कर के। आणाए—आज्ञा का। आराहित्ता—आराधन करने वाला। यावि भवइ – होता है।

मूलार्थ—इस पंचम महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—श्रोत्र से यह जीव प्रिय तथा अप्रिय शब्दों को सुनता है, परन्तु वह प्रिय तथा अप्रिय शब्दों में आसक्त न हो, राग भाव न करे, गृद्ध न हो, मूर्छित न हो, तथा अत्यन्त आसक्ति एवं राग द्वेष न करे, केवली भगवान कहते हैं कि साधु मनोज्ञामनोज्ञ शब्दों में आसक्त होता हुआ, राग करता हुआ यावत् विद्वेष करता हुआ शान्ति भेद एवं शान्ति विभंग करता है और केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है तथा श्रोत्र विषय में आए हुए शब्द ऐसे नहीं जो सुने न जावें किन्तु उनके सुनने पर जो राग द्वेष की उत्पत्ति होती है, भिक्षु उसका परित्याग कर दे। अतः जीव के श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में आए हुए प्रिय और अप्रिय शब्दों में राग द्वेष न करे। यह प्रथम भावना कही गई है।

चक्षु के द्वारा यह जीव प्रिय तथा अप्रिय रूपों को देखता है, प्रिय सुन्दर रूपों में आसक्त होता हुआ यावत् द्वेष करता हुआ शान्ति भेद यावत् धर्म से पतित हो जाता है। तथा चक्षु के विषय में आया हुआ रूप अदृष्ट नहीं रह सकता अर्थात् वह अवश्य दिखाई देगा, परन्तु उसको देखने से उत्पन्न होने वाले राग द्वेष का भिक्षु परित्याग कर दे। इस तरह चक्षु के द्वारा देखे जाने वाले प्रिय और अप्रिय रूपों पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, यह द्वितीय भावना है।

तीसरी भावना यह है—नासिका के द्वारा जीव प्रिय तथा अप्रिय गंधों को सूंघता है, परन्तु प्रिय तथा अप्रिय गंधों को सूंघता हुआ उनमें राग-

द्वेष न करे, क्योकि केवली भगवान कहते है कि प्रिय तथा अप्रिय गंधो में राग द्वेष करता हुआ साधु शान्ति का भेदन करता हुआ धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। तथा ऐसे भी नही कि नासिका के सन्निधान मे आए हुए गंध के परमाणु पुद्गल सूंघे न जासकं। परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधु उनमें राग द्वेष न करे।

चतुर्थ भावना इस प्रकार वर्णन की गई है-जीव जिहवा से प्रिय तथा अप्रिय रसों-का आस्वाद लेता है किन्तु उनमे रागद्वेष न करे। केवली भगवान कहते है प्रिय तथा अप्रिय रसो मे आसक्त एवं राग-द्वेष करने वाला निर्ग्रन्थ शान्ति भेद और धर्म से पतित होजाता है। तथा जिह्वा को प्राप्त हुआ रस अनास्वादित नहीं रह सकता किन्तु उसमे जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है उसका भिक्षु परित्याग करदे। और जिव्हा से आस्वादित होने वाले प्रिय तथा अप्रिय रसों मे राग-द्वेष से रहित होना यह चतुर्थ भावना है।

अब पांचवी भावना को कहते है—यह जीव स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा प्रिय और अप्रिय स्पर्शो का अनुभव करता है, किन्तु प्रिय स्पर्श में राग और अप्रिय स्पर्श में द्वेष न करे। केवली भगवान कहते है कि साधु प्रिय स्पर्श मे राग और अप्रिय में द्वेष करता हुआ शान्ति भेद, शान्ति विभंग करता हुआ शान्तिरूप केवलि भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। स्पर्शेन्द्रिय के सन्निधान मे आए हुए स्पर्श के पुद्गल विना स्पर्शित हुए-विना अनुभव किए नही रह सकते, किन्तु वहा पर जो रागद्वेष की उत्पत्ति होती है साधु उसको सर्वथा छोड़ दे। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा जीव प्रिय तथा अप्रिय स्पर्शो का अनभव करता है, उनमे राग और द्वेष का न करना यह पांचवी भावना कही गई है।

इस प्रकार यह पांचवां महाव्रत सम्यक् प्रकार से काया द्वारा स्पर्श

किया हुआ, पालन किया हुआ, तीर पहुंचाया हुआ, कीर्तन किया हुआ अवस्थित रखा हुआ और आज्ञा पूर्वक आराधन किया हुआ होता है । इस पाचवें महाव्रत मे सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग किया जाता है।

इन पांच महाव्रत और उनकी पच्चीस भावनाओं से सम्पन्न हुआ साधु यथा श्रुत यथा कल्प और यथामार्ग अर्थात् श्रुत-कल्प और मार्ग के अनुसार इनका सम्यक्तया काया से स्पर्श कर, पालन कर और तीर पहुचा कर और भगवान की आज्ञानुसार इनका आराधन करके आराधक बन जाता है इस प्रकार मैं कहता हूं ।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में पांचवें महाव्रत की पांच भावनाएं बताई गई हैं—१ प्रिय और अप्रिय शब्द, २ रूप, ३ गन्ध, ४ रस और ५ स्पर्श पर राग द्वेष न करे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधक कान, आंख, नाक आदि बन्द करके चले । उसे अपनी इन्द्रियों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। शब्द कान में पड़ते रहें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु, उन प्रिय या अप्रिय शब्दों के ऊपर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए । मधुर एवं कर्ण प्रिय गीतों को सुनने या इसी तरह दूसरे व्यक्ति की निन्दा-चुगली सुनने के लिए उस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। इससे स्वाध्याय का अमूल्य समय नष्ट होता है एव मन में रागद्वेष की भावना भी उत्पन्न हो सकती है। अतः साधक को किसी भी तरह के शब्दों पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

इसी तरह अपनी आंखों के सामने आने वाले सुन्दर एवं कुत्सित रूप पर भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। उसे सुन्दर, सुहावने दृश्यों एवं लावण्यमयी स्त्रियों आदि के रूप को देखकर उस पर मुग्ध एवं आसक्त नहीं होना चाहिए और न घृणित दृश्यों को देखकर नाक-भौं सिकोड़ना चाहिए । साधक को सदा राग-द्वेष से ऊपर उठकर तटस्थ रहना चाहिए ।

इसी तरह वायु के साथ पदार्थों में से आने वाली सुगन्ध एवं दुर्गन्ध के समय भी साधु को मध्यस्थ भाव रखना चाहिए। सुवासित पदार्थों में राग भाव नहीं रखना चाहिए और न दुर्गन्ध मय पदार्थों पर द्वेष भाव। साधक को सदा राग-द्वेष से ऊपर उठकर संयम साधना मे संलग्न रहना चाहिए।

चतुर्थ चूला—विमुक्ति

# सोलहवां अध्ययन

पन्द्रहवें अध्ययन में ५ महाव्रत और उसकी २५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। अब प्रस्तुत अध्ययन में विमुक्ति-मोक्ष के साधन रूप साधनों का उल्लेख किया गया है। यह स्पष्ट है कि महाव्रतों की साधना कर्मों से मुक्त होने के लिए ही है। अत इस अध्ययन में निर्जरा के साधनों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इस वर्णन को पांच अधिकारों में विभक्त किया गया है—१ अनित्य अधिकार, २ पर्वत अधिकार, ३ रूप्य (चांदी) अधिकार, ४ भुजगत्वग् अधिकार और ५ समुद्र अधिकार। इस तरह समस्त साधना का उद्देश्य मुक्ति है। मुक्ति भी देश मुक्ति एवं सर्व मुक्ति अपेक्षा से दो प्रकार की कही गई है। सामान्य साधु से लेकर भवस्थ केवली पर्यन्त की देश मुक्ति मानी गई है और अष्ट कर्मबन्धन का सर्वथा क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त करना सर्व मुक्ति कहलाती है। उक्त उभय प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति कर्म निर्जरा से होती है। अत निर्जरा के साधनों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—अणिच्चमावासमुविंति जंतुणो.पलोयए सुच्चमिणं अणुत्तरं
विउसिरे विन्नु अगारबंधणं, अभीरु आरंभपरिग्गहं चए ॥१॥**

छाया—अनित्यमावासमुपयान्ति जन्तवः, प्रलोकयेत् श्रुत्वा इदमनुत्तरम्।
व्युत्सृजेद् विज्ञः अगारबन्धनं, अभीरुः आरम्भपरिग्रहं त्यजेत् ॥

पदार्थ—इणं—इस-जिन प्रवचन को, जो। अणुत्तरं—सर्व श्रेष्ठ है, जिसमे यह कहा गया है कि। जंतुणो—जीव। आवासं—मनुष्य आदि जन्मो को प्राप्त करते हैं, वे। अणिच्च—अनित्य हैं ऐसा। सुच्चं—सुनकर। पलोयए—उस पर गभीरता एवं अन्तर हृदय से विचार कर के। विन्नु—विद्वान व्यक्ति। आगारबध णं—पारिवारिक स्नेह बन्धन को। विउसिरे—त्याग दे, और वह। अभीरु—सात प्रकार के भय एवं परीषहों से नहीं डरने वाला साधक। आरंभ-परिग्गहं समस्त प्रकार के सावद्य कर्म एव परिग्रह को भी। चए—छोड दे।

मूलार्थ—सर्व श्रेष्ठ जिन प्रवचन मे यह कहा गया है कि आत्मा

मनुष्य आदि जिन योनियो मे जन्म लेता है, वे स्थान अनित्य है। ऐसा सुनकर एव उस पर हार्दिक चिन्तन करके समस्त भयों से निर्भय बना हुआ विद्वान पारिवारिक स्नेह बन्धन का, समस्त सावद्य कर्म एवं परिग्रह का त्याग कर दे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में अनित्यता के स्वरूप का वर्णन किया गया है। भगवान ने अपने प्रवचन में यह स्पष्ट कर दिया है कि संसार में जीवों के उत्पन्न होने की जितनी भी योनियें हैं, वे अनित्य हैं। क्योंकि अपने कृत कर्म के अनुसार जीव उन योनियों में जन्म ग्रहण करता है और अपने उस भव के आयु कर्म के समाप्त होते ही उस योनि के प्राप्त शरीर को छोड़ देता है। इस तरह समस्त योनियें कर्म जन्य हैं, इस कारण वे अनित्य हैं। जब तक जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है, तब तक वह अपने कृत कर्म के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि मे परिभ्रमण करता रहता है। इससे योनि की अनित्यता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु इससे उसके अस्तित्व का नाश नहीं होता इसलिए उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि संसार अनित्य है, ससार मे स्थित जीव एक योनि से दूसरी योनि मे भटकता रहता है। इससे हम निसंदेह कह सकते हैं कि ससार मिथ्या नहीं, अनित्य एवं परिवर्तन शील है। परन्तु इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि परिभ्रण के कारण जीव के आत्म प्रदेशों मे किसी तरह का अन्तर नहीं आता है। उसकी योनि की पर्यायें, शरीर आदि की पर्यायें एवं ज्ञान-दर्शन की पर्यायें परिवर्तित होती रहती हैं, परन्तु इन परिवर्तनों के कारण आत्म द्रव्य नहीं बदलता, उसके असंख्यात प्रदेशों में किसी भी तरह की न्यूनाधिकता नहीं आती है।

इस तरह संसार की अनित्यता के स्वरूप को सुन कर और उस पर गहराई से चिन्तन मनन करके विद्वान् एव निर्भय व्यक्ति ससार से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। फिर वह पारिवारिक स्नेह बन्धन मे बंधा नहीं रहता है। वह मृत्यु के समय जबरदस्ती टूटने वाले स्नेह बन्धन को स्वेच्छा से तोड़ देता है। वह अनासक्त भाव से पारिवारिक ममता का एवं सावद्य कर्मो का तथा समस्त परिग्रह का त्याग करके साधना के मार्ग पर कदम रख देता है।

इस गाथा मे आत्मा की द्रव्य रूप से नित्यता एवं योनि आदि पर्यायों या संसार की अनित्यता, अस्थिरता एवं परिवर्तनशीलता को स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। कि विद्वान एव निर्भय व्यक्ति

ही इसके यथार्थ स्वरूप को समझकर सांसारिक संबधों एवं साधनों का परित्याग कर सकता है।

अब पर्वत अधिकार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—तहागयं भिक्खुमणंतसंजयं, अणेलिसं विन्नु चरंतमेसणां
तुदंति वायाहिं अभिद्दवं नरा, सरेहिं संगामगयं व कुंजरं ॥२॥

छाया—तथागत भिक्षुमनतसयतं, अनीदृश विज्ञः चरतमेषणाम्।
तुदन्ति वाग्भिः अभिद्रवन्तो नराः शरैः, संग्रामगतमिव कुजर।

पदार्थ—तहागय—तथा भूत अनित्यादि भावनायुक्त। भिक्खु—भिक्षु-साधु जो। अनतसंजय—एकेन्द्रियादि जीवो मे अर्थात् उनकी रक्षा मे सदैव यत्नशील है। अणेलिसं—अनुपम संयमशील। विन्नु—विद्वान मुनिको जो। चरंतमेसणं—शुद्धाहार की गवेषणा करने वाला है नरा—कोई अनार्य पुरुष। वायाहि—असभ्य वचनो से। तुदन्ति—व्यथित करते है-व्यथापहुचाते हैं और। अभिद्दवं—लोष्टपाषाणादि से प्रहार करते है। व—जैसे। सगामगय—सग्राम में गये हुए। कुंजरं—हस्ती को। सरेहि—शरो-वाणो से तोडते हैं।

मूलार्थ—अनित्यादि भावनाओं से भावित, अनन्त जीवो की रक्षा करने वाले अनुपमसंयमी और जिनागमानुसार शुद्ध आहार को वेषणा करने वाले भिक्षु को देखकर कतिपय अनार्य व्यक्ति साधु पर असभ्य वचनो एव पत्थर आदि का इस तरह प्रहार करते है, जैसे संग्राम मे वीर योद्धा शत्रु के हाथी पर बाणो की वर्षा करते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु की सहिष्णुता एवं समभाव वृत्ति का उल्लेख किया गया है। इसमे बताया गया है जैसे युद्ध के समय वीर योद्धा शत्रु पक्ष के हाथी पर शस्त्रों एवं बाणों का प्रहार करते हैं और वह हाथी उन प्रहारों को सहता हुआ उन पर विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार यदि कोई असभ्य, अशिष्ट या अनार्य पुरुष किसी साधु के साथ अशिष्टता का व्यवहार करे, उसे अभद्र गालियें दे या उसपर पत्थर आदि फैंके तो साधु समभाव पूर्वक उस वेदना को सहता हुआ राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करे। उस समय साधु उत्तेजित न हो और न आवेश में आकर उनके साथ वैसा ही व्यवहार

करे और न उन्हें श्राप-अभिशाप दे । क्योंकि, इससे उसकी आत्मा में राग-द्वेष की प्रवृत्ति बढ़ेगी और परस्पर वैर भाव में अभिवृद्धि होगी और कर्म बन्ध होगा । अतः साधु अपनी प्रवृत्ति को राग-द्वेष की ओर न बढ़ने दे। उस समय वह क्षमा एवं शान्ति के द्वारा राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करे । जिसके वश मे हो कर वे दुष्ट एव असभ्य व्यक्ति दुर्व्यवहार कर रहे हैं और इसके द्वारा कर्मबन्ध करके ससार परिभ्रमण बढ़ा रहे हैं। साधु रागन्द्वेष के इस भयंकर परिणाम को जानकर आत्मा के इन महान शत्रुओं को दबाने का, नष्ट करने का प्रयत्न करे । इसका तात्पर्य यह है कि साधु को हर हालत में, प्रत्येक परिस्थिति में अपनी अहिंसा वृत्ति का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसे सदा समभाव एवं निर्भयता पूर्वक प्रत्येक प्राणी को क्षमा करते हुए राग-द्वेप पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधु को और परिषहों के उत्पन्न होने पर भी पर्वत की तरह अचल, अटल एवं निष्कंप रहना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिए, ससद्दफासा फरुसा उईरिया।**
**तितिक्खए नाणि अदुट्ठचेयसा,गिरिव्व वाएण न संपवेयए ।३।**

छाया—तथाप्रकारैः जनैर्हीलितः, सशब्द स्पर्शाः परुषाः उदीरिताः ।
तितिक्षते ज्ञानी अदुष्टचेताः, गिरिरिव वातेन न सम्प्रवेपते ।

पदार्थ—तहप्पगारेहिं—तथाप्रकार के । जणेहिं—जनो के द्वारा । हीलिए—हीलित अर्थात् तर्जित और ताडित किया हुआ तथा । फरुसा ससद्दफासा—तीव्र आक्रोश और शीतोष्णादि के स्पर्श से । उईरिया—उदीरित मुनि । तितिक्खए—उन परीषहो को सम्यक् प्रकार से सहन करता है, क्योकि वह । नाणी—ज्ञानवान् है अर्थात् यह मेरे पूर्वकृत कर्मो का ही फल है अतः मुझे ही इसे भोगना होगा ऐसा जानता है अतः। अदुट्ठचेयसा—अदुष्ट-कलुषता रहित मन वाला वह मुनि अनार्य पुरुषो द्वारा किये जाने वाले उपद्रवो से। वाएण—वायु मे । गिरिव्व—पर्वत की भाति । न संपवेयसे—कम्पित नही होता अर्थात् जैसे पर्वत वायु से कम्पायमान नही होता ठीक उसी प्रकार सयमशील मुनि भी उक्त परीषहोपसर्गो से चलायमान नही होता है ।

मूलार्थ—असस्कृत एवं असभ्य पुरुषो द्वारा आक्रोशादि शब्दो से या शीतादि स्पर्शो से पीडित या व्यथित किया हुआ ज्ञानयुक्त मुनि उन परीषहोपसर्गो को शन्ति पूर्वक सहन करे। जिस प्रकार वायु के प्रबल वेग से

भी पर्वत कम्पायमान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार सयम शील मुनि भी इन परीषहो से कम्पित-विचलित न हो अर्थात् अपने संयम व्रत मे दृढ़ रहे।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे पूर्व गाथा की बात दुहराई गई है। इसमे यह बताया गया है कि जैसे प्रचण्ड वायु के वेग से भी पर्वत कंपायमान नहीं होता, उसी तरह ज्ञान संपन्न मुनि असभ्य एवं असस्कृत व्यक्तियों द्वारा दिए गए परीषहों—कष्टों से कम्पित नहीं होता, अपनी समभाव की साधना से विचलित नहीं होता। वह कष्टों के भयकर तूफानों में भी अचल, अटल एव स्थिर भाव से अपनी आत्म साधना मे संलग्न रहता ह। वह उन परीषहों को अपने पूर्व कृत कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक उन्हें सहन करता है और उन कर्मों को या कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष और कषायों को क्षय करने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'नाणी अदुट्ठचेयसा' पद का अर्थ यह है कि ज्ञानी इन कष्टों को पूर्व कृत कर्म का फल समझकर उसे समभाव पूर्वक सहन करता है। वह इस घोर संकट के समय भी विषमता की ओर गति नहीं करता है। वृत्तिकार ने भी इसी बात को स्वीकार किया है।

साधु की सब प्राणियों के प्रति रही हुई समभाव की भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्—उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे, अकंतदुक्खी तसथावरा दुही।**
**अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहाहि से सुस्समणे समाहिए ।४।**

**छाया—उपेक्षमाणः कुशलैः संवसेत्, अकान्तदुःखिनः त्रसस्थावरान् दुःखिनः।**
**अलूषयन् सर्वंसहः महामुनिः, तथाह्यसौ सुश्रमणः समाहितः।**

पदार्थ—उवेहमाणे—मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करता हुआ या परीषहों को सहन करता हुआ। कुसलेहिं—गीतार्थ मुनियो के साथ। सवसे—रहे। अकंतदुक्खी—अनिष्ट दुःख—असाता वेदनीय जिनको होरहा है ऐसे। दुही—दुःखी त्रस और स्थावर जीवो को। अलूसए—किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ। सव्वसहे—पृथिवी की भांति सर्व प्रकार के परीषहोपसर्गो को सहन करे। तहाहि—इसी कारण से ही। से—वह। महामुणी—महामुनि। सुसमण—श्रेष्ठ श्रमण। समाहिए—कहा गया है।

मूलार्थ—परीषहोपसर्गों को सहन करता हुआ अथवा मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करता हुआ वह मुनि गीतार्थ मुनियों के साथ रहे सब प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है ऐसा जानकर त्रस और स्थावर जीवों को दुःखी देख कर उन्हें किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ पृथिवी की भांति सर्व प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करने वाला महामुनि—लोकवर्ति पदार्थों के स्वरूप का ज्ञाता होता है। अतः उसे सुश्रमण-श्रेष्ठश्रमण कहा गया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि मुनि संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता एवं द्रष्टा है। अतः वह कष्टों एवं परीषहों से विचलित नहीं होता है। क्योंकि वह यह भी जानता है कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय लगता है, दुःख अप्रिय लगता है और संसार में स्थित एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणी दुखों से संत्रस्त हैं, इसलिए वह किसी भी प्राणी को संक्लेश एवं परिताप नहीं देता। वह अन्य प्राणियों से मिलने वाले दुःखों को समभाव पूर्वक सहन करता है, परन्तु अपनी तरफ से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। यह उसकी साधुता का उज्ज्वल आदर्श है। और इस विशिष्ट साधना के द्वारा वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ अन्य प्राणियों को कर्म बन्धन से मुक्त करने में सहायक बनता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सदा मध्यस्थभाव रखना चाहिए। दुष्ट एवं असभ्य व्यक्तियों पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए और उसे सदा गीतार्थ एवं विशिष्ट ज्ञानियों के साथ रहना चाहिए। क्योंकि मूर्खों के संसर्ग से समय एवं शक्ति का दुरुपयोग होने की सम्भावना बनी रहती है। अतः साधक को ज्ञानी पुरुषों के सहवास में रहना चाहिए, उनके साथ रहकर वह अपनी साधना को आगे बढ़ा सकता है। इससे उसके ज्ञान में भी विकास होगा और ज्ञानवान एवं चिन्तनशील साधक लोक के यथार्थ स्वरूप को जानकर कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः साधक को गीतार्थ मुनियों के साथ में रहकर अपनी साधना को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—विऊ नए धम्मपयं अणुत्तरं, विणीयतण्हस्स मुणिस्स झायओ।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पन्ना य जसो य वड्ढइ।५।

छाया—विद्वान् नतः धर्मपदमनुत्तरं, विनीततृष्णस्य मुनेर्ध्यायतः।
समाहितस्याग्निशिखेव तेजसा, तपश्च प्रज्ञा च यशश्च वर्द्धते।

पदार्थ—नए—विनयवान। विउ—समयज्ञ। अणुत्तर—प्रधान। धम्म पय—धर्मपद-यति धर्म-क्षमा मार्दव आदि के विषय मे प्रवृति करने वाले। विणीयतण्हस्स—तृष्णा को दूर करने वाले। ज्झायओ—धर्मध्यान करने वाले। समाहियस्स—समाधिमान। मुणिस्स—मुनि के। अग्गिसिहा व—अग्नि शिखा के समान। तेयसा—तेज। य—और। तवो—तप और। य—पुनः। पन्ना- प्रज्ञा-बुद्धि और। जसो—यश। वड्ढइ—अभिवृद्ध होते हैं अथवा अग्नि शिखा की भाति तेज से प्रदीप्त हुए मुनि का तप प्रज्ञा और यश वृद्धि को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—क्षमा मार्दवादि दश प्रकार के श्रेष्ठ यति-श्रमण धर्म मे प्रवृत्ति करने वाला विनयवान एवं ज्ञान सपन्न मुनि- जो तृष्णा रहित होकर धर्म ध्यान मे संलग्न है और चारित्र को परिपालन करने मे सावधान है, उसके तप, प्रज्ञा और यश अग्नि शिखा के तेज की भाति वृद्धि को प्राप्त होते है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में संयम से होने वाले लाभ का उल्लेख किया गया है। क्षमा, मार्दव आदि दश धर्मों से युक्त एवं तृष्णा से रहित होकर धर्म ध्यान में संलग्न विनय सपन्न मुनि की तपश्चर्या, प्रज्ञा एव यश-प्रसिद्धि आदि में अभिवृद्धि होती है। वह निर्धूम अग्नि शिखा की तरह तेजस्वी एव प्रकाश-युक्त बन जाता है। उसकी साधना में तेजस्विता आ जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि क्षमा, मार्दव आदि से आत्मा के ऊपर लगा हुआ कर्म मैल दूर होता है और परिणाम स्वरूप उसकी उज्ज्वलता, ज्योतिर्मयता और तेजस्विता प्रकट हो जाती है।

इस विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—दिसोदिसंऽणंतजिणेण ताइणा, महव्वया खेमपया पवेइया।
महागुरू निस्सयरा उईरिया, तमेव तेउत्तिदिसं पगासगा।६।

छाया—दिशोदिश अनन्तजिनेन त्रायिना महाव्रतानि क्षेमपदानि प्रवेदितानि।
महागुरूणि निःस्वकराणि उदीरितानि तम इव तेज इति त्रिदिश प्रकाशकानि

कर्म प्रवाह की अपेक्षा से है। बन्धने वाला प्रत्येक कर्म अपनी स्थिति के अनुसार फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाता है, परन्तु साथ में अन्य कर्म बन्धते रहते हैं। इस तरह आत्मा पहले के बांधे हुए कर्मों को यथा समय भोग कर क्षय करता है और फिर नए कर्मों का बन्ध करता रहता है। इस प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। इस बात को इससे स्पष्ट कर दिया गया है कि महाव्रतों का आचरण करके साधक उस प्रवाह को सर्वथा नष्ट कर सकता है। यदि एक ही कर्म अनादि काल से चला आता हो तो उसे नष्ट करना असंभव था। परन्तु एक कर्म अनादि नहीं है। व्यष्टि की दृष्टि से वह सादि है, अर्थात् अमुक समय में बन्धा है और अपने बन्धे हुए काल पर फल देकर क्षय हो जाता है। इस तरह कर्म व्यक्ति की दृष्टि से सादि है, परन्तु समष्टी—प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। क्योंकि संसार में स्थित जीव एक के बाद दूसरी, तीसरी—कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता रहता है। इस कारण उसे नष्ट भी किया जा सकता है और उसे नष्ट करने का साधन है—महाव्रत। क्योंकि, राग-द्वेष, कषाय एवं हिंसा आदि प्रवृत्तियों से कर्म का बन्ध होता है और महाव्रत इन प्रवृत्तियों के—आश्रव के द्वार को रोकने एवं पूर्व बन्धे कर्मों को क्षय करने का महान् साधन हैं। इस तरह संवर के द्वारा आत्मा जब अभिनव कर्म प्रवाह के स्रोत का आना बन्द कर देता है और पुरातन कर्म जल को तप, स्वाध्याय एवं ध्यान आदि साधना से सर्वथा सुखा देता है, क्षय कर देता है, तब वह कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त उन्मुक्त हो जाता है।

अस्तु, महाव्रत की साधना आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करती है और इसका उपदेश सर्वज्ञ पुरुष देते हैं। क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं और अपने निरावरण ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को सम्यक्तया देखते जानते हैं। अतः उनका उपदेश तेज-अग्नि की तरह प्रकाशमान है और प्रत्येक आत्मा को प्रकाशमान बनने की प्रेरणा देता है।

महाव्रतों को शुद्ध रखने के लिए उत्तर गुणों में सावधानी रखने का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—सिएहिं भिक्खू असिए परिव्वए, असज्जमित्थीसु चइज्ज पूयणं अणिस्सिओ लोगमिणं तहा परं, न मिज्जई कामगुणेहिं पंडिए ।७।**

छाया—सितैः भिक्षुः असितः परिव्रजेत्, असजन् स्त्रीषु त्यजेत् पूजनम्।
अनिश्रितः लोकमिमं तथा परं, न मीयते कामगुणैः पण्डितः।

पदार्थ—सिएहि—कर्म एवं गृह पाश में आबद्ध व्यक्तियों के साथ। असिए—नहीं

बन्धा हुआ। भिक्खू—भिक्षु अर्थात् उनका संग न करता हुआ साधु। परिव्वए—संयम ग्रहण कर के विचरे तथा। इत्थीसु—स्त्रियो मे। असज्ज—आसक्त न होता हुआ अर्थात् उनका संग न करता हुआ। पूमण—अपने पूजा-मान सम्मान की अभिलाषा को। चइज्ज—त्याग कर। अणिस्सिओ—स्त्री संसर्ग से असम्बद्ध होकर। लोगमिण—इस लोक में। तहा—तथा। परं—पर लोक मे अर्थात् इस लोक तथा परलोक के विषय मे आशा रहित हो कर। कामगुणेहि—काम गुणो-प्रिय शब्दादि विषयो को। न मिज्जइ—स्वीकार न करे। पडिए—जो साधु काम गुणो को स्वीकार नही करता तथा उनके परिणाम को जानता है वह पडित है।

मूलार्थ—साधु कर्मपाश से बन्धे हुए गृहस्थों या अन्य तीर्थियों के सम्पर्क से रहित होकर तथा स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग करके विचरे और वह, पूजा सत्कार आदि की अभिलाषा न करे, और लोक तथा परलोक के सुख की कामना भी न रखे। वह मनोज्ञ शब्दादि के विषय मे भी प्रतिबद्ध न होवे। इस तरह उनके कटुविपाक को जानने के कारण वह मुनि, पडित कहलाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि साधु को राग-द्वेष से युक्त एवं कर्म पाश में आबद्ध गृहस्थ एवं अन्य तीर्थियों का संसर्ग नहीं करना चाहिए और उसे स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग कर देना चाहिए। उसे पूजा-प्रतिष्ठा एवं ऐहिक या पारलौकिक सुखों की अभिलाषा भी नहीं रखनी चाहिए। परन्तु इन सब से मुक्त-उन्मुक्त होकर संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ एवं अन्य मत के भिक्षुओं के सम्पर्क से उसके मन में राग-द्वेष की भावना जागृत हो सकती है और आध्यात्मिक साधना पर संशय हो सकता है। दूसरे मे उसका स्वाध्याय एव चिन्तन करने का अमूल्य समय—जिसके द्वारा वह आत्मा के ऊपर पड़े हुए कर्म आवरण को अनावृत्त करता हुआ आध्यात्मिक साधना के पथ पर आगे बढ़ता है, व्यर्थ की बातों में नष्ट होगा। और कभी साधु की उत्कृष्ट साधना को देखकर अन्यमत के भिक्षु के मन में ईर्ष्या की भावना जाग उठी तो वह साधु को शारीरिक कष्ट भी पहुंचा सकता है। इस तरह उनका ससर्ग आत्म साधना मे बाधक होने के कारण त्याज्य बताया गया है।

इसी तरह स्त्रियों के संसर्ग से भी विषय वासना उद्दीप्त हो सकती है और मान-पूजा प्रतिष्ठा की भावना एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की अभिलाषा भी पतन का कारण है। क्योंकि इसके वशीभत आत्मा अनेक तरह के अच्छे बुरे कर्म करता है।

इसलिए साधक को इन सब के कटु परिणामों को जानकर इनसे मुक्त रहना चाहिए। जो साधक इनके विषाक्त एवं दुःख परिणामों को सम्यक्तया समझकर इनसे सर्वथा पृथक रहता है, वही श्रमण वास्तव में पंडित है, ज्ञानी है और वही साधक कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है।

एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तहा विमुक्कस्स परिन्नचारिणो,
धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो।
विसुज्झई जंसि मल पुरेकडं,
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥८॥

छाया—तथा विप्रमुक्तस्य परिज्ञाचारिणो,
धृतिमतः दुःखक्षमस्य भिक्षोः।
विशुध्यति यस्य मल पुराकृतं,
समीरित रूप्यमलमिव ज्योतिषा।

पदार्थ—तहा—तथा। विप्पमुक्कस्स—विप्रमुक्त-सग से रहित। परिन्नचारिणो—ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला। दुक्ख खमस्स—दुख को सहन करने वाला। धिईमओ—धैर्यवान। भिक्खुणो—भिक्षु का। पुरेकडं—पूर्वकृत। मलं—कर्म रूप मल। विसुज्झई—दूर हो जाता है। व—जैसे। जोइणा—अग्नि द्वारा। समीरियं—प्रेरित किया हुआ। रुप्पमल—चान्दी का मल अर्थात् जैसे अग्नि द्वारा चान्दी का मल उससे पृथक हो जाता है ठीक उसी प्रकार तप सयम के द्वारा कर्ममल दूर हो जाता है।

मूलार्थ—जिस तरह अग्नि चादी के मैल को जलाकर उसे शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार सब संसर्गों से रहित ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला, धैर्यवान एवं सहिष्णु साधक अपनी साधना से आत्मा पर लगे हुए कर्ममल को दूर करके आत्मा को निरावरण बना लेता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में कर्ममल को हटाने के साधनों का उल्लेख किया गया है। कर्म

बन्ध का कारण राग-द्वेष है। अतः इसका परिज्ञान रखने वाला साधक ही सम्यक् साधना के द्वारा उसे हटा सकता है। जैसे चांदी पर लगे हुए मैल को अग्नि द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसी प्रकार कर्म के मैल को ज्ञान पूर्वक क्रिया करके ही हटाया जा सकता है। उसके लिए साधक को धैर्य के साथ सहिष्णुता का रखना भी आवश्यक है। क्योंकि अधीरता, आतुरता, अस्थिरता एवं असहिष्णुता अथवा परीषह एवं दुःखों के समय हाय-त्राय एवं विविध संकल्प-विकल्प आदि की प्रवृत्ति कर्म बन्ध का कारण है। इससे आत्मा कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकती है। उसके लिए साधना आवश्यक है। और साधक को साधना के समय आने वाले कष्टों को भी धैर्य एवं समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे कर्मों की निर्जरा होती है। जैसे चान्दी आग में तप कर शुद्ध होती है, उसी तरह तप एवं परीषहों की आग में तपकर साधक की आत्मा भ शुद्ध बन जाती है।

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही आत्म विकासी में सहायक होती है और साधना के साथ धैर्य एवं सहिष्णुता का होना भी आवश्यक है।

अब सर्पत्वग् का उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं।

**मूलम्—से हु परिन्नासमयंमि वट्टई, निराससे उवरय मेहुणा चरे।**
**भुयंगमे जुन्नतयं जहा चए, विमुच्चई से दुहसिज्ज माहणे ।९।**

छाया-सः हि परिज्ञासमये वर्तते, निराशंसः उपरतः मैथुनात् चरेत्।
भुजगमः जीर्णत्वचं यथा त्यजेत विमुच्यते सः दुःखशय्यातः माहनः।

पदार्थ—से—वह-भिक्षु। हु—निश्चयार्थक है। परिन्नासमयंसि—मूलोत्तर गुणो के विषय मे वर्तने वाला तथा पिण्डैषणा की शुद्धि करने वाला सम्यग् ज्ञान के विषय में। वट्टई—प्रवृत्त हो रहा है तथा। निराससे—इस लोक और परलोक के विषयो की आशा से रहित और। मेहुणा—मैथुन से। उवरय—उपरत-विरत हुआ। चरे—सयम मार्ग मे विचरता है। जहा—जैसे। भुयंगमे—सर्प। जुन्नतय—जीर्ण त्वचा-काचली को चए—त्याग देता है। से—उसी प्रकार वह। माहणे—अहिंसा का उपदेष्टा साधु। दुहसिज्ज—दुखरूप शय्या से। विमुच्चई—विमुक्त हो जाता है अर्थात् संसार चक्र से छूट जाता है।

मूलार्थ—जिस प्रकार सर्प अपनी जीर्ण त्वचा-कांचली को त्याग कर उससे पृथक् हो जाता है, उसी तरह महाव्रतों से युक्त, शास्त्रोक्त

क्रियाओं का परिपालक, मैथुन से सर्वथा निवृत्त एवं लोक-परलोक के सुख की अभिलाषा से रहित मुनि नरकादि दुःख रूप शय्या या कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में सर्प का उदाहरण देकर बताया गया है कि जिस प्रकार सर्प अपनी त्वचा-कांचली का त्याग करने के बाद शीघ्रगामी एवं हलका हो जाता है। उसी तरह साधक भी सावद्य कार्यों, विषय विकारों एवं भौतिक सुखों की अभिलाषा का त्याग करके निर्मल, पवित्र एवं शीघ्र गति से मोक्ष की ओर बढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। क्योंकि सावद्य कार्य एवं विषय विकार आदि कर्म बन्ध के कारण हैं। इससे आत्मा कर्मों से बोझिल बनती है और फल स्वरूप उसकी ऊपर उठनेकी गति अवरुद्ध हो जाती है। अत इस गाथा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधक को आगम मे बताए गए महाव्रतों एवं अन्य क्रियाओं का पालन करना चाहिए। इससे आत्मा पर पड़ा हुआ कर्मों का बोझिल आवरण दूर हो जाता है। जिससे आत्मा में अपने आपको सर्वथा अनावृत्त करने की महान् शक्ति प्रकट हो जाती है।

अब समुद्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्—जमाहु ओहं सलिलं अपारयं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं।**
**अहे य णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चई।१०।**

छाया-यमाहुः ओघ सलिलं अपारम् महासमुद्रमिव भुजाभ्यां दुस्तरम्
अथैन च परिजानीहि पंडितः स खलु मुनिः अन्तकृत् इति उच्यते।

पदार्थ—ज—जो। आहु—अनन्त तीर्थंकरादि ने कहा है। ओहं—ओघरूप। सलिल—जल। अपारय—जिसका पार नही आता ऐसे। महासमुद्दं—महा समुद्र को। भुयाहिं—भुजाओं से तैरना। दुत्तरं—दुस्तर है। व—इसी प्रकार ससार रूप समुद्र को पार करना कठिन है। अहेयण—च-पुन। णं—वाक्यालंकारार्थक है। परिजाणाहि—अतः साधु ज्ञ प्रज्ञा से संसार के स्वरूप को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका परित्याग करे। से पंडिए—सत्य और असत्य के स्वरूप को जानने वाला वह पडित। मुणी—मुनि। हु—निश्चय ही। अंतकडेत्ति—कर्मों का अन्त करने वाला। वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—महासमुद्र की भांति ससार रूप समुद्र को पार करना

दुष्कर है, हे शिष्य! तू इस संसार के स्वरूप का ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग कर दे। इस प्रकार त्याग करने वाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में समुद्र का उदाहरण देकर संसार के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। समुद्र में अपरिमित जल है, अनेक नदियां आकर मिलती हैं। इसलिए उसे भुजाओं से तैर कर पार करना कठिन है उसी तरह यह संसार सागर भी सामान्य आत्माओं के लिए पार करना कठिन है। इस संसार सागर में आस्रव के द्वारा मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद कषाय और योग रूप जल आता रहता है। इसलिए साधक को यह आदेश दिया गया है कि इस दुस्तर संसार सागर को पार करने के लिए तू इसके स्वरूप का परिज्ञान कर। अर्थात् संसार समुद्र में परिभ्रमण एवं उसे पार होने के स्वरूप का ज्ञान कर। आस्रव संसार परिभ्रमण का कारण है और संवर या आस्रव का त्याग संसार से पार होने का साधक है। अतः तू ज्ञ परिज्ञा के द्वारा आस्रव के स्वरूप का ज्ञान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उसका त्याग कर। इस तरह तू आश्रव के स्वरूप को जानकर उसका सर्वथा त्याग कर देगा तो संसार सागर से पार हो जाएगा। क्योंकि, ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला साधक ही संसार समुद्र को उल्लंघ कर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। इसलिए उसे संसार का अन्त करने वाला कहा गया है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—१ ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही मुक्ति का मार्ग है और, २ संसार अनादि होने हुए भी सान्त है, आत्मा सम्यक् साधना के द्वारा उसका अन्त करके निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जहाहि वद्धं इहमाणवेहिं, जहाय तेसिं तु विमुक्ख आहिए।
अहातहा बंधविमुक्ख जेविऊ, से हु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चई ॥११॥

छाया-यथा हि बद्धं इहमानवै, यथा च तेषां तु विमोक्षः आख्यातः।
यथा तथा बन्धविमोक्षयोः यो विद्वान् स खलु मुनिरन्तकृदिति उच्यते ॥

उन कर्मों का बन्धा हुआ है। तु—पुन। विमुक्क—उन कर्मों के बन्ध से विमुक्त होना चाहिए—कहा गया है। जे—जो साधु। बधविमुक्क—बन्ध और मोक्ष के। अहात्तहा—यथार्थ स्वरूप का। वेऊ—वेत्ता है-सम्यक् प्रकार से जानने वाला है। हु—निश्चय ही। से—वह। मुणी—मुनि। अतकडेत्ति—कर्मों का अन्त करने वाला। वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—इस ससार मे आत्मा ने आस्रव का सेवन करके जिस प्रकार कर्म बाधे है उसी तरह सम्यक् ज्ञान,दर्शन एव चारित्र की आराधना करके उन आबद्ध कर्मों से मुक्त हो सकतो है। जो मुनि बन्ध मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानता है, वह निश्चय ही कर्मों का अन्त करने वाला कहा गया है।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बन्ध और मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। आत्मा जिस प्रकार कर्म को बान्धता है और साधना से जिस प्रकार तोड़ता है, उसका परिज्ञाता मुनि ही इस ससार का अन्त करता है। यह हम देख चुके हैं कि कर्म बन्ध का कारण आस्रव है। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योगरूप आस्रव से कर्म वर्गणा के पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध होता है। जैसे आग में रखे हुए लोहे के गोले मे अग्नि के परमाणु प्रविष्ट हो जाते हैं और वह लोहे का गोला आग के गोले जैसा दिखाई देता है। उसी तरह कर्म वर्गणा के परमाणुओं से आवृत आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर कर्मों के अनुरूपगति करता है। परन्तु सम्यग् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना से आत्मा कर्म आवरण से अनावृत्त हो जाता है। क्योंकि, आस्रव कर्म के आने का द्वार है, तो संवर कर्म के आगमन को रोकने का कारण है और तप आदि निर्जरा के साधन हैं। इस प्रकार जब साधक बन्ध और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जान कर सम्यक् प्रवृत्ति करता है, तो वह संसार का अन्त करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। अत सर्वज्ञ पुरुषों ने ऐसे साधक को ससार का अन्त करने वाला कहा है।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक के लिए संसार में परिभ्रमण कराने वाले और कर्म बन्धन से मुक्त कराने वाले दोनों साधनों की जानकारी करना आवश्यक है। क्योंकि वह आस्रव का यथार्थ ज्ञान करके उससे निवृत्त होकर संवर की साधना से अभिनव कर्मों के आगमन को रोक लेता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व बंधे हुए कर्मों को समाप्त कर देता है। इस तरह वह कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

अब विमुक्ति अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—इमंसि लोए परए य दो सुवि, न विज्जई बंधणं जस्स किंचिव
सेहुनिरालंबणमप्पइट्ठिए कलंकली भावपहे विमुच्चई ॥१२॥
तिबेमि ॥

विमुत्ता सम्मत्ता ॥

आचारांग सूत्रं समाप्तम् ॥ ग्रन्थाग्रं २५५४ ॥

छाया — अस्मिन्लोके परस्मिन् च द्वयोरपि न विद्यते बन्धनं यस्यकिंचिदपि ।
स खलु निरालम्बनमप्रतिष्ठितः कलंकली भावपथात् विमुच्यते ॥
इति ब्रवीमि । विमुक्तिः समाप्ता । आचारांग सूत्रं समाप्तम् ग्रन्थाग्रं २५५४ ।

पदार्थ—इमंसि—इस । लोए—लोक में । य—और । परए—परलोक में तथा । दोसुवि—दोनों लोकों में । अपि—पुनरर्थक है । जस्स—जिसका । किंचिवि—किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष आदि का । बंधणं—बन्धन । न विज्जई—नहीं है । से—वह । हु—निश्चय ही । निरालंबणं—आलम्बन रहित अर्थात् लोक परलोक सम्बन्धि आशा से रहित तथा । अप्पइट्ठिए—प्रतिबन्ध से रहित साधु । कलंकली भावपहे—जन्म मरण रूप संसार के पर्यटन से । विमुच्चई—छूट जाता है । त्तिबेमि—इस प्रकार मैं कहता हूं ।

मूलार्थ- इस लोक तथा परलोक एवं दोनों लोकों मे जिसका किंचिन्मात्र भी राग आदि का बन्धन नही है तथा जो लोक तथा परलोक की आशाओं से रहित है अप्रतिबद्ध है, वह साधु निश्चय ही गर्भ आदि के पर्यटन से छूट जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार मैं कहता हूं।

हिन्दी विवेचन

प्रस्तुत गाथा में पूर्व गाथाओं में अभिव्यक्त विषय को दोहराते हुए बताया गया है कि जो साधक इस लोक और परलोक के सुखों की अभिलाषा नहीं रखता है, जो राग-द्वेष से सर्वथा निवृत्त हो चुका है और जो अप्रतिबद्ध विहारी है, वह गर्भावास में नहीं आता अर्थात जन्म-मरण का सर्वथा उच्छेद करके सिद्ध-बुद्ध मुक्त न जाता है।

इस से स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति का मार्ग न तो अकेले ज्ञान पर आधारित है और न केवल क्रिया पर। यह ठीक है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान भी साधन है और क्रिया भी साधन है। दोनों मोक्ष के लिए आवश्यक हैं। परन्तु दोनों की विभाजित रूप से नहीं, समन्वित रूप से आवश्यकता है। यदि उनमें समन्वय नहीं है, तो वह मोक्ष मार्ग में सहायक नहीं हो सकते। कुछ व्यक्ति मुक्ति के लिए ज्ञान साधना पर जोर देते हैं, परन्तु क्रिया का निषेध करते हैं। और कुछ क्रिया को सर्वोपरि मानते हैं परन्तु ज्ञान को आवश्यक नहीं मानते। ज्ञानवादियों का कहना है कि आत्मा एवं संसार के स्वरूप का ज्ञान करना ही मुक्ति है, क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं है। और इधर क्रियावादी कहते हैं कि मुक्ति के लिए क्रिया ही आवश्यक है। किसी व्यक्ति के आयुर्वेद ग्रन्थ कण्ठस्थ है, परन्तु वह उसमें अभिव्यक्त विधि के अनुसार औषध ग्रहण नहीं करता है, तो उसका कोरा ज्ञान उसे रोग से मुक्त नहीं कर सकता है। इसी तरह आचरण के अभाव में सिर्फ ज्ञान ही आत्मा को संसार से छुटकारा नहीं दिला सकता है। दोनों के कथन में सत्यांश है, परन्तु वे उस सत्यांश को पूर्ण सत्य मान रहे हैं, इसी कारण उनका कथन मिथ्या माना गया है।

जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया के समन्वय को मोक्ष मार्ग मानता है†। ज्ञान से दृष्टि मिलती है, मार्ग का बोध होता है, परन्तु वह साध्य तक पहुंचाने में असमर्थ है और क्रिया गतिशील है, परन्तु दृष्टि से रहित होने से सन्मार्ग और कुमार्ग का भेद नहीं कर सकती। इसी अपेक्षा से अकेले ज्ञान को पंगु और अकेली क्रिया को अन्धी माना गया है। और दोनों की समन्वित साधना से साधक अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। इसलिए आगम में कहा गया है कि जो साधक सब नयों को सुनकर जानकर ज्ञान और क्रिया की साधना करता है वही मुक्ति को प्राप्त करता है❀। स्थानांग सूत्र में भी बताया है कि जो साधक ज्ञान और चारित्र से युक्त है, वह संसार बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इस से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यही पूरे आचाराङ्ग सूत्र का सार है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि द्वादशांगी का निचोड़ भी यही है कि ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना से ही आत्मा निर्वाण पद को पा सकता है। क्योंकि, साधक का मुख्य लक्षण निर्वाण पद प्राप्त करना है और आगम या द्वादशांगी के प्रवचन का उद्देश्य

---

† ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः। —आचारांग वृत्ति।

❀ सव्वेसिं पि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता।
तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू।

भी यही है कि उसके अध्ययन एवं चिन्तन-मनन से साधक ज्ञान और क्रिया को अपने जीवन में साकार रूप देकर कर्म बन्धन से मुक्त हो सके। अस्तु, ज्ञान और क्रिया का सम्यक्तया आराधन एवं परिपालन करना ही मोक्ष मार्ग है।

सोलहवां अध्ययन (चतुर्थचूला) समाप्त

## श्री आचारांग सूत्र समाप्त

श्री आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध की 'निशीथ' नामक पांचवी चूला का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु वर्तमान में यह चूला आचारांग के साथ संबद्ध नहीं है। उसे छेद सूत्रों में स्थान दे दिया गया है। क्योंकि उसका विषय आचारांग से संबद्ध है। आचारांग में साधु के आचार का उल्लेख किया गया है और निशीथ में यह बताया गया है कि यदि प्रमादवश कोई साधु आचार पथ से भटक जाता है, तो उसे क्या प्रायश्चित देना चाहिए। इस तरह प्रायश्चित से संबद्ध प्रकरण होने के कारण उसे स्वतंत्र रूप से छेद शास्त्रों के साथ जोड़ दिया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है और ऐसा करना उचित भी जंचता है।

४६. **ऋजु गति**—सरल एवं सीधी गति

४७. **ऋषभदेव**—जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर या अवतार

४८ **एषणीय**—आधाकर्म आदि दोषों से रहित पदार्थ

४९. **औदारिक शरीर**—हाड-मास आदि औदारिक वर्गणा के पुद्गलों—परमाणुओं से बना हुआ शरीर

५०. **औद्देशिक**—साधु-साध्वी के उद्देश्य से बनाए गए पदार्थ

५१. **कायोत्सर्ग**—मन, वचन एवं काय के व्यापार का त्याग करके आत्म चिन्तन में संलग्न होना, ध्यान

५२. **क्रियावादी**—केवल क्रिया को ही मुक्ति का मार्ग माननेवाले विचारक

५३. **केवल ज्ञान**—लोक में स्थित समस्त द्रव्यों के समस्त पर्यायो एवं भावों को जानने-देखने वाला ज्ञान, पूर्ण ज्ञान

५४. **गच्छ**—सघ, सम्प्रदाय

५५. **ग्राम धर्म**—प्रस्तुत प्रसग में इसका अर्थ मैथुन है

५६. **ग्राम पिंडोलक**—भिखारी

५७. **गीतार्थ**—आगम एव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को सम्यक् रूप से जाननेवाला साधक

५८. **गुप्ति**—मन, वचन और काय—शरीर को गोपकर रखना

५९ **गोचरी**—भिक्षाचरी

६०. **ज्ञानवादी**—ज्ञान मात्र को मुक्ति का कारण माननेवाले विचारक

६१. **घातिक कर्म**—आत्म के मूल गुणों की घात करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म

६२ **चरक संहिता**—आयुर्वेद का एक ग्रन्थ

६३ **चिलिमलिका**—मच्छरदानी

६४ **चोलपट्टक**—धोती के स्थान में बाँधने का वस्त्र

५ **छट्ठ भक्त**—दो दिन का उपवास, वेला

६. **छः काय**—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—द्वीन्द्रियादि जीव

६७. **जिनकल्पी**—जिन अर्थात तीर्थंकर के समान आचार का परिपालन करने वाले मुनि

६८ **तीन करण**—कृत, कारित और अनुमोदित; किसी कार्य को करना, करवाना और उसका समर्थन करना

६९. **तीन योग**—मन, वचन और काय-शरीर

७०. **त्रस जीव**—त्रास प्राप्त होने पर दुःख से वचने के लिए सुख के स्थान पर आ—जा सकने वाले प्राणी; द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव

७१. **दीक्षाचार्य**—साधुत्व की दीक्षा देने वाले आचार्य

७२. **दीक्षार्थी**—संयम—साधना स्वीकार करने का इच्छुक साधक, वैरागी

७३. **देव—छन्दक**—देवोंद्वारा निर्मित चौंतरा

७४. **नय**—वस्तु में स्थित अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को लक्ष्य करके समझना

७५. **निगोद काय**—वनस्पति के जीवों की एक जाति

७६. **निघन्टु**—आयुर्वेद का एक ग्रन्थ

७७. **निरावरण**—आवरण से रहित

७८. **निर्ग्रन्थ**—द्रव्य और भाव ग्रन्थि—परिग्रह अथवा धन—धान्य आदि पदार्थों एव क्रोधादि कषायों से निवृत्त साधु

७९. **निर्जरा**—बन्धे हुए कर्मों का एक देश से क्षय होना

८०. **निर्वाण**—बन्धे हुए कर्मों का सवथा क्षय करके कर्म-बन्धन से मुक्त होना

८१. **निर्व्याघात**—व्याघात रहित

८२. **परठना**—विवेकपूर्वक डाल देना, फैंकना

८३. **परीषह**—भूख, प्यास, शीत, उष्ण, डसमंस आदि कष्ट

८४. **प्रकाम भोजन**—विकारोत्पादक सरस आहार

८५. **प्रणीत रस**—सरस पदार्थ

८६. **प्रतिक्रमण**—दिन एवं रात में लगे हुए दोषों की आलोचना

८७. **प्रतिलेखित**—भली भाँति देखे हुए पदार्थ

८८. **प्रवर्तिनी**–साध्वी संघ की संचालिका, आचार्या

८९. **पश्चात् कर्म**–साधु-साध्वी को आहार आदि पदार्थ देने के बाद पुनः अपने लिए आहार आदि बनाना

९०. **पंडक**–नपुंसक, हिंजडा, पुरुषत्व एव नारीत्व से रहित

९१. **प्रासुक**–दोष रहित, शुद्ध पदार्थ

९२. **पार्श्वापत्य**–भगवान् पार्श्वनाथ के अपत्य-उपासक या श्रावक

९३. **पार्श्वस्थ**–शिथिल आचारवाले, ढीले-पासत्थे

९४. **पिंडैषणा**–आहारादि की गवेषणा करना

९५. **पुद्गल**–परमाणु या परमाणुओं के मेल से बना हुआ स्कंध

९६. **पुरीष**–मल-मूत्र

९७. **पुरुषान्तरकृत**–नव निर्मित स्थान-मकान आदि, जिनका गृहस्थ ने उपयोग कर लिया है

९८. **भक्त-पान**–आहार-पानी, खाने-पीने के पदार्थ

९९. **भक्त-प्रत्याख्यान**-जीवन पर्यन्त के लिये आहार-पानी का त्याग करना

१००. **मतिज्ञान**–मन और इंद्रियों की सहायता से होनेवाला सम्यग्ज्ञान

१०१. **मनःपर्यव ज्ञान**–ढ़ाई द्वीप–समुद्र में स्थित सन्नी-मन युक्त पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानने-देखनेवाला ज्ञान

१०२. **मातृ स्थान**–माया, छल-कपट

१०३. **मिश्र भाषा**–जिस भाषा में सत्य और असत्य का मिश्रण हो

१०४. **मुक्ति**–कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त होना, मुक्त जीवों के रहने का स्थान

१०५. **मुखवस्त्रिका**-वायु काय के जीवों की रक्षा के लिए मुँह पर बान्धने का वस्त्र

१०६. **मोक**–मूत्र

१०७. **मोह**–सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आवारक, राग-द्वेष, आसक्ति

१०८. **योग**–मन, वचन और काय-शरीर

१०९. **योनि**–संसारी जीवों के उत्पन्न होने के स्थान

११०. **रत्नाधिक**–अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनि

१११. **लेश्या**–मन के परिणाम

११२. **वर्द्धमान**–भगवान महावीर का जन्म के समय माता-पिता द्वारा दिया गया नाम

११३. **वाचनाचार्य**-आगमों का अध्ययन कराने वाले आचार्य

११४. **विकथा**–व्यर्थ की कथा-वार्तालाप, विकारोत्पादक कथा

११५. **विराधना**–संयम एवं सम्यग्दर्शन में दोष लगाना

११६. **विहार**–साधु-साध्वी का एक गाँव से दूसरे गाँव को पैदल जाना

११७. **वृत्तिकार**-आगमों की संक्षिप्त व्याख्या करने वाले

११८. **वेदनीय कर्म**–जिस कर्म के उदय से प्राणी सुख-दुःख का संवेदन करता है

११९. **सचित्त**–सजीव-जीव युक्त, सचेतन–चेतना युक्त

१२०. **सद्धर्म मण्डन**–जिसमें वीतराग प्ररूपीत सत्य धर्म का वर्णन है, स्व. आचार्य श्री. जवाहरलालजी म. द्वारा रचित ग्रन्थ

१२१. **सन्निवेश**–मोहल्ला

१२२. **समिति**–विवेक पूर्वक, चलने, बोलने, आहार ग्रहण करने, उपकरण लेने-रखने, मल-मूत्र का त्याग करने आदि की क्रियाएँ करना, विवेक पूर्वक की जाने वाली शुभ प्रवृत्ति

१२३. **सर्वभावदर्शी**–विश्व में स्थित समस्त पदार्थों के भावों एवं पर्यायों का ज्ञाता

१२४. **सर्वज्ञ प्रणीत**–सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित या उपदिष्ट

१२५. **सधर्मी**-समान धर्म या आचार वाला

१२६. **सागार**–घर-बार सहित गृहस्थ, श्रावक

१२७. **सागारिक संथारा**–आगार सहित जीवन पर्यन्त अनशन का स्वीकार करना

१२८. **सान्त**-अन्त सहित, सीमा युक्त, जिसका अस्त होता है

१२९. **सामायिक**-४८ मिनट या जीवन पर्यन्त के लिए की जाने वाली समभाव की साधना

१३०. **सुश्रुत संहिता**-आयुर्वेदका एक ग्रथ

१३१. **संक्लिष्ट कर्म**-तीव्र कषाय, प्रगाढ आसक्ति पूर्वक बाधे गए कर्म

१३२. **संथारा**-जीवन पर्यन्त के लिए आहार-पानी एव पाप कर्मों का त्याग करना

१३३. **संलेखना**-आत्मा का सम्यक् प्रकार से लेखन अवलोकन करना, कषायों को पतला करना

१३४. **संवर** कर्मों के आगमन को रोकने की साधना

१३५. **संस्तारक**-घास-फूस का बिछौना, तृण शय्या

१३६. **स्तेय**-चौर्य कर्म

१३७. **स्थावर**-स्थिर काय वाले प्राणी-जिनके सिर्फ काया-शरीर ही होता है

१३८. **स्थंडिल भूमि**-शौच जाने का स्थान

१३९ **शय्यातर**-साधु को मकान की आज्ञा दे वाला

१४०. **शस्त्र परिणत**-जो पदार्थ शस्त्र के प्रयोग अचित्त हो गया है

१४१. **षट् जीवनिकाय**-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वा वनस्पति और त्रस-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरि न्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जीव

१४२. **श्रमण**-कषायों को उपशान्त करने वा तथा समभाव की साधना करने वाला साधु

१४३. **श्रमणोपासक**-श्रमण की उपासना कर वाला

१४४. **श्रुतज्ञान**-द्वादशागी का ज्ञान, सम्यग् दर्श और ज्ञान

१४५. **श्रोत्रेन्द्रिय**-कान

१४६. **हरित काय**-हरियाली, वनस्पति

